स्वर्ण-जयंती अंक

मई-जून, 1994

बीस रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक

- कहानी और कविता का सर्वेक्षण : विश्वनाथ त्रिपाठी, मधुरेश, विजय कुमार और महेश दर्पण
- 'आजकल' के संस्मरण : केशव गोपाल निगम
- देवेंद्र सत्यार्थी से साक्षात्कार
- 50 वर्षों की चुनिंदा रचनाएं

आजकल
कुछ चुनिंदा अंक

प्रथम अंक का आवरण। यह आवरण अगले दो वर्षों, अप्रैल, 1947 तक लगातार छापा जाता रहा।

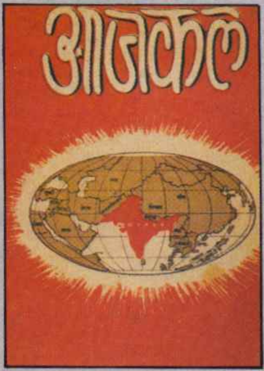

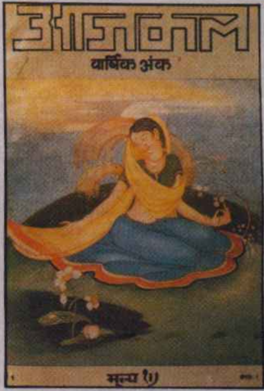

मई, 1947 अंक

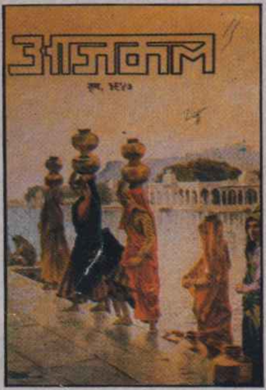

प्रकाशकीय

गौरव के क्षण

ऐसे दौर में जबकि हिंदी पत्रिकाएं एक के बाद एक दम तोड़ रही हों, यह गौरव की बात है कि **आजकल** इस अंक के साथ पचासवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि **आजकल** पिछली आधी शताब्दी के हिंदी साहित्य का साक्षी और दस्तावेज ही नहीं, एक हद तक बैरोमीटर भी रहा है। प्रारंभ के दस वर्षों में एक साथ हिंदी के कई दिग्गज साहित्यकारों की रचनाओं से पत्रिका के अंक भरे पड़े हैं। आज गर्व के साथ कहा जा सकता है कि इस दौर में राहुल सांकृत्यायन, दिनकर, हजारी प्रसाद द्विवेदी और भगवतशरण उपाध्याय जैसे नाम **आजकल** का अभिन्न अंग थे। उसी तरह **आजकल** को संपादक के रूप में देवेंद्र सत्यार्थी, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, मन्मथनाथ गुप्त और द्रोणवीर कोहली आदि को पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह एक ऐतिहासिक संयोग रहा हो, पर इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि जैसे-जैसे हिंदी साहित्य की रचनात्मक ऊर्जा में अभाव-सा आया—कारण जो भी रहे हों—**आजकल** में वह कमोबेश उसी रूप में प्रतिबिंबित होने लगा। सातवें दशक तक यह उतार स्पष्ट नजर आने लगा था। इस दौर में व्यावसायिक पत्रिकाओं की एक रंग-बिरंगी जमात भी पैदा हो गई थी जो **आजकल** के लेखकों को अपनी ओर खींचने लगी थी।

लगभग पचास वर्षों के दौरान प्रकाशित अंकों से किया गया यह चयन पिछली अर्द्धशताब्दी में **आजकल** में छपी रचनाओं की एक बानगी प्रस्तुत करने का ही नहीं, बल्कि पाठकों को साहित्य के एक पूरे दौर व परंपरा से परिचित कराने का भी प्रयास है।

सच तो यह है कि इतने लंबे समय और रचनाओं के सही प्रतिनिधित्व के लिए इस तरह के एक नहीं, कई अंकों की आवश्यकता है। इसे देखते हुए हमने कुछ सीमाएं निर्धारित कीं। पहला, साहित्य तक सीमित रहते हुए केवल मौलिक रचनाओं को ही लिया गया है। जहां तक संभव हो सका, लेखकों की ऐसी रचनाएं चुनी गई हैं जिनके सामान्यतः उपलब्ध हो पाने की संभावना जरा कम है, जैसे कि प्रसिद्ध कवियों की कहानियां या जाने-माने कहानीकारों की कविताएं आदि। कुछ रचनाएं ऐसी हैं जो आज के वरिष्ठ लेखकों के बिल्कुल प्रारंभिक दौर की हैं और अपने कैशोर्य में एक अलग ही स्वाद देती हैं।

" आजकल पिछली आधी शताब्दी के हिंदी साहित्य का साक्षी और दस्तावेज ही नहीं एक हद तक बैरोमीटर भी रहा है।"

यदि हम **आजकल** के पूरे दौर को दो हिस्सों में बांटें, तो बाद के 25 वर्षों से काफी कम रचनाएं ली गई हैं। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि इस दौर में उभरे अधिकांश रचनाकार अभी सक्रिय ही नहीं, बल्कि रचनात्मकता के उत्कर्ष पर हैं। दूसरा कारण, इस दौर में रचनात्मकता का वह ऊर्जावान परिदृश्य शायद नहीं रह गया जो **आजकल** के प्रारंभिक वर्षों में नजर आता है।

इस बात को रेखांकित करने के लिए हमने कहानी और कविता का, जो हिंदी की सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय विधाएं हैं, सर्वेक्षणात्मक मूल्यांकन करने का प्रयत्न भी किया है। सुविधा के लिए इसे छायावाद के बाद से नई कविता और फिर नई कविता से आज तक की कविता तथा कहानी में प्रेमचंद के बाद से नई कहानी तक तथा उसके बाद से अद्यतन प्रवृत्तियों तक के खंडों में विभाजित किया है। एक ओर, जहां मधुरेश और विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे वरिष्ठ लेखकों ने प्रारंभ के दौर पर अपने विचार रखे हैं, वहीं नई पीढ़ी के आलोचक/रचनाकार विजयकुमार और महेश दर्पण ने समकालीन प्रवृत्तियों को समेटने का प्रयास किया है।

किसी भी पत्रिका के लिए यह गौरव की बात है कि इतने प्रमुख लेखक इतनी बड़ी संख्या में उससे सक्रिय रूप से जुड़े रहे। पर कुछ उल्लेखनीय अपवाद, जो **आजकल** में प्रकाशित नहीं हुए, वे हैं—मुक्तिबोध, धूमिल, रामविलास शर्मा, मन्नू भंडारी, निर्मल वर्मा व ज्ञानरंजन। हमें आशा है, मई 2045 में **आजकल** की शताब्दी मनाने वाले हमारे भविष्य के साथियों को यह अफसोस करने का मौका नहीं रहेगा कि पत्रिका अपने समय के महत्वपूर्ण रचनाकारों की कृतियों से वंचित रह गई।

आने वाला समय, संभवतः लिखित शब्द के लिए कठिन दौर का होने जा रहा है। इलैक्ट्रानिक माध्यमों का बढ़ता प्रभाव इस संकट को गहरा रहा है। इसके बावजूद चिंतन और विवेचन की परंपरा को बनाए रखने के लिए शब्द के महत्व को बताने की आवश्यकता नहीं है। मैं आशा करता हूं कि आने वाले दिनों में **आजकल** अपनी पुरानी प्रतिष्ठा को ही प्राप्त नहीं करेगा, बल्कि अभाव के इस दौर में, हिंदी जगत में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में भी सफल रहेगा। यह कार्य बिना लेखकों, बुद्धिजीवियों और पाठकों के सक्रिय सहयोग के संभव नहीं है।

आशा है, हिंदी के मर्मज्ञ पाठक वर्ग में इस विनम्र प्रयास का स्वागत होगा।

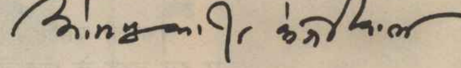

प्रवेशांक का संपादकीय

•

कुछ अपने बारे में

आजकल के मासिक संस्करण का परिचय देने से पूर्व प्रथम अंक के प्रकाशन में विलंब के लिए संयुक्त प्रकाशनालय क्षमा याचना करता है। 1943 में उर्दू *आजकल* की लोकप्रियता पूर्णतः सिद्ध हो गई थी, उस समय से ही हिंदी संस्करण के लिए अनुरोध किया जा रहा है। इस समय हम हिंदी में ऐसी पत्रिका प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं जिसमें उर्दू *आजकल* के विभिन्न देशों संबंधी कुछ प्रमुख लेख होंगे और कुछ ऐसे लेख होंगे जो हिंदी पाठकों की अपनी रुचि के हों। हमारी इस नई पत्रिका का उर्दू *आजकल* की तरह बढ़ना इसकी लोकप्रियता पर निर्भर होगा।

भ्रम निवारण हेतु हम यह आवश्यक समझते हैं कि इस पत्रिका के उद्देश्यों की व्याख्या कर दें। आजकल के समय में किसी प्रकार की भी पत्रिका का निकलना संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। यहां तक हुआ है कि विषय-सूची की प्रकृति का ध्यान रखे बिना ही ऐसी पत्रिकाओं को 'प्रचार' की श्रेणी में रख दिया गया। 'प्रचार' शब्द के अर्थ के अंतर्गत ऐसी प्रकाशित सामग्री को सम्मिलित कर लिया जाता है जिसका उद्देश्य किसी भी विषय में जनता के ज्ञान की वृद्धि कराना होता है। इसलिए हम यह अपना कर्तव्य समझते हैं कि अपने उद्देश्यों की स्पष्ट रूप से व्याख्या कर दें और फिर अपने पाठकों को यह दिखाने के लिए आमंत्रित करें कि हम अपने उद्देश्यों से कहां विमुख हो रहे हैं।

हम देशवासियों के सम्मुख दो बातें उपस्थित करना चाहते हैं। एक तो विदेशों का वास्तविक चित्रण, विशेषकर भारत के निकट पड़ोसियों का और दूसरे भारत में जो परिवर्तन हो रहे हैं उनको स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना जो भारत को युद्धोत्तरकालीन संसार के निर्माण में प्रमुख भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देंगे।

गत वर्षों में यह बात स्पष्ट हो गई है कि एशिया में भारत राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से सबसे प्रमुख देश बनता जा रहा है। भारत एक विशाल प्रायद्वीप है, इसकी विस्तृत उत्तरी सीमा पर सटे हुए भिन्न-भिन्न राज्य हैं जिनकी संस्कृति बिलकुल भिन्न है और जो आर्थिक तथा सैन्य दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त इसका वृहत समुद्र तट है जो इसे दूसरे प्रमुख राष्ट्रों का पड़ोसी बना देता है। जैसा कि एक वर्ष पूर्व *आजकल* के उर्दू संस्करण में बताया जा चुका है कि जो कुछ भी भारत के धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन में सारभूत है उसमें अधिकतर भारत की सीमा के बाहर से आया है। इसके बदले में भारत के कई एक जगतप्रसिद्ध धर्म-गुरुओं ने अपने पड़ोसियों की सभ्यता पर अति गहन प्रभाव डाला है। पूर्वकाल में संसार भारत को रेशम तथा गर्म मसालों का देश समझता था और इसके बाद कच्चे माल का भंडार। परंतु आजकल का संसार भारत को एक अपना अंग समझने लगा; उस संसार का एक अंग जो विज्ञान तथा आर्थिक उन्नति के कारण अखिल विश्व-संघ का रूप धारण कर रहा है।

भारतीयों के लिए अब यह आवश्यक है कि वे भारत के अपने महत्व संबंधी विचारों का विस्तार करें और देखें कि एशिया में उनके देश का क्या स्थान है और अपने पड़ोसियों पर भारत के किस प्रकार राजनैतिक एवं आर्थिक प्रभाव डालने की संभावना है। इस पत्रिका के मुख्य पृष्ठ के नक्शे पर एक दृष्टि डालने से ही ज्ञात हो जाएगा कि ये पड़ोसी कितने प्रकार के हैं। इनमें से कुछ तो अब तक एक प्रकार से मध्यकालीन 'पृथकत्व' बनाए हुए हैं। दूसरे पुरानी सभ्यता त्याग अपनी उन्नति पाश्चात्य आधारों पर कर रहे हैं। भारत की दूर तक फैली हुई सीमा से कुछ दूर ही सोवियत संघ है जो शीघ्र ही शायद संसार की सबसे बड़ी शक्ति बन जाएगा और जिससे भारत ने निःस्वार्थ प्रयास, कृषि के नवीन तरीकों तथा समाजशास्त्र के संबंध में बहुत कुछ सीखना है। प्रायः भारत की सीमा पर ही चीन का विस्तृत देश है, जो एक ओर तो कई साल से क्रांति की वेदना से पीड़ित है और दूसरी ओर अत्याचारी और निर्दयी शत्रु से लोहा ले रहा है जिसने उसका एक बड़ा भू-भाग हस्तगत कर लिया है। सदूर पूर्व के देशों की भी स्वतंत्रता अल्पकाल के लिए उसी शत्रु ने छीन ली है परंतु उनकी मुक्ति की घड़ी निकट दिखाई दे रही है। इन निकट पड़ोसियों के अतिरिक्त और दूसरे देश हैं जो यातायात के साधनों की गति के कारण भारत के अधिक निकट आ गए हैं। इसके अंतर्गत केवल यूरोप ही नहीं आता, जिनके साथ अनंतकाल से भारत का सांस्कृतिक संबंध रहा है, बल्कि शक्तिशाली अमेरिका और आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के विस्तृत प्रदेश भी सम्मिलित हैं।

इन राष्ट्रों तथा प्रदेशों के इतिहास, संस्कृति, राजनैतिक विकास तथा आर्थिक व्यवस्था में भारत के ग्रहण योग्य कितनी ही महत्वपूर्ण बातें हैं। हम, इन पृष्ठों में विशेष रूप से इन्हीं विषयों पर लिखने का प्रयास करेंगे। परंतु ऐसा न हो कि इन लेखों से पाठक भारत को शेष संसार से पृथक मान लें। हम भारत के अपने बारे में उसकी तीव्रगति से उन्नति और अमर संस्कृति संबंधी अनेकानेक लेख भी देंगे। इन तरीकों से संभव है कि हमारे पाठक भारत को संसार के अंग के रूप में देख सकें। ऐसे ऐक्य संसार की ओर सभी सभ्य जातियों को बढ़ना होगा। ❑

—मई, 1945

इस अंक में

विशेष लेख

4. छायावाद के बाद
हिंदी कविता : प्रारंभिक दौर–सर्वेक्षण : **विश्वनाथ त्रिपाठी**

10. आक्रोश से अवरोध तक
नई कविता के बाद : **विजयकुमार**

16. सामाजिक सत्य और अनुभव की प्रामाणिकता
स्वाधीनता से लेकर नई कहानी तक : **मधुरेश**

20. समकालीन कहानी
महेश दर्पण का मूल्यांकन

26. कल से आज तक
आजकल के संस्मरण : **केशव गोपाल निगम**

28. **देवेंद्र सत्यार्थी** से बातचीत
संजीव ठाकुर

चयन

लेख

35. काव्य का नूतन मूल्यांकन
उदयशंकर भट्ट

38. साहित्यिक जीवन के दो पक्ष
गुलाबराय

46. मंगोल भाषा और देवनागरी
रघुवीर

54. ज्योतिष के क्षेत्र में हिंदू-मुस्लिम संपर्क
हजारी प्रसाद द्विवेदी

62. बुद्ध और गांधी के अंतिम संस्कार
भदंत आनंद कौसल्यायन

68. अत्तसरणा भवथ अत्तदीपा
राहुल सांकृत्यायन

73. दो महाकवि
शचीरानी गुर्टू

76. पंत का नवीन जीवन-दर्शन
नगेंद्र

79. चलचित्र की बात
वृंदावन लाल वर्मा

81. आधुनिक हिंदी कविता
रामधारी सिंह दिनकर

83. कला का शहराती अभिशाप
माखन लाल चतुर्वेदी

86. गत अर्द्धशती में हिंदी पत्र
अंबिकाप्रसाद वाजपेयी

96. जब पेरिस की याद आती है
राम कुमार

102. प्रेमचंद–एक कथाकार
नंददुलारे वाजपेयी

106. भारतीय लेखकों की स्थिति
बनारसीदास चतुर्वेदी

108. लोककथाओं का अध्ययन
श्यामाचरण दुबे

111. नई कविता की भाषा
नामवर सिंह

120. के संध्या झूली गै छो
रमेश मटियानी 'शैलेश'

137. काव्य और संगीत
देवीशंकर अवस्थी

143. शब्द और शब्दकोश
हेमचंद्र जोशी

151. नई कविता-नया साहित्य
भगवतीचरण वर्मा

156. प्रगतिशील कविता में प्रेम
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

169. एशियाई-अफ्रीकी लेखक कांग्रेस
यशपाल

176. अच्छी कहानी या नई कहानी
उपेंद्रनाथ अश्क

184. मांग का साहित्य और साहित्य की मांग
श्रीकांत वर्मा

193. कवि केदारनाथ अग्रवाल
विष्णुचंद्र शर्मा

228. अज्ञेय–ऊर्जा का प्रवाह और खोजने की चुनौती थे
रघुवीर सहाय

230. **शमशेर** : मलयज *(डायरी)*

संस्मरण

84. मैं 'निराला' से मिला
प्रभाकर माचवे

91. प्रेमचंद के संस्मरण
जैनेंद्र कुमार

114. **प्रेमचंद–घर में** : अमृत राय

178. **यशपाल** : कमलेश्वर

186. पर मुक्तिबोध ऐसा था
हरिशंकर परसाई

198. **भारतीय आत्मा के साथ** : प्राण

210. उग्र : अजब आज़ाद मर्द था
रुद्र काशिकेय

213. **सुदर्शन : मेरे पिता** : कुलभूषण

216. **मेरे बड़े भाई** : इलाचंद्र जोशी

221. **फणीश्वर नाथ 'रेणु'** : नागार्जुन

आजकल **स्थापित 1945**

वर्ष : **50**; अंक : **1-2**;
पूर्णांक : **596-597**
मई-जून, 1994
(चैत्र-वैशाख,
शक संवत 1916)

संपादक
प्रताप सिंह बिष्ट
उप-संपादक
हामिद हुसैन

विशेष सहयोग
सहायक संपादक
योगेंद्र दत्त शर्मा
उप-संपादक
कुलश्रेष्ठ कमल
रजनी सूद

आवरण चित्र :
राम कुमार
पारदर्शी :
प्रभजीत सिंह
आवरण सज्जा :
आशा सक्सेना

उत्पादन अधिकारी
के. आर. कृष्णन
व्यापार व्यवस्थापक
जॉन नाग

इस अंक में

साक्षात्कार

64. **डा. रामकुमार वर्मा**
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
74. **सियारामशरण गुप्त**
जैनेंद्र कुमार
202. **इलाचंद्र जोशी**
गिरिराज किशोर
224. **अज्ञेय**
कुसुम कुमार

नाटक

30. **साहस**
विष्णु प्रभाकर

कहानी

41. **ए क्लास का कैदी**: चंद्रकिरण सौनरेक्सा
50. **अमर बेलि**: भैरव प्रसाद गुप्त
56. **अवरोध और गति**: पहाड़ी
94. **सुलख्खी**: कृष्णा सोबती
99. **चार मूर्ख**: श्यामू संन्यासी
123. **आत्म अभियोग**: यशपाल
131. **रुक्मा**: इलाचंद्र जोशी
140. **टूटा पुर्जा**: ए. रमेश चौधरी
145. **अपरिचित**: मोहन राकेश
161. **स्पर्धा**: गोविंद बल्लभ पंत
172. **परिक्रमा**: शेखर जोशी
182. **एक चेहरा**: रामनारायण शुक्ल
189. **सीता बनवास**: लक्ष्मीनारायण लाल
196. **गति**: रमेश बक्षी
207. **यही कहानी**: नरेंद्र शर्मा
218. **उधर का रास्ता**: रामदेव धुरंधर

कविता

9. शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन; 40. रांगेय राघव; 48. सुमित्रानंदन पंत, बलबीर सिंह चौहान 'रंग', पुष्पा भारती; 49. मैथिलीशरण गुप्त, रामकुमार वर्मा, दिनकर; 53. नरेश कुमार मेहता; 68. चंद्रकुंवर बर्त्वाल; 72. रघुवीर सहाय; 93. माखन लाल चतुर्वेदी; 101. नागार्जुन; 104. धर्मवीर भारती; 105. भवानी प्रसाद मिश्र; 107. केदारनाथ सिंह; 113. जानकी वल्लभ शास्त्री; 116. मैथिलीशरण गुप्त; 117. हंस कुमार तिवारी, नीरज; 121. मनोहर श्याम जोशी; 126. जगदीश गुप्त, शकुंत माथुर; 135. रामानंद दोषी; 139. प्रयाग नारायण त्रिपाठी; 150. रामावतार त्यागी; 160. परमानंद श्रीवास्तव; 164. राजेंद्र यादव; 167. अशोक वाजपेयी; 175. मदन वात्स्यायन; 180. नागानंद मुक्तिकंठ; 181. श्रीकांत वर्मा, स्नेहमयी चौधरी; 183. रवींद्रनाथ त्यागी; 185. नंद चतुर्वेदी; 188. ममता अग्रवाल; 191. रमेश कुंतल मेघ; 195. विजयदेव नारायण साही; 201. पद्मा सुधि; 206. विष्णु खरे; 212. इंदु जैन, जुगमंदिर तायल; 222. श्याम परमार; 227. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना; 229. केदारनाथ अग्रवाल

पुस्तक चर्चा

67. **हिमालय का प्रकाशन**
हंसराज
70. **बाणभट्ट की आत्मकथा**
चंद्रगुप्त विद्यालंकार
89. **झांसी की रानी–एक दृष्टि**
शिवदान सिंह चौहान
118. **नई अभिव्यक्ति का स्वर**
देवेंद्र सत्यार्थी
122. **कहानी का संदर्भ**
चंद्रगुप्त विद्यालंकार
127. **दिनकर की नई रचनाएं**: बच्चन
154. **तीन कवि चार संग्रह**
रामधारी सिंह दिनकर
166. **हिंदी में शेक्सपीयर**
नेमिचंद्र जैन

विविध

1. **संपादकीय**–*प्रवेशांक*
37. **पंतजी की सांस्कृतिक योजना** *(चयनिका)*
45. **निधन**: श्यामसुंदर दास
61. **संपादकीय**–*मार्च, 1948*
136. **साहित्य अकादमी** *(रिपोर्ट)*
प्रभाकर माचवे
165. **चिट्ठी-पत्री**: बलराज साहनी
168. **प्रत्यालोचना**: चतुरसेन शास्त्री

संपादकीय पत्रव्यवहार :

संपादक 'आजकल'
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 387069

चंदे की दरें
एक प्रति : 3 रुपये;
वार्षिक : 30 रुपये;
द्विवार्षिक : 54 रुपये;
त्रिवार्षिक : 72 रुपये;

इस अंक का मूल्य : 20 रु.
सजिल्द : 110 रु.

व्यापार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-**110001**

विक्रय केंद्र • प्रकाशन विभाग
- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बंबई
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता
- एल. एल. ए. आडीटोरियम, 736, अन्नासलै, मद्रास
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, तिरुअनतपुरम
- 1-बी, स्टेशन रोड, लखनऊ
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद

कविता : सर्वेक्षण—1

छायावाद के बाद

विश्वनाथ त्रिपाठी

छायावाद का प्रारंभ में विरोध हुआ था—यह कोई अनहोनी बात नहीं थी। नई प्रवृत्ति का विरोध प्रायः होता ही है। लेकिन छायावाद का विरोध उसके स्थापित और अपना उत्कर्ष प्रकट कर देने के बाद भी हुआ। आचार्य शुक्ल को छायावाद का विरोधी कहा जाता है। वह विरोधी थे तो, प्रारंभिक दौर के विरोधी। अंतिम दौर के विरोधी आलोचक देवराज ने *छायावाद का पतन* लिखा। नामवर सिंह ने *कविता के नए प्रतिमान* में छायावाद में पर्याप्त भावुकता पाई। यद्यपि वह पहले *छायावाद* में इस काव्य का वैभव-विश्लेषण कर चुके थे।

इस सबके बावजूद यह सर्वमान्य है कि खड़ी बोली हिंदी कविता के इतिहास का अद्यावधि स्वर्ण युग छायावाद ही है। रामविलास शर्मा निराला को तुलसीदास के बाद हिंदी का सबसे बड़ा कवि मानते हैं। प्रगतिशील कविता, प्रयोगवादी कविता, नई कविता और समकालीन कविता का कोई भी कवि निराला या प्रसाद या पंत के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। महादेवी की ही तुलना कम से कम लोकप्रियता में किसी से नहीं की जा सकती। इस काव्य-प्रवृत्ति की अनुपम भाव-समृद्धि और लोकप्रियता का कारण ढूंढना चाहिए, इससे परवर्ती कविता की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ सकता है।

छायावाद भक्ति काव्य के बाद हिंदी का सबसे महत्वपूर्ण काव्यांदोलन है। भक्ति काव्य का आधार भक्ति आंदोलन था। छायावाद का स्वाधीनता-आंदोलन। भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय था। शायद ही ऐसी कोई भारतीय भाषा—बोली होगी जिसमें भक्ति काव्य न रचा गया हो। ऐसा ही था स्वाधीनता-आंदोलन और उसका साहित्य पर पड़ने वाला प्रभाव। इस दौर में भारत की सभी भाषाओं में महान कवि उत्पन्न हुए। स्वाधीनता आंदोलन का प्रभाव द्विवेदी युगीन कविता पर भी है। किंतु उस काव्य-प्रवृत्ति में कल्पना का उतना समावेश नहीं। रचनाधर्मिता में स्वातंत्र्य का अर्थ कल्पना है। उस शताब्दी का चौथा दशक हिंदी साहित्य का सर्वाधिक सर्जनात्मक दशक है। इसी में *कामायनी, राम की शक्ति पूजा, सरोज-स्मृति, गोदान* जैसी कालजयी कृतियां रची गईं। छायावादी युग के साहित्य में हिंदी प्रदेश का विषम यथार्थ और उस विषमता से रहित स्थिति का स्वप्न—दोनों, सह-स्थित एवं अभिव्यक्त हैं। इसीलिए इसी दौर में प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, रामचंद्र शुक्ल जैसी विभूतियां समकालीन हैं। विषय यथार्थ प्रेमचंद के कथा-साहित्य में चित्रित है तो स्वप्न छायावादी काव्य में। याद रखिए, स्वप्निल स्वप्न नहीं, यथार्थी स्वप्न। पराधीन भारत का स्वातंत्र्य स्वप्न। स्वातंत्र्य अपनी पूर्ण अर्थ संपदा में, उसका ही एक आयाम कवि कल्पना है—निराला ने वीणावादिनी की स्तुति में लिखा था—प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव!

प्रमुख छायावादी कवियों के यहां—सबसे ज्यादा निराला के यहां, एक गैर छायावादी धारा भी मिलती है। प्रसाद के यहां लोकगीतों की तर्ज पर लिखी गई कविता है। पंत के यहां *ग्राम्या* की कविताएं। महादेवी की कविता में छायावादी प्रवृत्ति नहीं मिलती। सामाजिक यथार्थ की विषमता का चित्रण वह *गद्य—स्मृति की रेखाएं, अतीत के चल-चित्र* में करती हैं। निराला के यहां छायावादी और गैर-छायावादी विषम यथार्थ-बोधक काव्य—दोनों प्रवृत्तियां प्रारंभ से ही सह-स्थित हैं।

"सन'21 में *जब कड़ी मारें पड़ी दिल हिल गए* से लेकर सन'35 में *गए सूख भरे ताल/हुए रूख हरे शाल* तक निराला काव्य का एक स्वर और है जो छायावाद के परिचित संवादी के सामने विवादी जैसा लगता है। जिनका दावा है कि छायावाद के बाद उन्होंने हिंदी को नया लहजा, नया मुहावरा दिया है, वे निराला काव्य का स्वर ध्यान से सुनें।" [पृ.-9, *नई कविता और अस्तित्ववाद*, रामविलास शर्मा]। नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर की कविताएं निराला से जुड़ती हैं; नरेंद्र शर्मा की खास तौर पर पंत से—अंतर्वस्तु में ही नहीं, शिल्प में भी। इसका मूल कारण है समाज के निम्नवर्ग की पक्षधरता, सौंदर्य बोध के ढांचे में श्रम एवं संघर्ष (वर्ग संघर्ष) के घटकों का अंतर्भोग—*वह तोड़ती पत्थर* इस प्रवृत्ति की प्रवर्तक कविता है। प्रभाकर माचवे की *बिज्जा का या के दो पद्दा सुन कर चित्त हुआ गद्गद* से लेकर मनोहरश्याम जोशी 'कूमचिंली' की *निर्वृत्ति निरपेक्ष्य* या प्रपद्यवादियों के यहां महत्व-अवमूल्यन और असंबद्ध-संबद्धता का जो तेवर मिलता है वह भी *कुकुरमुत्ता* या *खजोहरा* से जुड़ता है। प्रगतिशील नई कविता के सर्वाधिक सशक्त कवि मुक्तिबोध पर विचार करते हुए शमशेर ने लिखा—"मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएं लांघकर, प्रगतिवाद से मार्क्सी दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांश हथियार संभाल और उसकी स्वतंत्रता महसूस कर, स्वतंत्र कवि रूप से सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर, निराला की सुथरी और खुली मानवता वाली परंपरा को बहुत आगे बढ़ाया। संघर्ष क्रांत मानव का यह चित्र देखिए जो बरबस ही निराला की एक प्रसिद्ध कविता की याद दिलाता है—

काठ पर पैर
ठूंठ-सा तन
गांठ-सा कठिन गोल चेहरा
लंबी उदास लकड़ी डाल से, हाथ क्षीण
वह हाथ फैल लंबायमान।"

निराला की प्रसिद्ध कविता से शमशेर का आशय *भिक्षुक* कविता से है।

किसी प्रसिद्ध रूसी कथाकार ने कहा था—'हम सब गोगोल के ओवरकोट की जेब से निकले हैं।'—छायावादोत्तर काव्य की प्रवृत्तियों का उत्स निराला का काव्य है।

लेकिन उत्स और प्रवाह में अंतर है। छायावाद बाहर से भीतर और भीतर से बाहर दोनों की कविता है। भीतर से कविता बाहर ही आए, जरूरी नहीं। यह भी देखना जरूरी है कि भीतर और बाहर का संतुलन और अनुपात कैसा है। छायावाद के अंतिम दौर में ही वैयक्तिक गीतकाव्य की प्रवृत्ति उदित हुई, जिसके प्रतिनिधि कवि बच्चन हैं। बच्चन को कवि सम्मेलनों में अभूतपूर्व सफलता मिली। उनकी कविताओं में लगभग उर्दू कविता जैसा वाक्य गठन है, जो श्रोताओं-पाठकों को उलझाता नहीं। निस्संदेह बच्चन की कविता को लोकप्रिय बनाने में उनके गले का भी योगदान था, किंतु मूलतः वह फक्कड़, मस्ती और अस्वीकार के कवि हैं। अस्वीकार का रूप स्पष्ट नहीं, उनका अस्वीकार अधिकांशतः निराकार है, अतः वह विद्रोही कवि नहीं है। सामाजिक विषमता के प्रति उनसे ज्यादा ध्यान दूसरे फक्कड़ और मस्त कवि भगवतीचरण वर्मा में है। सबसे ज्यादा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और माखन लाल चतुर्वेदी में। माखनलाल चतुर्वेदी में सामाजिक चेतना ने राग का स्वर धारण कर लिया है। देशभक्तिपक्ष इतना रागात्मक हो गया है कि देश ही उनका रहस्य-इष्ट हो गया है, जो अन्य किसी कवि का नहीं है। इन कवियों की सबसे बड़ी कमी विचार तत्व की क्षीणता है। अकारण नहीं कि इनमें लोकतत्व बहुत कम है। मुझे वह भगवतीचरण वर्मा के *हम दीवानों की क्या हस्ती है आज यहां कल वहां चले* (बतर्ज नजीर की—*जब लाद चलेगा बंजारा*) में मिलती है। दिनकर को भी इसी कोटि का कवि समझना चाहिए। यद्यपि उनमें वैचारिकता अधिक है, इंद्रिय बोध क्षीण। इंद्रिय बोधात्मकता केवल *उर्वशी* में पर्याप्त मात्रा में है। दिनकर के काव्य की विषयवस्तु का क्षेत्र व्यापक है किंतु उसमें अर्थ का इकहरापन है। वह तीव्रगति से आगे बढ़ते हैं किंतु बहुत कुछ समेटे हुए नहीं। उपर्युक्त कवियों में अनेकार्थता की व्याप्ति माखनलाल चतुर्वेदी में है। नरेंद्र शर्मा को भी इसी कोटि में रखा जाता है किंतु उनमें वैचारिकता और इंद्रिय-बोध का अपूर्व सामंजस्य है। उनके सरल वाक्य गठन वाली पंक्तियों में भी दूर तक ले जाने वाली अर्थ-झंकृति मिलती है। इनमें से कोई कवि प्रगतिशील आंदोलन का विरोधी नहीं। नरेंद्र शर्मा तो प्रारंभिक प्रगतिशील कवियों में से हैं। उनकी कविताओं में यत्र-तत्र प्रगति, देशभक्ति, मानवतावाद, समाजवाद का स्वर मिलता है। अर्थ के इकहरेपन की दृष्टि से और फक्कड़पने की दृष्टि से भी, शिवमंगल सिंह सुमन की गणना वैयक्तिक गीतकार कवियों में ही की जानी चाहिए। इन कवियों ने सरल वाक्यगठन वाली हिंदी कविताओं को सामान्य श्रोताओं-पाठकों में लोकप्रिय बनाने में ऐतिहासिक योगदान किया। इन सभी का विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व है और इनकी कविताओं का प्रशंसक पाठक वर्ग है। इन कवियों ने आलोचकों की सिफारिश पर लोकप्रियता नहीं पाई है।

सन 1936 छायावाद काल के उत्कर्ष का चरम वर्ष है। यही *गोदान, राम की शक्तिपूजा, कामायनी* का प्रकाशन वर्ष है। और इसी साल प्रगतिशील लेखक संघ का लखनऊ में सम्मेलन

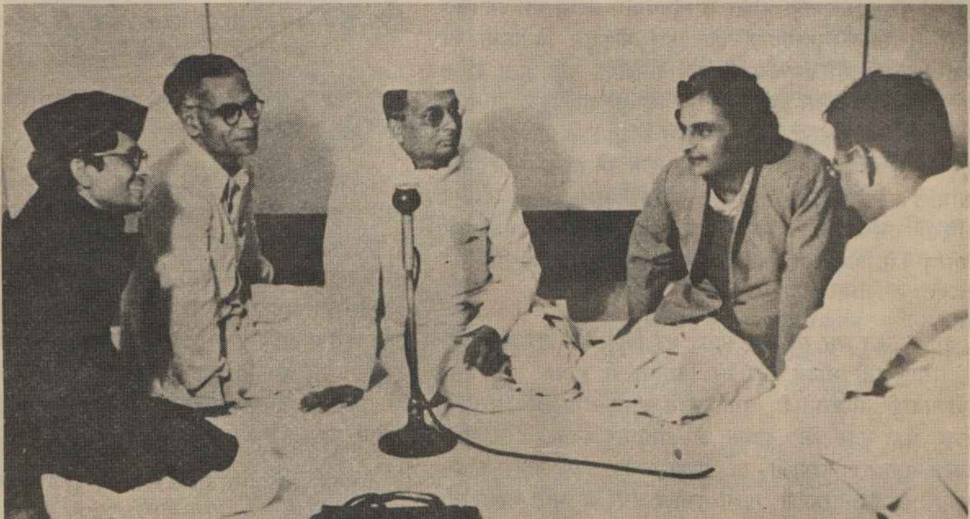

एक गोष्ठी में बाएं से : उपेंद्रनाथ अश्क, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, सुमित्रानंदन पंत और अज्ञेय

हुआ, जिसमें प्रेमचंद ने अध्यक्षीय भाषण दिया। गोया छायावाद युग ने अपना रिक्थ प्रगतिशील साहित्य को सौंपा। इसके पूर्व भी प्रगतिशील साहित्य राष्ट्रीय चेतना व साम्राज्यवाद-सामंतवाद-विरोध से जुड़ा था। समाजवाद का नाम अनसुना नहीं था। अब वह समाजवादी-विचारधारा से जुड़ गया। समाजवादी-विचारधारा चौथे दशक की सशक्त विचारधारा थी। इससे इस काव्यधारा ने अभूतपूर्व ऊर्जा प्राप्त की। लेकिन कुछ दिक्कतें भी आईं जिनकी चर्चा हम करेंगे। बड़ी बात यह कि इस विचारधारा के सौंदर्य-बोध का ढांचा था जिसे निराला आदि कवियों ने स्वतः प्रेरणा से प्राप्त कर लिया था। अब उस ढांचे यानी नए सौंदर्यबोध को जान-बूझकर अपनाया गया। बहुत कुछ उसमें दीक्षित हुआ गया।

यह वही सौंदर्यबोध था जिसके तहत *वह तोड़ती पत्थर* लिखा गया था। सौंदर्य अनुभूति की भी निर्मिति है। उसके विभिन्न अवयव-घटक हैं। नैतिकता, मूल्य, रूपाकार, उपयोगिता आदि उसके घटक हैं। समाजवाद के पहले श्रम को सौंदर्यबोध में इतना महत्व नहीं मिला था। वर्ग-संघर्ष समाजवादी सौंदर्यबोध का अन्य महत्वपूर्ण घटक है। सौंदर्यबोध भी द्वंद्वात्मक है। जो सुंदर है, उससे अनुराग, तो जो उस सौंदर्य में बाधक है, उसके प्रति घृणा या आक्रोश। यह द्वंद्वात्मकता भक्ति के सौंदर्यबोध में भी थी। इसीलिए कबीर, तुलसी, समन्वयवादी होते हुए भी राम विरोधियों को डांटते-फटकारते हैं। समन्वय का अर्थ समझौता नहीं होता बल्कि अपने सिद्धांत पर अटल रहते हुए अन्य पक्षों की भी केवल उन बातों को स्वीकार कर लेना होता है जो अपने सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं। तुलसी ने कहा कि दशरथ-सुत को ब्रह्म न मानने वाला—नीच, मोह पिशाच से ग्रस्त, पाखंडी, सांच-झूठ न जानने वाला, अज्ञ, अभागा है। जिसने राम को नहीं माना, उसकी मां ने दस महीने उसको गर्भ में धारण कैसे किया, वह बांझ क्यों नहीं हुई, उसका गर्भ गिर क्यों नहीं गया:

जननी कित यार मुर्द दस मास, भई किन बांझ गई किन च्वै। सो, समाजवादी सौंदर्य-बोध की निर्मिति में शोषक, पूंजीपति, साम्राज्यवादी, सामंतवादी, धर्माधिकारी आदि अमानवीय सत्ता के प्रतीक हैं, सुंदर के बाधक हैं—अतएव इनके प्रति घृणा आक्रोश-सवाल, नारेबाजी या गाली-गलौज का नहीं, सौंदर्य अनुभूति का है। नारेबाजी, गाली-गलौज अगर अनुभूति नहीं होती तब रूढ़ि या रीतिबद्धता बनकर अकाव्यात्मक होती है।

सौंदर्य का आधार सुषमा है। सुषमा यानी विषम का उल्टा।

निराला

प्रसिद्ध सौंदर्यशास्त्री वाल्टर पेटर ने सौंदर्य के बारे में कहा कि सौंदर्य का काम अतिरिक्त अनावश्यक को हटाते रहना है (*'ब्यूटि रिमूव्स दि सरप्लसेज़'*)। यह मार्क्सी सौंदर्यशास्त्र का आधार है। मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत' (*सरप्लस वैल्यू*) इसकी संगति में है। अतिरिक्तता शारीरिक सौंदर्य की क्षति करती है, अनावश्यक धन संग्रह मानसिक कुरूपता है—असामाजिक, अमानवीय है। दूसरों का हक मारना अनैतिक ही नहीं, असुंदर भी है, कुरूप भी है। इसीलिए हर दौर के मानवतावादी विचारकों ने अनावश्यक धन-संग्रह को त्याज्य बताया। हां, काम भर का जरूर चाहिए। काम भर का क्या है, इसे अंतस्संबंधता से ही जाना जा सकता है। प्रगतिशील काव्य मूलतः समावेशी है, जो शोषक व्यवस्था में परित्यक्त हैं, उन्हें भी अधिकार चाहिए। उन्हें रोटी, मकान, कपड़ा तो चाहिए ही, वाल्मीकि कालिदास, कबीर, तुलसी, निराला, गालिब पर भी उनका अधिकार है। मार्क्सी सौंदर्यबोध आधुनिक है, सामंती और साम्राज्यवादी सौंदर्यबोध तात्कालिक है या विकृत। मुक्तिबोध ने कहा—*चांद का मुंह टेढ़ा है*। चांद गतकालिक सौंदयबोध का प्रतीक है, उसकी विकृति पहचान ली गई।

प्रगतिशील कवियों ने श्रम केंद्रित सौंदर्य के अपूर्व चित्र खींचें—*बीच खेत में सहसा रुककर/खड़ी हुई वह युवती सुंदर*।
(रामविलास शर्मा)

मिलकर वे दोनों प्राणी/दे रहे खेत में पानी।
(त्रिलोचन शास्त्री)

लेकिन इस क्षेत्र में श्रेष्ठ कविता केदारनाथ अग्रवाल की *एक हथौड़े वाला घर में और हुआ* है। कारण यह कि इस कविता में श्रम ही नहीं, श्रम की व्याप्ति भी है। पुत्र जन्मोत्सव पर अवकाश-भोगी वर्ग के यहां जो उल्लास होता है, उससे यह उल्लास अधिक भौतिक एवं ठोस है। हथौड़े वाले के घर में बच्चे का जन्म। बच्चा है, बड़े होकर हथौड़ा ही चलाना है, लेकिन *हाथी-सा बलवान जहाजी और हुआ*। निर्धन, श्रमिक, अवकाश भोगियों से अधिक स्वस्थ। शिशु में इस सबकी संभावनाएं जिसमें दादा, दादी, माता, पिता—सबका उल्लास शामिल है—ऐसा संश्लिष्ट चित्र।

अभिव्यक्ति के लिए दृष्टि ही नहीं, दृश्य भी चाहिए। नागार्जुन की एक कविता है—*बादल को घिरते देखा है*। इसमें *देखा है* क्रिया महत्वपूर्ण है। केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा—*मैंने उसको जब जब देखा लोहा देखा* या *जगर-मगर दीप जले देखे हैं*। *देखना* यानी

निजी स्वतंत्र अनुभूति, किताबी नहीं। नागार्जुन ने मेघदूत के बारे में लिखा—*जाने दो वह कवि कल्पित था। मैंने तो.....* यह देखना कबीर की *तू कहता है कागद लेखी/मैं कहता हूं आंखिन देखी* उक्ति के मेल में है। 'निजी', 'स्वतंत्र', 'स्वायत्त', 'किताबी' की बात ज्यादातर गैर प्रगतिशील या प्रगतिशील आंदोलन के विरोधी कवियों ने ज्यादा की है किंतु इस बात का फैसला होना बाकी है कि वस्तुतः निजी, स्वतंत्र, स्वायत्त, और गैर किताबी कविताएं किन कवियों ने लिखी हैं। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर ने चूंकि दृश्य सुषमित विषम दृश्य को अपने-अपने संस्कारों की आंखों से देखा है, अतः समान विचारधारा के होते हुए भी उनकी काव्यगत विशेषताएं उनका शिल्प—और कुल मिलाकर उनके कवि-व्यक्तित्व विशिष्ट हैं। यहां उनकी विशिष्टताओं पर बात नहीं हो सकती।

प्रगतिशील कवियों ने प्रकृति, विशेषतः ग्रामीण प्रकृति, के अनुपम चित्र खींचे, इसीलिए उनकी कविताओं में इंद्रिय-बोध की सजगता है। उन्होंने तद्भव पदावली का उपयोग किया। वाक्य गठन ठीक रखा। अतः हिंदी भाषी की प्रकृति उनके यहां सुरक्षित रही। उन्होंने लोक प्रचलित तथ्यों, छंदों, काव्य रूपों का सर्वाधिक उपयोग किया। भवानी प्रसाद मिश्र इस विषय में अग्रगण्य हैं।

नारेबाजी दोष नहीं, नारे लिख पाना कोई आसान काम नहीं। दोष रूढ़िग्रस्तता या अनदेखे ही कविताएं लिखने में है। पार्टी जिन लक्ष्यों के लिए आंदोलन कर रही है, उससे रागात्मक संबंध जोड़कर अच्छी कविताएं लिखी जा सकती हैं—जैसे शमशेर सिंह ने शांति आंदोलन पर *अमन का राग* लिखा। किंतु पार्टी निर्देशों पर ही कविता लिखना, काव्य रचना नहीं। कविवर शील के यहां इस विषय में दोनों कोटियों की कविताएं मिल जाती हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिशील काव्य की तुलना भक्ति काव्य से की—उनके अनुसार दोनों महान मानवीय उद्देश्यों से परिचालित हैं।

सन 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और 1943 में यानी ठीक द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अज्ञेय के संपादन में *तारसप्तक* प्रकाशित हुआ। *तार सप्तक* में गजानन माधव मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचंद जैन और अज्ञेय की कविताएं संकलित थीं। इनमें संकलित अधिकांश कवि प्रगतिशील थे। अनेक ने अपने को कम्युनिस्ट घोषित किया था। अनुमानतः उन दिनों अज्ञेय भी प्रगतिशील लेखक संघ से संबद्ध थे। फिर भी इस संकलन में मोहभंग, अवसाद, और व्यंग्य-विद्रूप का उभरता हुआ स्वर मौजूद था। अज्ञेय ने लिखा *वंचना है चांदनी यह*, प्रभाकर माचवे की पंक्ति—*बिज्जा काया के दो पद्द। सुनकर चित्त हुआ गद्‌गद।* नेमिजी की *मनःस्थिति—साइरन बज जाने के बाद सन्नाटे जैसी।* कालांतर में विशेषतः *दूसरा सप्तक* में इन प्रवृत्तियों की बढ़ोतरी हुई और प्रयोगवाद की लहर आई। विश्व युद्ध के दौरान और

अज्ञेय

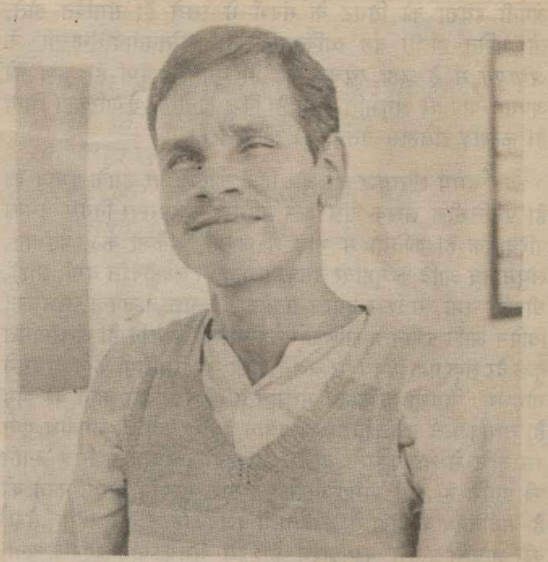

नागार्जुन

उसके उपरांत फ्रांस में अस्तित्ववाद का प्रचार हुआ और बाद में भारत में भी कुछ साहित्यकारों पर इसका प्रभाव पड़ा। फ्रांस और यूरोप में मृत्युबोध, अनिश्चय, इतिहास की व्यर्थता आदि के ऐतिहासिक कारण थे। द्वितीय विश्वयुद्ध नाजीवाद एवं फासीवाद का वर्चस्व इसके प्रमुख कारण थे जिन्होंने मानव इतिहास की उपलब्धियों को मटियामेट कर दिया था। किंतु भारत में बहुत कुछ यह पश्चिम की नकल पर फैशन के रूप में आया। अज्ञेय से अधिक इसका प्रभाव अज्ञेय के अनुवर्तियों और नई कविता पर पड़ा।

अज्ञेय की कविता में भाव एवं इंद्रिय-बोध की अपेक्षा विचार-तत्व अधिक है। संभवतः इसीलिए उनकी कविताओं में सूत्र एवं निष्कर्ष आधार महत्व के होते हैं। समाजवाद समष्टि पर अधिक बल देता है। सामाजिक और सांस्थानिक सत्ताएं मित्रता की उपेक्षा करती हैं। व्यक्ति का दमन भी। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी सर्जना क्षतिग्रस्त होती है। अज्ञेय मूलतः सामूहिकता, एकरूपता के विरुद्ध निजता, स्वायत्तता की सुरक्षा के कवि हैं। उनके बिंब भी ऐसे हैं जो मानो एकरूपता को तोड़ते हों—एक बूंद सहसा उछली उनका प्रतीक बिंब है। अज्ञेय की कविता *सम्राज्ञी का नैवेद्यदान* में इस निजता स्वतंत्रता की नैतिकता व्यस्त है। 'नदी का द्वीप' व्यक्ति को देश से काटता है तो क्षणवाद इतिहास से। फिर मौन स्वर्ण स्वाभाविक लगता है। अज्ञेय पर अस्तित्ववाद का प्रभाव है, वह अस्तित्ववादी नहीं हैं। अज्ञेय अस्तित्ववादी से अधिक रहस्यवादी हैं—शब्दों में मुक्ति ढूंढने के प्रयासी। वह

अपनी इयत्ता को विराट के संदर्भ में रखते हैं। समर्पित होते, तो भक्ति होती। वह व्यक्तिवादी हैं। अस्तिववाद 'भारती' के *अंधायुग* में है जहां रथचक्र टूटे हैं। युग ही अंधा है। कृष्ण को अपराध-पाप की अनुभूति होती है। किंतु दोनों की वैचारिकता भिन्न है। *कुरुक्षेत्र* इतिहास-चेतना की स्वीकृति है।

यह समय शीतयुद्ध का और हिंदी कविता पर उसके प्रभाव का है। प्रगतिशील लेखक संघ और परिमल का परस्पर-विरोध उसका परिचायक है। कविता में भीड़ में अकेले, अकेला कंठ, पहचान, लघुमानव आदि के मुहावरे उसका प्रभाव हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा, साही, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कैलाश वाजपेयी, मलयज, विपिन आदि प्रधानतः क्षणिक मनःस्थितियों के कवि हैं। अंतस्समित कुछ देर तक एक विषय पर चलने वाली मनःस्थितियों के नहीं। इनमें मोहभंग, निराशा के बहाने मूल्यांधता को रेखांकित करने की होड़ है। तथाकथित नई कविता की प्रधान प्रवृत्ति यही है। जगदीश गुप्त इस दृष्टि से नई कविता वाले नहीं। उनमें कविता में चित्र बनाने की प्रवृत्ति है। यहां सामाजिकता का स्पर्श मूल्यांध विरोध करने को है—सर्वनिषेध की मुद्रा में। कविता में बजबजाहट, घाव, हिंसा, सैक्स की आवृत्ति-प्रवृत्ति का प्रारंभ है। इस समय पत्रिकाएं—*कल्पना, धर्मयुग, ज्ञानोदय, निकष, युगचेतना* आदि हैं जो कमोबेश प्रगतिशीलता का विरोध करती हैं। नामवर सिंह *कविता के नए प्रतिमान* में नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की कम से कम चर्चा करते हैं। मुक्तिबोध का सामाजिक-ऐतिहासिक महत्व लगभग अनदेखा है। बिंब, प्रतीक, सपाटबयानी पर ज्यादा ध्यान है, काव्य की वस्तु पर कम। यहां तक कि नेमिचंद्र जैन ने *कविता के नए प्रतिमान* के लेखक पर रूपवाद का प्रभाव देखा। रूपवाद, रूप-विश्लेषण नहीं।

अलगाव, आत्मनिर्वासन, अजनबीपन, अस्मिता, स्वातंत्र्य शब्दों का उपयोग नई कविता वाले करते थे—समाजवादी या सामाजिकता पर बल देने वाली कविताओं को रीतिबद्ध कहने के लिए। उनका टाट उल्टा मुक्तिबोध ने—काव्य रचना के द्वारा और आलोचना के द्वारा।

संकट की पहचान प्रेरणा भी बनती है। मुक्तिबोध अपने को नई कविता का कवि कहते हैं। उन्होंने अजनबीपन, अलगाव, महानगरीय बोध आदि को ठेठ भारतीय सामाजिक-ऐतिहासिक स्थितियों से जोड़ा। वह अलगाव, अजनबीपन को सार्त्र, कामू और उनकी नकल करने वाले समकालीन विचारकों से भिन्न भारतीय संयुक्त परिवार के विघटन से जोड़ते हैं। कहीं न कहीं वह हिंदी आलोचना—रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान और नामवर सिंह की आलोचना—को अपर्याप्त अनुभव करते हैं और शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन की मार्मिक समीक्षाएं लिखते हैं। मानो घोषित करते हों कि प्रगतिशील कवि मानव मन की गहराइयों में तथाकथित नई कविता वालों से ज्यादा उतरते हैं।

और मुक्तिबोध की कविता मानव मन की गहराइयों की कविता है। विशेषता यह कि उनका मानव, स्वातंत्र्योत्तर भारत का, प्रधानतः मध्यवर्गीय व्यक्ति है, जो सुविधा-जीविता और आदर्शवादिता के द्वंद्व में ग्रस्त है। वह उदास आदर्शों और टुच्ची कमजोरियों—दोनों से आविष्ट हैं। यह वास्तविक आत्मविभाजन है—वास्तविक अलगाव है जिसके कारण वह अपूर्ण है। उसकी अस्मिता अंतस्संबद्धता लोगों से जुड़कर भीड़, सड़क पर साकार होती है, पहचान में आती है। *अंधेरे में* का सुविधाजीवी वाचक, तालस्ताय, गांधी, तिलक से साक्षात्कार करता है, शोषक सत्ता के दमन का शिकार होता है और वह संघर्षशील इतिहास पुरुष मनु में परिणत होता है। मुक्तिबोध तीव्र इंद्रिय बोधात्मकता, गहरे भावों के कवि हैं। वह नए बिंब, सादृश्य विधान, नई शब्द योजना का आविष्कार करते हैं। वह नई सर्जनात्मकता और सौंदर्यबोध के प्रतिमान रचनाकार हैं। उनका ज्ञानात्मक संवेदन भारतीय काव्यशास्त्र के 'रस' की अवधारणा के निकट लगता है और सकर्मकता का आग्रह आचार्य शुक्ल के कर्म-सौंदर्य के निकट।

मुक्तिबोध की मृत्यु 1964 में हुई—नेहरू के निधन वर्ष। नेहरू का निधन स्वातंत्र्योत्तर भारत में निराशा और मोहभंग की पहचान है। यह मोहभंग *तारसप्तक* में पाए जाने वाले मोहभंग जैसा केवल बौद्धिक नहीं। यह हमारे देश के एक दौर का मोहभंग है। मोहभंग शासक-शोषक सत्ता से। कुछ दिनों बाद नक्सलबाड़ी विद्रोह हुआ। आर्थिक विषमता और बढ़ी। कथनी-करनी का अंतर बहुत बढ़ा। इस विसंगति को गद्य में परसाई और अमरकांत ने उद्घाटित किया। कविता में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल ने।

धूमिल इस विसंगति को चुटीली उक्तियों से ढालते हैं। उन्होंने महत्वपूर्ण काम यह किया कि मूल्यांध अकविता को सामाजिक-ऐतिहासिकता की ओर उन्मुख किया। उनकी राजनैतिक समझ विश्वसनीय नहीं थी। वह देखते कम, सूंघते ज्यादा थे।

और इस तरह हिंदी में 1970 के आसपास से सामाजिक-चेतना वाली वामपंथी, जिसे कुछ लोगों ने नववामपंथी कविताओं का दौर कहा है, नए सिरे से शुरू हुआ। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन—और शमशेर भी फिर से महत्वपूर्ण हो गए। रामविलास शर्मा ने इन पर नए सिरे से समीक्षा लेख लिखे। नामवर सिंह को ये कवि गैर-प्रगतिशील नई कविता वाले कवियों से ज्यादा महत्वपूर्ण लगे। अनुभव किया गया कि नागार्जुन के दोहों, केदारनाथ अग्रवाल की छंदोबद्ध कविताओं, त्रिलोचन की अवधीसिक्त पंक्तियों में नए कवियों से ज्यादा ताजगी है।

इसका एक और प्रभाव पड़ा, जो कम महत्वपूर्ण नहीं। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह और विजयदेव नारायण साही की कविताओं पर भी सामाजिक दबाव दिखलाई पड़ने लगा। केदारनाथ सिंह ने अपनी अपूर्वता में उत्कृष्ट नए गीतकार के रूप में कविता प्रारंभ की थी। वह लोकधुनों का उपयोग करते थे। आंचलिकता कथा साहित्य में ही नहीं, कविता में भी आई थी। शंभुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, नामवर सिंह, रामदरश मिश्र, रवींद्र भ्रमर, वंशीधर पंड्या आदि की कविताओं के माध्यम से। केदारनाथ सिंह *तीसरा सप्तक* के कवि हुए। फिर आधुनिक हुए, आप नागार्जुन के दोहों को तुलसी या बिहारी के दोहों की तरह नहीं पढ़ सकते। पढ़ेंगे तो अर्थ-बोध को गुंजाने वाली लय पुंछ जाएगी। वैसे ही त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल का रोला। काव्य की अंतर्वस्तु का सर्वाधिक तात्कालिक रूपांतर या सर्वाधिक विश्वसनीय वाहक और व्यंजक लय है। वह लय नई अंतर्वस्तु को प्रकट करके खुद अपूर्व हो जाएगी। रघुवीर सहाय की कविता में जातीय छंदों में कविता लिखने की साधना है—

कविता

महुवा

शमशेरबहादुर सिंह

यह अजब पेड़ है जिसमें कि जनाब
इस कदर जल्द कली फूटती है
कि अभी कल देखो
मार पतझड़ ही पतझड़ था इसके नीचे
और अब
सुर्ख दिये, सुर्ख दियों का झुरमुट
नन्हे-नन्हे, कोमल
नीचे से ऊपर तक—
झिलमिलाहट का तनोबा मानो—
छाया हुआ है। यह अजब पेड़ है।
पत्ते कलियां
कत्थई पान की सुर्खी का चटक रंग लिए—
इक हंसी की तस्वीर—
(खिलखिलाहट से मगर कम-दर्जे)
मेरी आंखों में थिरक उठती है।

मुझको मालूम है, ये रंग अभी छूटेंगे
गुच्छे के गुच्छे मेरे सर पै हरी
छतरियां तानेंगे : गुच्छे के गुच्छे ये
सरसब्ज चंबर झूमेंगे,
फिर भी, फिर भी, फिर भी
एक बार और भी फिर शाम की घनघोर घटाएं
—आग-सी जैसे लगी हो हर-सू—
सर पै छा जाएंगी :
कोई चिल्ला के पुकारेगा, कि देखो, देखो
यही महुवे का महावन है! ❑

—मई, 1953

एक सानेट

त्रिलोचन

ताज्जुब है मुझको त्रिलोचन कैसे इतना
अच्छा लिखने लगा? धरातल उसके स्वर का
तिब्बत के पठार-सा ऊंचा अब है। जितना
ही गुनता हूं इस पर, कुछ रहस्य अंदर का
मुझे भासने लगता है। यह उसके बस का
काम नहीं है। होगा कोई और खिलाड़ी
जिसका यह सब खेल है, मुझे तो अब चस्का
लगा रहस्योद्घाटन का है। खूब अगाड़ी
और पिछाड़ी देख-भालकर बात कहूंगा
मैंने तो रहस्य अब तक कितनों के खोले
हैं। न इस नई धारा में निरुपाप बहूंगा
मेरे आगे बड़ों-बड़ों के धीरज डोले
एक फिसड्डी आकर अपनी धाक जमाए
देख नहीं सकता हूं मैं यों ही मुंह बाए। ❑

—मई, 1953

राष्ट्रगीत में भला कौन वह भारत भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका गुन हर चंरना गाता है।

क्या यह छंद आधुनिक भाव-बोध का बाधक है? कवि यहां नागार्जुन के निकट है।

रघुवीर सहाय ने पत्रकारिता का काव्य रचना में भरपूर उपयोग किया है। उन्होंने संवेदना-हीनता के अनेक रूप चित्रित किए हैं। संवेदना-हीनता और पाखंड के हंसी रूप ने उन्हें बहुत विचलित किया है। मूल्य-मृत परिवेश, जो मृत्यु से कहीं अधिक दारुण है, उनकी परवर्ती का मुख्य विषय है। उनकी एक पंक्ति है—*आज का पाठ है मृत्यु के साधारण तथ्य*।

अब हत्या, असामाजिक काम डंके की चोट पर होते हैं। रामदास की हत्या, हमारे परिवेश की दहशत प्रकट करती हैं और *सड़क-एक रपट*—अपसंस्कृति का रक्तपायी चेहरा।

ध्यातव्य है कि रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, साही, प्रारंभतः अज्ञेय के अनुवर्ती थे, सहयोगी थे। लेकिन इन कवियों का विकास अज्ञेय की भिन्न दिशा में हुआ। सर्वेश्वर ने *भेड़िया* जैसी कविताएं लिखीं। उन्हें वामपंथी कविताप्रेमियों ने अपना पक्षधर कहा। साही ने साखी में कबीर को 'महागुरे' कहा। परिमल में सक्रिय इन कवियों की जो सामाजिक प्रतिबद्धता दमित थी वह ऐतिहासिक दबाव से अभिव्यक्त हुई, वस्तुस्थिति की धार बनकर।

भारत विशाल और विषम-वर्गीय देश है। उपभोक्ता अपसंस्कृति धोखाधड़ी से कमाए हुए अनावश्यक धन का अश्लील प्रदर्शन करती है। लेकिन बेकार, बेरोजगार, अभावग्रस्त लोगों की संख्या बढ़ती जाती है। धन का अश्लील प्रदर्शन 'विशिष्ट उपभोक्ता' बेरोजगारों को अपराधकर्मी बनाती है। समकालीन भारत के कवि को इतिहास ने यही परिवेश दिया है—यही यथार्थ है जिसको उसे अभिव्यक्त करना है। विचारधारा सामाजिक न भी हो, तो भी यथार्थ की दारुण विषमता आपको संवेदित करेगी। इसीलिए नई कविता की परवर्ती समकालीन कविता में इस विसंगति के आक्रोश का स्वर और भी तेज हुआ है—अन्य कई बातों के साथ-साथ। ❑

कविता : सर्वेक्षण–2

आक्रोश से अवरोध तक

नई कविता से आज तक के परिदृश्य पर **विजयकुमार**

आजादी के बाद लगभग डेढ़ दशक तक भारत की राजनीति पर नेहरू छाए रहे और हिंदी की नई कविता पर अज्ञेय! दोनों ही भव्यता के प्रेमी, स्वप्नजीवी और अपनी ही रूमानी छवि के बंदी। दोनों ने मनुष्य और समाज के बारे में कुछ झिलमिल बातें कीं। नेहरू सामंती ढांचे को तोड़े बिना, एक आधुनिक औद्योगिक पूंजीवादी ढांचे को खड़ा करना चाहते थे, अज्ञेय भारतीय संस्कृति के दार्शनिक भाववाद से लड़े बिना आधुनिकता बोध, बुद्धिवाद और व्यक्ति स्वातंत्र्य को स्थापित करना चाहते थे। घालमेल की यह कोशिश भारतीय राजनीति और नई कविता आंदोलन—दोनों ही जगह अपने अंतर्विरोधों को एक चकाचौंध द्वारा ढक लेना चाहती थी। आजादी के डेढ़ दशक बाद दोनों ही शलाका पुरुषों के साथ इतिहास ने क्रूर मजाक किया। राजनीति और सृजनात्मकता में स्वप्नभंग के दौर समानांतर रहे। कवि-आलोचक स्व. मलयज ने नेहरू और अज्ञेय की छवियों को ध्वस्त होने की कुछ दिलचस्प समानताएं ढूंढी हैं। मलयज लिखते हैं—"दोनों ही जगहों पर कोई बुनियादी चीज छूट गई थी। शायद यह कि वह 'साईं' बाहर ही बसता था। वह वर्ग पोषित नर, जिसकी आंखों में नारायण की व्यथा भरी रहती है। अतः नेहरू के स्वप्न दर्शन के अंत ने स्वप्नभंग से उत्पन्न स्थितियां दीं : अनस्थिरता और विघटन, जिसमें तमाम सारी शक्तियां जूझकर समाज के एक गतिशील यथार्थ को प्रकाशित कर रही हैं, असंतोष और आक्रामकता, जिसमें नई युग पहचान की संभावनाएं टूट-बन रही हैं, एक प्रजातंत्र जो तपने के लिए आग में जल रहा है। अज्ञेय के स्वप्न दर्शन के अंत ने हमें आज की युवा कविता दी। आशंका और संभावना के ध्रुव बिंदुओं पर झूलती एक काव्य पीढ़ी, एक दुःस्वप्न जो कविता के भविष्य से ज्यादा मनुष्य के भविष्य को लेकर है, एक वर्ग चेतना जो राजनीति, कली और फूल के भेद को पहचानती है, पर इस ज्ञान से उसकी मुट्ठी से सिर्फ धुंआ निकलता है, एक कविता जो यथार्थ को सहनीय नहीं, असहनीय बनाती है, कुछ अनाम मूल्य जो फिलहालियत में टलते जा रहे हैं।"

साठ के बाद का समय कविता में बुर्जुआ भद्रलोक की अभिजात सौंदर्यरुचियों और एक आडंबर भरे परिष्कार के समाप्त हो जाने का समय था। लगभग दो दशकों तक जारी रहा यह ऐसा परिष्कार था जो कविता और राजनीति के किसी भी प्रत्यक्ष संबंध से परहेज करता था, जिसका राजनीति विरोध समाज को बदलने वाली राजनीति के विरोध से था, जो एक लंबे समय तक आजादी की लड़ाई का श्रेय पूंजीपति वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस को देता रहा और उसे ही जनता के हितों का प्रतिनिधि मानता रहा। अज्ञेय और उनके प्रमुख सेनानायक धर्मवीर भारती, साही, कुंवरनारायण और जगदीश गुप्त मिथकों को आधार बनाकर सनातन किस्म की तनावहीन शुद्धतावादी कविता लिख रहे थे, जिसका वर्तमान की सच्चाइयों से एक खास 'टच मी नॉट' किस्म का संबंध था। आज यह बात इतिहास के क्रूर व्यंग्य की तरह लगती है कि नई कविता की लिजलिजी रूमानियत के खिलाफ सन् साठ के आसपास जब युवा कवियों का आक्रोश और अनास्था का गर्जन-तर्जन तीव्र हुआ, तभी उस रोशनी में हमारा ध्यान मुक्तिबोध की कविता की ओर गया। सच तो यह है कि नई कविता के सबसे चिकनाई भरे दिनों में भी मुक्तिबोध वर्ग विभक्त समाज में मध्यमवर्गीय बौद्धिक के दोगलेपन और आत्ममुग्धता के खिलाफ मोर्चा संभाले हुए थे। यहां इस पर आज विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है कि जिस तरह गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता की लड़ाई में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के साथ किसानों, मजदूरों का समुदाय भी था, उसी तरह प्रयोगवाद या नई कविता के आंदोलन में शुरू से ही अलग-अलग दृष्टियों के लोग साथ थे और इनकी आपसी वैचारिक टकराहटें भी बड़ी स्पष्ट थीं। अज्ञेय का व्यक्तित्व-स्वातंत्र्य साम्यवाद के खिलाफ जाता था, जबकि उसी नई कविता के भीतर मुक्तिबोध व्यक्ति स्वातंत्र्य को एक दूसरी तरह से देख रहे थे। मुक्तिबोध की काव्यभाषा का खुरदुरापन भद्रलोक की नपी-तुली और संयमित अभिव्यक्ति के खिलाफ जाता था। पूंजीवादी समाज में व्यक्तित्व विभाजन की समस्या पर उनकी बेचैनी नई कविता में एक अलग तरह के तनाव को व्यक्त कर रही थी। उनका यह अनगढ़पन महत्वपूर्ण था। मुक्तिबोध की कविता सही अर्थों में युग संधि की कविता थी और एक नई सौंदर्यदृष्टि की मांग करती थी। इसके महत्व को तब समझा गया, जब नई कविता के प्रति परवर्ती पीढ़ी का मोहभंग होने लगा। साठ के आसपास मुक्तिबोध की तनावभरी कविता सुगढ़ता, संयम और परिष्कार के प्रचलित काव्यमानों को धकियाते हुए केंद्र में आती है। इसमें भीनी-भीनी व्यथा की नीम उजास नहीं, सिर चकरा देने वाला घना अंधेरा, बावड़ियों की गहराई और खंडहरों की सुनसान भयावहता थी। अज्ञेय और उनके सेनापति भाषा में सच्चाई को ढूंढते थे, जबकि मुक्तिबोध भाषा के द्वारा सच्चाई को ढूंढते थे।

सन् साठ के बाद नई कविता के ही रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा का स्वर बहुत बदल जाता है। श्रीकांत वर्मा ने 'बुखार

में कविता' जैसी रचना 1963 के आसपास लिख ली थी। रघुवीर सहाय की कविता 'आत्महत्या के विरुद्ध' इसके थोड़े बाद की है। अपने परिवेश के प्रति एक गहरी बेचैनी, तिलमिलाहट और अनास्था का स्वर इन दोनों कवियों को इसी समय के दूसरे युवा कवियों से जोड़ता है। दरअसल 'युवा कविता' जैसे पद का चलन ही सन् साठ के बाद हुआ है।

कई बार इस बात को बड़े सरल ढंग से कह दिया जाता है कि सातवें दशक का अकविता आंदोलन गिंसबर्ग के बिटनिक आंदोलन से आरंभ हुआ था। ऐसा कहते हुए अक्सर इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया जाता है कि भारत के सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य में सन् साठ के आसपास ही इस ओर ध्यान गया कि शिक्षा की असंगतियों ने अनियोजित ढंग से आबादी का शहरीकरण किया है। अकविता आंदोलन युवा पीढ़ी के इस भौतिक और मानसिक विस्थापन, असुरक्षा बोध और विशुद्ध दैनंदिन अस्तित्व के स्तर पर झेले जाने वाले संकट की विस्फोटक अभिव्यक्ति था। वह स्वप्नभंग का आंदोलन था—किन्हीं अर्थों में एक नेगेटिव ऊर्जा का आंदोलन भी। नई कविता वस्तु-संसार में पनप रहे जिस तनाव को अपने मध्यमवर्गीय खोखले आभिजात्य से ढकना चाहती थी, साठोत्तरी कविता इस रागात्मक ऐश्वर्य के जाल को अपनी संस्कारहीन शब्दावली से छिन्न-भिन्न कर देना चाहती थी। यूरोप में जिस तरह बीसवीं सदी के प्रारंभिक दो दशकों में बुर्जुआ कला-मूल्यों के खिलाफ एक जबर्दस्त उबाल आया, वैसा ही कुछ चाय के कप में तूफान हमें अकविता आंदोलन के रूप में दिखाई पड़ता है। अकविता आंदोलन में थोड़ी-बहुत जो भी सर्जनात्मक ऊर्जा थी वह पूंजीवादी-सामंती ढांचे पर खड़े विकास में कुछ खास तरह के अंतरालों को 'एड्रेस' करती थी। ये अंतराल सामाजिक क्षेत्र में शिक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा के बीच, सांस्कृतिक क्षेत्र में परंपरागत नैतिक संस्कारों और सुख की नई अवधारणाओं के बीच, आर्थिक क्षेत्र में मेहनतकश वर्ग और नवसंपन्नों के बीच, सृजनात्मकता के क्षेत्र में शब्दों और उनके अर्थों के बीच पैदा हो रहे थे। अकविता एक खास तरह की संबंधहीनता और असामंजस्य की कविता है। उसमें ऊब, अकेलेपन, कुंठा, अवमानना, अनास्था और निषेध की अभिव्यक्ति साहित्य को शुद्धतावाद के घेरे से निकालकर सीधे-सीधे अपने समय की अनैतिकता, अव्यवस्था, विघटन, रुग्णता और रोजमर्रा के तनाव में अवस्थित कर देना चाहती थी।

अकविता आंदोलन में राजकमल चौधरी के अलावा गंगाप्रसाद विमल, श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, विष्णु चंद्र शर्मा, चंद्रकांत देवताले, परेश आदि दर्जनों कवि शामिल थे। पर आज हम केवल राजकमल चौधरी और सौमित्र मोहन को ही याद करना चाहते हैं। राजकमल चौधरी का व्यक्तिवाद उतना ही प्रबल था जितना नई कविता के पुरोधा अज्ञेय का, पर राजकमल का मिथक अज्ञेय के मिथक की एंटीथिसिस लगता है। बाहर और भीतर के फर्क को उन्होंने एक खास तरीके से मिटा डाला था। निजी 'सफरिंग' से एक काव्यात्मक दूरी राजकमल चौधरी के यहां लगभग मिट गई थी। राजकमल की कविता सर्वनिषेध की कविता इस अर्थ में है कि वहां बाहर कुछ नहीं रह गया था जिसे बौद्धिक की परंपरागत छवि के सहारे जिलाए रखा जा सके, भीतर भी कुछ ऐसा नहीं था जिसकी ओट की जा सके—जिसके भीतर 'महिमामय दाता जाग सके'। पर उनका सारा विद्रोह एक स्वतः स्फूर्तिवाद के दायरे में कैद है और किसी वैचारिक परिप्रेक्ष्य के अभाव में अंततः एक आत्मघाती किस्म के विघटन की ओर जाता है। सार्त्र ने ज्यां जेने के बारे में एक जगह लिखा है कि "जेने की कविताओं में भावनाओं की हिंसक गति में कवि रिक्त-सा पीछे छूट जाता है।" राजकमल की भी यही स्थिति है। संक्रांति युग की यंत्रणा मुक्तिबोध भी सहते हैं, पर मुक्तिबोध का तनाव एक परिप्रेक्ष्य हासिल कर आत्मसंघर्ष की ओर बढ़ता है। राजकमल चौधरी के यहां विशुद्ध प्रकृतवाद था—एक बेलौस किस्म का प्रकृतवाद। यह सच है कि अकविता एक निरे उबाल की कविता थी और वह नई कविता के मध्यमवर्गीय रोमान का विरोध एक 'लुंपैन' किस्म के रोमान से करना चाहती थी, पर यह भी सच है कि राजकमल चौधरी को जो चीज बाकी अकवियों से अलग कर देती थी, वह थी उनकी अनुभूति में छिपी घुमड़न और अकृत्रिम तकलीफ। रुग्णता, पराजय और ध्वंस के कगार से जीवन की ओर लौटने की उनकी असंभव-सी जिद कई स्तरों पर उनकी कविता को बेहद मर्मस्पर्शी बनाती है। वैचारिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर कई बार रचनाकार रद्द कर दिए जाते रहे हैं पर उनके अनुभव जगत में छिपा तनाव बावजूद इसके आने वाले समय के लिए भी प्रासंगिक बना रहता है—राजकमल चौधरी ऐसे ही कवियों में से हैं।

रेखांकन : रामबली

सातवें दशक का उत्तरार्ध और भी गहरे आर्थिक संकट से घिरा हुआ था। विदेशी सहायता पर निर्भरता बढ़ती जा रही थी। घाटे का बजट मुद्रास्फीति को जन्म दे रहा था। खाद्यान्नों का भारी मात्रा में आयात किया जा रहा था। उत्पादन की गति में धीमापन बेरोजगारी को बढ़ावा दे रहा था। वास्तविक मजदूरी में गिरावट आ रही थी और आम जनता के उपभोक्ता स्तर की विकट स्थिति

थी। ये स्थितियां एक आने वाले तूफान की ओर ले जा रही थीं। यह बात खुलकर सामने आने लगी थी कि यदि प्रौद्योगिकी विकास का स्वरूप सामाजिक ढांचे की आधारभूत विसंगतियों से नहीं जूझता तो विकास के साथ-साथ गरीबों और अमीरों के बीच की दूरी भी क्रमशः बढ़ती चली जाती है। नेहरू अपने अंतिम दिनों में इसे स्वीकार करने लगे थे। 1966 में रुपये के अवमूल्यन ने इस ह्रासोन्मुख स्थिति के प्रति आम जनता की हताशा को और तीव्र कर दिया था। 1967 के आम चुनाव में सत्तारूढ़ दल के प्रति जनता का गुस्सा देखने लायक था। नौ राज्यों में कांग्रेस चुनाव हारी। आर्थिक संकट एक राजनीतिक संकट में तब्दील होने लगा था। आम हड़तालें, संसद के सम्मुख विशाल प्रदर्शन और पुलिस के साथ मुठभेड़ें—चारों तरफ एक उबाल था। 1964 में वामपंथी दल में विभाजन हो गया था। इसका लाभ 1967 के चुनावों में दक्षिणपंथी दलों को मिला। विषम आर्थिक स्थिति, भूमिहीन किसानों की बढ़ती हुई संख्या और संसदीय प्रणाली के प्रति जनता की आम निराशा के बीच से 1967 में नक्सलबाड़ी में सशस्त्र किसान विद्रोह फूट पड़ा। नक्सलबाड़ी आंदोलन ने परिवर्तनकामी कलाकारों-संस्कृतिकर्मियों के बड़े वर्ग की चेतना को भी झकझोरकर रख दिया।

"सातवें दशक की इस कविता के 'कंटेंट' में कई परिवर्तनों को एक साथ घटते हुए देखा जा सकता है। ज्यादातर रचनाकार मध्यवर्ग या निम्न मध्यवर्ग से आए थे। ये सभी अपने भाव जगत को किसान और मजदूर वर्ग की वस्तुस्थिति से जोड़ना चाहते थे।"

इस आंदोलन से प्रभावित धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, अलोकधन्वा, वेणुगोपाल, कुमार विकल, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, विजेंद्र अनिल आदि कवियों की एक नई पीढ़ी का उदय हुआ। रचनाकर्म में राजनीतिक विचारधारा और प्रतिबद्धता का प्रश्न एक नई स्फूर्ति और संकल्प के साथ उठा। पांचवें दशक की प्रगतिशील कविता के छूटे हुए धागे इस दौर की कविता से पुनः जुड़ने लगे। मुक्तिबोध का काव्य व्यक्तित्व, उनका आत्मसंघर्ष और उनकी सौंदर्यशास्त्र संबंधी चिंताएं बहस के केंद्र में आ गईं। दशक के पूर्वार्द्ध में युवा मानसिकता में जो अराजक किस्म का आक्रोश और 'सिनिसिज्म' फूटा था, उसे बहुत जल्दी एक संकल्पधर्मी, उग्र और युयुत्सु वामपंथी राजनीतिक चेतना ने अपदस्थ कर दिया। रचनाधर्मिता में संशयवाद की जगह प्रतिबद्धता ने ले ली।

सातवें दशक की इस कविता के कंटेंट में कई परिवर्तनों को एक साथ घटते हुए देखा जा सकता है। ज्यादातर रचनाकार मध्यमवर्ग या निम्न मध्यमवर्ग से आए थे। ये सभी अपने भावजगत को किसान और मजदूर वर्ग की वस्तुस्थितियों से जोड़ना चाहते थे। इसलिए कविता की मुद्रा में एक तरह का आवेश भरा दायित्व बोध या मुखर नैतिक आग्रह है। लगभग दो दशक तक हिंदी कविता की मुख्यधारा एक खास तरह की समाज निरपेक्षता से होकर गुजरी थी। दो दशकों का यह अंतराल सातवें दशक के इन सभी युवा कवियों की चेतना पर एक अपराध बोध की तरह छाया हुआ है। अपनी पक्षधरता को पुनर्भाषित या पुनर्निर्धारित करने की उनकी व्यग्रता गहरी नींद से अचानक जाग पड़े आदमी की हड़बड़ाहट जैसी लगती है। एक कवि कहता है कि यह कविता 'कविता नहीं गोली दागने की समझ है'। दूसरा कवि कविता को पहले 'एक सार्थक वक्तव्य' मानता है। तीसरा कवि अपनी कविता में 'शोषक वर्ग की मौत का ऐलान' करने लगता है। कविता की यह आवेश भरी संकल्पधर्मिता भीतर से बाहर की ओर यात्रा करने लगती है। कवि अपने 'स्व' से आक्रांत है। इस 'स्व' ने निकट अतीत में बड़े-बड़े गुल खिलाए हैं। कवि इस 'स्व' का पूर्ण निषेध कर देना चाहता है—एक मुखर उद्घोष और संकल्पधर्मिता के सहारे। वह अपनी पक्षधरता को लेकर दूसरों को आश्वस्त करना चाहता है—और प्रकारांतर से स्वयं को भी आश्वस्त कर लेना चाहता है।

यहां कवि एक ऐसे नौजवान के शक और गुस्से से भरा हुआ है जिसे अपने वयस्क हो जाने का अचानक इलहाम हुआ है और जो आजादी और लोकतंत्र के नाम पर चलते हुए तमाशे को समझ गया है। दूसरी ओर जनता का एक बड़ा वर्ग अभी भी इस नाटक को समझ नहीं पा रहा है। जनता इस सुविधाभोगी वर्ग के लिए 'एक ऐसी भीड़ है' जो दूसरों की ठंड के लिए अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है 'क्योंकि अनेक मोहभंगों के बावजूद' उसको समझा दिया गया है कि *यहां ऐसा जनतंत्र है जिसमें जिंदा रहने के लिए घोड़े और घास को एक जैसी छूट है* (धूमिल)। सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में लिखी गई इस कविता में दरअसल जनवाद का पहला चरण यहीं तक आकर पूरा भी हो जाता है। धूमिल हों या आलोकधन्वा या वेणु गोपाल—ये सभी अत्याचारी संस्कृति के शोषक रूपों के एक संज्ञान के स्तर पर ही इस दौर की कविता में रख पाते हैं, उसकी क्रियाविधि और विविध वर्णी छायाओं की शिनाख्त इस समय तक नहीं हो पाती। कविता में एक ओर कवि की सदाशयता भरी संकल्प चेतना है जनसाधारण से जुड़ने की, तो दूसरी ओर दबी-कुचली बेबस जनता है—दोनों अपने-अपने वृत्तों में कैद। न यह एक कदम आगे बढ़ता है, न वह। न पहले पक्ष को अपनी समस्त बेचैनी और उद्घोषणाओं के बावजूद यह समझ में आता है कि वह कैसे वस्तुगत यथार्थ का एक हिस्सा बन जाए और न दूसरे पक्ष में इस तंत्र से लड़ने की कोई हलचल है क्योंकि वह तो कवि की चेतना में एक ठंडी निर्जीव पैसिव इकाई भर है। सातवें दशक के अंत से आठवें दशक के शुरू तक—यानी 1967 से 1974 तक लिखी जाती रही इस कविता में जनवादी अभिव्यक्ति का जो रूप उभरा उसे युवा कवि-आलोचक मनमोहन ने अपने महत्वपूर्ण लेख 'जनवाद के हमारे दौर में यथार्थवाद का मसला' में 'वालंटरिज्म' कहा है। वह कहते हैं: "यथार्थ वहां लेखक की इच्छाओं और आत्मगत प्रतिक्रियाओं का बाईप्रोडक्ट है और परिप्रेक्ष्य की जगह दिवास्वप्नों ने घेर रखी है। अनेक फैंटम वहां हैं जो एक ओर संकटापन्न पैटी बुर्जुआ की उच्छिन्नमूलता, बेचैनी और अधीरता को व्यक्त करते हैं तो दूसरी ओर यह भी सिद्ध करते हैं कि यह बेचैनी क्रांतिकारी परिवर्तन प्रक्रिया से जुड़ना चाहती है, लेकिन क्रांति की एक ठोस सामाजिक और सुदीर्घ प्रक्रिया के

रूप में कोई विधायक परिकल्पना इस साहित्य में नहीं उभरती।" दरअसल यह सिर्फ संयोग नहीं था कि इस दौर में कवि अपनी वर्ग स्थिति और अपने वस्तुगत यथार्थ के अंतराल को पाटने के लिए कभी एक अतिशयोक्ति और आवेश भरी संकल्पधर्मिता की ओर जाता था और कभी एक खीझ में डूबी आत्मग्लानि की ओर। 'विपक्ष में सिर्फ कविता है' कहने वाले कवि के मन में यह भी संशय उठने लगता था कि *जब इससे न चोली बन सकती है न चोगा, तब इस ससुरी कविता को जंगल से जनता तक ढोने से क्या होगा?* यह सच है कि उत्पादन शक्तियों के संघर्ष से विच्छिन्न अवसरवादी मध्यमवर्ग की सही नब्ज पर यह कविता उंगली रखती थी, पर साथ ही यह भी सच है कि मध्यमवर्ग की ही विभिन्न श्रेणियों का गतिशील यथार्थ इस कविता के अनुभव का हिस्सा नहीं बन पाया था। सामाजिक परिवर्तन में मध्यमवर्ग की भूमिका को कवि अभी लक्षित नहीं कर पाया था। यही कारण है कि अपनी समस्त बेचैनी के बावजूद इस कविता का अनुभव एक आर्गेनिक किस्म का अनुभव नहीं था, जिसमें वास्तविकता एक जिए गए जीवन के सांस्कृतिक मूल्यबोध, उसकी संवेदना, उसके दैनंदिन साधारण यथार्थ में गुंथकर आती है। धूमिल, कुमार विकल, लीलाधर जगूड़ी, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, आलोकधन्वा या वेणुगोपाल जैसे कवियों की इस दौर की कविता में मनुष्य सिर्फ एक राजनीतिक प्राणी है। अकेले और अरक्षित मनुष्य का किस प्रकार का मनोविज्ञान इस अमानवीय व्यवस्था में बन रहा है, उसका अपने समय के दूसरे मनुष्यों, वर्गों और स्थितियों के साथ किस तरह का रिश्ता है, एक जटिल समय में यथार्थ की कितनी श्रेणियां हैं, इसका प्रत्यक्ष संज्ञान और एंद्रिक बोध पर आधारित कोई हवाला इन कवियों के यहां नहीं मिलता था। इन बाहर आए हुए लोगों की कविता का अपने समय के आम नागरिक से संबंध केवल कुछ सतही सामान्यीकरणों में ही बनता था और कवि की बेचैनी एक भावोच्छ्वास के बाद अंततः आत्मतुष्टि की ओर लौट जाती थी। एक आसन्न क्रांति के प्रति आश्वस्त और अपनी अवधारणाओं के किले में बैठा कवि शुरू से अंत तक सुरक्षित रहता था। सबसे अजीब परिणति इस काव्यमुद्रा की यह हुई कि रचनाकार ने कविता में व्यक्त युयुत्सा भाव को ही वास्तविक समाज संघर्ष का स्थानापन्न बना लेना चाहा। क्रांति के सरल भविष्यवाद और गर्जन-तर्जन की डॉन क्विग्जोटी मुद्राओं वाली इस कविता को आपातकाल की निर्मम सच्चाइयों से जबर्दस्त झटका लगा और सन् 1977 के बाद यह उफान लगभग बैठ गया अथवा कहें कि आजादी के बाद लिखी गई जनवादी कविता का पहला चरण पूरा हुआ।

आपातकाल के डेढ़ वर्षों के उस क्रूर और हिंसक समय ने दुस्साहसी काव्य मुद्राओं के भीतर छिपी वंचना को उघाड़ कर रख दिया। इस बीच धूमिल का दुखद निधन हो गया और उनके बाद व्यवस्था-विरोध की उस भंगिमा और मुहावरे को आगे बढ़ाने वाला दूसरा वैसा कोई ऊर्जस्वी काव्य-व्यक्तित्व रहा नहीं। धूमिल ने भाषा को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया था और अपने समय की मौजूदा परिस्थितियों में अपने मुहावरे को उसकी लगभग अंतिम संभावनाओं तक पहुंचा दिया था। वैसे भी यह देखा गया है कि सभी महत्वपूर्ण रचनाकारों की शैलियां और मुहावरे अपनी मूल प्रकृति में एकाधिकारवादी होते हैं। यही कारण है कि धूमिल की काव्यभाषा और मुहावरे कुछ दूसरे कवियों के यहां तो लगभग एक हास्यास्पद काव्यरूढ़ि में बदलने लगे थे। धूमिल विपक्ष की कविता को बाहर-बाहर से लेकर आगे बढ़े थे। कवियों की परवर्ती पीढ़ी को अब इस विरोध को उसकी आंतरिकता और जटिलता में पाना था। एक बात जो कम रेखांकित की जाती है, वह यह कि सातवें दशक में जिस समय बहुत-से कवि बुर्जुआ संसदीय प्रणाली को अप्रासंगिक मानते हुए किसानों-मजदूरों की फौरी क्रांति की कविता लिख रहे थे, उसी दौर में रघुवीर सहाय जैसा कवि भी था जो 'सुपरस्ट्रक्चर' के अंतर्विरोधों को जानते हुए मध्यमवर्ग के जटिल संसार की अपेक्षाकृत एक ज्यादा कठिन और विकल कविता लिख रहा था। आपातकाल की घटनाओं ने फौरी क्रांति की कविता के अंतर्विरोधों को उजागर कर दिया, जबकि आपातकाल के बाद रघुवीर सहाय की कविता से युवा कवियों की एक पूरी पीढ़ी को नई दिशा मिली। इसके कारणों में विस्तार से जाने का यहां अवकाश नहीं है फिर भी संकेत सूत्र के रूप में कुछ बातों को उठाया जा सकता है।

1980 में कविता की प्रकृति में आया बदलाव अस्सी के दशक के उन परिवर्तनों से जुड़ा हुआ है जिन्होंने राजनीतिक 'कंटेंट' की नई समझ को विकसित किया। अपने सामाजिक व आर्थिक अंतर्विरोधों को ढकने के लिए आपातकाल के दौरान ही यह समझ विकसित होने लगी थी कि एक व्यापक कृषक-मजदूर समाज के अधिकारों की रक्षा के लिए मौजूदा जनतांत्रिक ढांचे को बनाया जाना भी जरूरी है। यह इस बात से भी सिद्ध हो जाता है कि 1980 में इंदिरा गांधी के सत्ता में वापस लौटने के साथ ही इजारेदार घरानों की सबसे बड़ी मुहिम जनवादी मांगों को कुचलने के लिए एक नई तरह की राजनीतिक संस्कृति को प्रोत्साहित करना रही है। इस नई कार्यशैली का सबसे बड़ा लक्ष्य मौजूदा समय में तमाम जनतांत्रिक संस्थाओं को भीतर से खोखला बना देना रहा है। बड़ी पूंजी के निवेश ने इस अभियान के तहत एक ओर जहां समाज में मध्यमवर्ग से लेकर निचले तबकों तक के मन में उपभोगमूलक, आत्मकेंद्रित किस्म की ऐसी जीवनशैली के सपने जगाए हैं जो अपने बुनियादी स्वभाव में परंपराओं से विछिन्न, 'लुंपैन' और हिंसक किस्म की है, वहीं दूसरी ओर राजनीति का व्यवस्थित ढंग से माफियाकरण किया गया है। राजनीति पर काले धन और गुंडों की ताकत ने समाज में न्याय और अधिकार चाहने की तमाम मांगों के प्रति एक बर्बर उदासीनता को जन्म दिया है। शिक्षा, प्रशासनिक ढांचे, पुलिसतंत्र और न्यायपालिका पर कालेधन और भ्रष्टाचार की बढ़ती हुई जकड़न अस्सी के दशक की एक प्रमुख पहचान है। मध्यमवर्ग को अय्याशी, उत्तेजना, सनसनी और उदासीनता के अंधकार में इस प्रकार धकेला जा रहा है कि उपेक्षित वर्गों पर होने वाले अत्याचार और दमन को लेकर उसमें कहीं कोई क्लेश या नैतिक विकलता बची न रहने पाए। ग्रामीण क्षेत्रों में कायम सामंती आतंक और शहरों तथा कस्बों में आपराधिक और सांप्रदायिक आतंक एक ही संस्कृति के दो पूरक रूप इस दशक के दौरान बने हैं। अस्सी के दशक में यह बात साफ हुई कि अभिजन वर्ग के अपने हित आज इतने एक्सक्लूसिव हो गए हैं कि वे मौजूदा समाज व्यवस्था को भीतर से लगातार खोखला और गैर-जनतांत्रिक बनाकर ही अपने इन हितों को बनाए रख सकते हैं। दमन और संवेदनहीनता के रूप अस्सी के दशक में सर्वग्रासी रहे हैं। एक संपूर्ण प्रभुसत्ता वर्ग की संस्कृति के ये भीतरी अंग बन चुके हैं। अस्सी के दशक में रचनाकारों के एक बड़े वर्ग में यह समझ

विकसित होने लगी थी कि भारतीय समाज में जनतांत्रिक चेतना को बचाने का कार्य राजनीतिक पार्टियों की अदला-बदली और चुनाव के गोरखधंधे से बाहर समाज के मूल ढांचे में उन भीतरी पर्तों पर होना चाहिए जो अब तक परंपरागत 'पालिटी' की पकड़ के बाहर रहे हैं। मसलन नागरिक जीवन में शक्ति के उन परंपरागत स्रोतों की तलाश जरूरी है जो मनुष्य की गरिमा और रचनात्मक शक्ति को अब भी जिलाए हुए हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो अस्सी के दशक में युवा कवियों का पूरा वस्तुजगत बदला हुआ दिखाई देता है। एक बुनियादी संवेदनशीलता और मानवीय व्यवहार को बचाए रखने का संघर्ष, घर-परिवार की दुनिया, स्त्री और बच्चों के प्रति चिंता, पर्यावरण की सुरक्षा, जातीय स्मृतियों की खोज, पास-पड़ोस, मोहल्ले के रागात्मक जीवन का बचाव आदि वे तमाम बातें हैं जिन्होंने कविता में अस्सी के दशक में 'ग्रासरूट' या रेडिकल की समझ को ज्यादा गहन और जटिल बनाया है। उपेक्षित और कमजोर तबकों के दुख के प्रति तदर्थवाद से हटकर वास्तविक सहानुभूति की खोज और इस सब में अपनी वर्गीय स्थिति का आत्मबोध इस कविता की मुख्य विषयवस्तु रही है। इस कविता में कमजोर तबकों के भाव विह्वल चित्र न होकर मनुष्य और मनुष्य के बीच उन जीवंत रिश्तों की खोज ज्यादा है जिन्हें शोषक व्यवस्था लगातार विरूपित करती चली जा रही है। यह बात इस दौर में उभरे कवि राजेश जोशी, अरुणकमल, उदयप्रकाश, असद जैदी, विष्णु नागर, मंगलेश डबराल, नरेंद्र जैन, इब्बार रब्बी, मनमोहन, वीरेन डंगवाल आदि की कविता में अलग-अलग तरीकों और शैलियों से प्रमाणित होती रही है। मनुष्यों के समुच्चय यहां अरूप और अनाम लोगों की भीड़ नहीं, बल्कि जीवंत, सक्रिय और संघर्षशील मानव इकाइयों के समुदाय हैं, जिनके निश्चित वर्गगत आधार, भौगोलिक परिवेश, उनसे उपजे मनोभाव, अभिप्राय और उद्देश्य हैं। यह सिर्फ संयोग नहीं है कि इन कवियों के माध्यम से हिंदी कविता में पहली बार भारी पूंजी निवेश और विषम औद्योगीकरण के कारण अपनी जड़-जमीन से विस्थापित हुई युवा पीढ़ी का एक मर्मस्पर्शी अंतर्जगत आया है। अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था में विराट मानव समुदायों को विरूपित होते देखने के बाद का रास्ता इनके यहां सिनिसिज्म या रूमानी आक्रोश की ओर नहीं जाता, बल्कि इन घिरे हुए मनुष्यों से एक बुनियादी, गतिशील, ऐंद्रिक लगाव की ओर जाता है ताकि रचना इस अमानवीय तंत्र के सामने प्रतिपक्ष की भूमिका निभा सके। यह पहली बार हिंदी कविता में हुआ है कि मनुष्य की स्मृतियां और घर-परिवार की याद एक रुमानी प्रवृत्ति का लक्षण नहीं बनी है, बल्कि यह तीसरी दुनिया में एक आरोपित आधुनिक विकास प्रक्रिया में लगातार विशृंखलित और निर्वासित होते जाते परंपरागत जीवन स्रोतों को ढूंढने की समाजशास्त्रीय सच्चाई बनकर उभरी है।

आठवें दशक में नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर जैसे वरिष्ठ कवियों की कविता अचानक इस पीढ़ी के लिए यों ही प्रासंगिक नहीं हो उठी। इन सभी कवियों से इस पीढ़ी ने प्रतिरोध की निश्छलता, देसी किस्म का राग, न्यायपूर्ण जीवन की सहज चाहना और जीवन के आंतरिक सौंदर्य को देखने का नैतिक साहस लिया है। पर सबसे अधिक इस पीढ़ी को प्रभावित किया वरिष्ठ कवि रघुवीर सहाय के रचनात्मक आत्म-संघर्ष ने। अस्सी के दशक में जब क्रांतिकारी रूमानियत से कविता की वापसी हुई तो कवियों ने पाया कि रघुवीर सहाय उसी दौर में जनतांत्रिक व्यवस्था में होते हुए क्षरण के बावजूद इसी बुर्जुआ व्यवस्था में उन संवेदनशील आधुनिक, द्वंद्वात्मक सार रूपों को खोज रहे हैं जो आगे कठिन होती हुई लड़ाई में अधिक कारगर और प्रासंगिक होते जाएंगे। सामाजिक संघर्ष की इस पेचीदी प्रक्रिया में रघुवीर सहाय ने मध्यमवर्ग की भूमिका को कभी खारिज करके नहीं देखा, बल्कि बाद में तो युवा पीढ़ी ने अधिक शिद्दत के साथ यह महसूस किया कि शासक वर्ग मध्यमवर्ग के जीवन में व्यापक स्तर पर अमानवीकरण की प्रक्रिया को तेज करते हुए ही वंचित तबकों की लड़ाई को अलग-थलग और कमजोर बना रहा है। मुक्तिबोध की तरह रघुवीर सहाय ने भी अपनी कविता में हमेशा मध्यमवर्ग और कमजोर तबकों के जटिल रिश्तों को परिभाषित करना चाहा। सत्तर के दशक में *हंसो, हंसो जल्दी हंसो* और अस्सी के दशक में *लोग भूल गए हैं* तथा *कुछ पते कुछ चिट्ठियां* संग्रह के द्वारा रघुवीर सहाय ने भारतीय समाज में आधार और सुपरस्ट्रक्चर की अंतःक्रियाओं की सूक्ष्म छवियों को निरूपित करते हुए हमारी नैतिक विकलताओं और अंतर्विरोधों को भीतर से पकड़ा है। अर्द्ध-सामंती, अर्द्ध-पूंजीवादी समाज में मनुष्य को निर्मम, तटस्थ और संवेदनहीन बना देने वाली स्थितियों के ब्यौरे एक समूची युवा पीढ़ी ने इस दौर में दिए हैं। इन कविताओं में दुख और दहशत के ब्यौरों के साथ जीवन की कुछ आधारभूत मानवीय भावनाओं को बचा लेने की बेचैनी भी दिखाई पड़ती है। राजेश, अरुण, असद के साथ ही विष्णु खरे, चंद्रकांत देवताले, ऋतुराज, ज्ञानेंद्रपति आदि अपेक्षाकृत वरिष्ठ कवियों ने भी बहुत मार्मिक कविताएं इस दौर में लिखीं। स्वयं सातवें दशक के आलोकधन्वा, वेणु गोपाल और लीलाधर जगूड़ी का स्वर इस दशक में काफी बदल गया।

यह भी एक सच्चाई है कि अस्सी के दशक की कविता ने अपने समय को प्रायः मध्यमवर्गीय सीमाओं के भीतर से ही देखा है। इस तरह की कोशिश में अंतर्निहित खतरे भी थे। मनुष्य के बुनियादी राग और ऐंद्रिकता को बचाने पर बहुत अधिक जोर दिया गया जिसके चलते एक आसान और उत्सवधर्मी कविता को भी इसमें खप जाने की पूरी छूट मिल गई। इसके कुछ दूसरे कारण भी रहे हैं जिन पर हाल में असद जैदी ने *उद्भावना* में और नीलाभ ने *कथ्यरूप* में चर्चा की है। उनकी बातों को कुछ-कुछ दोहराते हुए इस समय की कविता के मुख्य अंतर्विरोध पर उंगली रखी जा सकती है। अस्सी के दशक में सत्ता वर्ग ने सामाजिक-आर्थिक विसंगतियों की ओर से ध्यान मोड़ने के लिए व्यापक जन समाज में जिस तरह सतही मनोरंजन को प्रोत्साहन दिया, उसी तरह कला-संस्कृति के क्षेत्र में भी उत्सवधर्मी लोक-संस्कृति को बढ़ावा दिया, जो चीजों से उनकी मूल अर्थवत्ता को समाप्त कर उन्हें सिर्फ प्रदर्शन में बदल देती थी। साहित्य में भी इसकी शाखाएं खुलीं। अस्सी के दशक में सरकारी कला भवनों और अकादमियों ने एक खास तरह की द्वंद्व रहित, अन्न-जल को गाने वाली, अनैतिहासिक और शाश्वत किस्म की कविता को बढ़ावा देना शुरू किया। इसी कविता को अस्सी के दशक की मुख्य प्रवृत्ति के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिशें हुई हैं। यह कविता ऊपरी तौर पर प्रगतिशील भी लगती है क्योंकि इसमें लोकजीवन और ऐंद्रिकता की गंध महसूस होती है पर अपनी पूरी

'एप्रोच' में यह कविता लोकजीवन को किसी डिपार्टमेंटल स्टोर में रखे जाने लायक चमकदार और सुघड़ बना देती है। यहां यथार्थ में दिख रही चीजों में अर्थ का विस्तार कवि के निजी जीवन के प्रत्यक्ष घर्षण से नहीं, बल्कि एक निर्द्वंद्व किस्म की रसिकता या कैशोर्य भावुकता के स्तर पर किया जाता है। 'समूची दुनिया' या 'समूचा जीवन' जैसे प्रत्यय बहुलता से प्रयोग में आते हैं पर उनके संकल्पनाबोध को स्पष्ट करना कवि का उद्देश्य नहीं होता। यह कविता एक आइडियावाद से चालित होती है। कवि की सुघड़ता न तो खुद को खोलती है और न पाठक को खुलने देती है। यहां समाज की दुःसह्य स्थितियां कहीं भी व्यक्ति के खिलाफ खड़ी नहीं हो रही होतीं, बल्कि हर जगह कवि उन्हें कमांड करते हुए उनकी भीतरी अर्थवत्ता को समाप्त कर देता है। ऐसी कविता मूलतः आनंदवादी होती है। यह कविता अकाल की विभीषिका को दिखाने के बजाय जाने कहां से अकाल में झट से एक सारस को पकड़ लाती है और पाठक से कहती है—देखिए, आप तनाव और विषाद में न डूबें, आखिर अकाल में भी तो जीवन दिख ही जाता है! जाहिर है, शासक वर्ग कला से इसी तरह के सरलीकरण चाहता भी है। दरअसल यह एक संदिग्ध चरित्र वाली रागात्मकता है जिसका औसत मनुष्य के भीतरी इलाकों से कोई वास्ता नहीं है और यह किसी नुस्खे की तरह उम्मीद का बखान करती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि अस्सी के दशक में कलाभवन के रसियाओं और प्राध्यापक-आलोचकों ने इस रागात्मकता को भरपूर प्रोत्साहित किया। इसका नतीजा यह हुआ है कि पिछले पांच-सात वर्षों में इस तरह की रागात्मकता में अन्न-जल को गाने वाले ढेर सारे कवियों की एक युवतर पीढ़ी भी तैयार हो गई है। कल मुक्त बाजार के खिलाड़ी इसी कविता को हाथों-हाथ लेंगे क्योंकि यह मनुष्य के असल दुख और असल उम्मीद को अपदस्थ कर देती है। किसी भी भाषा में कवियों की एक नौजवान पीढ़ी इस तरह की नुमाइशी, तनावहीन, अनैतिहासिक और लगभग कृत्रिमता की हदों को स्पर्श करती सुगढ़ कविता लिखे, निश्चय ही यह कोई बहुत उत्साहवर्द्धक स्थिति नहीं है। पर अभी इस बात के खतरों को पूरी तरह समझा नहीं गया है। निश्चय ही यह स्थिति कुछ युवा कवियों के यहां परिप्रेक्ष्य के अभाव से भी जुड़ी हुई है।

सदी के अंतिम दशक में आज सांस्कृतिक संकट सर्वग्रासी और भयावह हो चुका है। इन चार-पांच वर्षों में हमारे चारों ओर इतना कुछ बदल गया है कि अभी इससे लड़ने के नए औजार तक हम नहीं खोज पा रहे हैं। धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक शक्तियों की खिलाफत करने वाले तत्व आज इतने चालाक हो गए हैं कि आप विपक्ष की जिस किसी संभावना को टटोलना आरंभ करते हैं, उसी में सेंध लगा दी जा रही है। न्याय के लिए संघर्ष करने वाली शक्तियों की लगातार एक ट्रेजि-कॉमिकल पराजय हम देख रहे हैं। पिछले तीन-चार वर्षों में राजनीति और व्यावसायिकता ने अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली सृजनात्मक भाषा तक को भीतर से खोखला करना आरंभ कर दिया है। रघुवीर सहाय जैसे कवि को अपने अंतिम दिनों में इस पराजय का बोध होने लगा था। 1989 में प्रकाशित हुए उनके अंतिम कविता संग्रह *कुछ पते और कुछ चिट्ठियां* की भूमिका में इस हताशा और क्लेश को साफ देखा जा सकता है। यह सिर्फ एक संयोग नहीं है कि असद जैदी, राजेश जोशी, अरुणकमल, मंगलेश डबराल आदि ने अस्सी के दशक की शुरुआत में जिस स्फूर्ति के साथ कविता में एक नई संभावना को प्रवेश दिलाया था, बाद में ये सभी एक ठहराव का शिकार होते दिखाई दे रहे हैं। इसका

> *"यह भी एक सच्चाई है कि 80 के दशक की कविता ने अपने समय को प्रायः मध्यवर्गीय संबंधों के भीतर से ही देखा है। मनुष्य के बुनियादी राग और ऐंद्रिकता को बचाने पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। जिसके चलते एक आसान और उत्सवधर्मी कविता को भी इसमें खप जाने की पूरी छूट मिल गई।"*

एक कारण तो शायद यह भी है कि इन सभी कवियों ने मध्यमवर्ग और वंचित तबकों के बीच जीवंत मानवीय संबंधों की जिस तलाश पर अपना सौंदर्यशास्त्र खड़ा किया था, आज शोषक वर्ग की ताकतों ने इन संबंधों की सारी संभावनाओं को एक प्रकार से अवरुद्ध-सा कर दिया है। नब्बे के दशक की स्थितियां इतनी क्रूर हैं कि मध्यमवर्ग का कवि एक अजीब-से दुश्चक्र में फंस गया है। वह अपने समाज में अकेला पड़ता जा रहा है और बाहर समाज की मूल उत्पादक शक्तियों से भी प्रभावी ढंग से जुड़ नहीं पा रहा है। साथ ही बाहर समाज में ध्रुवीकरण प्रक्रिया भी बहुत धीमी है। रूमानी क्रांतिकारियों की बात अलग है जो समाज में ध्रुवीकरण की स्पष्ट स्थितियों के बिना भी किसान-मजदूर संघर्ष की आवेश भरी कविताएं लिखते रहते हैं। उनका वीरगाथाकाल भी उतना ही शाश्वत होता है जितना अन्न-जल गाने वाली रागात्मक कविता का। पर सजग और संवेदनशील कवि की अपनी मुश्किलें होती हैं।

पुनरुत्थानवादी शक्तियों और उपभोक्तावाद का हमला आज इतना मारक है कि जीवन के तमाम सकारात्मक पहलुओं को गायब होते हम देख रहे हैं। पर यह भी सच है कि बैठकर इस सबका विलाप नहीं किया जा सकता। मध्यमवर्ग के रचनाकार के लिए अपना व्यक्तित्वांतरण करना ही शायद वह रास्ता रहा है जिससे सृजनात्मक गतिरोध टूटे हैं और नई दिशाएं निकली हैं। मुक्तिबोध ने गहरे दुखों और अवरोध के बीच ऐसी ही किसी घड़ी में शायद लिखा था—

यह सही है कि चिलचिला रहे फासले
तेज दुपहर भूरी
सब ओर गरम धार-सा रेंगता चला
काल बांका-तिरछा,
पर, हाथ तुम्हारे में जब भी मित्र का हाथ
फैलेगी बरगद-छांह वहीं
गहरी-गहरी सपनीली-सी
जिसमें खुलकर सामने दिखेगी उरस्-स्पृशा
स्वर्गीय उषा
लाखों आंखों से गहरी अंतःकरण तृषा
तुमको निहारती बैठेगी
आत्मीय और इतनी प्रसन्न
मानव के प्रति, मानव के
जी की पुकार
जितनी अनन्य। ❑

सामाजिक सत्य और अनुभव की प्रामाणिकता के बीच

विगत अर्द्धशताब्दी में कहानी में हुई उथल-पुथल को रेखांकित करने के प्रयास की कड़ी में प्रस्तुत है स्वाधीनता से लेकर नई कहानी तक की यात्रा का जायजा लेता, जाने-माने आलोचक **मधुरेश** *का लेख।*

भारत की स्वाधीनता और औपनिवेशिक कूटनीतिक आधार पर देश का विभाजन—ये दो ऐसी घटनाएं हैं जिन्होंने समूचे भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है। जहां तक हिंदी कहानी का सवाल है, ऊपरी तौर पर यह प्रभाव भले ही उतना बेधक और निर्णायक न लगे, लेकिन उसके दूरगामी परिणामों को अनदेखा करना कठिन है। स्वाधीनता से लगभग एक दशक पूर्व प्रेमचंद का निधन हो चुका था और हिंदी कहानी में उन्होंने जो यथार्थवादी कहानी लेखन की परंपरा स्थापित और विकसित की थी, अपने शिखर पर पहुंचकर वह अनेक छोटी-बड़ी उपधाराओं को सहेजकर आगे बढ़ रही थी। प्रेमचंद के जीवन काल में ही प्रसाद की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाली रोमानी कहानियों से भिन्न 'उग्र' और जैनेंद्र अपने-अपने ढंग से उन उपधाराओं का प्रतिनिधित्व करते देखे जा सकते हैं। एक कहानीकार के रूप में प्रेमचंद की सफलता की एक कसौटी यह भी हो सकती है कि उन नए प्रभावों के बीच न सिर्फ यह कि अपनी स्थिति को वह अक्षुण्ण बनाए रखते हैं, उन नए प्रभावों से अपना ताल-मेल बिठाकर वह अपने को निस्तेज और हतप्रभ होने से बचाने में भी सफल रहते हैं।

स्वाधीनता के बाद हिंदी कहानी में किसी किस्म का कोई गुणात्मक परिवर्तन तत्काल परिलक्षित नहीं होता है। एक ओर सामाजिक ढांचे में साकारभूत परिवर्तन की आकांक्षा वाली कहानियां लिखी जा रही थीं उग्र, यशपाल, रांगेय राघव और अमृतराय जैसे लेखकों द्वारा, तो कहीं दूसरी ओर व्यक्ति मन को सूक्ष्मता से उद्घाटित करने वाली कहानियां अनेक काव्योपकरणों को आत्मसात करते हुए भी पर्याप्त मात्रा में लिखी जा रही थीं। जैनेंद्र और अज्ञेय की कहानियां इस धारा की प्रतिनिधि कहानियां थीं। इन दोनों ही धाराओं के साथ चलने वाले और भी अनेक लेखक इस बीच सक्रिय थे, पहली धारा के साथ अपेक्षाकृत अधिक, दूसरी के साथ कम, लेकिन सद्यः प्राप्त स्वाधीनता और देश-विभाजन की घटनाओं का कोई बहुत सीधा और निर्णायक प्रभाव इस दौर की कहानियों पर नहीं दिखाई देता।

कविता के क्षेत्र में *तारसप्तक* का प्रकाशन सन '43 में हो चुका था। अज्ञेय के अनेक प्रतिवादों के बावजूद उससे ही हिंदी में प्रयोगवाद की शुरुआत अब एक स्वीकृत तथ्य है। लेकिन कविता की तरह कहानी के क्षेत्र में वैसा कुछ घटित नहीं होता—सिवाय इसके कि जैनेंद्र और अज्ञेय की कहानियों में काव्य में प्रयुक्त उपकरण—बिंब-विधान, प्रतीक, लाक्षणिकता और भाषिक भव्यता आदि तत्व कहानियों में भी प्रवेश करने लगे थे। स्वाधीनता तक आते-आते जैनेंद्र अपनी लगभग सर्वश्रेष्ठ कहानियां देकर या तो चुप्पी साध लेते हैं या फिर अपने दार्शनिक रुझान के तहत 'विज्ञान', 'अ-विज्ञान' और 'निराकरण' आदि कहानियों के रूप में ऐसी कहानियों की ओर मुड़ते दिखाई देते हैं जिनका हिंदी कहानी पर तो कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं ही है, जैनेंद्र की अपनी कहानियों के बीच भी उनकी स्थिति नगण्य और उपेक्षणीय ही बनी रहती है। अज्ञेय ने यदि एक ओर 'जयदोल' और 'हीली बोन की बत्तखें' जैसी जटिल और सांकेतिक संरचना वाली कहानियां इस दौर में लिखीं, वहीं अपनी लीक से हटकर 'बदला' और 'शरणार्थी' जैसी कहानियां भी लिखीं, जिनमें विभाजन की क्रूर विभीषिका के बीच मानवीय करुणा और सद्भाव के विरल प्रायः स्फुलिंगों को उन्होंने हार्दिक संवेदना के साथ सहेजने की चेष्टा की। अज्ञेय ने कहानी को 'एक क्षण का जीवन-स्थिति का सत्य—एक दौड़ती हुई लहर का गति-चित्र' कहकर परिभाषित किया था। स्वाधीनता के बाद के परिवर्तित सामाजिक परिवेश में कहानी की यह परिभाषा पूरी नहीं पड़ती थी। यही कारण है कि सन '54 में अपनी अंतिम कहानी 'कलाकार की मुक्ति' लिखकर वह फिर कभी कहानी की ओर मुड़कर नहीं देखते।

अमृतलाल नागर भी प्रेमचंद के जीवन काल से ही कहानियां लिख रहे थे। उनकी कहानियों का पहला संग्रह *वाटिका* सन '35 में प्रकाशित हो चुका था। लेकिन कहानी उनका प्रमुख सरोकार कभी नहीं रही। फिर भी लखनऊ की हिंदू-मुस्लिम साझा संस्कृति और जन-जीवन पर बहुत प्रवाहपूर्ण भाषा में उस जीवन की सहजता और जिंदादिली को उद्घाटित करते हुए उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण

कहानियां लिखीं। स्वाधीनता के साथ जुड़ी विभाजन की विभीषिका पर उन्होंने वैसी कहानियां नहीं लिखीं जैसी हिंदी में अज्ञेय ने या उर्दू में कृश्नचंदर और मंटो ने लिखी थीं। लेकिन उनकी कहानी 'आदमी! नहीं! नहीं!!' विभाजन की विभीषिका से ही उपजी थी जिसे अलग से छपवाकर उन्होंने सांप्रदायिक विद्वेष की पीड़ा एवं हताशा के बीच मानवीय सद्‌भाव की आस्थापूर्ण तलाश के साथ कवि सुमित्रानंदन पंत और जोश मलीहाबादी के 'देश' का समर्पित किया था। हास्य-व्यंग्य की अपनी सुपरिचित शैली में नागर जी ने अनेक सामाजिक विद्रूपताओं और अंतर्विरोधों को उद्‌घाटित किया—'लंगूर', 'सत्य नारायण की कथा' और 'दो आस्था में' आदि कहानियां उनकी प्रतिनिधि कहानियों के रूप में आज भी उल्लेखनीय मानी जा सकती हैं।

यशपाल गहरी और गंभीर तैयारी के साथ कहानी कें क्षेत्र में आए थे। यशपाल को कहानियों पर अन्यत्र विस्तारपूर्वक लिखते हुए मैंने उनकी कहानियों के तीन दौरों की ओर संकेत किया है। कहानी की दृष्टि से सन '46 से सन '54 तक का दौर यशपाल की अभूतपूर्व सक्रियता का दौर है। इस दौर में उन्होंने 'भस्मावृत चिंगारी' से लेकर 'तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूं!' जैसे संग्रह प्रकाशित किए। संख्या की दृष्टि से भी उनके इस दौर की कहानियां उनके अगले-पिछले दोनों दौरों से अधिक हैं। इस दौर की उनकी कहानियों में वैचारिक दृष्टि से एक ऐसी विस्फोटक आक्रामकता सहज ही परिलक्षित की जा सकती है, जिसका उत्स कहीं न कहीं देश की संक्रमणशील और उद्वेगपूर्ण परिस्थितियों में ही था। देश की सद्यः प्राप्त स्वाधीनता को वह वास्तविक स्वाधीनता नहीं मानते क्योंकि आम जनता की जीवन-स्थितियों में इससे कोई अंतर नहीं पड़ा। नैतिक-राजनीतिक भ्रष्टता, जीवन में ढोंग और पाखंड की प्रवृत्ति, सामाजिक संरचना में स्त्री और कमजोर वर्ग का उत्पीड़न आदि विषय एक कहानीकार के रूप में उनके मुख्य सरोकार थे। आर्य समाजी जीवन दृष्टि और संस्कारों के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने अपनी विश्व दृष्टि अर्जित की थी। यशपाल कला को जीवन से जोड़कर देखने पर जोर देते हैं। 'चित्र का शीर्षक', 'भस्मावृत चिंगारी' और 'फूलों का कुर्ता' जैसी कहानियों को यशपाल की अपनी कहानी कला का घोषणापत्र भी माना जा सकता है।

आर्य समाजी निषेधात्मकता और अर्थहीन संयम के प्रति यशपाल बहुत कटु हैं। इसी प्रकार की वैचारिक कटुता उनमें गांधी और गांधीवाद के प्रति दिखाई देती है, जिसके पीछे बहुत कुछ उनकी क्रांतिकारी पृष्ठभूमि थी। यौन-प्रसंगों को अंकित करने वाली अनेक कहानियों को लेकर उनकी कड़ी आलोचना हुई, अमृतराय के समान कुछ लोगों ने कम्युनिस्ट नैतिकता का सवाल भी उठाया, लेकिन इस दिशा में उनकी सार्थक और महत्वपूर्ण कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यौन-प्रसंगों के अंकन को वह प्रायः ही सामाजिक अंतर्विरोधों से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं और इस तरह समाज में स्त्री के दोहरे शोषण के विरुद्ध एक तीखी प्रतिक्रिया जगा पाने में सफल होते हैं।

सामाजिक पुनर्निर्माण में विचारों की भूमिका को यशपाल बहुत अच्छी तरह समझते हैं। इसी कारण जब-तब उनकी कहानियों में विचार की सत्ता ही सर्वोपरि हो उठती है। अपनी कहानियों की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में उन्होंने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि उनके मन में कहानी का विचार—'आइडिया' पहले आता है और पात्र एवं परिस्थितियों को वह उसी के अनुरूप गढ़ लेते हैं। ऐसी स्थिति में 'आइडिया' को विश्वसनीय ढंग से पात्रों और परिस्थितियों के संघात से संप्रेषित कर पाना ही उनकी दृष्टि में कहानी की सबसे बड़ी सफलता है। लेकिन जिन कहानियों को उन्होंने सीधे व्यक्तियों को केंद्र में रखकर लिखा है, परिचित व्यक्तियों को—'सत्य का द्वंद्व' इसका सिर्फ एक उदाहरण है—उनमें भी वह विचारों की धार को गुठ्ठल नहीं होने देते। अपने लिए कहानी की जो कसौटी उन्होंने निर्मित की है, उनकी श्रेष्ठ कहानियां दूर तक उस पर सफल दिखाई देती हैं।

स्वाधीनता के आसपास हिंदी कहानीकार काफी बड़ी संख्या में कहानियां लिख रहे थे। जैसा कि शुरू में संकेत किया गया है, कविता के क्षेत्र में भले ही प्रयोगवाद आ चुका हो, गद्य के क्षेत्र में यह प्रगतिवाद की सक्रियता का काल ही है। राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, अमृतराय और भैरव प्रसाद गुप्त आदि अपने-अपने ढंग से सक्रिय थे, यद्यपि इनमें से किसी का भी कहानी के प्रति वैसा गहरा और गंभीर लगाव नहीं था जैसा जैनेंद्र, यशपाल और एक सीमा तक अज्ञेय का था। उपेंद्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, अमृतलाल नागर, द्विजेंद्र नाथ मिश्र 'निर्गुण' और चंद्रकिरण सौनरेक्स आदि घोषित रूप से प्रगतिवादी भले ही न रहे हों लेकिन इन सबने सामाजिक विरूपताओं और अंतर्विरोधों के उद्‌घाटन की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण कहानियां लिखीं। 'अश्क' ने मध्यवर्गीय मानसिकता और यौन बुभुक्षा को केंद्र में रखकर 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल', 'बेबसी' तथा 'पलंग' जैसी कहानियां लिखीं।

देश की स्वाधीनता के बाद धीरे-धीरे जिस मोहभंग की शुरुआत होती है जिसका संकेत अमृतराय के संग्रह *तिरंगे कफन* से मिलता है, उसकी झलक इस दौर की अनेक कहानियों में दिखाई देती है—खास तौर से विष्णु प्रभाकर की 'ठेका' और 'धरती अब भी घूम रही है' जैसी कहानियों में द्वितीय विश्व युद्ध, बंगाल का अकाल और देश विभाजन के परिणामस्वरूप हुए भयावह और नृशंस हत्याकांड के बाद शांति, मानवता और सद्‌भाव की चिंता इस दौर के लेखकों की मुख्य चिंता बनकर उभरती है। विष्णु प्रभाकर ने विभाजन की पृष्ठभूमि में सांप्रदायिक उन्माद और वहशत के बीच मानवीय करुणा और सद्‌भाव की खोज की। इसी दौर में चंद्रगुप्त विद्यालंकार ने 'वापसी' लिखी जिसमें युद्धभूमि में भयावह मानवीय ह्रास और क्रूरता के बीच एक सिपाही विध्वंस और विनाश के स्तूप पर खड़ा होकर एक छोटी और अबोध बच्ची के प्रति गहरी करुणा से आप्लावित होकर उसे अपने साथ ले आता है और अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के बीच अपनी ही बच्ची की तरह उसे पालता-पोसता है।

इस दौर में महिला कथाकार अधिक नहीं थीं और न ही पुरुष और महिला कथाकार वाला आज जैसा विभाजन था। चंद्रकिरण सौनरेक्स इस दौर की अत्यंत महत्वपूर्ण लेखिका हैं जिन्होंने स्वाधीनता के बाद अंग्रेजी भाषा और सभ्यता के प्रति ललक रखने वाले भारतीय उच्च-मध्य वर्ग के अंतर्विरोधों को बहुत सूक्ष्मता से उद्‌घाटित किया। उनकी 'बर्थ-डे', 'कवयित्री', 'आत्महंता' और 'छोटे कमीन बड़े

कमीन' आदि कहानियां जहां सामाजिक विरूपताओं के प्रति उनकी गहरी समझ को व्यंग्य के साथ प्रस्तुत करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं वहीं उनमें एक ऐसा संयत कला-बोध भी है जो उस दौर में उन्हें एक अत्यंत महत्वपूर्ण कहानीकार सिद्ध करता है। वह पुरुष शासित समाज में यदि स्त्री के प्रति क्रूर और आदमखोर रवैये की आलोचना करके स्त्री के अधिकारों और स्वाधीनता का सवाल उठाती हैं तो 'साइकल' और 'बोझा' जैसी कहानियों में विपन्न और सर्वहारा वर्ग की छोटी-छोटी लालसाओं और आकांक्षाओं को गहरी संवेदनशीलता के साथ उद्‌घाटित करती हैं। उनकी कहानियों की 'रेंज' इतनी व्यापक है कि कभी महिला कथाकार का कोई ठप्पा उन पर नहीं लगाया जा सका।

नई कहानी के आंदोलन का काल मोटे तौर पर सन '55 से '64 तक के दशक को माना जाता है। स्वाधीनता के बाद एक नई पीढ़ी इस बीच जवान हो चुकी थी। यह वस्तुतः वह पीढ़ी थी जो देश की स्वाधीनता के समय अपनी किशोरावस्था में थी और जो बदले हुए सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में अनेक आशाओं और अपेक्षाओं वाले सुनहरे भविष्य की छाया में परवान चढ़ी थी। स्वाधीनता से पहले और बाद के वर्षों में लगाए गए समाजवाद और राष्ट्रनिर्माण के नारों का मुलम्मा उतर चुका था और उनके अंदर की बदसूरत टीन अपने असली रूप में आ चुकी थी। धीरे-धीरे उभरने वाली हताशा और अवसाद एक भयानक पसरते हुए मरुस्थल की तरह पूरे परिदृश्य पर फैलने लगा था। यह वस्तुतः अपनी वैचारिकता और रचनात्मक संलग्नताओं के पुनर्विचार का दौर था जिसमें न तो केवल एक अदद स्वर्णिम भविष्य की कल्पना के सहारे लोगों को बहला पाना संभव था और न ही जीवन के अमूर्त्तन और छद्‌म दार्शनिकता के सहारे इस पीढ़ी को छला जा सकता था। इस सबके साथ ही देश-विभाजन के परिणामस्वरूप, पंजाबी शरणार्थियों की पुनर्स्थापना और सामाजिक, सांस्कृतिक अंतरावलंबन भी हमारे सोच और सामाजिक संरचना को गहराई से प्रभावित करने वाले कारक बन रहे थे। जीवन में एक खास तरह का खुलापन, पढ़ाई और नौकरी के लिए लड़कियों का बाहर निकलना, संकोच और वर्जना की दीवारों में पड़ी दरारें और शिक्षा और नौकरी में भाइयों की अपेक्षा बहनों को मिला वर्चस्व इस कालखंड का एक समाजशास्त्रीय यथार्थ है। इस नई पीढ़ी के युवा रचनाकारों को लग रहा था कि अब तक कहानी 'विचार' के सहारे ही बनती और विकसित होती रही है। विचार चाहे वह कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, 'अनुभव' का स्थानापन्न नहीं हो सकता और न ही अनुभव को झुठलाकर कोई सार्थक रचना कर्म संभव है। इसीलिए जिसे 'नई कहानी' कहा गया, वह वस्तुतः 'विचार' के विरुद्ध 'अनुभव' की कहानी थी और इसी रूप में उसके महत्व और अंतर को रेखांकित करने की कोशिश भी की गई।

आज यह एक सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत-सा तथ्य है कि *कहानी* के सन् 55 और 56 में प्रकाशित दोनों वार्षिक विशेषांक इस अंतर और अनुपात को बहुत स्पष्टता से उद्‌घाटित करते हैं। पहले विशेषांक में उस पुरानी पीढ़ी के लेखकों का औसत कहीं अधिक था जो स्वतंत्रता के पहले से लिख रहे थे—'उग्र', यशपाल, अज्ञेय, 'अश्क', विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, अमृतराय, अमृतलाल नागर और भैरव प्रसाद गुप्त आदि जबकि दूसरे विशेषांक में बाकायदा एक नई पीढ़ी अपनी सक्रिय आमद का अहसास कराती है।

जैसा कि प्रायः सभी नए आंदोलनों के साथ होता है, नई कहानी का यह आंदोलन भी अपनी अधिकांश ऊर्जा प्रतिक्रिया और विरोध से ही हासिल करता दिखाई देता है। अनेक मुद्दों पर ये नए कहानीकार स्वयं ही एकमत नहीं दिखाई देते। ऐसा ही एक महत्वपूर्ण मुद्दा कहानी की परंपरा का था। विचार के विरोध में 'अनुभव' को स्थापित करने की प्रक्रिया में उत्साह और आवेश के अतिरेक में, इनमें से अनेक कहानीकार कहानी की पूर्ववर्ती परंपरा के निषेध तक चले जाते हैं। कहानीकारों के साथ आलोचकों ने भी इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। मार्कंडेय ने पूर्ववर्ती कहानी के तीन महत्वपूर्ण लेखकों—जैनेंद्र, अज्ञेय और यशपाल के विरोध में अपनी लेखमाला लिखी। राजेंद्र यादव और मोहन राकेश ने नई कहानी का सौंदर्यशास्त्र निर्मित करने के उत्साह में इस परंपरा को लगभग नकारने की कोशिश की। इनमें से यशपाल को अंततः स्वीकार करते हुए जैनेंद्र और अज्ञेय को चांदमारी का एक ऐसा निशान बना दिया गया कि इस विरोध को ही नई कहानी का घोषणापत्र जैसा माना जाने लगा। कमलेश्वर अपने उत्साह में थोड़ा और आगे बढ़े। उन्होंने इस विरोध को प्रेमचंद तक खींचा और नई कहानी को प्रेमचंद से जोड़कर देखने की बजाय प्रेमचंद को 'पकी फसल के बीच बहता हुआ पानी' कहकर नई कहानी को स्वायत्त टापू में बदल देने की कोशिश की। नई कहानी को पुरानी से अलग करते हुए नामवर सिंह ने द्विजेंद्र नाथ मिश्र 'निर्गुण' के भाव-बोध को लाला श्रीनिवास दास के युग का बताया। इनमें से अनेक अतिरेकपूर्ण और परस्पर विरोधी स्थापनाओं एवं वक्तव्यों पर बाद में इन लेखकों का ध्यान स्वयं गया और उसी के परिणामस्वरूप आगे चलकर नई कहानी के स्वरूप को सुस्थिर करने के क्रम में अपेक्षाकृत एक संतुलित और समावेशी दृष्टि का विकास भी हुआ।

सन् '65 में शिवदान सिंह चौहान ने *आलोचना* का वृहद पांच खंडीय विशेषांक स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य पर प्रकाशित किया। उसके लिए 'पुरानी पीढ़ी का योगदान : 14 श्रेष्ठ कहानियां' शीर्षक लेख मुझसे भी लिखवाया था। उसमें मैंने विस्तारपूर्वक नई कहानी पर पूर्ववर्ती पीढ़ी की कहानी और कहानीकारों के प्रभाव की चर्चा की थी। कहानी में बढ़ते हुए काव्योपकरणों के उपयोग की प्रवृत्ति—सांकेतिकता, बिंब विधान और प्रतीकों के आग्रह को मैंने जैनेंद्र और अज्ञेय से जोड़कर देखा था। राजेंद्र यादव ने जिसे 'व्यक्तिगत सामाजिकता' के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया, मेरे विचार से वह अज्ञेय और यशपाल को मिलाकर तैयार किया गया घोल ही था। तब उस लेख की व्यापक प्रतिक्रिया हुई थी।

नई कहानी जीवन को व्यापकता और गहरी विश्वसनीयता के साथ अंकित करने के साथ विकसित हुई थी। इस आंदोलन के बीज शब्द—'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'भोगा हुआ यथार्थ' वस्तुतः इसी आशय से प्रयुक्त किए गए थे कि इस पीढ़ी के कहानीकारों के पास न तो बने-बनाए निष्कर्ष हैं और न ही वह उत्कट आशावाद, जो कभी परीजगत की कहानियों की तरह अंत में सब ठीक-ठाक हो जाने का आश्वासन देता था। इन कहानियों में एक ओर यदि छद्म दार्शनिकता और जीवन के अमूर्त्तन के आयासपूर्वक बचाव का प्रयास था तो दूसरी ओर उस उत्कट राजनीतिक आशावाद को भी विशेष महत्व नहीं दिया गया था जो आदमी की सारी

समस्याओं और उलझनों का अंत बहुत यांत्रिक ढंग से, कहानी के अंत में एक विशेष जीवन-दर्शन वाले पात्रों की विजय के रूप में, अंकित होता था।

सन् '68 में *विकल्प* के कथा साहित्य विशेषांक में प्रकाशित अपने लेख 'प्रामाणिकता की तलाश' में मैंने कहानी में अनुभूति की प्रामाणिकता पर जोर दिया था क्योंकि अनुभव को अनुभूति में पर्यवसित करने की प्रक्रिया के बीच की यात्रा लेखक के लिए विशेष महत्वपूर्ण होती है। बाद में अमृतराय ने राजेंद्र यादव की कहानी 'प्रतीक्षा' के संदर्भ में चुटकी लेते हुए लिखा था कि अनुभव की प्रामाणिकता की बात करने वाले लेखक भी लेस्बियन संबंधों की कहानियां लिखते हैं। वस्तुतः यह गलत बलाघात से पैदा हुए घपले का उदाहरण है। 'अनुभव' को 'विचार' का स्थानापन्न बनाने से इस विडंबना से बच पाना असंभव था। नई कहानी के संदर्भ में इन घोषणाओं का एक ही अर्थ हो सकता था—अपनी रचनावस्तु के प्रति लेखक की हार्दिक संलग्नता और विश्वसनीयता।

यही कारण है कि नई कहानी में एक ओर यदि ऐसे लेखक थे जो मध्यवर्गीय शिक्षित युवकों की बेरोजगारी और अवसाद भरी प्रतीक्षा और उससे जुड़ी हताशा का बहुत विश्वसनीय अंकन कर रहे थे, तो कहीं संबंधों को परंपरागत और परिचित दायरे से बाहर लाकर एक खुलेपन की मांग कर रहे थे। समाज में अब पिछली बाड़े-बंदी टूट और ध्वस्त हो रही थी। कालेज और दफ्तरों में स्त्री-पुरुषों के मिलने और निकट आने की संभावनाएं बढ़ी थीं, वे छुई-मुई किस्म के संबंध अपने आप झूठे पड़ते दिखाई दे रहे थे। कहानी में यह संबंधों को नए सिरे से परखने और परिभाषित करने का दौर है। मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर प्रायः सभी ने इस दौर में ऐसी कहानियां लिखीं—लेकिन संबंधों का यह बदलाव और आकुल प्रतीक्षा का अवसाद जितनी प्रामाणिकता के साथ अमरकांत और राम कुमार की कहानियों में मिलता था, उसे अनदेखा करते हुए नई कहानी का सारा आंदोलन सिर्फ तीन लोगों तक ही सीमित कर कर दिया गया। राजेंद्र यादव ने जब नए कहानीकार श्रृंखला का संपादन किया तो उसमें रेणु और मन्नू भंडारी को भी शामिल कर लिया गया।

अपने वैविध्य और विस्तार की दृष्टि से नई कहानी एक अत्यंत संभावनापूर्ण शुरुआत थी। इसमें जीवन की जो विविधता और फैलाव है उसमें कोई दो-चार लेखक उसके साथ न्याय नहीं कर सकते थे। इसमें एक ओर यदि मध्यवर्ग की हताशा और टूटन थी, संबंधों को नए रूप में परिभाषित करने की आकुलता थी—राजेंद्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर आदि में, तो कहीं एक पूरी पीढ़ी की अवसाद भरी प्रतीक्षा और जीवन के छोटे-छोटे सुखों की ललक थी जो जाड़े की धूप की तरह जीवन से गायब होते जा रहे थे—अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' और 'दोपहर का भोजन' की तरह। भीष्म साहनी, शिव प्रसाद सिंह और मार्कंडेय आदि यदि बूढ़े और अकिंचन समझे जाने वाले पात्रों को संवेदनशील ढंग से उकेरते दिखाई देते हैं तो उषा प्रियंवदा 'वापसी' में बहुत वस्तुपरक ढंग से पिता के फालतू हो जाने की पीड़ा को अंकित करती है।

निर्मल वर्मा और राम कुमार ने प्रेम और उसकी असफलता की टीस को गहरी मार्मिकता से अंकित किया, आगे चलकर यूरोप प्रवास के अपने लंबे अनुभव के आधार पर एक सांस्कृतिक मुठभेड़ को केंद्र में रखकर अनेक कहानियां लिखीं। रेणु ने यदि बिहार के गांवों को केंद्र में रखकर वहां के साधारण लोगों के सुख-दुख को वाणी दी तो शैलेश मटियानी और शेखर जोशी ने कुमाऊं के पहाड़ी जीवन की पृष्ठभूमि पर अनेक कहानियां लिखीं। शिव प्रसाद सिंह और मार्कंडेय ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांवों को केंद्र में रखकर एक परिवर्तित होते ग्राम समाज का विश्वसनीय अंकन किया। स्त्री की आत्मसजगता, नौकरीपेशा स्त्री की समस्याओं और एक बंद तथा परंपरागत समाज में उसकी घुटन और उससे बाहर निकलने की उसकी उत्कट आकुलता को कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा ने उल्लेखनीय सफलता के साथ अंकित किया। आदिवासी और मुस्लिम परिवेश पर शानी ने अनेक महत्वपूर्ण कहानियां लिखीं। परसाई ने समूचे तंत्र की क्रूरता के उद्घाटन के लिए कहानी को व्यंग्य का आयाम दिया।

यह इस आंदोलन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि थी कि कहानी को केंद्रीय विधा की प्रतिष्ठा मिली। मुक्तिबोध की कहानियां भले ही इस आंदोलन का सीधा परिणाम न होकर इनके आत्मसंघर्ष का ही परिणाम हों, लेकिन रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, श्रीकांत वर्मा और सर्वेश्वर आदि अनेक कवि कहानी की ओर आकृष्ट होते हैं। श्रीकांत वर्मा और कुंवर नारायण में अस्तित्ववादी प्रभाव और जीवन के अमूर्त्तन के प्रयास उनकी कहानियों की पठनीयता को प्रभावित अवश्य करते हैं, लेकिन कहानी में उनकी सक्रियता एक विधा के रूप में उसके बढ़ते हुए महत्व का प्रमाण तो है ही। यह आंदोलन सचमुच एक सैलाब की तरह आया और चारों ओर के भू-भाग पर फैलता और पसरता गया और फिर ऐसी स्थिति में जैसा होता है—छूटे और बिछुड़ गए लोगों का किसी को कोई पता नहीं होता। ओमप्रकाश श्रीवास्तव, रामनारायण शुक्ल और हृदयेश इस दौर के ऐसे ही लेखकों के कुछ उदाहरण हैं जिनकी रचनात्मक सक्रियता और महत्व की ओर या तो बाद में लोगों का ध्यान गया या फिर अभी भी नहीं गया है—जैसे ओमप्रकाश श्रीवास्तव की ओर।

नई कहानी की रचनावस्तु का अकल्पनीय विस्तार ही उसके शैलीगत बदलाव का भी प्रमुख कारक बना। अनेक अपरिचित प्रायः क्षेत्रों को केंद्रीय महत्व मिलने के परिणामस्वरूप उन क्षेत्रों की बोली-बानी, लोक तत्व का इस दौर की कहानी में प्रवेश होना स्वाभाविक था। निर्मल वर्मा की कहानियां प्रकृति और परिवेश की बेजान चीजों को मानवीय अस्तित्व देने का अद्भुत प्रयास करती हैं। सांकेतिकता, प्रतीक और बिंब-विधान को लेकर लेखकों का आग्रह कुछ अतिरेकपूर्ण सीमाओं तक पहुंचता दिखाई देता है। खुली हुई सांझ और प्रश्नवाचक पेड़, कहीं सहज और कहीं आरोपित रूप में, सिर्फ सांझ और पेड़ ही न रहकर मनुष्य की मानसिकता का हिस्सा बनते दिखाई देते हैं। लेकिन नई कहानी में प्रयुक्त ये सारे कला-उपकरण, जिनमें कविता की अनुगूंज दूर तक सुनाई देती है, नई कहानी का अन्वेषण नहीं था—यह वस्तुतः उन्हीं तत्वों का विकास था जो नई कहानी की पूर्ववर्ती कहानी में जैनेंद्र और अज्ञेय से शुरू हुआ था। वैचारिकता का निषेध या उसके प्रति बरती गई उदासीनता इस दौर की कहानी की एक बड़ी सीमा है और जो लेखक अपनी वैचारिकता और वर्ग चेतना के लिए जाने जाते थे—भीष्म साहनी और अमरकांत उन्हें भी इस दौर में हाशिए पर ठेल दिया गया। इसी का और भी विडंबनापूर्ण पहलू यह है कि कुछ मार्क्सवादी माने जाने वाले आलोचकों की भूमिका भी इसमें खासी महत्वपूर्ण थी। ❑

समकालीन कहानी

महेश दर्पण

हिंदी कहानी के अब तक के इतिहास में सर्वाधिक विवादास्पद और चर्चित दौर 'नई कहानी' का रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण शायद यही था कि 'नई कहानी' के दावे जितने बड़े थे, आधार उतने मजबूत नहीं थे। ऐसा भी नहीं है कि उस दौर के रचनाकार खुद यह महसूस न कर रहे हों, लेकिन जीवन के प्रति एक खास तरह की भावुकता भरी नजर के मारे ये रचनाकार अपने समय के यथार्थ को पूरी तरह पकड़ पाने में असमर्थ थे।

'बीसवीं शताब्दी में साहित्य की जो विधा सबसे पहले अपने अंतिम छोर पर आकर खत्म हो गई, वह कहानी थी। चेखव की कहानी 'कहानी' का अंत है—या दूसरे शब्दों में कहें, उसके बाद कहानी वह नहीं रह सकेगी, जिसे आज तक हम कहानी की संज्ञा देते आए हैं।' निर्मल वर्मा यह कहते हुए हमारा ध्यान कहानीकार यानी आत्मा के डिटेक्टिव की तरफ खींचते हैं जहां संदिग्ध व्यक्तियों का पीछा करना ही अहम हो जाता है। इसीलिए निर्मल वर्मा कहानियों में यथार्थ की चर्चा से परे रहना चाहते हैं, बल्कि उन्हें उससे दुविधा महसूस होती है—"जब कोई कहानी में यथार्थ की चर्चा करता है तो हमेशा दुविधा होती है—वह एक पक्षी की तरह झाड़ी में छिपा रहता है। उसे वहां से जीवित निकाल पाना उतना ही दुर्लभ है जितना उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना, जब तक वह वहां छिपा है। तुम अगर झाड़ी पर ज्यादा दबाव डालोगे तो वह मर जाएगा, या उड़ जाएगा। हम सिर्फ प्रतीक्षा कर सकते हैं, कभी-कभार झाड़ी इधर-उधर से कुरेद सकते हैं—किसी अजाने क्षण में जब वह हमारे प्रति उदासीन हो, उससे संपृक्त हो सकते हैं—लेकिन हमेशा बाहर से।"

संभवतः निर्मल वर्मा को लगता रहा हो कि यथार्थ मनुष्य से उदासीन रह सकता है जबकि स्थितियां इसके ठीक विपरीत नजर आ रही थीं—वहां तो मनुष्य ही यथार्थ के प्रति उदासीन था। और इसकी वजह थी भावुकतावादी नजरिए से छुटकारा न पा सकना।

आत्मालोचना का यह माद्दा यत्किंचित मोहन राकेश में नजर आता है। वह बाकायदा खेद सहित यह स्वीकार करते हैं कि जीवन के यथार्थ से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी हमारी आज की पीढ़ी उस यथार्थ के साथ पूरा न्याय नहीं कर सकी। बंगाल के अकाल से लेकर आज तक जीवन में इतने महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं कि उनकी प्रेरणा कितनी ही अमूल्य कृतियों को जन्म दे सकती थी। परंतु हमारी इस पीढ़ी ने अपेक्षाकृत ठहरे हुए, अर्थात पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया है और निरंतर कुलबुलाते और संघर्ष करते हुए उसके सामाजिक पार्श्व की ओर कम ध्यान दिया है।

दरअसल यही वह बड़ी कमजोरी थी जिसके चलते नई कहानी के सामूहिक रचना-जगत की हैसियत सीमित हो गई। समय का एक बड़ा और जरूरी हिस्सा जब अछूता रह जाता है तब ऐसा होना स्वाभाविक ही है। कहानी के आलोचकों ने इतना कुछ हो जाने पर भी इस ओर गंभीरता से ध्यान नहीं दिया। यही वजह थी कि नई कहानी की मुख्य धारा आज तक रेखांकित नहीं हो पाई क्योंकि 'नई कहानी' के इस दौर में स्पष्टतः दो तरह की रचनाएं एक साथ सामने आ रही थीं। यथार्थवादी परंपरा की प्रगतिशील चेतना संपन्न रचनाएं अलग ही नजर आती थीं और अनुभववादी आधुनिकता को तरजीह देने वाली अलग। भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कंडेय, मन्नू भंडारी, शेखर जोशी, रामकुमार, उषा प्रियंवदा, रघुवीर सहाय और अमरकांत की कहानियां उस दौर में 'नई कहानी' की प्रमुख रचनाओं के तौर पर प्रचारित भले न हुई हों, 'नई कहानी' की मुख्य धारा में इनकी अपनी खास जगह है।

यह वह दौर था जब *गदल, रसप्रिया, गुलकी बन्नो, मवाली, बादलों के घेरे, हंसा जाई अकेला, सेब, परिंदे, डिप्टी कलक्टरी, कोसी का घटवार, धरती अब भी घूम रही है, चीफ की दावत* और *एक कमजोर लड़की* की कहानी लिखी जा रही थी। प्रामाणिकता की खोज के इस दौर में अनुभूति की प्रामाणिकता को सबसे ऊपर रखने की बातें की जा रही थीं। नामवर सिंह की भाषा में कहें तो गोर्की की जगह बहुत चुपके से चेखव ने ले ली। लेकिन क्या सचमुच यह परिवर्तन दीर्घजीवी था? *लंदन की एक रात* सरीखी कहानी को आदर्श मानने वाले कहानी आलोचकों को तब क्या पता था कि खुद निर्मल आगे चलकर अपनी प्रतिनिधि कहानियों में इसे जगह नहीं देंगे। लेकिन यह सब बहुत बाद में हुआ।

इससे पहले लंबे समय तक निर्मल वर्मा उस पूरी कथापीढ़ी के चहेते कहानीकार बने रहे जिसके मन में 'नई कहानी' के विरुद्ध जबर्दस्त आक्रोश भरा था। दरअसल, नामवर सिंह का यह कहना बिलकुल सही है कि यह पीढ़ी निर्मल की कहानी 'एक शुरुआत' से ज्यादा प्रभावित थी। इस कहानी में नैरेटर होटल के तंग सीलन भरे अकेले कमरे में यूरोप का अर्थ धीरे-धीरे जोड़ पाता है—टेरर-टेरर-

ऑफ एनलाइटनमेंट—ऐसा भय जिसमें मृत्यु और मुक्ति दोनों ही समाहित हैं। आश्चर्यजनक यह इसलिए भी लगता है क्योंकि *टूटना* सरीखी राजेंद्र यादव की कहानी इस समय तक सामने आ चुकी थी।

नई कहानी के बाद की पीढ़ी ने कहानी को अस्वीकृत कर 'अ-कहानी' की गुहार लगाई। रवींद्र कालिया का तो बहुत साफ-साफ कहना था कि उन्हें कहानी के उस स्वीकृत रूप से घोर वितृष्णा है जिस अर्थ में आज वह कहानी के नाम से जानी जाती है। दरअसल यह कहानीकार समकालीन जीवन-दृष्टि के प्रति एक खास तरह की तटस्थता लेकर चलना पसंद करते थे जिसमें भावुकता के लिए कोई जगह थी ही नहीं। इनके अनुसार समकालीन जीवन दृष्टि से अभिप्राय था—न समझी जाने वाली चीजों का अस्वीकार। यही कारण था कि कलकत्ता कथा-समारोह में गंगाप्रसाद विमल साफ-साफ यह कह डालने पर विवश हुए कि 'जो नए बोध को स्वीकार नहीं करता वह समकालीन नहीं है। रचनात्मक समकालीन दृष्टि अलग है। जो अभिशाप हमें मिला है, उसे स्वीकार करने के लिए हम अभिशापित हैं। जब हम यथार्थ के साथ उसे देखते हैं तो आधुनिक जीवन दृष्टि शुरू हो जाती है।'

जाहिर है, विमल, कहानियों में चले आ रहे जीवन के घिसे-पिटे स्वरूप के अस्वीकार की ओर संकेत कर रहे थे। इस दौर की ऐसी कहानियां थीं—*सांसें, मातम, नौ साल छोटी पत्नी, एक प्रामाणिक झूठ, प्रतिशोध, पिता, विकथा, शवयात्रा, एक पति के नोट्स* और *फेंस के इधर-उधर*। लेकिन जिस जीवन दृष्टि की बात विमल करते हैं, वह कोई बनी-बनाई चीज नहीं थी कि उसे स्वीकार कर लिया जाता। इसी दौर में श्रीकांत वर्मा ने तो स्पष्ट भी किया कि इस समय का लेखन यदि विशिष्ट है तो इसी अर्थ में कि लेखक के पास कोई जीवन दृष्टि नहीं है और लेखक हिम्मत के साथ उसे स्वीकार करता है। आप देखिए, इससे पूर्व भाषा का यह खरापन और साफगोई कहां नजर आती थी—"आज के लेखन की यह विशेषता है कि लेखक को यह एहसास हुआ है कि उसके पुरखे, पूर्वज, पहले के लोग, पास के लोग, दूर के लोग, कोई भी उसकी सहायता नहीं कर सकते। यह एहसास ही अपने आप में बहुत बड़ा है। लेखक को लगा है कि वह अकेला है और उसे सारे इतिहास को तय करना है, और सारे इतिहास से लड़ना है।"

श्रीकांत वर्मा तब, तेजी से हो रहे आदमी के अंतरराष्ट्रीयकरण को परख रहे थे। तब वह समझ रहे थे कि आदमी को आंचलिकता में समेटकर नहीं रखा जा सकता। दरअसल इसके पीछे उनकी पीढ़ी के कथाकारों की यह सोच काम कर रही थी कि कहीं भी रहकर किसी भी जगह के आदमी से जुड़ा हुआ रहा जा सकता है। यह आदमी अजीब ही तरह से मुक्ति पा रहा था। यहां तक कि कहानियों में उसका कोई नाम ही न होता। इसे पूरी तरह आदमी हो जाने की प्रक्रिया से जोड़ा जा रहा था। आदमी यानी विश्वमानव।

इस दौर में यह अनायास नहीं हो रहा था कि रचनाकार जिस समाज और परिवेश को करीबी नजर से देखता, वही उसे झूठा और अप्रामाणिक लगता। असंतोष, घुटन, संशय और सही-गलत की निर्णयहीनता ही हर जगह व्याप्त थी। हर चीज का फ्रेम टूट चुका था, तो कहानी का तो खुद-ब-खुद टूटना ही था। कहानीकारों ने सारे फ्रेम तोड़ डाले जैसे वे पूरी व्यवस्था को ही छिन्न-भिन्न कर डालना चाहते हों। यह ऐंटी स्टोरी दरअसल शुरू ही सिद्धांतों को तोड़ने से हुई। हर चीज से घोर वितृष्णा का दौर था यह। कृष्ण बलदेव वैद की अपनी तरह की एकदम अलग और एब्सर्ड कहानियों की जमीन।

आधुनिकता को यह पीढ़ी एक साहित्यिक प्रक्रिया बताती थी और इसके कारण बताए जाते थे—विज्ञान, यंत्र और दूसरे तमाम तथ्य। केंद्रीय मुद्दा था कि नया रचनाकार यथार्थ को किस रूप में देखता है? यही कारण है कि यहां अलग ही स्थितियां नजर आती हैं। देवीशंकर अवस्थी का यह कहना ज्यादा समीचीन प्रतीत होता है कि 'थर्टीज़-फोर्टीज़ के लेखक यथार्थ का सृजन करते थे तो पचास के लेखक यथार्थ को अभिव्यक्ति करते थे, पर समकालीन कथाकार यथार्थ को खोजता है।... ये अपनी नजर से बूढ़ों की कहानियां नहीं कहते बल्कि अपनी नजर से अपनी कहानियां कहते हैं।'

सामाजिकता और मानवता जैसे जुमले यदि इस पीढ़ी के लिए एकदम अप्रासंगिक हो गए थे तो यह अस्वाभाविक भी नहीं था। क्योंकि यहां व्यक्ति के चेहरे से कहीं ज्यादा तरजीह जीवन स्थितियों को दी जा रही थी। अनुभव बिंबों की इन कहानियों की यह विशेषता थी कि इनमें यथार्थ हू-ब-हू नहीं उतर आता था। उसका विरूपित हो जाना ही जैसे उसकी पहचान थी। क्योंकि रचनाकार जटिल स्थितियों की असलियत पहचान चुका था इसलिए वह कथारूढ़ियों को खुलकर तोड़ता जा रहा था। उसके लिए न नाम की कोई अहमियत रह गई थी न घटना और चरित्र की। अहमियत थी तो महज संवेदना की।

दूधनाथ सिंह हों या रवींद्र कालिया, ज्ञानरंजन हों या काशीनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल हों या प्रयाग शुक्ल, रमेश बक्षी हों या बदीउज्जमा, राजकमल चौधरी हों या जगदीश चतुर्वेदी, माहेश्वर हों या ममता कालिया, श्रीकांत वर्मा हों या रामनारायण शुक्ल, महेंद्र भल्ला हों या रमाकांत, गिरिराज किशोर हों या मुद्राराक्षस, हृदयेश हों या कामतानाथ, विजय मोहन सिंह हों या अशोक सेकसरिया, योगेश गुप्त हों या दयानंद अनंत, महीप सिंह हों या बल्लभ सिद्धार्थ, इस दौर के सभी महत्वपूर्ण कहानीकार संत्रस्त भारतीय जीवन को अपनी-अपनी तरह से प्रस्तुत करते रहे।

ये कहानियां पराभव में डूबे लोगों की तस्वीरें ही पेश करके रह जाती हों, ऐसा भी नहीं है। *घंटा, पेपरवेट, कुत्तेगीरी, पेशाब, काला रजिस्टर, डाब या जिंदगी भर का झूठ* जैसी कहानियां पराभव से उबर सकने की बेचैनी भी जुटाती हैं। अंदाज जरूर पहले से हटकर नजर आता है। कहानी में कथ्य की खोज और भाषा को मांजते हुए इतना सरल और समर्थ बना देने की कला ज्ञानरंजन ने प्रस्तुत की कि आज भी उनकी कहानी की कठिन प्रतीक्षा उनके पाठक करते हैं।

शायद रचनात्मकता के और नए आयाम खुलते भी लेकिन खुलकर सोचने वाले ये तमाम रचनाकार जैसे क्रमशः अपनी सोच में ही सिमटते चले गए। देखते-देखते रचना का केंद्र व्यक्ति बन बैठा। यह ऐसा अजब संत्रास था कि उसके परे जैसे कुछ था ही नहीं। जबकि समय जिस तरह करवट ले रहा था, यह एक हलचल भरा दौर था। चीन से लड़ाई हो या भारत के लिए सपने देखने वाले बड़े नायक नेहरू का प्रस्थान, तेजी से बदलता राजनैतिक माहौल हो या कांग्रेस की खराब हालत, पूरा दौर बेहद घटनापूर्ण था। तेजी

से हो रहे इस बदलाव का असर यह पड़ा कि रचनाकार का विद्रोही स्वर तो लाउड होता चला गया, लेकिन उसमें न वजन शेष रह गया न गहराई। अति बौद्धिक और कथाहीन लेखन के इस दौर में घूम-फिरकर लेखक भागे हुए सीमित अनुभव पर ही जा पहुंचता था।

इनमें गिरिराज किशोर ने तो एक समय बहुत स्पष्ट यह कहा भी है—"मैं आज भी फ्रीजिंग प्वाइंट पर लेखन कर रहा हूं। उबाल नहीं है जिससे खदबदाना पता चलता है। यह तब तक होता जाएगा जब तक इस देश की जिंदगी स्वयं नहीं गरमाएगी। जो देखता हूं, भोगता हूं, उसी को तो लिखूंगा।"

इस दौर के ज्यादातर कहानीकारों की रचनाओं को गौर से देखने पर पता चलता है कि यह एक तरह से वैयक्तिक द्वंद्व का नतीजा है। व्यक्तिवाद का यह स्वर कहीं-कहीं निर्वैयक्तिक व्यक्तिवाद तक भी जा पहुंचा है। यह एक ऊंचा कलात्मक आदर्श तो जरूर था जहां पहुंचकर रचनाकार जीवनानुभवों के प्रति 'आब्जेक्टिव' हो पाता है। यहीं उसे काफ्का से आत्मीयता भी महसूस होने लगती है। यही दरअसल साठोत्तरी कहानी (या अकहानी) का मूल उद्देश्य भी था। लेकिन क्रमशः सिकुड़ते अनुभव-जगत के कारण अकहानी जैसे सैक्स पर ही आ टिकी।

कहानी में जिस यथार्थ को सही तरीके से देखने के नजरिए से यह आंदोलन शुरू हुआ था, वही अदेखा रहने लगा। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि कुछ कहानीकार, जिनमें अद्‌भुत सामर्थ्य थी, वे अपनी ही प्रतिभा की चमक से इतने स्तब्ध रह गए कि उनकी सीमा खुद उनकी कहानियां बन गईं। जैसे उन्हें पार कर पाने में वह खुद को असमर्थ पा रहे थे। जो लिखा जा रहा था, वह *पूरी शताब्दी* (भीमसेन त्यागी), *लब-ब-लब* (शोभना सिद्दीक), *सात कहानियां उर्फ अवांतर* (गंगाप्रसाद विमल) और *संदल और सिंथाल* (रवींद्र कालिया) सरीखा अधिक था, गिरिराज किशोर की *नया चश्मा* सरीखा कम। सच पूछा जाए, तो यह हिंदी कहानी का मध्यांतर ही था। और मध्यांतर में जिस तरह की असावधानियों की गुंजाइश बनी रहती है, वह यहां भी हुई। वरना राजकमल चौधरी, रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, विजय मोहन सिंह और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कतिपय महत्वपूर्ण रचनाएं खोई न रह जातीं जबकि ये कथाकार अपनी-अपनी तरह से कहानी की नई राह खोज रहे थे।

मध्यांतर की इस स्थिति से उबरने की कोशिश करीब-करीब हर रचनाकार कर रहा था, भले ही वह अकहानी से संबद्ध रहा हो या नहीं। 1964 में 'सचेतन कहानी' शीर्षक से जगदीश चतुर्वेदी की एक टिप्पणी *केंद्र* में प्रकाशित हुई थी। कुछ समय बाद महीप सिंह ने न सिर्फ 'सचेतन कहानी आंदोलन' का सूत्रपात किया बल्कि *संचेतना* पत्रिका भी शुरू कर दी। यह सब अकहानी के बाद शुरू हुआ हो, ऐसा नहीं है। इस कथा आंदोलन के मूल में भी नई कहानी के अंतर्विरोध ही प्रमुख थे। जाहिर था कि ऐसे में इन अंतर्विरोधों को स्पष्ट करने और जीवन के प्रति एक सचेत दृष्टि अपनाते हुए उसे सक्रियता से जीने की ललक को रचना का आग्रह बनाया जाता।

'अकहानी' से 'सचेतन' को इस रूप में भिन्न बताया गया कि शिल्प के नए से नए प्रयोगों का विरोध न करते हुए भी 'सचेतन कहानी' कथा को विशेष महत्व देती थी। कथा की मूल संवेदना का पाठक तक संप्रेषित हो जाना उसकी मूल चिंता बताई गई। ऊपरी तौर पर यह आभास हो रहा था कि 'सचेतन कहानी' 'अकहानी' के जरिए छाई धुंध को साफ करने की नीयत से सामने आ रही है। लेकिन मुश्किल यहां भी वही थी, कि कोई विशेष वैचारिक आधार न होने के कारण यह आंदोलन खुद-ब-खुद सिमटता चला गया। लेकिन इसके साथ ही इसने 'समांतर कहानी' के लिए एक पीठिका तो तैयार कर ही दी। जो रचनाकार 'नई कहानी' की रुढ़ियों के विरुद्ध परिवेशगत ईमानदारी को महत्व दे रहे थे उन्हें 'सचेतन' ने आकृष्ट किया ही था। एक तरह से, इसे जीवन की तरफ लौटना कहा गया। और इसकी मूल वजह यह थी कि सचेतन आंदोलन को, समाज को मूल्यविहीन मान लेने के विचार के विरोध में खड़ा किया गया था। धर्मेंद्र गुप्त हों या वेद राही, मनहर चौहान हों या प्रियदर्शी प्रकाश, रामदरश मिश्र हों या स्वयं महीप सिंह, सभी ने आंदोलन के तहत ही ऐसी रचनाएं दी हों, ऐसा नहीं है। इससे पहले और बाद में भी इनकी रचनाओं में यही आग्रह दिखाई देते हैं।

सचेतन की असफलताओं को कमलेश्वर संभवतः बहुत बारीकी से देख चुके थे। उन्होंने अपनी बात की शुरुआत में ही जन साधारण को आधार बना लिया—"सड़क पर खड़ा एक-एक व्यक्ति जब तक अपने भविष्य और वर्तमान के प्रति आश्वस्त नहीं होता, साहित्यिक धरातल पर तब तक हमारी लड़ाई खत्म नहीं होती।" व्यवस्था के ढांचे को बदल देने भर तक अपनी बात सीमित न रख, साधारण आदमी के लिए सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक न्याय दिलाने को भी यहां प्रमुखता से सामने रखा गया। समांतर की शुरुआत के इस दौर में सबसे विचित्र बात यह थी कि प्रगतिशील लेखक संघ करीब-करीब निष्क्रिय होता चला गया। पूंजीवादी दुनिया से टकराने के लिए (चूंकि कमलेश्वर साधन तो उसी दुनिया के इस्तेमाल कर रहे थे) एक खास तरह की भाषिक बुनावट में चीजें पेश की जा रही थीं। *सारिका* का जितना इस्तेमाल हो सकता था, किया गया। 'आम आदमी के आसपास : आज की कहानियां' के तहत लगातार कई समांतर कहानी विशेषांक प्रकाशित किए गए। इनमें इब्राहिम शरीफ, सुरेश सेठ, हृदय लानी, रमेश उपाध्याय, मधुकर सिंह, प्रभु जोशी, बल्लभ सिद्धार्थ, कामतानाथ, हिमांशु जोशी, विभु कुमार, सुदीप, मृदुला गर्ग, सतीश जायसवाल, प्रदीप पंत, कमलेश्वर, राजेंद्र किशोर, सुभाष पंत, जितेंद्र भाटिया और सुधा अरोड़ा आदि अनेक नए-पुराने रचनाकारों की कहानियां प्रकाशित की गईं।

'मेरा पन्ना' के तहत कमलेश्वर खुलकर यह रेखांकित कर रहे थे कि समय सापेक्ष समांतर साहित्य ने सदियों से सत्य माने जा रहे 'सत्य' तथा उससे संबंधित मूल्यों पर भी प्रश्नचिह्न लगाए हैं। सही अर्थों में इन्हें विषमतामूलक समाज के द्वंद्व की कहानियों के तौर पर रेखांकित करना ही उनका मूल उद्देश्य था। सोच के स्तर पर, कई महत्वपूर्ण संकेत इस दौर में सामने जरूर आए, लेकिन इस दौर की रचना में, विचार की उपस्थिति ठीक उसी रूप में मौजूद नहीं रही।

कमलेश्वर यह इशारा कर रहे थे कि अभी तक हम वर्ण संघर्ष को नजरंदाज करते आए हैं और उस क्षेत्र में सुधार की बातों को तरजीह देते रहे हैं (यानी वर्ण भेद के क्षेत्र में सुधारवादी बनना और वर्ग भेद के क्षेत्र में शांति पूर्ण विकासवादी होना—ये दो बहाने हैं) जिनके तहत सांस्कृतिक और आर्थिक शोषण की प्रक्रिया जारी रही है। सोच के स्तर पर यह एक महत्वपूर्ण संकेत था क्योंकि सांस्कृतिक सुधारवाद और आर्थिक विकासवाद—दोनों ही आम आदमी

के खिलाफ जा रहे थे। यह बात बड़ी शिद्दत से महसूस की जाने लगी थी कि जब तक मशीन और मजदूर का रिश्ता तय नहीं हो जाता तब तक संघर्ष की भूमिका भी स्पष्ट नहीं हो सकती। (पता नहीं कि यह मारीनेत्ती के 'भविष्यवाद' का प्रभाव था या अजाने ही उस जैसा हो गया।) ठीक यही बात किसान और जमीन के संदर्भ में भी उठाई जा रही थी।

एक तरह से यह श्रम और उसके परिणाम से जुड़े सीधे सरोकार का विचार था। यही नहीं, इस दौर के सही नैतिक संकट की ओर भी कमलेश्वर ने तमाम रचनाकारों की कहानियों और अपने संपादकीयों के जरिए ध्यान आकर्षित किया। उनका कहना था कि प्रजातंत्र के तहत जिन संस्थाओं और व्यवस्थाओं को जन्म दिया गया—वे बेईमान हो गईं। और बेईमान हो गईं इन राजनैतिक-आर्थिक संस्थाओं पर से आदमी का यकीन उठ गया। यह समांतर के सूत्रधार का विचार था कि जो उस दौर में लिखे जा रहे कथा साहित्य के साथ-साथ सामने जरूर आ रहा था, लेकिन ऐसी सामूहिक सोच का कोई ठोस प्रमाण यहां मौजूद नहीं था।

यह ठीक है कि इस दौर में *जमीन का आखिरी टुकड़ा* (इब्राहिम शरीफ), *सज़ा* (हृदय लानी), *यह सब अंतहीन* (प्रभु जोशी), *जुलूस* (बल्लभ सिद्धार्थ), *गाय का दूध* (सुभाष पंत), *अनुराग* (आशीष सिन्हा), *आग* (दामोदर सदन), *समतल* (रमेश उपाध्याय), *कहानी नहीं* (से.रा. यात्री), *तीसरी सांस* (कामतानाथ), *जलते हुए डैने* (हिमांशु जोशी), *आम आदमी का शव* (प्रदीप पंत) और *इतने अच्छे दिन* (कमलेश्वर) सरीखी कहानियों की खासी चर्चा रही, लेकिन 1967-68 से शुरू हुआ यह आंदोलन दस वर्ष से ज्यादा न चल सका। युवा कथाकारों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी अनायास थम गए इस आंदोलन से हतप्रभ रह गई।

सारिका के संपादन से कमलेश्वर के मुक्त होते ही जैसे पूरे आंदोलन की चूलें हिल गईं। लगा, जैसे एक व्यक्ति की सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि सिर्फ 'मेरा पन्ना' तक ही सीमित थी। यदि ऐसा न हुआ होता तो वह एक नारे भर में तब्दील होकर न रह जाती बल्कि एक बड़े समूह का विचार बनकर फलती-फूलती रहती। जो लोग इस प्रभाव में आकर ही रचनाकार हो गए थे। उन्होंने कुछ समय तक फैशनपरस्ती में लेखन जारी रखा और फिर खामोश हो गए।

बावजूद इसके साहित्य की एक अनवरत धारा (जो दरअसल कभी सूखती नहीं) अपने सहज वेग में प्रवाहमान रही। बहुतेरे रचनाकार जो प्रायः आंदोलनों से छूते-अछूते अपने रचनाकर्म में जुड़ रहे थे, अब भी पूर्ववत रचनारत थे। मनोहर श्याम जोशी, विद्यासागर नौटियाल, रवींद्र वर्मा, काशीनाथ सिंह, बीर राजा, रमेश उपाध्याय, बदीउज्जमां, योगेश गुप्त, ब्रजेश्वर मदान, रमाकांत, हृदयेश, शैलेश मटियानी, गिरिराज किशोर, अशोक अग्रवाल, बल्लभ डोभाल, गोविंद मिश्र, जगदंबा प्रसाद दीक्षित आदि के लेखन के साथ ही उभरकर आई थी एक पूरी की पूरी जागरूक कथा पीढ़ी भी जो रचना का अपना रास्ता धीमी चाल से ही सही, लेकिन बना जरूर रही थी। स्वयंप्रकाश, असगर वजाहत, राजी सेठ, चंद्रकांता, मृणाल पांडे, विजेंद्र अनिल, संजीव, उदय प्रकाश, शशांक, सुरेंद्र मनन, रमेश बतरा, सुरेश उनियाल, प्रमोद सिन्हा, विजय कांत, कुमार संभव, अरुण प्रकाश, नरेंद्र निर्मोही, अमर गोस्वामी, धीरेंद्र अस्थाना, मधुसूदन आनंद, विष्णु नागर, मंजूर एहतेशाम, विजय, सत्येन कुमार, बलराम, चित्रा मुद्गल, नमिता सिंह, सूर्यबाला, नासिरा शर्मा, सुरेश कांटक, अब्दुल बिस्मिल्लाह, विभांशु दिव्याल, जितेंद्र रघुवंशी, शिवमूर्ति, प्रियंवद, अवधेश कुमार, चंद्रकिशोर जायसवाल और अशोक गुप्ता सरीखे कई संभावनाशील कथाकार इसमें शामिल थे। यह पीढ़ी अपने समय को देखने और समझने की अत्यंत सचेत और यथार्थवादी दृष्टि लेकर चल रही थी। दीगर बात है कि बाद में इनमें से कई रचनाकारों ने बहुत जल्द या तो विराम ले लिया या चुक जाने का एहसास करा दिया। मौजूदा दौर में, इनमें से स्वयंप्रकाश, नासिरा शर्मा, शशांक, उदय प्रकाश, राजी सेठ, सुरेश उनियाल, अरुण प्रकाश, चंद्रकिशोर जायसवाल, चित्रा मुद्गल, अब्दुल बिस्मिल्लाह, असगर वजाहत और विष्णु नागर ही अपनी रचनात्मक उपस्थिति का एहसास करा पा रहे हैं। यही वजह थी कि नए आवरण में पुराने विचारों को ओढ़ाए प्रस्तुत हुआ 'सक्रिय कहानी' का प्रयास आंदोलन की शक्ल लेने से पहले ही दम तोड़ गया। हालांकि राकेश वत्स ने कई तरह से यह स्थापित करने की भरपूर कोशिश की जरूर कि आदमी की निरीहता और निहत्थेपन पर खूब आंसू बहाए जा चुके हैं। इससे पीड़ित वर्ग में इजाफा करने वालों पर कोई असर पड़ने वाला नहीं है। 'सक्रिय कहानी' को प्रस्तुत करने की गर्ज से 'मंच' में राकेश बराबर यह कहते रहे कि जरूरत सर्वहारा की क्षमताओं को उबारने की है। रचनाकार की प्रतिबद्धता को भी उन्होंने सर्वोपरि रखते हुए *बिरजू तो मारा ही जाएगा* सरीखी कहानियां लिखकर माडल पेश करने की कोशिश भी की, लेकिन यह दरअसल वह समय था जब भीतर ही भीतर एक बड़े आंदोलन की तैयारी पूरी हो चुकी थी।

जल्द ही यह सामने भी आ गया और जनवादी आंदोलन का सूत्रपात हुआ। यह आंदोलन चूंकि एक सामूहिक सोच का परिणाम था इसलिए इसका व्यापक प्रभाव पड़ा भी।

यह कोई नई शुरुआत तो थी नहीं। यह तो उस लगातार चली आ रही कोशिश का नतीजा था जहां राजकुमार शर्मा की भाषा में कहें तो—"सामाजिक अनुभवों और उनमें निहित इंसानी रिश्तों, अंतर्विरोधों और तनावों को बारीकियों से परखने और उन्हें मानवीय सार्थकता और मुक्ति के व्यापक संदर्भ से जोड़ने वाली यह यथार्थवादी दृष्टि कहानी के केंद्र में 'असामान्य' की जगह 'सामान्य' को प्रतिष्ठित करने के लिए लगातार जूझती रही। नए जनवादी दौर ने इस अल्पमत को बहुमत में बदला।"

अक्तूबर, 1981 में दिल्ली में जनवादी लेखक संघ का क्षेत्रीय सम्मेलन हुआ और फिर अगस्त '82 में पहला राज्य सम्मेलन। हर सोच के रचनाकार एकत्र होकर जैसे किसी नए बदलाव की बात कर रहे थे लेकिन अपने समूचे मतभेदों को सामने रखकर ही। जनवादी सांस्कृतिक विरासत को संकट से उबारने के लिए पहलकदमी की जरूरत पर बल देते हुए यह काम तभी संभव हुआ जब बड़ी तादाद में नए कथाकारों ने इस यथार्थवादी नजरिए से जुड़ कर इसे नए और व्यापक आयाम दिए। एक तरह से इस दौर की कहानियां संघर्षपूर्ण वर्गीय अंतर्विरोधों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उस जीवन की विसंगतियों पर भी चोट करने को आतुर दिखाई

पड़ रही थीं, जहां से ज्यादातर हिंदी कहानीकार आए थे। यह मध्यवर्गीय जीवन जिन मूल्यों को विवश होकर ढो रहा था उसकी आलोचना भी कहानीकार कर रहे थे। इस सबके ऊपर थी रचनाकार में विकसित होती हुई वर्गीय समझ। इस दौर की रचनाओं के साथ-साथ एक खास बात यह भी हुई कि 'कहानी की जमीन' की तरफ सचेत और सुस्पष्ट वैचारिक आधार की सार्थकता ने कुछ भी एकरेखीय नहीं रहने दिया।

इस जटिल समय में यथार्थ जिस तेजी से बदल रहा था, उसे कहानी किसी फार्मूले के आधार पर पकड़े नहीं रह सकती थी। एक खास तरह के रचनात्मक संघर्ष और संयम की जरूरत शिद्दत से महसूस की जा रही थी। जिन रचनाकारों ने इस दौर में धैर्य और संयम बनाए रखा, वे विकास करते रहे, लेकिन जो एक बंधे-बंधाए पैटर्न पर कलम चलाते रहे, उनकी सीमाएं, कथा में पाजिटिव हीरो की मौजूदगी के बावजूद सामने आ ही गईं।

इनमें अधिकांश कहानियों के फ्रेम इतने जाने-पहचाने और पूर्व निर्धारित थे कि करीब-करीब सभी कहानियां एकरसता की शिकार होने लगीं। खास सब्जेक्ट पर, खास तरह से और खास परिणति तक ले जाने की इस ललक ने बहुतेरे कहानीकारों को प्रभावित किया। जाहिर है, मूल में जनवादी आंदोलन का यह उद्देश्य कदापि नहीं था। लेकिन असामान्य की जगह सामान्य की प्रतिष्ठा की इस कदर अति हो गई कि सभी कथाकार करीब-करीब एक ही भाषा में बोलते हुए प्रतीत हुए। इस दौर में सर्वाधिक सक्रिय कहानीकार रहे रमेश उपाध्याय। *चतुर्दिक* हो या *पैदल अंधेरे में* या *बदलाव से पहले*, एक के बाद एक उनके कई संग्रह आए। उनकी कहानियां एक खास तरह के नायक की तलाश में निकल पड़ी थीं। यही कारण था कि कुछ आलोचकों ने इन रचनाओं पर यथार्थ को विचार से ही स्थानांतरित कर देने जैसा प्रयास भी बताया। लेकिन रमेश उपाध्याय एक के बाद एक प्रयोग करते रहे। इस दौरान उन्होंने लंबी से लंबी और छोटी से छोटी कहानियां लिखीं।

असगर वजाहत का *दिल्ली पहुंचना है* हो या चित्रा मुद्‌गल का *जहर ठहरा हुआ*, संजीव का *तीस साल का सफरनामा* हो या धीरेंद्र अस्थाना का *लोग हाशिए पर* हो या शशांक का *उन्नीस साल का लड़का*, बलराम का *कलम हुए हाथ* हो या रमेश बतरा का *नंगमनंग*, सुरेंद्र मनन का *उठो लच्छमी नारायण* हो या उदय प्रकाश का *दरियाई घोड़ा* कई नए कहानीकारों के शुरुआती संग्रह भी इस दौरान आए।

यह जरूर अच्छा हुआ कि छोटे-छोटे वक्फे के जो कथा-आंदोलन और दशकीय अध्ययन कहानी में होने लगे थे, वे कुछ पीछे छूटते-से लगे। संभावनाशील रचनाकारों को यह समझते भी बहुत समय नहीं लगा कि यथार्थ की सही समझ के बगैर सार्थक रचना संभव नहीं है। क्योंकि बेहतर रचना के लिए जिंदगी को उसकी पूरी शर्तों के साथ समझना जरूरी है। जिन्होंने इस सच को नहीं समझा, वे रचना के परिदृश्य में पिछड़ते चले गए।

दरअसल यह वह दौर था जब रचना के धरातल पर खुलकर सोचा जा रहा था। ऐसे रचनाकार भी थे जिनका विचार था कि केवल विचार से साहित्य नहीं बनता। ब्रजेश्वर मदान का कहना था : भावावेग को साहित्य में से निकालकर देख लीजिए, साहित्य में सिर्फ कैरीकेचर रह जाएंगे। ब्रजेश्वर मदान की इस बात में काफी वजन है कि सैगमेंटशन से सिर्फ उनका क्लास करेक्टर रह जाएगा। कहानी में यह कैरीकेचर हुआ भी। मदान कहना यह चाहते हैं कि इन्वॉल्वमेंट से भी वस्तुपरक दृष्टि अर्जित की जा सकती है।

लेकिन इस सबके ऊपर था यथार्थ की सही समझ का प्रश्न। इसे किसी ने खबर और कहानी के बीच बनते नए रिश्ते को समझने की कोशिश में देखा तो किसी ने तेजी से बदल रहे समाज में उपस्थित गंभीर सांस्कृतिक संकट की ओर जरूरी इशारा किया।

स्वयंप्रकाश की *पार्टीशन* और *सम्मान* सरीखी कहानियां आईं। उदय प्रकाश की *छप्पन तोले का करधन* और *और अंत में प्रार्थना* आई तो सुरेश उनियाल की *मानव स्पर्श* और *खोह*, शशांक की *घंटी*, और *अनार* सामने आईं तो रमाकांत की *कार्लो हब्शी का संदूक* और *उसकी लड़ाई*। अरुण प्रकाश की *भैया एक्सप्रेस* और *जलप्रांतर* पढ़ने को मिलीं तो अखिलेश की *चिट्ठी* और नरेंद्र *निर्मोही की बुखारी*। संजय खाती की *पटकथा की कथा* और *पिंटी का साबुन* प्रकाशित हुईं तो असगर वजाहत की *स्वीमिंग पूल* और *गवाही*। चंद्रकिशोर जायसवाल की *हिंगवा घाट में पानी रे* हो या संजीव की *ट्रैफिक जाम* और *दुनिया की सबसे हसीन औरत*। शंकर की *बत्तियां* हो या बीर राजा की *गवाह*, विष्णु नागर की *ईश्वर की कहानियां* हों या देवीप्रसाद मिश्र की *सुलेमान कहां है*, अब्दुल बिस्मिल्लाह की *अतिथि देवो भव* हो या विजय मोहन सिंह की *शेरपुर 15 मील*, सृंजय की *भगदत्त का हाथी* हो या गंभीर सिंह पालनी की *मेंढक*, हृदयेश की *मनु* हो या मनोहरश्याम जोशी की *टाटा प्रोफेसर षष्टिबल्लभ पंत*, काशीनाथ सिंह की *सदी का सबसे बड़ा आदमी* हो या स्वदेश दीपक की *कोर्ट मार्शल*, या ललित कार्तिकेय की *तलछट का कोरस*—कहानियों का एक भरा पूरा संसार सामने आया है। सबसे बड़ी बात यह हुई कि कई कहानीकारों ने रिपोर्टिंग को क्रॉस करते हुए अलग ही तरह की रचनात्मक संभावनाओं की तरफ ध्यान खींचा।

आज की कहानी जहां यह सूचना लेकर आती है कि 'रेडीमेड इंफार्मेशन' का यह समय आदमी की कल्पनाशक्ति और जिज्ञासा को खत्म करके रख देगा, वहीं यह भयावह सच्चाई भी उभरती है कि आदिम और आधुनिकतम समाज में हम एक साथ जी रहे हैं। उपभोक्ता समाज में तो तब्दील होने के संकट का सामना करने को तो विवश हो ही रहे हैं, हमें यह भी देखना है कि कैसे इस धरती को नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

भावुकता के दायरे से बाहर रहता आज का कहानीकार शायद सुधीश पचौरी की इस बात पर गौर करना चाहेगा कि अपना नया समाज एक नया यथार्थ है। अरसे से चली आ रही कुलीनों की साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक दादागिरी को विकेंद्रीकरण की चुनौती मिल रही है। नए यथार्थ ने पहला मौका दिया है कि हम अपना पाठ खुद तैयार करें।

जाहिर है, यह पाठ तैयार करते समय हमें यथार्थवादी दृष्टि और पद्धति की प्रासंगिकता के महत्व को तो समझना ही होगा, तेजी से परिवर्तनशील यथार्थ को भी पकड़ना होगा जिसके मूल में नए

अर्थतंत्र की विसंगतियां और चरित्र छिपे हैं। चाहे फिर इसके लिए अलोकप्रिय लेखन को ही तरजीह क्यों न देनी पड़ जाए।

पिछले कुछेक वर्षों में *सारिका* के बाद नियमित प्रकाशित होती रही *हंस* सरीखी कथा पत्रिका के नियमित और *वर्तमान साहित्य, कथ्यरूप, संबोधन, पहल, पल प्रतिपल, उत्तरा, समकालीन परिभाषा, साक्षात्कार, इंडिया टुडे, सबरंग, इंद्रप्रस्थ भारती* आदि के कहानी विशेषांकों में प्रकाशित रचनाओं में इस सत्य को परखा जा सकता है। कहानी का एक रचनात्मक माहौल लगता है फिर तैयार हो रहा है।

यही वजह है कि कहानी पहले से कहीं ज्यादा खुल रही है और उसका यह खुलना ही है जो पाठ-भेद की स्थितियां भी पैदा कर रहा है। दरअसल इसे लेकर बहुत ज्यादा परेशान होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह पाठ-भेद रचना में नहीं, पाठक के भीतर भी कहीं मौजूद है। और यही है वह स्थिति जहां से रचना की मुक्ति का रास्ता निकलता है। क्योंकि ऐसे में, रचनाकर्म, एक सामूहिक प्रक्रिया में तब्दील होने लगता है। असगर की *स्वीमिंग पूल*, हृदयेश की *मनु*, स्वयं प्रकाश की *पार्टीशन*, उदय प्रकाश की *और अंत में प्रार्थना* या संजय खाती की *पटकथा की कथा* ऐसी ही कहानियां हैं। देखना सिर्फ यह है कि इस भ्रामक समय में रचनाकार खुद को कितना संभाल पाता है क्योंकि फिसलने के भी कम अवसर नहीं हैं। और यह बात पिछली कई पीढ़ियों से सक्रिय कहानीकारों के साथ-साथ अखिलेश, नवीन सागर, सारा राय, संजय खाती, विनोद कुमार मिश्र, क्षितिज शर्मा, ज्ञान प्रकाश विवेक, सृंजय, आनंद हर्षुल, देवी प्रसाद मिश्र, हरि भटनागर, क्षमा शर्मा, रेखा, अमरीक सिंह दीप, मनोज रूपड़ा सरीखे कहानीकारों की एकदम नई पीढ़ी भी अच्छी तरह समझ रही है। आखिर उसके सामने रचनारत पिछली पीढ़ी के प्रमुख कथाकारों के बहुत करीब के उदाहरण मौजूद हैं।

आज का कहानीकार यह समझ रहा है कि इक्कीसवीं शताब्दी अपनी कहानी का रूप-स्वरूप खुद तय कर लेगी। जरूरत है, समय को उसकी रफ्तार के साथ समझते रहने की क्योंकि यथार्थ आज किसी को भी पक्षी की तरह झाड़ी में छिपा नजर नहीं आ रहा। बल्कि उसे, तेजी से बदलते हुए भी बराबर महसूस किया जा रहा है। खुरदुरी-सी यह तटस्थ संवेदनशीलता ही आने वाली कहानी की रीढ़ होगी। क्योंकि इसी के चलते यह याद रह पाएगा कि हाड़-मांस मजबूत नहीं होगा तो कितने भी खूबसूरत कपड़े पहना लीजिए, ढांचा ज्यादा समय तक टिका नहीं रह पाएगा। आंदोलनों से रचना का एक माहौल जरूर बनता है, लेकिन क्या विगत कहानी आंदोलनों का इतिहास इस बात का गवाह नहीं है कि जमीन से जुड़े बगैर कोई रचना हवा में तो कुछ समय जरूर रह सकती है लेकिन दीर्घजीवी नहीं हो सकती। रचना का जीवन समाज में 'ग्रो' हो रहे उसके पाठ पर कहीं ज्यादा निर्भर होता है।

आज की कहानी शायद धीरे-धीरे इस सच्चाई को समझ रही है। कहानी के जितने रूप आज नजर आ रहे हैं, इससे पहले कभी नहीं थे। रचना का रूप परिवर्तनशील समाज में इसी तरह आकार लेता है। कहानियां चाहे किसी भी फार्म में सामने आती रहें, जरूरी सिर्फ यह है कि यह समाज और समय उनमें बना रहे। ❑

आजकल के संपादक

- **कुंवर किशोर सेठ**
  मई, 1945–दिसंबर, 1945
- **अनंत मराल शास्त्री**
  जनवरी, 1946–फरवरी, 1948
- **देवेंद्र सत्यार्थी**
  मार्च, 1948–दिसंबर, 1954
- **चंद्रगुप्त विद्यालंकार**
  जनवरी, 1955–मई, 1963
- **मन्मथनाथ गुप्त**
  जून, 1963–फरवरी, 1967
- **केशव गोपाल निगम**
  मार्च, 1967–अप्रैल, 1976
- **भगीरथ पांडेय**
  मई, 1976–सितंबर, 1979
- **द्रोणवीर कोहली**
  अक्तूबर, 1979–अक्तूबर, 1980
- **वेद प्रकाश अरोड़ा**
  नवंबर, 1980–मई, 1982
- **नरेंद्र सिन्हा**
  जून, 1982–जनवरी, 1988
- **विजय अग्रवाल**
  मार्च, 1988–जून, 1988
- **सुरेश चंद्र शर्मा**
  जनवरी, 1990–मई, 1992
- **प्रवीण उपाध्याय** (कार्यवाहक)
  जुलाई, 1988–दिसंबर, 1989 व जून, 1992–जुलाई, 1993
- **प्रताप सिंह बिष्ट**
  अगस्त, 1993 से

संस्मरण

•

कल से आज तक

केशव गोपाल निगम

लेखक पत्रिका के पहले उप संपादक नियुक्त हुए थे और अंततः लगभग आठ वर्ष तक संपादक रहने के बाद सन् 1976 में सेवामुक्त हुए। प्रस्तुत है उनकी कलम से पत्रिका के वैभवपूर्ण युग की अंतरंग झांकी।

आजकल अपने जीवन के पचासवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इन पचास वर्षों में *आजकल* ने अपनी एक अलग पहचान बना ली है जो किसी भी पत्रिका के लिए गर्व की बात हो सकती है। और *आजकल* के लिए तो विशेष रूप से, सरकारी पत्रिका होने के कारण।

और मुझे याद आ रहा है 5 फरवरी, 1945 का वह दिन जब मैंने *आजकल* के उप संपादक का पद संभाला था। प्रशासनिक अधिकारी फरीद ने कहा था, "निगम साहब! आप ज्वाइन तो कर रहे हैं, लेकिन इन पदों की मंजूरी हमारे पास 31 मार्च तक की है और आगे के लिए इन पदों की तो क्या, हमारे डिवीजन का अल्लाह ही मालिक है।"

समाचारपत्र में विज्ञापन पढ़ा कि संयुक्त प्रकाशनालय हिंदी का एक मासिक पत्र प्रकाशित करना चाहता है और उसके लिए एक संपादक और दो उप संपादकों की आवश्यकता है। प्रार्थना पत्र के उत्तर में इंटरव्यू के लिए निमंत्रण मिला। राजपुर रोड स्थित कार्यालय में जाने पर पता चला कि संयुक्त प्रकाशनालय एक सरकारी दफ्तर है और *आजकल* (उर्दू) का प्रकाशन कई साल से कर रहा है। बच्चों के लिए उर्दू में एक पत्रिका *नौ निहाल* भी प्रकाशित की जाती है और अब *आजकल* (हिंदी) का प्रकाशन आरंभ किया जाएगा। वहीं सुना कि संपादक की जगह के लिए उपेंद्रनाथ 'अश्क' का चुनाव निश्चित हो गया था। परंतु अब वह नहीं आ रहे। न आने के कारण सुनने में आए, निश्चित कुछ पता नहीं चला। उप संपादक की जगह के लिए मेरा और ओमप्रकाश 'विश्व' का चयन हुआ। संपादक के लिए रामशरण शर्मा का चुनाव हुआ परंतु शर्माजी ने अधिक वेतन की मांग की जिसे निदेशक कर्नल व्हीलर ने नामंजूर कर दिया।

प्रशासनिक अधिकारी फरीद साहब ने अपने जूनियर मंजूर हुसैन से मिलाया और मुझे उनके सुपुर्द कर दिया। मंजूर साहब अपने कमरे में ले गए। अपनी कुर्सी पर बैठते ही उनका लहजा एकदम बदल गया। अब तक कुर्सी के नशे की बात तो बहुत सुनी थी, आज प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। मंजूर साहब ने अपनी दराज से कुछ फार्म निकाले और मेरे आगे बढ़ा दिए। मैंने उन्हें समझने की कोशिश की तो वह बोले, "यह सब आपकी समझ में नहीं आएगा, आप तो जहां मैंने निशान लगाए हैं वहां दस्तख्त कर दीजिए। देखिए, आपके दूसरे साथी अभी तक नहीं आए हैं। इससे उनको नुकसान पहुंच सकता है।"

"मैं कुछ समझा नहीं", मैंने पूछा, "उन्हें मेरठ से आना है, कुछ देर हो गई होगी।"

"यहीं तो बाहर के लोग सरकारी बातें समझ नहीं पाते। आपने लंच से पहले दफ्तर ज्वाइन कर लिया। आपको आज की भी तन्खाह मिलेगी। वो साहब लंच के बाद ज्वाइन करेंगे, उन्हें आज की तन्खाह नहीं मिल सकती। वह आपसे जूनियर हो गए। यदि कभी छंटनी हुई तो उन्हें पहले जाना पड़ेगा।"

"अभी तो बारह ही बजे हैं। हो सकता है, वह लंच से पहले पहुंच जाएं।"

मंजूर साहब ने कुर्सी पर से उठते हुए कहा, "मेरा लंच 12 बजे से ही शुरू हो जाता है। बच्चे की छुट्टी बारह बजे होती है, मुझे उसे स्कूल से लेकर घर छोड़ना होता है। आप यह न समझें कि यह बात दफ्तर में अफसरों को पता नहीं है। सब जानते हैं कि 'एस्टेब्लिशमेंट' का विभाग सिवाय मंजूर के कोई नहीं संभाल सकता। यहां 'फंडामेंटल रूल्ज़' समझना हरेक के बस की बात नहीं।" कहते-कहते मंजूर साहब कमरे के बाहर नजर आए। उस समय तो मैं उनकी बात को बेकार की जुमलेबाजी समझ रहा था लेकिन कुछ दिन बाद 'विश्व' की इसी कारण नौकरी से छुट्टी कर दी गई कि वह मुझ से एक पहर जूनियर हो गए थे।

'विश्व' और मैं इस ख्याल में थे कि शायद हममें से ही किसी को संपादक बना दिया जाए क्योंकि उप संपादक और संपादक के लिए एक ही प्रश्न-पत्र था और प्रथम आने वाले को संपादक का पद और दूसरे और तीसरे स्थान पर आने वाले को उप संपादक का पद पेश किया गया था। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ

और संपादक के स्थान पर कुंवर किशोर सेठ की नियुक्ति कर दी गई। कुंवर किशोर सेठ मई, 1945 से दिसंबर, 1945 तक इस पद पर आसीन रहे।

संयुक्त प्रकाशनालय के निदेशक कर्नल व्हीलर थे जो काफी समय तक पश्चिमी एशिया में ब्रिटेन के राजदूतावासों में उच्च पदों पर काम कर चुके थे और अरबी, फारसी, आदि कई भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। *आजकल* का प्रथम अंक मई 1945 में प्रकाशित हुआ। प्रथम अंक में कर्नल व्हीलर द्वारा दिए गए संपादकीय के कुछ अंश देखिए:

> "…..गत वर्षों में यह बात स्पष्ट हो गई है कि एशिया में भारत राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से सबसे प्रमुख देश बनता जा रहा है।….. भारत के कई-एक जगत प्रसिद्ध धर्मगुरुओं ने अपने पड़ोसियों की सहायता पर अति गहन प्रकाश डाला है।….. 'प्रचार' शब्द के अर्थ के अंतर्गत ऐसी प्रकाशित सामग्री को सम्मिलित कर लिया जाता है जिसका उद्देश्य किसी भी विषय में जनता के ज्ञान की वृद्धि करना होता है। इसलिए हम यह अपना कर्तव्य समझते हैं कि अपने उद्देश्यों की स्पष्ट रूप से व्याख्या कर दें और फिर अपने पाठकों को यह दिखाने के लिए आमंत्रित करें कि हम अपने उद्देश्यों से कहां विमुख हो रहे हैं।"
>
> "हम देशवासियों के सम्मुख दो बातें उपस्थित करना चाहते हैं। एक तो विदेशों का वास्तविक चित्रण, विशेषकर भारत के निकट पड़ोसियों का और दूसरा, भारत में जो परिवर्तन हो रहे हैं उनको स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना जो भारत को युद्धोत्तरकालीन संसार के निर्माण में प्रमुख भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देंगे।"

> ***"स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संयुक्त प्रकाशनालय प्रकाशन विभाग बन गया और सरकार ने इसके विस्तार का निर्णय लिया। 'आजकल' के संपादक के पद का ग्रेड बढ़ गया। यह भी निर्णय लिया गया कि बच्चों की एक पत्रिका और विश्व की झांकी प्रस्तुत करने वाली एक पत्रिका भी निकाली जाए।"***

इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए ही *आजकल* के लिए सामग्री का चयन किया जाता रहा और दिनोंदिन *आजकल* को प्रायः सभी अच्छे लोगों का सहयोग मिलता रहा। अपवादस्वरूप मोहन सिंह सेंगर एक ऐसे लेखक थे जिन्होंने उत्तर में लिख भेजा था कि आपका पत्र सरकारी है और मैं सरकारी पत्र के लिए नहीं लिख सकता। स्वतंत्रता प्राप्ति तक अनेक ऐसे लेखक और पाठक थे जो यह सुनकर आश्चर्य करने लगते थे कि *आजकल* एक सरकारी पत्र है।

कुंवर किशोर सेठ ज्यादा दिन नहीं रहे और जनवरी, 1946 में अनंत मराल शास्त्री *आजकल* के संपादक बनाए गए जो इससे पहले पत्र सूचना कार्यालय में थे। अनंत मराल शास्त्री इस पद पर मार्च, 1948 तक रहे। शास्त्रीजी के काल में पत्रिका ने काफी तरक्की की। हिंदी में प्रायः सभी श्रेष्ठ साहित्यकारों का सहयोग मिला। *आजकल* में प्रारंभ से पारिश्रमिक देने की व्यवस्था भी थी। उन दिनों बहुत कम हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में पारिश्रमिक दिया जाता था। गेट-अप में काफी सुधार हुआ और प्रसार संख्या भी बढ़ी। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय *आजकल* की गणना हिंदी के श्रेष्ठ पत्रों में होने लगी थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संयुक्त प्रकाशनालय प्रकाशन विभाग बन गया और सरकार ने इसके विस्तार का निर्णय किया। *आजकल* के संपादक के पद का ग्रेड बढ़ा दिया गया। यह भी निर्णय लिया गया कि एक बच्चों की पत्रिका और एक विश्व की झांकी प्रस्तुत करने वाली पत्रिका भी निकाली जाए। प्रकाशन विभाग के उर्दू विभाग के इसी प्रकार विस्तार की योजना कार्यान्वित की गई। मन्मथनाथ गुप्त, करुणा शंकर पंड्या, चंद्रगुप्त विद्यालंकार की नियुक्ति सहायक संपादक के रूप में की गई। शुरू में ऐसा विचार किया गया था कि देवेंद्र सत्यार्थी सभी पत्रों के प्रधान संपादक होंगे और करुणा शंकर पंड्या *आजकल* का, चंद्रगुप्त विद्यालंकार *विश्व दर्शन* और मन्मथनाथ गुप्त *बाल भारती* के प्रकाशन का दायित्व संभालेंगे। परंतु यह व्यवस्था चल नहीं सकी। चलती भी कैसे? सरकारी पद मिल जाने से क्या होता है। साहित्य जगत में उसे कौन पूछता! सभी एक-दूसरे के बारे में कुछ यही राय रखते थे। सभी अपने को अन्य सहयोगियों से बड़ा साहित्यकार मानते थे। परिणामतः हिंदी विभाग छोटी-छोटी एक तरह की अमलदारियों में बंट गया जो एक-दूसरे का मजाक उड़ाने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देते। अंत में यह व्यवस्था हुई कि सत्यार्थी *आजकल*, विद्यालंकार *विश्व दर्शन* और मन्मथनाथ गुप्त स्वतंत्र रूप से अपने-अपने पत्र का दायित्व निभाएंगे। करुणा शंकर अन्य प्रकाशनों को देखने लगे।

मार्च, 1948 से सत्यार्थीजी ने *आजकल* का भार संभाला। प्रकाशन विभाग के कला विभाग के विस्तार होने और उसमें सुशील सरकार, बृजमोहन जिज्जा और नगेंद्र भट्टाचार्य के आने और *आजकल* को अपना सक्रिय योगदान देने से *आजकल* की साज-सज्जा में बड़ा निखार आया। वैसे भी सत्यार्थीजी गेट-अप पर बड़ी मेहनत करते थे। सत्यार्थीजी ने केवल *आजकल* के रूप को ही नहीं निखारा, अनेक नए स्तंभ और विषयों की विविधता के कारण *आजकल* की एक अपनी पहचान बन गई। 1 जनवरी, 1949 से 15 नवंबर, 1949 तक *आजकल* पाक्षिक रूप में भी निकाला गया।

राष्ट्रीय सरकार बन जाने के बाद *आजकल* निकालने के औचित्य का प्रश्न बार-बार उठने लगा। सरकार *आजकल* पर खर्च क्यों करे? स्वतंत्रता के पूर्व जो *आजकल* का उद्देश्य था वह अब अन्य पत्रिकाएं कर रही हैं। *आजकल* बंद क्यों न कर दिया जाए? इस प्रकार की बातें अनेक बार उठती रहीं, खासतौर पर बजट तैयार करने या सरकारी खर्च में कटौती के समय। 'विकास के पदचिह्न', 'भारत की प्रगति पर' ऐसे अनेक स्तंभ शुरू किए जाते रहे जो अन्य प्रकाशित सामग्री से मेल नहीं खाते थे।

सत्यार्थीजी हिंदी के साथ-साथ उर्दू और पंजाबी के भी प्रसिद्ध लेखक थे। प्रकाशन विभाग में एक साथ इतने साहित्यकारों के नियुक्त होने से बाहर से जो भी लेखक दिल्ली आता, प्रकाशन विभाग अवश्य सबसे मिलने आता। सत्यार्थीजी के कारण उर्दू और पंजाबी के प्रतिष्ठित लेखक भी आते और अच्छी महफिल जमती। *आजकल* को इन लेखकों की रचनाएं भी प्राप्त होतीं।

जनवरी, 1952 से *विश्व दर्शन* का प्रकाशन बंद कर दिया गया और *आजकल* से इसे संयुक्त कर दिया गया। आवरण पृष्ठ पर *आजकल* के नीचे छोटे टाइप में दिया जाता था *'विश्व दर्शन'* से संयुक्त।' 15 पृष्ठ की सामग्री *आजकल* में एक स्थाई स्तंभ के रूप में *विश्व दर्शन* के शीर्षक से दी जाती थी। इस खंड के संपादक के रूप में चंद्रगुप्त विद्यालंकार का नाम इस प्रकार प्रकाशित होता था—संपादक, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, पब्लिकेशंस डिवीजन के सहकारी हिंदी संपादक। यह व्यवस्था दिसंबर, 1954 तक बनी रही।

जनवरी, 1955 के अंक से *आजकल* के लिए एक संपादक मंडल का गठन किया गया—बनारसीदास चतुर्वेदी, नगेंद्र, शशधर सिन्हा, डाइरेक्टर पब्लिकेशंज डिवीजन, चंद्रगुप्त विद्यालंकार (मंत्री) और देवेंद्र सत्यार्थी। संपादकीय पत्र-व्यवहार का दायित्व चंद्रगुप्त विद्यालंकार को सौंप दिया गया। आवरण पृष्ठ पर छोटे टाईप में *विश्वदर्शन से संयुक्त* के स्थान पर अब *विश्व दर्शन सहित* प्रकाशित होने लगा और लोकगीत अंक निकालने की योजना स्थगित कर दी गई। 'लोकगीत अंक' के प्रकाशन का स्थगन सत्यार्थीजी को बहुत अखरा। वह काफी दिनों से इसकी तैयारी कर रहे थे।

1955-56 से प्रकाशन विभाग से हिंदी में दो पत्रिकाओं—*कुरुक्षेत्र* और *ग्राम सेवक* का प्रकाशन आरंभ हुआ, जिनका कार्य मुझे सौंपा गया। चंद्रगुप्तजी काफी दिनों तक *आजकल* के संपादक बने रहे। *सारिका* के संपादक नियुक्त होने पर वह प्रकाशन विभाग छोड़कर टाइम्स आफ इण्डिया पब्लिकेशंस में चले गए उनके स्थान पर *आजकल* के संपादन का भार मन्मथनाथ गुप्त को सौंपा गया। मन्मथनाथ गुप्त के सेवा निवृत्त होने पर 1967 में *आजकल* के संपादक के रूप में मेरी नियुक्ति हुई। वैसे तो *आजकल* में सदा से ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अनुवाद प्रकाशित होते रहे थे, लेकिन मैंने इस पक्ष पर और अधिक जोर दिया और *आजकल* में नियमित रूप से प्रादेशिक भाषाओं के हिंदी अनुवाद प्रकाशित होने लगे।

मारीशस और भारत सांस्कृतिक एकता और मारीशस वासियों के हिंदी प्रेम को देखते हुए मैंने प्रयत्न किया कि मारीशस के हिंदी लेखकों की रचनाएं 'आजकल' में प्रकाशित हों और *आजकल* भारत और मारीशस को एक सूत्र में बांधने में योगदान दे। इसमें काफी सफलता मिली और *आजकल* की कई हजार प्रतियां मारीशस में बिकने लगीं। यही बात *आजकल* को बचाने में काम आई।

एक उच्चस्तरीय समिति में प्रस्ताव आया कि *आजकल* बंद कर दिया जाए। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को हिंदी जगत में प्रस्तुत करने का कार्य अब हिंदी के प्रायः सभी पत्र कर रहे हैं। यदि सरकार निकालना ही चाहती है तो उसे द्विभाषी बना दिया जाए। यह प्रस्ताव जब विचारार्थ समिति के सामने आया तो यह बात उभरकर आई कि द्विभाषी पत्रिका के लिए दूसरी कौन-सी भाषा हो और वही एक भाषा क्यों हो। क्या 20-22 ऐसी पत्रिकाएं निकाली जाएं? *आजकल* (हिंदी) का प्रकाशन बंद किया जाए तो फिर *आजकल* (उर्दू) भी बंद किया जाए, नहीं तो राजनीतिक विवाद खड़ा हो जाएगा। इसके आगे विचार करते हुए जब समिति ने देखा कि मारीशस में *आजकल* (हिंदी) की कई हजार प्रतियां बिकती हैं तो फिर यह प्रस्ताव गिर गया।

अप्रैल, 1976 में सेवानिवृत्त होने तक मैं *आजकल* के संपादक के पद पर कार्य करता रहा। ❑

साक्षात्कार

●

लंबी दाढ़ी—गंगा किनारे की मिट्टी के रंग की। लंबी नाक। पसीने और लेई के धब्बों से धुंधलाया चश्मा। घनी भौंहें—इनमें न जाने कितनी पगडंडियों की धूल के कण अब भी मिल जाएंगे। ....ढीला-ढाला कुर्ता, पायजामा, ऊपर से रवींद्रनाथ ठाकुर जैसा टखनों तक झूलता चोगा। बिना मोजे के जूते। बगल में लेई और चेपियों का भार ढोती पांडुलिपि—किसी पुरातात्विक अवशेष की याद दिलाती हुई.....

मुक्तिबोध की 'खोई हुई दुर्निवार अभिव्यक्ति' की तरह देवेंद्र सत्यार्थी आपको कभी महरौली में नजर आएंगे, कभी कनाट सर्कस में, कभी दरियागंज की संकरी गलियों में तो कभी मंडी हाउस में।

घुमक्कड़ी सत्यार्थीजी के साथ इस कदर जुड़ी है कि ओल्ड सेक्रेटैरिएट के एक कमरे के आगे जहां पहले *आजकल* का दफ्तर हुआ करता था, देवेंद्र सत्यार्थी नाम का बोर्ड देखकर भीष्म साहनी के मन को धक्का-सा लगा था—'वैसा ही जैसा किसी घुमक्कड़ी साधु को किसी दुकान की चौकी पर बैठे देखकर होता है।'

आश्चर्य की बात तो यह है ही कि जिस पांव को न तो कालेज की चारदीवारी, न ही नई-नवेली दुल्हन रोक सकी थी, वह आठ साल तक पुराने सचिवालय के एक कमरे में कैसे कैद रह गया? हालांकि इससे यह साबित तो हो ही गया कि जितना बड़ा काम सत्यार्थी जी घूमकर कर सकते थे, उतना बड़ा स्थिर रहकर भी।

"पहले आपको यह बताऊं कि *आजकल* के प्रकाशन का उद्देश्य क्या था?" सत्यार्थीजी उन दिनों को याद करते हुए बतलाने लगते हैं, "जैसा कि मैं समझता हूं—1942 के भारत छोड़ो आंदोलन से ध्यान हटाकर साहित्य और कला की दुनिया में जनता का ध्यान बंट जाए, यह उद्देश्य सरकार का रहा होगा। *आजकल* उपनिवेशी ब्रिटिश सरकार के प्रचार विभाग का ही एक हिस्सा है, यह भी छुपाकर रखा जाता था।..... मैं स्वतंत्रता के बाद 1 मार्च, 1948 को संपादक बना।"

सत्यार्थीजी! बहुत से लोग कहते हैं और कुछ ने तो लिखा भी है कि आपके संपादन काल में *आजकल* साहित्य की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में से थी?

"देखिए, यह तो समय ही तय करता है कि क्या अच्छा है, क्या बुरा। यह तो था कि उर्दू *आजकल* के मुकाबले हिंदी *आजकल* कमजोर था। उर्दू *आजकल* उस समय की श्रेष्ठ उर्दू पत्रिकाओं में गिना जाता था। मन में था कि हिंदी *आजकल* को भी उस ऊंचाई तक पहुंचाना है। इसलिए हमने मेहनत की।..... सहयोगियों का भरपूर साथ मिलता था।"

आपने इतने बड़े-बड़े साहित्यकारों से *आजकल* में कैसे लिखवाया?

"मैं चाहता था कि लिखने वालों की बिरादरी इसमें आ जाए। लेखक कोई रचना पैसे की वजह से न दे, बल्कि पत्रिका के 'स्टैंडर्ड' के हिसाब से दे। मैं व्यक्तिगत रूप से साहित्यकारों को पत्र लिखा

'आजकल' के संपादक देवेंद्र सत्यार्थी हरिवंश राय बच्चन के साथ

"रचना प्राप्त करना संपादक के लिए बड़ी उपलब्धि है!"

'आजकल' के बहुचर्चित संपादक देवेंद्र सत्यार्थी से **संजीव ठाकुर** *की बातचीत।*

करता था। अंदाज यह रहता था कि संपादक नहीं बल्कि एक अनन्य भक्त रचना मांग रहा है। किसी से चीज प्राप्त करना बहुत बड़ी उपलब्धि होती है संपादक के लिए। एहसान उसका है जो अपनी चीज आपको देता है। संपादक एहसान नहीं करता।"

सत्यार्थीजी किस्सा सुनाते हैं: "एक बार गुजराती कवि उमाशंकर जोशी मुझसे मिलने आए थे। जोशीजी जब मैट्रिक में थे तब उनका कविता-संग्रह छपा था और जब वह बी.ए. में गए तब वह कविता संग्रह कोर्स में लगा हुआ था। मैं उन्हें जोश मलीहाबादी के पास ले गया। जोश मलीहाबादी उन दिनों उर्दू *आजकल* के संपादक थे। वह किसी को छोड़ने बाहर नहीं आते थे, लेकिन जोशीजी को छोड़ने आए। एक जगह खड़े होकर हम बातें कर रहे थे। जोश जो खुद इतने बड़े शायर थे, जोशी की ठोड़ी ऊपर उठाकर तारीफ के अंदाज में बोले—'जोशी तू जोश नहीं बन सकतीं?"

"मुझे थोड़ा खराब भी लगा। बाद में मैंने जोश से इस बाबत शिकायत की तो उन्होंने कहा, 'बड़ी से बड़ी कसम खिलवा लो, मैं तो उमाशंकर जोशी की तारीफ ही करना चाहता था।"

कभी किसी साहित्यकार से झगड़ा..... मनमुटाव?

"नहीं, झगड़ा तो नहीं। एक बार जैनेंद्रजी जरा-सा नाराज हो गए थे। एक अंक में उनका बढ़िया फोटोग्राफ तलाश कर एक पेज पर छापा और संपादकीय में लिखा कि जैनेंद्रजी बहुत दिनों से नहीं लिख रहे हैं। केवल परिचर्चा से ही काम नहीं चलता। वह बुरा मान गए। डायरेक्टर के पास गए। डायरेक्टर ने कहा, 'यदि प्रशंसा को आप निंदा सिद्ध करना चाहते हैं तो कहीं और कीजिए।' जैनेंद्रजी ने इस संबंध में नवभारत टाइम्स में लेख लिखा था।

चतुरसेन शास्त्री की कोई रचना मेरे रहते *आजकल* में नहीं जा सकी थी। हुआ यह था कि संपादक बनने पर जो रचनाएं स्वीकृत हुई रखी थीं उनमें चतुरसेन शास्त्री की रचना में जरा-सी अश्लीलता की गंध थी। एक व्यक्ति के हाथों मैंने उनकी रचना भिजवा दी, साथ ही दूसरी मांग लाने को भी कहा। उन्होंने नहीं भेजी। मैंने मांगना नहीं छोड़ा। जब भी वह मिलते—मैं कहता 'शास्त्रीजी! रचना दीजिए।' उन्होंने रचना तो नहीं दी, बहुत बाद में एक पर्सनल टाइप का पत्र भेजा कि तुम्हारे रहते मेरी रचना *आजकल* में नहीं छपी। मेरा शाप तुम्हें खा जाएगा।..... लेकिन मैं बता दूं, यह कोई झगड़ा नहीं था। यह तो उन्होंने बहुत ही प्यार से लिखा था।" ❑

नाटक

साहस

विष्णु प्रभाकर

पात्र : *सितारा*—एक अनाथ युवती; *कृष्ण*—एक युवक, *त्रिलोकचंद*—एक प्रौढ़ मानव; *मृणाल*—एक नवयुवती
समय—संध्या के बाद; *स्थान*—भारत का एक साधारण नगर

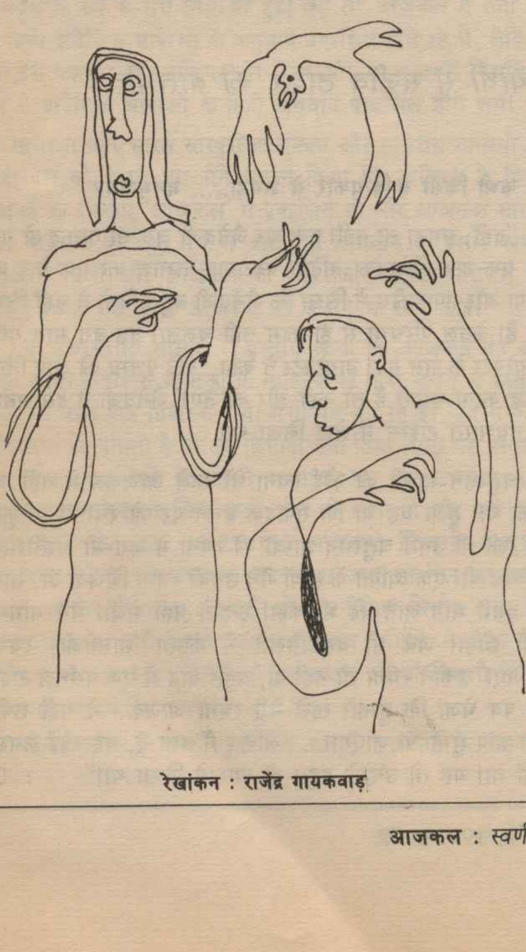

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

[स्टेज पर एक मध्यवर्गीय हिंदू गृहस्थ के मकान का दृश्य जो अब वीरान है। उदासी अस्तव्यस्तता और गरीबी की झलक। बाईं ओर से आने का मार्ग सामने कोने में एक चारपाई उस पर फटी परंतु सफेद और सिली हुई चादर, एक चौकी पर सीने का सामान, लालटैन, अरगनी पर एक धोती, एक जंपर, दूसरे कोने में दो चार बर्तन आदि। इस समय अंधेरा धीरे-धीरे प्रकाश पर हावी होता जा रहा है, स्टेज खाली है, एक-दो क्षण खाली रहता है कि बाहर से एक युवती और एक युवक स्टेज पर आते हैं। युवती कुछ घबरा रही है, वह सुंदर है पर किसी वेदना के कारण अस्तव्यस्त है। युवक कोट पैंट पहने दृढ़ स्वर में बोलता हुआ युवती के पीछे-पीछे आता है। जीवट वाला जान पड़ता है, संपन्न भी है।]

युवक— आप मरना चाहती थीं! मरना कुछ बुरा नहीं है, परंतु मैं कहता हूं, जीवन जब तक है तब तक हमें जीना ही चाहिए।

युवती— (खाट के पास आकर खड़ी हो जाती है) आप शायद ठीक कहते हैं, लेकिन मेरे पास जीने के साधन कहां हैं? दुनिया मुझे कुत्ते की तरह भी टुकड़े डालने को तैयार नहीं।

युवक— (खाट पर बैठ जाता है) क्षमा करिए, मैं बैठना चाहूंगा! आप भी बैठ सकती हैं। (युवती मना करती है) खैर! आपका मन अशांत है, लेकिन सितारा! मैं तुम्हें कुत्ते से अधिक समझता हूं।

सितारा—कुत्ते से अधिक! मैं कुत्ते से अधिक हूं कैसे भाई.....।

युवक— (ऊपर सितारा को देखकर) कैसे! यह भी बताना पड़ेगा! तो सुनो सितारा! तुम लड़की हो। युवती हो। सुंदर हो (युवक मुस्कराता है, सितारा कांपती है) और देखो, मैं तुम्हारा भाई नहीं हूं। मेरे बाप के पास पैसा है। मेरी बहन लखपति के घर ब्याही है। मैं एक युवक हूं और मेरा नाम कृष्ण है। तुम इसी नाम से मुझे पुकार सकती हो।

सितारा—तुम्हारा नाम कृष्ण है! तुम धनी हो, परंतु....!

कृष्ण— परंतु क्या?

सितारा—(संभल कर) कुछ नहीं कृष्ण! (मुस्कुराती है) तुम ठीक कहते हो, मैं युवती हूं, सुंदर भी हूं। मुझे विवाह कर लेना चाहिए.....।

कृष्ण— (एकदम अट्टहास कर उठता है) पगली लड़की! तुम खाक समझी! तुमसे विवाह कौन करेगा? विवाह क्या लड़की से होता है? वह तो निमित्त मात्र है। विवाह होता है मां-बाप से, कुल से, संपदा से! तुम्हारे पास क्या है? जो विवाह करोगी।

सितारा—(घबराकर) तो मैं क्या करूं.....?

कृष्ण— सितारा! तुम बड़ी बेसमझ हो, तभी आत्महत्या करने जा रही थीं। अरे! मैं कहता हूं, तुम युवती हो, सुंदर हो और दुनिया में कद्रदानों की कमी नहीं है, जो यौवन और सौंदर्य के उपासक हैं। विवाह तुम्हारा हो नहीं सकता, तब तुम्हारा एक ही उपयोग है। तुम वेश्या बनो।

सितारा—(कांपकर)—वेश्या आ??..

कृष्ण— जी हां, वेश्या! तुम डर गईं। डरना भी आत्महत्या है, इसीलिए यह पाप है। लेकिन मैं कहता हूं कि तुम वेश्या बनो और फिर देखो कि वे पुरुष जो तुम्हें आज कुत्ता भी नहीं समझना चाहते, तुम्हारे पैरों पर लोटेंगे और तुम बड़े प्रेम से उनके ऊंचे सिरों को अपने पैरों से ठुकरा दोगी! (उठता है) अच्छा, अब मैं चलता हूं! विश्वास रखो, एक दिन फिर आऊंगा। तब तक तुम सोच लोगी ही। मेरा विचार तो यही है कि शुभ कार्य में देर नहीं होनी चाहिए।

(कृष्ण उठता है और स्टेज से बाहर चला जाता है। सितारा बेबस उसे देखती है, उसके मुख पर अनेक भाव आते हैं और जाते हैं। सहसा वह खाट पर गिर पड़ती है और सुबक-सुबककर रोने लगती है कि कृष्ण फिर स्टेज के अंदर झांकता है।)

कृष्ण— ओ! तुम रो रही हो। यह भी बुजदिली है, इसलिए पाप है। तुम चाहो तो कहीं नौकरी कर सकती हो, किसी अनाथालय में, मंदिर में... लेकिन बात वही है कि जवानी को कहां छिपाओगी? वह अपना काम करेगी और इस प्रकार छिप कर पाप करने से तो खुलकर रूप का सौदा करना ठीक रहेगा। आगे तुम्हारी इच्छा।

(कहकर कृष्ण फिर गर्दन पीछे हटा लेता है। सितारा उठकर देखती है। उसकी आंखों में आंसू भरे हैं। क्षण भर उसी प्रकार देखती रहती है, फिर सहसा उठ खड़ी हो जाती है। आंसू पोंछ लेती है। दृढ़ होकर कहती है।

सितारा—बेशक! तुम ठीक कहते हो। तुमने मेरे प्राण बचाए हैं। तुमने स्पष्ट रूप से सच-सच बातें कही हैं। मैं तुम्हारी बात मानूंगी। फिर चाहे कुछ भी हो। (कहकर फिर एकदम कांपती है, दिल घबराता है। शरीर निढाल होकर फिर चारपाई पर लुढ़क जाता है, यहीं पर परदा गिरता है।)

दूसरा अंक

(स्थान वही—समय वही—दृश्य वही—केवल एक कोने में केरोसीन तेल की डिबिया धुआं उगलती हैं। उसकी लौ के साथ-साथ रोशनी कांपती है। उसी रोशनी में सितारा उसी खाट पर हाथों में मुंह छिपाए और पैरों को पेट में समेटे पड़ी है। एक प्रौढ़ मनुष्य, सिर से पैर तक खद्दर से लैस, धीरे-धीरे स्टेज पर प्रवेश करता है। सितारा को देखकर ठिठकता है, लौटने की चेष्टा करता है लेकिन फिर रुक-रुक कर पुकारता है।)

प्रौढ़ मानव—सितारा!

(शांति रहती है)

प्रौढ़ मानव—सितारा आ आ...।

सितारा—(चौंककर उठती है) कौन?

प्रौढ़ मानव—मैं था...।

(सितारा उठ बैठती है और अचरज से आंखें फाड़ कर उस मानव को देखती है फिर सहसा मुस्कुराती है)

सितारा—ओ! आप हैं! आप आ गए।

प्रौढ़ मानव—(चौंककर) मैं...।

सितारा—हां आप! मैं अभी सोच रही थी, आज तो आपको आना ही चाहिए।

प्रौ.मा.—(घबराते हैं) तुमने मुझे कब बुलाया। मैं तो आप ही आया हूं।

सितारा—(हंसकर) आप झूठ बोलते हैं। मैं आपकी याद में पागल हो रही हूं और आप कहते हैं कि मैंने कब बुलाया था। ऊहूं...।

प्रौ.मा.—(उसी तरह) सितारा! तुम क्या कह रही हो?

सितारा—यही कि मैंने किवाड़ खुले छोड़ दिए थे क्योंकि मुझे आशा थी कि तुम आओगे, और देखो, मैं डरती भी नहीं। लेकिन...।

प्रौ.मा.—(मूर्तिवत) लेकिन...?

सितारा—लेकिन यही कि यहां प्रकाश का ठीक प्रबंध नहीं है। सच तो यह है, बाबू जी! मैं यहां नहीं रहूंगी। दो-चार दिन में वहीं चली जाऊंगी।

प्रौ.मा.—(आश्चर्य और घबराहट बढ़ती है) सितारा! तुमने मुझे पहचाना नहीं। मैं तुम्हारे स्वर्गीय पिता का मित्र हूं। मेरा नाम त्रिलोक चंद है। तुमने एक दिन मुझसे पूछा.....।

सितारा—(एकदम) जी हां पूछा था। वही मैं कह रही थी कि आप अवश्य आएंगे। आप सितारा को नहीं भूल सकते! भूलते कैसे? आप पुरुष हैं और सितारा स्त्री। तिस पर वह काफी सुंदर है, पुरानी जान-पहचान है... (मुस्कुराती है) लेकिन आप खड़े क्यों हैं? आइए, मेरे पास बैठिए। मैं किवाड़ बंद किए लेती हूं।

त्रिलोक चंद—(क्रोध में भरकर) मैं कहता हूं लड़की...।

सितारा—(बीच में टोककर) आप जो कहेंगे, वह मैं जानती हूं। आप मुझे माफ कर दें, यह मेरा पहला ही अवसर है। उससे पहले मैंने ऐसा काम कभी नहीं किया। कभी भी नहीं, बाबू जी। आप मान लीजिए। मैं कहती हूं, मैं आपसे प्रेम करूंगी। आप अब जवान नहीं हैं, पर कोई चिंता नहीं! स्त्री को मात्र पुरुष चाहिए। केवल मात्र पुरुष, वह चाहे पंद्रह का हो या पचहत्तर का। और मैं कहूं, वह पुरुष भी न हो, केवल पुरुष का ढांचा मात्र हो, परंतु पैसा उसकी जेबों में भरा हो। तब कौन अभागिनी नारी होगी जो उससे प्रेम न करेगी।

(त्रिलोक चंद सितारा के कथन को सुनते हैं। उनके मुख के भाव बार-बार बदलते हैं अंत में वह कुछ द्रवित होते हैं। परिचित की भांति खाट पर बैठ जाते हैं।)

त्रिलोक चंद—सितारा! तुम जो कहती हो, वह ठीक हो सकता है, पर तुम मानो, मैं वह नहीं हूं जिसकी तुम बाट जोह रही थीं। एक दिन तुमने पूछा था—मैं क्या करूं? मैंने कहा था—सोचूंगा। और सितारा मैं तब से सोच ही रहा था।

सितारा—(कांपने का नाट्य करती है) आप अब तक सोच रहे थे? ओह! न जाने क्यों मुझे डर लगता है।

त्रिलोक चंद—(हंसते-से) डरती हो सितारा! नहीं डरने की बात नहीं है। मैंने ये सारी बातें अपनी पत्नी और लड़की से भी कही थीं। सुनकर लड़की ने कहा था कि इस दुनिया में आकर जीने का हक सबको है। वह कालेज में पढ़ती है।

सितारा—बेशक आपकी लड़की ने ठीक कहा था। मैं यही चाहती हूं।

त्रि.— और पत्नी ने कहा था। लड़की जवान है, तो उसका अकेला रहना पाप है।

सि.— पाप.....

त्रि.— हां! उसने इसे पाप कहा था, और कहा था, तुम्हारे पास पैसा है, शक्ति है। तुम क्यों नहीं उस लड़की के लिए पढ़ाई का प्रबंध कर देते। वह पढ़ लेगी तो किसी स्कूल में नौकरी कर लेगी। तब उसका जीवन बन जाएगा और विवाह भी हो जाएगा।

सि.— (आंखें डबडबाती हैं) और आपने उनकी बातें मान लीं।

त्रि.— हां! मैंने कहा था मैं सोचूंगा और सोचकर मैंने देखा, उसकी बात सुंदर है। तुम्हें भी इसमें कुछ एतराज नहीं होना चाहिए। तुम कल ही हमारे घर आ सकती हो।

सि.— एतराज! आप इस बात को मानते हैं कि मुझे कुछ एतराज हो सकता है। मैं अनाथ हूं लेकिन.....।

त्रि.— लेकिन क्या?

सि.— लेकिन यही कि मुझे डर लगता है। आप चले जाएं।

त्रि.— (चौंककर) क्या कह रही हो तुम?

सि.— ठीक कह रही हूं। मैं अबला हूं। आप पुरुष हैं, शक्तिमान हैं। आप चले जाइए।

(क्षणभर के लिए त्रिलोक चंद सितारा को देखते ही रह जाते हैं। वह दृढ़ है। उसकी आंखों में क्रोध उमड़ रहा है। वह तीव्रता से बोलती है।)

सि.— मैंने समझा था, आप पुरुष हैं। एक स्त्री से पुरुषों जैसी बातें करेंगे परंतु आप तो धोखेबाज और बेईमान निकले।

त्रि.— (हक्काबक्का होते हैं) धोखेबाज और बेईमान.....।

सि.— (दृढ़ है) हां! आप धोखेबाज हैं। आप चाहते हैं, मैं केवल आपकी बनूं! इसी से इतना बड़ा प्रलोभन देना चाहते हैं। कितना बड़ा और कितना निश्चित कि फंसकर मैं पंख भी न मार सकूं।

त्रि.— (एकदम क्रोध से उमड़ते हैं) लड़की तुम दुष्टा हो, कृतघ्नी हो। तुमसे..... तुमसे..... (आगे बोला नहीं जाता)।

सि.— (मुस्कुराती है) ओ हो! आपको क्रोध आ गया। मुझ पर क्या क्रोध करोगे अभागे पुरुष! पर मैं आपकी प्रशंसा करूंगी। आप मुझे पढ़ाते, किसी स्कूल में अध्यापिका बना देते या अपना ही स्कूल खोल देते और फिर धीरे-धीरे अपना उपकार मुझ पर जताते, हंसकर, मुस्कुराकर! मैं कृतज्ञता से दब जाती और कहती—देवता हो, तुम महान हो। आप कहते—देवी हो, तुम साहसमयी हो, तुम.....।

त्रि.— (वही प्रखर स्वर) लड़की, लड़की! तुम पापिष्ठा हो। तुम नरक में सड़ो। मैं जा रहा हूं।

(शीघ्रता से बाहर की ओर चलते हैं।)

सि.— जा रहे हो। लेकिन सुनते जाओ, फिर क्या होता? ओह! जाने भी दो! तुम जानते हो तुमने सब सोचा होगा.....।

(त्रिलोक चंद क्रोध से कांपते हुए एकदम स्टेज से बाहर चले जाते हैं। सितारा क्षणभर उसी तरह खड़ी रहती है, फिर वहीं फर्श पर गिर पड़ती है और फूट-फूटकर रोने लगती है। मिट्टी के तेल की डिबिया तेलहीन होकर बुझ चलती है और खाली बत्ती दुर्गंध फैलाती हुई जलती रहती है। परदा गिर जाता है।)

तीसरा अंक

(तीसरा दिन—वही स्थान—समय संध्या से कुछ पहले—स्टेज पर लगभग वही दृश्य है। केवल सितारा चौकी के पास बैठी हुई कपड़े सीं रही है। इसी समय बाहर से एक युवती झिझकते-झिझकते वहां आती है। वह सुंदर तो ज्यादा नहीं है पर मेक-अप के कारण मोहक है। बोटल-ग्रीन कलर की साड़ी पहने है, जंपर एकदम अप-टू-डेट है। इयरिंग गालों को चूमते हैं। पैरों में सेंडिल है। सिर खुला है पर चेहरे पर कोमलता है, आकर ठिठक जाती है। सितारा भी देखकर चौंकती है।)

युवती—मैं आ सकती हूं।

सितारा—(थूक सटककर) जी हां।

(युवती आकर उसी तरह सितारा के पास बैठ जाती है।)

युवती—क्या कर रही हो?

सितारा—(मुस्कुराती है) कपड़े सींती हूं।

(युवती कट जाती है, एकदम कहने को कुछ नहीं सूझता। सितारा पूर्ण निश्चिंतता से सुई चलाती रहती है।)

सितारा—आप कहां रहती हैं?

युवती—पुष्पवाटिका में।

सितारा—पढ़ती हैं?

युवती—जी हां।

(फिर चुप हो जाती है। युवती कुछ कहना चाहती है, पर झिझकती है। सितारा देखकर फिर मुस्कुराती है।)

सितारा—कैसे आई थीं?

युवती—एक बात कहनी थी।

सितारा—(किंचित अचरज) मुझसे?

युवती—जी हां। आप कहें तो किवाड़ बंद कर लूं।

सितारा—(मुसकुराती है) आप कहें जो कुछ कहना। आप पुरुष नहीं हैं।

युवती—आप पुरुष से डरती हैं, स्त्री से नहीं। लेकिन जानती हो, स्त्री पुरुष से कहीं अधिक खतरनाक हो सकती है!

सितारा—जानती हूं, लेकिन यह भी जानती हूं कि एक स्त्री, दूसरी स्त्री के हृदय को समझती है, पुरुष नहीं। इसी से स्त्री का खतरा दुखदायी नहीं होगा। इसी कारण आप निश्चिंत होकर जो कुछ कहना हो, कह चलो। मेरे घर आने के लिए जिस साहस की जरूरत होती है, वह हर किसी में नहीं होता।

युवती—(चकित-सी) तुममें इतना साहस है, फिर भी तुम पाप करना चाहती हो।

सितारा—पाप?

युवती—हां पाप। तुम ही कहो, क्या वेश्या बनना पुण्य है?

सितारा—(चकित होकर) तुम! कौन हो तुम?

युवती—मेरा नाम मृणाल है, मैं बाबू त्रिलोक चंद की पुत्री हूं। उन्होंने.....।

सितारा—(कुछ क्रुद्ध है) ओह! तुम हो! पाप और पुण्य की व्याख्या तुम लोगों को खूब करनी आती है। मैं इस बारे में कुछ नहीं जानती। कुछ सुनना भी नहीं चाहती। मैं केवल इतना जानती हूं, मुझे जीना है.....।

मृणाल—बेशक जीना ही चाहिए।

सितारा—और मेरे लिए ईमानदारी से जीने का एकमात्र रास्ता वेश्या बनकर जीना है।

मृणाल—वेश्या ईमानदार होती हैं?...

सितारा—बेशक! वह कुछ भी नहीं छिपाती। सब कुछ दे देती है, शरीर भी, आत्मा भी।

मृणाल—लेकिन शरीर और आत्मा को मोल पर चढ़ाना भी तो पाप है।

सितारा—(शांत स्वर) तुम ठीक कहती हो, परंतु मैं इन्हें मोल पर न चढ़ाऊं तो क्या मुफ्त बांटती फिरूं? दुनिया में आकर हर कोई शरीर और आत्मा का व्यापार करता है। मैं अनाथ हूं, मुझसे कोई विवाह नहीं करना चाहता है। मैं सुंदर हूं, सब कोई परदे के पीछे मेरी उपासना करना चाहते हैं। मैं परदे को पाप कहती हूं। चाहती हूं, जो मेरे तलवे चाटे मैं उसके सिर पर लात मारूं। इसमें कुछ भी पाप नहीं है, सीधी-सी बात है।

मृणाल—(प्रभावित है परंतु धीरे से कहती है) लेकिन बहन शरीर को बचाना असंभव तो नहीं है जो तुम इतनी दूर जाती हो।

सितारा—(मुस्कुराती है) भूखे के सामने भोजन परोसकर उसे कहा जाए—देखो भाई! खाना मत, यह खाने के लिए नहीं है। नहीं बहन! वह भूखा तो खाना खाएगा ही, भले ही चाहे उसमें विष हो।

मृणाल—(दबा स्वर) लेकिन यह भी क्या भूख है?

सितारा—तो क्या प्यास है? मानती हूं, पर वह तो और भी भयंकर है। भूख तो रोकी भी जा सकती है, पर प्यास! उसे रोकना मौत को बुलाना है। (मृणाल दबती चली जाती है। सितारा प्रत्येक बात को अल्हड़ता और विद्रोह की दृष्टि से मांपती है। इसीलिए मृणाल सहसा चुप हो जाती है, परंतु कुछ बातें वह भी सोचकर आई है।)

मृणाल—(तनिक तेज स्वर में) बहन! तुम्हारी ये बातें तो मैं मानती हूं, परंतु दुनिया में सब एक जैसे तो नहीं होते।

सितारा—आखिर तुम्हारा मतलब!

मृणाल—यही कि कुछ लोग तुम्हारी सहायता कर सकते हैं कि तुम सम्मानपूर्वक जीवन बिता सको।

सितारा—(व्यंग्य पूर्ण स्वर) जानती हूं बहन! उन दिव्य पुरुषों को भी। उनकी सहायता का बदला जो मुझे चुकाना पड़ेगा, वह और भी भयंकर है। वे मुझे योग्य बना देंगे और फिर... जाने दो, बहन! तुम इन बातों को क्या समझो! तुम कालेज में पढ़ती हो। युवकों की मीठी-मीठी बातें मोहक लगती होंगी। परंतु... (सितारा द्रवित होती है, परंतु दूसरे ही क्षण उसका चेहरा तमतमा उठता है)... तुम क्या यही सुझाने आई थीं। तुम भी बाप के समान मुझे असहाय समझती हो? परंतु क्यों? क्यों तुम सब मुझ पर अपनी दया और कृपा लुटा देना चाहते हो। मैं भी मानव हूं। मेरी भी आत्मा है। मेरा भी परमेश्वर है...।

(सितारा आगे न बोल सकी, दिल भर आया। मृणाल घबरा-सी गई। उसे कुछ न सूझा। सितारा उसी तरह बोलती रही।)

सितारा—तुमने एक स्त्री होकर मेरे मर्म पर चोट की है तुम चली जाओ और फिर इधर मत आना।

मृणाल—(सहसा साहस बटोरकर) आऊंगी या नहीं, यह मैं स्वयं नहीं जानती, पर इतना कहे जाती हूं कि स्त्री केवल मात्र स्त्री नहीं है। स्त्री, स्त्री होकर भी मां है, पत्नी है, बहन है, बेटी है। बस।

(वह उठ खड़ी हुई। सितारा इस बार सहसा चौंकती है।)

सितारा—(चौंकती है) तुमने यह क्या कहा?

मृणाल—(दृढ़ स्वर) यही कि तुम चाहो तो मृणाल तुम्हें बहन की तरह पूज सकती है।

(वह लौट चली। वह कुछ दुखी हो आई थी, कुछ क्रोध भी आ रहा था। युवती थी न, सहसा सितारा भी उठ खड़ी होती है और व्यंग्य से मुस्कुराती है।)

सितारा—मृणाल! एक बात सुनती जाओ! तुम्हारे प्रति मैं कृतज्ञ हूं, पर तुम भी क्या स्वतंत्र हो? और फिर स्त्री, स्त्री को कितने दिन संभालेगी। स्त्री का भार तो पुरुष ही उठा सकता है और वह भी उसका होकर।

(मृणाल ठिठक जाती है कि क्या कहे कि उसी समय कृष्ण अल्हड़ता से स्टेज पर प्रवेश करता है। सितारा की बात उसने सुन ली है, मृणाल उसे देखकर एकदम चौंकती है।)

मृणाल—भैया! तुम, यहां?

कृष्ण—(चौंकता है पर तभी संभल जाता है) और तुम!

सितारा—जवाब दोनों का एक है और वह मैं जानती हूं। मुझ असहाय और अनाथ पर दया करने ही तुम आए हो। पर...

कृष्ण— (एकदम बीच में) एकदम झूठ। मैं किसी पर दया नहीं दिखाना चाहता। मैं केवल इतना मानता हूं कि दुनिया में आकर सबको जीना चाहिए और साहस के साथ जीना चाहिए। दया पाप है, सहारा लेना और देना—यह भी पाप है।

सितारा—(तनिक सकपकाती है) मैं मानती हूं कि आपने मुझे जो सलाह दी, वह गलत नहीं है।

कृष्ण— बेशक! और तुम जो अब कह रही थीं वह भी ज्यादा गलत नहीं है लेकिन केवल पुरुष को नारी का होना आवश्यक नहीं है, नारी को भी पुरुष का होना चाहिए। और सच तो यह है कि किसी का होने से पहले अपना होना एकदम अनिवार्य है... लेकिन खैर! मैं तो पूछने आया था कि तुमने उस बात का क्या निर्णय किया?

सितारा—(दृढ़ है) और मैं पूछती हूं मेरे निर्णय को जानने का तुम्हें क्या हक है?

कृष्ण— कुछ भी नहीं.....।

सितारा—फिर!

कृष्ण— फिर यही कि उस दिन मैं कह गया था कि एक दिन फिर आऊंगा, सो आया हूं। मुझे खुशी है कि तुमने मेरी बात मानी।

सितारा—(खोई-खोई-सी) क्यों न मानती! तुम ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिसने मुझे जीने का संदेश दिया, केवल तुम ही थे जिसने मुझे अपने आप की कीमत आंकनी सिखाई। केवल तुम्हीं ने.....।

कृष्ण— (मुस्कुराता है) तो मैं अब जाता हूं। मेरा काम समाप्त हुआ।

(कृष्ण लौटना चाहता है। सितारा सहसा द्रवित होती है, घबराती है। मृणाल अचरज से देखती है।)

सितारा—जाते हो, लेकिन...।

कृष्ण— लेकिन...।

(एक झटका लगता है, सितारा कांपती है, मृणाल और भी अचरज से भरती है, कृष्ण ठिठक जाता है।)

लेखक का युवावस्था का एक चित्र

सितारा—(द्रवित है पर प्रगट नहीं करना चाहती) मैं कहती थी, आपने मुझे रास्ता सुझाया है।

कृष्ण— (तनिक अप्रतिभ) तो...।

(मृणाल सहसा दोनों को देखती है, मुस्कुराती है और फिर दृढ़ होकर बोलती है।)

मृणाल—तो स्पष्ट क्यों नहीं कहतीं? साहस क्यों खोती हो? कहो तुम्हीं ने मुझे रास्ता सुझाया है, तुम्हीं संभालो।

(भूकंप का एक धक्का-सा लगता है। सब कांपते हैं।)

सितारा, कृष्ण (एक साथ)—मृणाल! मृणाल!!

मृणाल—बेशक, मैं ठीक कहती हूं! यह साहस किए बिना तुम्हारा कल्याण नहीं है (सितारा की ओर मुड़कर) बहन! पुरुष के सिर पर लात मारने की अपेक्षा उसके कंधों को सहारा देना कहीं ज्यादा साहस का काम है। (कृष्ण की ओर मुड़कर) भैया! मुझे तुम पर गर्व है। मैं अभी जाकर पिताजी से कहती हूं।

[कहकर मृणाल एकदम स्टेज से बाहर चली जाती है सितारा और कृष्ण क्षण भर के लिए मूर्तिवत शून्य में ताकते हैं फिर एक दूसरे को देखकर मुस्कुराते हैं। परदा यहीं गिर जाता है।] ❑

—मई, 1945

साहित्य

काव्य का नूतन मूल्यांकन

उदयशंकर भट्ट

आज साहित्य में केवल काव्य ही नहीं, संपूर्ण जगत आ गया है। इस दृष्टि से हमें काव्य का मूल्यांकन भी मनुष्य के जीवन मूल्यों के साथ मिलाकर करना होगा।

लेखक

वैदिक काल में जीवन तथा उसकी आवश्यकताएं सीमित होने के कारण समूह चेतना ही भारतीय काव्य का विधान था। फलतः काव्य की मूल शक्ति का स्रोत जहां धर्म भावना की वृद्धि, देवताओं की उपासना था, वहां निर्झर की तरह सरल रूप से प्रवाहित वाणी द्वारा आत्मचिंतन भी था, प्राचीन आर्यों का यह काव्य स्वाभाविक सौंदर्य से पूर्ण था। अभिव्यक्ति में यथार्थता, भाव राशि की सीमा तथा बाह्य सौंदर्य का वैसा ही वर्णन उस काल के काव्य का प्राथमिक रूप था। जैसे-जैसे समाज के संगठन में स्थिरता आई, खुशहाली के साथ जीवन निर्वाह का रूप वैभवपूर्ण होता गया, मनुष्य की वाणी में वर्णन का चमत्कार और स्वाभाविकता से कृत्रिमता की ओर प्रगति हुई। कल्पना ने वाणी को नए ढंग से समझने, सोचने और बोलने को बाध्य किया। तब धर्म और साहित्य या काव्य में भेद हो गया। धर्म ने समाज-संस्कार, आत्म-शुद्धि, संगठन तथा नए जीवन के दृष्टिकोण में योगदान किया। काव्य ने ब्रह्मास्वाद सहोदर रस की कल्पना की और इस जीवन में अलौकिकता की कल्पना काव्य ने की। काव्य का उद्देश्य धर्म और अर्थ से भिन्न हो गया। वह केवल लोक में आनंद की सृष्टि करने वाला रह गया। वामन ने कहा—'काव्य कामोपचार बहुल है' अर्थात काव्य का उद्देश्य काम-श्रृंगार संबंधी तत्वों का निदर्शन है। इसलिए श्रृंगार रस सबसे महान रस माना गया। इसके बाद रौद्र, वीर और वीभत्स रसों को स्थान मिला। इससे ज्ञात होता है कि उस समय लोगों को कोई चिंता न थी, उनके तीन ही कार्य थे। विलास, युद्ध और धर्माचरण। तदनुसार काव्य के मूल्यांकन में भी इन्हीं तीन बातों की प्रधानता थी। सभी प्राचीन काव्यों में इसीलिए इन तीन बातों के अतिरिक्त चौथी कोई बात नहीं मिलती। काव्य का एकमात्र उद्देश्य हो गया उसके द्वारा आनंद प्राप्ति, इसी आनंद प्राप्ति के ध्येय के कारण हमारे यहां के लेखकों ने नाटकों को सुखांत माना। अंत में भरतवाक्य द्वारा संसार में सुख, समय पर वृष्टि, नीरोगता तथा राजा प्रजा के कल्याण की कामना की। और कदाचित उसी आनंद के लक्ष्य को लेकर यूरोप के साहित्यकारों ने कई शताब्दियों तक दुखांत नाटक में भी आनंद को ढूंढा। परिणाम यह हुआ कि मध्य युग का साहित्यकार तथा पाठक काव्य का सृजन, अध्ययन केवल इसलिए करता रहा कि उससे आनंद की सृष्टि हो।

आनंद और सुख में सदा से अंतर रहा है। उपनिषद में आनंद को ब्रह्म माना गया है, सुख को नहीं। सुख तो अस्थायी एवं क्षणिक है। पेट भरकर भोजन किया, सुख मिला। मित्र का बहुत दिनों बाद मिलाप हुआ, सुख हुआ। यह है सुख। आनंद तो स्थायी है। इसलिए इस लोक में आनंद प्राप्ति मानी गई काव्य के द्वारा और परलोक में आनंद प्राप्ति का कारण था धर्माचरण। विश्वनाथ ने लोक में प्राप्त आनंद के संबंध में एक जगह कहा—'जब काव्य के अर्थ को समझने की चेष्टा की जाती है तो उसके फलस्वरूप सत्व गुण का उद्रेक होता है तथा चित्त स्व प्रकाश एवं आनंद से पूर्ण हो उठता है क्योंकि प्रकाश और आनंद दोनों ही सतोगुण के धर्म हैं। और आनंद की सृष्टि होती है काव्यजनित रस से। इस प्रकार जो रस अभिव्यक्त होता है, वह विश्वजनीन होता है, उसमें व्यक्तिगत राग-द्वेष नहीं होते। लोक में अनुभूत भय और प्रीतिजनक व्यापारों से वह भिन्न होता है। उसे व्यक्तिगत सुख-दुख का स्पर्श नहीं होता। वह रस केवल अनादि काल से प्रवहमान सामाजिक संस्कारों द्वारा परिपुष्ट एक विशेष तृप्ति को देने वाला बनकर ही काव्य में उद्भूत होता है। उसके संस्कार भी व्यापक होते हैं। इसीलिए पाठक को निर्वैयक्तिक आनंद की उपलब्धि होती है। समाज की सामुदायिक तृप्ति और अतृप्ति तथा मानसिक संस्कार एक रूप में सब में व्याप्त होने के कारण वह रस अनादि है।' काव्य के मूल्यांकन में यही परंपरा थी, जिसने रस को ब्रह्म के बराबर तथा काव्य चिंतन को परमानंद का स्रष्टा कहा। वही आनंद जैसे एक व्यक्ति में उद्भूत हुआ। वैसा ही दूसरे में भी। उस आनंद की सृष्टि को ही मूल मानकर काव्य का उपयोग सामाजिकता के साथ भी हुआ। फिर भी यह मानना होगा कि उस आनंद की अनुभूति का प्रयोग काव्य में समाज के लिए था।

मैं मानता हूं, वाणी का उपयोग दूसरे के लिए है। तब फिर उस युग काव्य को जो वाङ्मय कहा गया वह केवल इसलिए कि वाणी मात्र रखने वाले सभी के लिए उसका उपयोग था। काव्य की उद्भावित ध्वनि भी सबके लिए थी। कवि इसीलिए उस आनंद दान का प्रतिनिधि होने के कारण ईश्वर के समान माना गया। फिर भी इतना तो मानना पड़ेगा कि कवि आनंद सृष्टि का लक्ष्य रखते

हुए भी काव्य में अपने युग का प्रतिनिधित्व करता था। युग की वाणी उसके स्वर में, काव्य में बोलती थी। *रामायण, रघुवंश, शकुंतला, मेघदूत, महाभारत* में इसीलिए तत्कालीन समाज के सुख-दुख का चित्रण है। काव्य की जो परिभाषाएं उस युग के लिए थीं अथवा काव्य मूल्य जिस दृष्टिकोण को सामने रखकर आंका जाता था, उनमें समयानुसार परिवर्तन भी हुए। और एक युग ऐसा आ गया जब काव्य या साहित्य केवल राजाओं, सामंतों के मनोविनोद के लिए ही रह गया। उस समय काव्य की परिभाषा में परिवर्तन हुए। आनंदवर्धन, मम्मट, दंडी, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि काव्य विवेचकों ने अलौकिकता, अदोष शब्द, अर्थ, गुण से युक्त को काव्य, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि काव्य के नए रूप स्वीकार किए।

इसी तरह कुछ हेर-फेर के साथ यूरोप में भी ई.टी. हल्से, एडगर एलेन पो आदि विवेचकों ने चित्र कल्पना (इमेजिज्म), क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद, बादलेयर, बर्लेन, रेंबा, रोजिटी आदि ने 'कला कला के लिए' आदि काव्य की परिभाषाएं स्वीकार कीं। वस्तुतः बात यह है कि काव्य या साहित्य बाह्य जगत की अंतःसृष्टि है जो तत्कालीन जीवन के वातावरण और मूल्य का निदर्शन करती है। वह मनुष्य और उसके भौतिक सामाजिक रूपों का प्रतीक ग्रहण करके जीवन की व्याख्या करती है। इसीलिए काव्य के मूल्य भी बदलते रहते हैं और इन्हीं मूल्यों के कारण हमें सदा नए साहित्यकारों की आवश्यकता पड़ती रहती है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, होमर, मिल्टन, शेक्सपीयर आदि महान कलाकारों के साहित्य में रस आनंदानुभूति, जीवन दर्शन होते हुए भी आज के मनुष्य के वे मूल्य नहीं हैं जिनकी आज हमें आवश्यकता है। उसका कारण है मनुष्य और उसके वातावरण में नित्य नया परिवर्तन और परिवर्धन। इसीलिए हम किसी भी काव्य को पूर्ण नहीं मान सकते। पूर्णता की स्वीकृति मनुष्य की मृत्यु है। यही कारण है प्लेटो, शंकराचार्य, बुद्ध, ईसा आदि के विचार अर्थवान और व्यापक होते हुए भी हमारे आज के जीवन का मूल्य निर्धारण नहीं कर पाते और इसीलिए काव्य में यह परिवर्तन भी हुए हैं।

मनुष्य के जीवन मूल्य दो प्रकार से बदलते हैं, एक भौतिक वातावरण द्वारा और दूसरे अंतश चेतना में। बाहरी रूप से हम महाभारत काल से इतने अधिक बदल चुके हैं कि यदि कहीं आज पांडव लोग फिर लौट आएं तो उनके प्रति हमारी आस्था होते हुए, उनकी वीरता के गुण गाते हुए भी हम उनको आज अपने बड़े भाई की तरह नहीं अपना सकते और वेश-भूषा के कारण तो कदाचित वे हमारे लिए तमाशा ही बन जाएं। फिर भी अंतश्चेतना में प्रेम की विवृति हर्ष, शोक, सुख, दुःख का व्यापार कुछ हेर-फेर के साथ एक-सा ही चलता रहता है। लक्ष्मण का भ्रातृ प्रेम, भीम का बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़कर उनसे लड़ना, अर्जुन का रण कौशल, शकुंतला की प्रेमाभिव्यक्ति हमारे भीतर भी वैसी ही है, जैसी कि उस समय थी। और जीवन के कुछ मूल्य भी राजनीति में और अर्थनीति में वैसे ही हैं। आज टैक्स का प्रयोग भी जनता के हित के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि कालिदास के समय में। जहां रघुवंश में उसने कहा है—'प्रजा के कल्याण के लिए ही राजा बलि ग्रहण करता है।' वस्तुतः मनुष्य जाति की संस्कृति का विकास एक अटूट शृंखला से हुआ है। जैसे पिता की संस्कृति, विचार पुत्र एक परंपरा में लेकर चलता है।

प्रत्येक युग आने वाले युग को जहां अपना धर्म, संस्कृति, विचार देता है वहां अपनी अधूरी समस्याएं भी उस अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाता है, जिसका बाह्य रूप से समाधान करना उस पीढ़ी का कर्तव्य हो जाता है। काव्य भी उन्हीं समस्याओं, अर्ध-समस्याओं का समाधान करता है। जो काव्य जितनी ही विस्तृत सीमा में जितने ही विस्तृत दृष्टिकोण से अपने युग को आने वाले युग की तरफ आलोकित करता है, उसका स्थायित्व उतना ही उसके मूल्यांकन में सहायता करता है। फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि आज के काव्य में उस परंपरा की बहुत-सी कड़ियां टूट गई हैं। ईश्वर विश्वास, धार्मिक जीवन जो परोक्ष की भावनाओं को लेकर चले थे, उनकी नींव हिल उठी है। मनुष्य के तर्क ने और उसके प्रत्यक्ष की गहराई ने मनुष्य को नए रूप से जीवन का मूल्य आंकने को विवश कर दिया है। इसीलिए काव्य की प्रेरणा केवल आनंद की प्राप्ति न रहकर इस मशीनी युग के मनुष्य की व्यापार चेतना का समाधान चाहती है। कदाचित यही कारण है कि संघर्ष के युग की उग्रता समय के अभाव और देश की सीमाओं का भेद दूर कर व्यापिनी हो गई है और व्यक्ति एक न होकर समष्टि की चेतना का एक अंश बन गया है। और प्रत्यक्ष इतना उत्तप्त कि भूत और भविष्य उसकी निगाह से हट गए हैं। इसीलिए आज काव्य के उपमान भी प्रत्यक्ष से ग्रहण क़िए जाते हैं। उसके अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत हो गए हैं। कल की गजगामिनी नारी आज साइकिल, मोटर तथा हवाई जहाज से दौड़ने लगी है। मनुष्य प्रातः काल होते न होते अपना घर छोड़कर जब बाहर जाता है, तो काव्यकार उसकी उपमा उन पक्षियों से देता है जो सवेरे ही नीड़ छोड़ कर अन्न और पानी की तलाश में मीलों दूर की यात्रा करते हैं। भूख और अभाव तथा अस्तित्व के लिए यत्न करने वाले मनुष्य की चेष्टाएं उस चील की उड़ान की तरह हैं जो मिठाई या दही ले जाने वाले बच्चे पर झपटती है।

कदाचित प्रत्यक्ष के प्रति इतना बड़ा आग्रह तथा एकनिष्ठा इस संसार ने कभी नहीं देखी। और जब हम देखते हैं कि पुतली-घर में काम करने के लिए जाने वाला मजदूर जरा-सी असावधानी से मशीन की लपेट में आकर बिना आह किए ही समाप्त हो जाता है, तब निश्चय ही मनुष्य के जीवन की अस्थिरता एक भयानक विस्मय उत्पन्न कर देती है। काव्यकार आज इसी प्रकार का मूल्यांकन करने के लिए विवश हो गया है। इसलिए उसकी दृष्टि में यथार्थता, वास्तविकता और प्रतीक का सामंजस्य जागरूक होता है। फिर भी हमें मानना होगा कि काव्य को इस मूल्य से परखने पर भी वह शाश्वत आनंद जिसकी कल्पना वेदों अथवा रामायण में हुई, नए रूप में चला आ रहा है। एक बात और जैसा मैंने पहले कहा था कि प्राचीन काल में साहित्य का अर्थ केवल काव्य ही था। आज ऐसा दिखाई देता है कि साहित्य में केवल काव्य ही नहीं, संपूर्ण जगत आ गया है। यहां तक कि धर्म, राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति और सभी प्रकार की नीतियां, सभी प्रकार के विज्ञानों का विश्लेषण तर्क प्रधान साहित्य का अंग बन गए हैं। इसी दृष्टि से हमें काव्य का मूल्यांकन भी मनुष्य के जीवन के मूल्यों के साथ मिलाकर करना होगा। ❑

—अगस्त, 1945

कविवर पंतजी की एक सांस्कृतिक योजना

'लोकायतन' नाम से एक सांस्कृतिक केंद्र की स्थापना का विचार कविवर सुमित्रानंदन पंतजी ने 1942 में किया था। परंतु कई कारणों से यह योजना पंतजी के मानसिक जगत तक ही सीमित रही। अब *वीणा* के संपादक शांतिप्रिय द्विवेदीजी ने इसे साकार रूप देने के लिए आवाज उठाई है। 'लोकायतन' क्या है, और कैसा इसका रूप होगा, यह 1942 में प्रकाशित विवरण-पत्र से जाना जा सकता है। संक्षेप में यह इस प्रकार है:

'लोकायतन' का उद्देश्य होगा—भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के विरोधों से लोक-चेतना को मुक्त करना और समस्त धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एवं इतर विभेदों को मानवीय एकता में ढालकर विकसित विश्व परिस्थितियों के अनुकूल लोक-संस्कृति की रूप-रेखाओं को स्पष्ट करना।

इस केंद्र की कार्यप्रणाली प्रयोगात्मक होगी—एक ओर यह प्रयोग, अध्ययन और विचार-विनिमय द्वारा लोक-संस्कृति के मानों का स्पष्टीकरण करेगा, दूसरी ओर लोक-कला के माध्यम द्वारा उनका प्रचार कर उन्हें लोक-जीवन का अंग बनाने का प्रयत्न करेगा।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'लोकायतन' प्रारंभ में चार विभाग खोलेगा—(1) ज्योतिद्वार, (2) संस्कृतिद्वार, (3) जीवनद्वार, (4) कलाद्वार।

(1) *ज्योतिद्वार* का मुख्य उद्देश्य होगा—देश-विदेश के दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, एवं विद्वानों से संबंध स्थापित करना और ज्ञान की वृद्धि और वृहत समन्वय करना। इस विभाग के अंतर्गत शोध और शिक्षा का प्रबंध रहेगा, जिसका व्यावहारिक रूप यह होगा कि आरंभ में दो शिक्षक और एक शोधविशारद (रिसर्च-स्कालर) नियुक्त किए जाएंगे। यह साधारणतः केंद्र के वृहत् उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता देते हुए विशेष रूप से हिंदी की उच्च परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थियों को तैयार करेंगे और समिति द्वारा निर्दिष्ट विषयों पर शोध करेंगे। इस विभाग से संलग्न एक छात्रावास भी होगा, जहां रहते हुए परीक्षार्थी केन्द्र के वातावरण और उसके संचालकों के संपर्क का लाभ उठा सकेंगे। केंद्र की ओर से एक ग्रंथालय का भी संचालन होगा जो इस विभाग के अधीन रहेगा।

(2) *संस्कृतिद्वार* के माध्यम से इस बात का प्रयत्न होगा कि जिस लोकसंस्कृति का पोषण 'लोकायतन' से हो, उसका विचार-विनिमय द्वारा स्पष्टीकरण होता रहे। इस विचार-विनिमय के लिए नियमित रूप से गोष्ठियों का आयोजन होगा और इनमें भाग लेने के लिए विशिष्ट व्यक्तियों को आमंत्रित किया जाएगा। इस विवेचना का सारांश 'लोकायतन' की मुखपत्रिका 'लोकवाहिनी' द्वारा प्रकाशित होता रहेगा। साथ ही इन विचारों के प्रचार के लिए मुख्य पत्र-पत्रिकाओं का सहयोग प्राप्त किया जाएगा। यथासमय इस विभाग द्वारा 'विद्यायन' संबंधी प्रकाशनों का भी प्रबंध होगा।

(3) *जीवनद्वार* 'लोकायतन' की प्रयोगशाला रहेगी। ज्योति और *संस्कृतिद्वारों* की सांस्कृतिक चेतना को *जीवनद्वार* लोक-जीवन में परिणत करने का प्रयत्न करेगा। इस विभाग के अंतर्गत एक 'विद्यायन' होगा, जिसका उद्देश्य नगर और ग्राम के नवयुवकों को कला कौशल के माध्यम द्वारा ऐसी शिक्षा देना होगा, जिससे उनका जीवन-निर्माण लोक-संस्कृति के अनुकूल हो सके; विद्यायन के अतिरिक्त *जीवनद्वार* में यथासमय जन-साधारण के लिए भी, जो लोक-संस्कृति को दैनिक व्यवहार में लाना चाहेंगे, दीक्षा का प्रबंध रहेगा।

(4) *कलाद्वार* मुख्यतः 'लोकायतन' का प्रचार विभाग रहेगा। विद्यालय के विद्यार्थियों के लिए यह लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के अनुकूल कलाओं का विकास करेगा और उनके माध्यम द्वारा देश-विदेश के महान कलाकारों से संपर्क बनाए रखेगा। प्रारंभ में सांस्कृतिक जीवन का प्रचार अभिनय द्वारा किया जाएगा। इस प्रकार हिंदी में नाट्य मंच के अभाव की पूर्ति भी हो सकेगी। नाट्यमंच को आधुनिक युग में शिक्षा-प्रसार का एक सबल साधन माना गया है। नए टेकनिक के नाट्यमंच के निर्माण की दिशा में प्रयोग के साथ लोकायतन के सांस्कृतिक तत्त्व का प्रचार-कार्य भी नाट्यमंच द्वारा ही किया जाएगा। इस प्रकार 'लोकायतन' ग्राम और नगर की जनता के संपर्क में आ सकेगा। अभिनय का कार्य विशेषतः 'विद्यायन' के विद्यार्थियों और 'लोकायतन' के कार्यकर्ताओं द्वारा होगा। 'विद्यायन' के विद्यार्थी ग्राम-गीतों द्वारा गांवों में लोकोपयोगी भावनाओं का प्रचार भी करेंगे।

'लोकायतन' हिंदी भाषा को अपना माध्यम बनाएगा।

इस केंद्र की नीति के संचालन के लिए 11 सदस्यों की एक समिति होगी जिनका निर्वाचन पहले तीन वर्षों के लिए होगा। इस अवधि के अंत में दो तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण करेंगे जिनके स्थान पर नए सदस्य चुन लिए जाएंगे। विभागों के संचालन के लिए द्वार-समितियों की व्यवस्था होगी और दैनिक कार्य-संचालन के लिए सात सदस्यों की एक प्रबंध-समिति रहेगी। ❑

—**जुलाई, *1945***

साहित्यिक जीवन के दो पक्ष

गुलाबराय

साहित्यिक शिव का ध्यान करते-करते स्वयं शिव-सा ही फक्कड़ बन जाता है। स्वयं अशिव और शिव रूप धारण करता हुआ भी दूसरों की विभूति का कारण बनता है।

यद्यपि साहित्यिक न तो पुच्छ-विषाणहीन पशु होता है और न अंतरिक्ष में स्थित किसी नक्षत्र का काल्पनिक प्राणी, वह भी साधारण मनुष्य का-सा हाड़-मांस-चाम का बना हुआ पृथ्वीतल-वासी चलता-फिरता बोलता-चालता पुतला होता है, फिर भी उसके जीवन में कुछ विशेषताएं देखी जाती हैं जिनके कारण वह अपने सजातीयों में बिहारी की नायिका की भांति फानूस-सा छिपाए नहीं छिपता। उसके जीवन के दो पक्ष होते हैं—एक बाह्य और दूसरा आंतरिक। यद्यपि उसका बाह्य जीवन हाथी के दांत की भांति असली नहीं होता तथापि उसका भी बाजार में मूल्य है।

साहित्यिक शिव का ध्यान करते-करते स्वयं शिव-सा ही फक्कड़ बन जाता है। स्वयं अशिव रूप धारण करता हुआ भी दूसरों को शिव रूप होता है, स्वयं विभूति रमाकर दूसरों की विभूति का कारण बनता है। वह एकाकी रहना पसंद करता है। उसके लिए भी कुछ अधिक सत्यता के साथ कहा जा सकता है 'सहज एकाकिन के घरहिं, कबहुंकि नारि खटाहिं'। साहित्यिक को निर्द्वन्द (जोड़े से रहित) जीवन व्यतीत करने में कभी-कभी स्वयं मृत्युंजय भगवान ही सहायक बन जाते हैं। यदि जनगणना के चक्र देखे जाएं तो विधुरों और अविवाहितों की संख्या साहित्यिकों में सबसे अधिक मिलेगी। वर्तमान हिंदी-साहित्य में पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी विधुर संप्रदाय के आदि-आचार्य हैं।

यदि सौभाग्य या दुर्भाग्य से किसी साहित्यिक को पारिवारिक जीवन बिताना ही पड़े, तो वह उसे एक आवश्यक बुराई के रूप में, छिपकली की पूंछ की भांति, जो अधिक बल पड़ने पर उससे अलग हो जाती है, स्वीकार करता है और वह उसे सदा 'कोर के कागर लों' त्यागने को तैयार रहता है। जीवन-सागर का आलोड़न-विलोड़न करने पर भी लक्ष्मी जी उसके हाथ नहीं लगतीं। उसके बांट में तो जीवन का विष ही आता है। सुरसा के मुख की भांति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने वाली अभाव की चपल बालिका चिंता से ही उसका पाला पड़ता है। नौन, तेल, लकड़ियों की सौभाग्य-शून्य मांग और वाद्यों का सप्त स्वर भेदी रे-रे-पें-पें प्रधान आर्तनाद लजवंती सदृशा उसकी सहज शांति की मान-मर्यादा को अनायास ही भंग कर देता है। शिव-धनु की भांति उसका धैर्य-धनु भी छुअत ही टूट जाता है। पलायनवाद के विरोध में प्रगतिशीलता की दुहाई देता हुआ भी अवनी के कोलाहल से दूर जाने के लिए नाविक के भुलावे में आने कों वह सदा प्रस्तुत रहता है। कभी-कभी इस भुलावे को निद्रा का सुख लेने के लिए वह शिवजी की ही भांति भांग-धतूरे नहीं, तो छनी-छनाई बोतल-वासिनी वारुणी-देवी को जठराग्नि से प्रदीप्त अंतस्तल में निवास कराने का भी यथासाध्य उपक्रम कर लेता है। कोमल कुसुमोपम प्रफुल्ल सुकुमार शिशुओं की मोदभरी किलकन और अन्नपूर्णा गृहलक्ष्मी की प्रेमपूर्ण मुस्कान के बदले भी वह जीवन-भार की मोट को अपने सर पर रखने के लिए प्रसन्नता से तैयार नहीं होता, विवशता की दूसरी बात है। वह काव्य-कानन में खिले हुए श्रृंगार और वात्सल्य के कागज के-से अम्लान रंग-बिरंगे पुष्पों से अमिश्रित आनंद रस का पान कर संतोष कर लेता है। गृह चिंताभार से विमुक्त होकर आदिरस के आस्वादन का अवसर कदाचित उसे मिल जाए तो वह उसकी अनैतिकता को भी थोड़ी देर के लिए भूल सकता है।

साहित्यिक जीवन में एक विशेष प्रकार की अव्यवस्था रहती है। वह वैवाहिक जीवन का भी अंकुश नहीं स्वीकार करती है। वह महिषासुर मर्दनी भगवती दुर्गा की भांति अजेय है। कुछ सामान्य साहित्यिकों में यह अव्यवस्था स्वाभाविक ही होती है और सांसारिक विषयों में दार्शनिक उपेक्षा और स्वांतः सुखाय वाले विषयों में भगवान अक्षपाद* की-सी अंधकूप में गिराने वाली तल्लीनता को भी पार कर जाती है किंतु अधिकांश में यह कृत्रिम, प्रदर्शित और स्वारोपित होती है। साहित्यिक मध्य पथ को ग्रहण करना पसंद नहीं करता, या तो वह कुंदेंदु-प्रभा-विनिंदित धवल धौत विशुद्ध खद्दर धारण करेगा या सदा एक रस रहने वाले रेशमी वस्त्रों में अपने शरीर को आच्छादित करेगा। वह प्रायः धोती-कुर्ता पहनता है और यदि प्रगतिवाद की ओर कुछ रुचि हुई तो पाजामा और पेशावरी चप्पलों से प्रगतिशीलता प्रदर्शित करता है। गले का बटन होता हुआ भी अजागल स्तनवत निरर्थक रहता है। कभी-कभी लौटकर वह छिपा भी लिया जाता है। बाल काढ़े जाकर उनमें एक कृत्रिम अव्यवस्था उत्पन्न कर दी जाती है। तांबूल के बिना उनकी सरस्वती जड़ीभूत रहती हैं। भोजन की अपेक्षा उन्हें चाय और चुरट की चिंता कुछ

***कहते हैं कि न्यायशास्त्र के कर्ता महर्षि गौतम किसी विषय के चिंतन में इतने तल्लीन हो गए थे कि वे अंधे कुंए में गिर पड़े थे। इस दशा की पुनरावृत्ति से बचाने के लिए भगवान ने उनके चरणों में आंख दे दी थी ताकि वह चलते-चलते देख सकें।**

अधिक वेग से सताती है। दूध पीने को वे सर्पों का धर्म समझते हैं। जो लोग घर के बंधन से मुक्त हो जाते हैं, उनके यहां तो सुदामा की फूटी कठौती और टूटे तवे के भी मुश्किल से ही दर्शन होते हैं। अगर चाय गरम करने के लिए कहीं हांडी या देगची नाम की कोई चीज दिखाई पड़ जाए तो वह भी एल्यूमीनियम की होती है। संसार का कलुष वह अपने ऊपर धारण किए रहती है और जीवन की ठोकरों में अपने स्वामी का प्रतिनिधित्व करती हुई कभी-कभी प्राचीन योद्धा की भांति ग्रीवा-विहीन दिखाई देती है। कुछ धूल-धूसरित पुस्तकें और अखबार उनके कमरे के अलंकरण बने रहते हैं। टूटी चारपाई अथवा उसकी प्रतिनिधि चटाई उनके सुख-दुख की एकमात्र संगिनी होती है। परसा, परसी, परसराम की भांति संपन्नता की श्रेणियों को द्योतित करते हुए बीड़ी, सिगरेट और सिगार के अवशिष्ट भाग उनके निशा-जागरण का साक्षित्व करते हैं। उषा रानी के स्वर्णिम सौंदर्य के वे चाहे जितने गीत गाएं, किंतु परम तेजस्वी होकर सूर्योदय का स्वागत करना वे अपना अपमान समझते हैं। स्वयं सूर्यदेव ही अपने कोमल करों से उनका वाकरचनाविधान संपन्न करते हैं। इस प्रकार वर्तमान साहित्यिक के घर में पुस्तकों का सतोगुण, धूल का रजोगुण और निद्रालस्य और कभी-कभी क्रोध का तमोगुण मिलकर त्रिगुणमयी प्रकृति का दृश्य उपस्थित कर देता है।

इसके विपरीत कुछ कलाकार ऐसे भी होते हैं जिनके पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से लक्ष्मी देवी की वरद छाया उनके घरों को शीतल किए रहती है। वे एकाकी रहते हुए भी कम से कम अपने कमरे की व्यवस्था को अक्षुण्ण रखते हैं। वे एक दूसरे ही छोर के मनुष्य हैं। वे पतलून की क्रीज को अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं से भी अधिक महत्व देते हैं। वे रेशमी वस्त्रों द्वारा अपनी विगत सुकुमारता की क्षतिपूर्ति करते रहते हैं। कलियुग में झूठ और लोभ की भांति रेशम ही उनका ओढ़ना होता है और रेशम ही बिछौना। चबेना के लिए उन्हें कोर्स और विटेमिनाइज्ड फूड का आश्रय लेना पड़ता है। यदि प्रोफेसर वर्ग में पहुंच गए तो कभी-कभी सिगार के साथ कार का भी व्यवहार करने लगते हैं। स्वयं तमाल पत्र का धूम्रपान कर दूसरों को शक्ति के भंडार पेट्रोल का धुंआ पिलाते हैं। बलिदान के नाम पर वे सर तो नहीं किंतु सर के बाल कटाने को सदा तैयार रहते हैं। संपन्न वर्ग के हमारे प्रगतिशील साहित्यिक खस की टट्टी और विद्युद्व्यजन के शीतल वातावरण में सुकोमल गद्दियों से लदे हुए स्प्रिंगदार सोफों पर बैठकर पार्कर पेन से प्रचंड मार्तंड के प्रखर आतप से संतप्त अर्धनग्न जठराग्नि के ज्वर से जर्जरित फावड़े चलाने वाले मजदूर की अंतर्वेदना के शब्दचित्र अंकित करने का सद्प्रयास करते हैं। वे महलों में रहकर झोंपड़ियों का ख्वाब देखते हैं। वे जीवन की घुड़दौड़ में अपने घोड़े को सबसे आगे ले जाने वाले की महत्वाकांक्षा रखते हुए भी जीवन की निस्सारता के तराने गाते हैं। वे अपने जीवन के खोए हुए साम्य को संगीत की स्वर्ण शृंखलाओं में जकड़कर शब्दों की कालिमामयी कारा में प्रबिद्ध करना चाहते हैं। लोकतंत्र की दुहाई देते हुए भी धोबी और रसोइए के लिए वे भगवान विरूपाक्ष का तृतीय नेत्र खोलने को तैयार रहते हैं। हमारे देश में संपन्न और विपन्न दोनों ही प्रकार के साहित्यिक दिखाई पड़ते हैं। इनके जीवन के ये दोनों ही चित्र बाहरी हैं। हाथी के दिखाने के दांतों की भांति इनका बाजार में मूल्य हो किंतु वे असली जीवन के द्योतक नहीं—इनमें से संपन्न जीवन का नहीं तो विपन्न जीवन का तो सहज ही में अनुकरण हो सकता है, किंतु साहित्यिक हृदय के बिना वह जीवन प्राणहीन और निस्सार हो जाता है।

गुलाबराय

साहित्यिक जीवन का हृदय अथवा आंतरिक पक्ष क्या है? वह है व्यापक सहानुभूति, जिसके द्वारा वह संसार के सुख-दुख को अपना सुख-दुख बनाकर मुखरित करता है। वह विश्व से अपना तादात्म्य करने को तैयार रहता है। निज और पर की लघुता उसके जीवन को स्पर्श नहीं करती। क्रौंच-वध से उद्वेलित होकर शोक को श्लोक में परिणत करने वाली आदि कवि की करुणा को वह एक अमूल्य पैतृक संपत्ति के रूप में अपने हृदयकक्ष के भीतर स्थान देता है। वह संसार के साथ रोता है किंतु उसके रोने में एक सामंजस्य पूर्ण राग रहता है।

साहित्यिक का हृदय और मस्तिष्क रेडियो के ग्राहक-यंत्र से अधिक संवेदनशील और उसकी वाणी की अभिव्यक्ति ध्वनिविस्तारक-यंत्र से भी अधिक प्रभावशालिनी होती है किंतु उसके शक्ति भरे स्वर में कर्कशता का लेश भी नहीं रहता। वह विपत्ति में भी अपनी शालीनता नहीं खोता और किसी प्रकार की वीभत्सता उसकी वाणी के शृंगार से मेल नहीं खाती। कीचड़ उछालने की अपेक्षा कीचड़ के कलुषित स्थल को धोकर परिमार्जित और परिष्कृत करना अधिक पसंद करता है। सच्चा साहित्यिक मानवता का उपासक होता है। वह स्वयं दीन रहकर दूसरों को दैन्य धारण करने के अवसरों से बचाता है। वह अपने स्वाभिमान की अपेक्षा दूसरे के स्वाभिमान की रक्षा करने को अधिक महत्व प्रदान करता है। वह यदि सेवा का भार अपने सर पर लेता है तो उसमें शासन की दुर्गंध को नहीं आने देता। उसका उपदेश कांता से भी मधुर होता है। वह यदि कठोर बनता भी है तो लोकमंगल के लिए, अपनी महत्ता जतलाने के लिए नहीं, पुजाने की अपेक्षा वह पूजने के लिए अधिक लालायित रहता है। दंभ, पाखंड, प्रपत्र और गुरुडम उसके जीवन को स्पर्श नहीं करतीं। सच्चा साहित्यिक अपने दोषों की उपेक्षा नहीं करता। अपने विपरीत मत का अनुकूल मत से भी अधिक स्वागत करता है और सफलता और विफलता में सदा अनुद्विग्नचित्त रह हंसता हुआ कर्तव्य पालन करता है।

परमात्मा के दैवी गुणों में वह शक्ति की अपेक्षा शील और सौंदर्य को अधिक महत्व देता है। शील को वह सौंदर्य का आंतरिक पक्ष मान उसे अपनाता है। उसके हृदय में संहारकारिणी शक्ति की अपेक्षा संरक्षणी शक्ति अधिक मान पाती है। जो शक्ति संसार में आंतरिक और

कविता

दक्षिण समुद्र के तीर

रांगेय राघव

कवि! ज्योतित जीवन की गाथा यह भास्वर
मुखरित कर दो अब अंतराल के निर्भय
इस अंधकार की प्राचीरों को भेदो
दक्षिण समुद्र के तीर हो रहा निश्चय।
फूटा दिगंत में अंधकार का भीषण
प्रालेय हलाहल स्तब्ध बुझ गई किरणें
घन तिमिर जाल-सी क्षुब्ध व्याल-सी लहरें
विकराल लहरतीं वेगवान गर्जित स्वर
घन घनन नाद, फिर हहर शून्य में घहरी
बन विकट प्रभजन मार भयानक घूंसा
फिर गरज-गरज कर भीमनाद चिल्लातीं,
यम महिष सदृश उगले मुख से अतिभय रव,
चल अंधकार के महाकाल भैरव से
करती भीषण रण मुड़े विषाण लड़ाकर,
केवल प्रसार, केवल प्रसार अति दुस्तर;
गर्वित समुद्र का शासन था झंकृत-सा
नभ कांप रहा था देख क्षोभ वह व्याकुल
उठतीं पहाड़-सी लहर, मेघ-सी झरतीं,
फिर अट्टहास करके ऊपर नभ हंसता,
जलनिधि का हाहाकार विरुद्ध धड़कता,
झंकृत-सी धरती थर-थर कंपित भीता
उन आघातों से लेकर खाती स्तब्धा;
वाहिनी तीर पर स्तब्ध शांत थी बैठी,
भय से वानरगण मूक देखते सागर;
लहरें कहती थीं, अर्धसभ्य हे जर्जर,
हम लंका के पदतल छूकर आती हैं
परिवा हैं उस गौरव की गहन गंभीरा
त्रिभुवन है जिससे भीत विमूर्छित नीला।
क्षण भर सिंहों के यूथ झपटते आते
क्षण कोटि हाथियों की चिंघाड़ें उठतीं
फिर वरुण पाश-सी लहर, वज्र-सा कड़का
तब अंधकार था पीठ महाकच्छप की
अक्लांत शून्य पर ऊभ चूभ था होता
मंदर-सा भीषण गगन घूमता सस्वर
विक्षुब्ध क्लांत-सी महासर्प मूर्छित-सी
यह दिशा दिशा की दृढ़ लपेट भी व्याकुल
हलचल कोलाहल बना प्रभंजन काला
अब रहा घोट निश्वास रुद्ध कर मन भी। ❑

—दिसंबर, 1948

वाह्य सौंदर्य की प्रतिष्ठा में सहायक होती है, वही साहित्यिक को आराध्य बनती है।

साहित्यिक भू के कोने-कोने में सौंदर्य के दर्शन करता है और अपेक्षाकृत असुंदर को भी सुंदर बनाने की वह प्राणपण से चेष्टा करता है। वह पतित से पतित और नीच से नीच में ईश्वरीय ज्योति के प्रकाश-कणों की झलक देखता है और वह अज्ञान, उपेक्षा और तिरस्कार के आवरण के हटाकर स्वयं अपने को ही नहीं, वरन् सारे संसार को उस दिव्य-ज्योति का पावन प्रकाश प्रदान करता है। साहित्यिक जीवन के लहराते हुए सागर में अवगाहन कर नित्य नये रत्नों को प्रकाश में लाता है। उसका जीवन एक खोज और विजय का इतिहास है। वह मानव हृदय के अंधतम स्तरों में प्रवेश कर उनको अपने प्रेम प्रदीप से प्रकाशित करता है। उसके साम्राज्य की सीमाएं नित्य विस्तारोन्मुखी रहती हैं। प्रत्येक विफलता से उसे एक नई शक्ति मिलती है और वह उस शक्ति का मानव हिताय प्रयोग करता है।

साहित्यिक का जीवन सजीव होकर समता और स्वातंत्र्य की भावनाओं से ओत-प्रोत रहता है। वह वनस्पतियों की भांति केवल बढ़ना नहीं जानता। सक्रिय जीवन ही उसके लिए जीवन है। निष्क्रिय जीवन उसके लिए मृत्यु है। वह जीवन को सुंदर, संपन्न और साम्यमय देखना चाहता है। शून्य की सरलता उसका ध्येय नहीं। इसीलिए 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव' का पाठ वह स्वयं पढ़ता है और दूसरों को भी पढ़ाता है। साहित्यिक क्षुद्र राष्ट्रीयता के भेदक प्राचीरों और सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। उसके लिए विश्व एक नीड़ बन जाता है। वह विद्याविनय-संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और श्वपच सब में एक परमात्मा के दर्शन करता है। वह सदा निर्भय रहकर दूसरों को प्राणदान देता है। वह भय की प्रीति नहीं सिखाता वरन् प्रीति के भय को अपने कर्तव्यशास्त्र में स्थान देता है। उसकी आत्मा सदा स्वतंत्र रहती है। वह स्वार्थ के स्वर्णकणों के लिए सत्य की हत्या नहीं करता। वह सत्य हित और प्रिय वाणी द्वारा विश्वकल्याण की कामना करता हुआ निर्वैर और साम्यमय-संपन्न जीवन व्यतीत करता है। यह है सच्चे साहित्यिक जीवन की एक क्षीण झलक। ईश्वर करे, हमारे देश में ऐसे ही साहित्यिक उत्पन्न हों जो सदा संसार में 'सर्वे भद्राणिपश्यंतु' की भावतरंगें प्रवाहित करते रहें। ❑

—सितंबर, 1945

कहानी

एक क्लास का कैदी

चंद्रकिरण सौनरेक्सा

और मां जी ने माथा चढ़ाकर कहा–"न भइया; कालिज की पढ़ी लड़की तो मैं लूंगी नहीं, चाहे इस कान सुनो या उस कान। इससे तो बदायूं वाली लड़की ठीक है।"

महेंद्र ने तब बीच में ही उत्तर दिया–"तो बस, भइया जी भी ब्याह कर चुके। बदायूं वाली कुल लोअर मिडिल पास है। कहां भइया एम.ए. पास, इतनी बड़ी जगह पर नौकर, इतने अच्छे कवि; और कहां मिडिल पास लड़की!"

डाक्टर साहब ने भी अपने चश्मे का शीशा साफ करते हुए कहा–"हां महेंद्र की मां, बात कुछ जंची नहीं। श्याम वहां के लिए कभी राजी न होगा।"

"तो फिर जौनपुर वाली से कर दो, जरा रंग ही तो सांवला है, वैसे तो वह दसवीं तक पढ़ी है। घर भी अच्छा है, पांच-सात हजार तो दे ही जाएंगे।"

महेंद्र ने इस पर तीनों फोटो सामने रखकर कहा–"तुम भी अम्मा, कैसी बातें करती हो? लखनऊ वाली के आगे ये लड़कियां निहायत रद्दी हैं। एकदम थर्ड क्लास। जरा फोटो तो मिलाइए। लखनऊ वाली सुंदर भी है। उसके पिता ने लिखा है कि रंग एकदम गोरा है। बी.ए. में पढ़ती है। हारमोनियम, सितार, वगैरह भी बजाना जानती है!"

"हां, नाचना भी जानती है! सड़कों पर साइकिल चलाना भी जानती है", मां जी ने मुंह बनाते हुए कहा–"सब गुन-आगरी है। लेकिन देख लेना, गिरस्ती तो उसके आने पर तीन-तेरह हो जाएगी।"

"श्याम को किसी तरह ब्याह के लिए राजी तो होने दो," वृद्ध डाक्टर ने मुस्कुरा कर कहा–"ये बातें तो पीछे देखी जाएंगी। मेरे विचार में लखनऊ वाली को वह अवश्य पसंद कर लेगा और भई रही गृहस्थी की बात, सो नौकर और महरी अब भी लगे हैं; एक मिसरानी और लग जाएगी। जमाना बदल रहा है। पुरानी बातें एक-एक करके आप ही छोड़नी होंगी....."

बाप बेटे का बहुमत एक ओर हो गया, तो मां जी मैदान में कब तक अड़ी रहतीं?

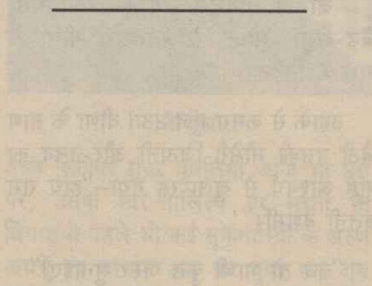

रेखांकन : वीरेंद्र

एक कीमती झीनी बनारसी साड़ी में सिर से पैर तक आभूषणों से लदी वीणा बिजली के प्रकाश में सौंदर्य-राशि-सी झिलमिला उठी, मानो वह एक जौहरी की सजी-सजाई अपटूडेट दुकान हो। इतने गहने, कपड़े और इतना योग्य प्रतिभाशाली प्रसिद्ध पति पाने की प्रसन्नता उसे कम नहीं थी, परंतु ब्याह का यह 'गुड़ियापन' उसे खल रहा था। ससुराल आए उसे दस घंटे हो चुके थे, परंतु अभी तक यहां की रस्में पूरी न हुई थीं। गरमी से परेशान, रेल यात्रा से थकी, और गहनों के भार से शिथिल वह चाहती थी कि जल्दी से जल्दी कुछ गहने उतारकर बक्स में रख दे और मामूली साड़ी बदलकर एकांत में थोड़ा आराम कर ले। पर यहां अभी मुंह दिखाई करने वालियों का तार न टूटता था; तिस पर यह घूंघट, जो बार-बार खोला-मूंदा जा रहा था। मोटर से उतरते समय वह केवल माथे तक पल्ला किए थी। फेरों पर भी उसने घूंघट नहीं काढ़ा था, किंतु यहां द्वार-रुकाई के समय मोटर से उतरकर गठबंधन सहित श्याम के साथ जैसे ही वह खड़ी हुई कि आरती उतारती हुई उसकी ननद को पीछे हटाकर एक प्रौढ़ा ने उसका पल्ला खींचकर ठोड़ी तक कर दिया। गुस्सा तो वीणा को बहुत आया था, किंतु इतने अपरिचित जनों के बीच में प्रतिवाद करने की चेष्टा करने पर भी जीभ तालू से सट गई थी। भीतर आने पर उसे मालूम हुआ, वह प्रौढ़ा उसकी सास थी। कमरे में आकर

उसने एक बार अपना घूंघट फिर हटा दिया, क्योंकि वहां सब स्त्रियां ही थीं, किंतु उसी समय सास ने भारी आवाज में कहा—"बहू! मुंह दिखाई तो हो लेने दो, फिर खोल लेना घूंघट!" भीड़ में से किसी ने आवाज कसी—"अरे आजकल कौन परदा करता है, फिर वह तो बी.ए. पास है।"

और तभी कोने में से एक बहूनुमा पुलिंदे ने जो गोद में दो वर्ष की लड़की को लिए थी, अपने घूंघट में से फुसफुसाकर कहा—"कालिज में पढ़ने से क्या लोक-लाज भी उड़ जाती है? घरवालों की न सही, दुनिया की शरम तो करनी ही पड़े है। फिर ब्याहली बहू की शोभा तो घूंघट से ही है। यह दिन कोई रोज-रोज थोड़े ही आवेगा। ब्याह तो एक ही बार होता है।"

वीणा तब जीवन में केवल एक ही बार होने वाले अपने इस विवाहोत्सव की सार्थकता पूर्ण करने को उसी घूंघट सहित बैठ गई। परंतु मन में वह एकदम खीज उठी थी, 'ऐसी तैसी घूंघट की! यह अच्छी शोभा है। अच्छा, जरा यहां का तूफाने बदतमीजी कम हो जाए, फिर हटा दूंगी!' उसने सोचा और शाम को सचमुच ही उसने आधे गहने उतारकर बक्स में रख दिए। उस कामदार साड़ी को, जिसके कारण वह हिलजुल भी न सकती थी, उतारकर उसने एक हल्की रंगीन सिल्क की साड़ी पहन ली। घूंघट भी नाम मात्र का रह गया। साड़ी वह न भी उतारती, किंतु दोपहर को महेंद्र कह गया था कि "अम्मा, मेरे व भइया के दो चार दोस्त भाभी को देखने आवेंगे।" और अम्मा ने भी नाक-भौं चढ़ाकर 'अच्छा' कह दिया था। तो वीणा ने सोचा कि इतनी बन-ठनकर उन लोगों से मिलना उचित नहीं, सोचेंगे अपने गहने, कपड़ों और रूप की प्रदर्शनी सजाकर बैठी है। छोटी ननद कमला ने एक-दो बार टोका भी, "भाभी, भला कोई क्या कहेगा? बढ़िया वाली साड़ी पहिन लो। न हो, ऊपर से दुपट्टा ओढ़कर पल्ला कर लो, और यह क्या, गहने भी उतार दिए?" वीणा ने तब धीमे से कहा—"बीबी, यह साड़ी सोफियानी है। पहिनने को जेवरों का एक सेट ही काफी है, यह क्या कि बहुत-सी अनमेल चीजें ऊपर-तले पहिन लीं?"

कमला फिर नहीं बोली; मुंह लटकाकर चली गई।

"नमस्ते भाभी जी! आदाबअर्ज दुलहिन साहिबा! सलाम भाभी! भाभी जी नमस्कार!..." एक बार ही पांच-सात युवकों ने महेंद्र के साथ आकर वीणा को चौंका दिया।

"नमस्ते!" पलकें झुकाए, थोड़ी-सी ऊपर उठकर वीणा ने कहा—"बैठिए; तशरीफ रखिए।"

"यार महेंद्र! भाभी तो बड़ी सुंदर हैं। श्याम भाई तकदीर के सिकंदर हैं।"

"अजी कुछ पूछिए मत", महेंद्र ने उत्तर दिया—"सरस्वती और उर्वशी एक राशि पर प्राप्त हुई हैं। भाभी सिर्फ ग्रेजुएट ही नहीं, बहुत अच्छी गायिका भी हैं। सितार, जलतरंग, वीणा, बांसुरी सभी जानती हैं...!"

"जी हां, एकदम तबला-हारमोनियम, बैंड-बांसुरी मास्टर हैं"—तत्काल वीणा के मुख से निकला।

ठहाके से कमरा गूंज उठा। वीणा के साथ बैठी उसकी मौसेरी जिठानी और ननद का मुंह आश्चर्य से खुला रह गया—"हाय राम इतनी बेशर्मी!"

"तब तो भाभी कुछ जरूर सुनाइए।"

"ज़रूर, ज़रूर, लाओ भाई महेंद्र, भीतर से कुछ उठा लाओ न सितार-तबला, जो भी मिले।"

और जिठानी अपना घूंघट संभालती ऊर्ध्व सांस में भागी। वीणा ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—"अब तो मैं आपके यहां स्थायी रूप से आ ही गई हूं; जल्दी क्या है, आज मैं बहुत थकी हूं, इसलिए क्षमा करें, जब मैं फिर आऊंगी तब सुन लीजिएगा। बहुत अच्छा तो मुझे आता भी नहीं है।"

सरला भी इसी बीच में उड़नछू हो गई थी।

संगीत का प्रस्ताव रद्द होते देख भुवन ने कहा—"अच्छा भाभी! कविता तो आप अवश्य लिखती होंगी... यह तो मॉडर्न फैशन में शामिल है—वही सुना दीजिए।"

"नहीं भाई......." वीणा ने इतना ही कहा था कि मां ने खंखारते हुए आकर कहा—"महेंद्र! तुम लोग अब बाहर बैठक में बैठो। दूसरी बहुएं भी इधर आएंगी। अंदर गरमी बहुत है।"

"पूरी महफिल जमी हुई थी।"—चाची ने भीतर आकर कहा—"जीजी, तुमने नाहक कमरा खाली करा दिया।"

"मुझे यह सब पसंद नहीं है"—मां जी ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया, "दुनिया में रहकर कुछ उसकी लाज-शरम भी निभानी पड़ती है। देख लेना, यही महरी मिसरानी इतनी-सी बात को सारे शहर में गाती फिरेंगी। ब्याहली बहुएं कहीं सड़कों पर नाचती फिरती हैं? राम-राम अंधेर हो गया।"

वीणा होंठ काटकर रह गई।

द्विरागमन पर वीणा चश्मा धारण किए थी। महेंद्र के पूछने पर उसने कहा, "भई पारसाल बैडमिंटन खेलते हुए उसकी आंख में लग गई थी। बहुत इलाज कराने पर भी आंख कमजोर पड़ ही गई। हारकर इस बार चश्मा ले लिया है।"

सास ने सुनकर मुंह भारी कर लिया। कमला पीठ फेरकर मुस्कुराई। और पड़ोस में नई बहू का नाम 'चश्मे वाली' पड़ गया। घर पर सब काम नौकर करते थे, किंतु कमला की सहायता से मां जी रसोई बनाती थीं। पैसों का अभाव न था। सवेरे बढ़िया जलपान, ग्यारह बजे भोजन, तीसरे पहर हलवा, रात को भोजनोपरांत दूध—सभी कुछ था। यहां पर गरमियों में मां जी किसी को चाय पीने न देती थीं। आने के दूसरे दिन वीणा ने कहा, "माता जी, आप नाराज तो होंगी, पर क्या करूं, मैं तो जाड़े-गरमी तीसरे पहर एक कप चाय जरूर लेती हूं। बहुत चाहती हूं कि यह आदत छूट जाए, लेकिन छूटती ही नहीं। सिर में दर्द हो जाता है।"

मां जी ने 'धम' से हलवे की कढ़ाई नीचे पटकते हुए कहा, "फिर हरज क्या है? बना दिया करेंगे। चाय बिना तो आजकल वैसे भी पढ़े-लिखों का फैशन अधूरा रह जाता है।"

वीणा तिलमिलाकर रह गई।

पानी फूटने लगा; पत्तियां छोड़कर केतली उतारते हुए—मां जी ने पूछा, "खाना बनाना जानती हो या नहीं?"

वीणा ने चम्मच से हलवा मुंह में रखकर धीमे से उत्तर दिया—"थोड़ा-बहुत जानती हूं, शेष आप सिखा दीजिएगा, क्योंकि घर पर तो अम्मा या नौकर ही बनाया करता है।"

किंतु मां जी उसे रसोई की तरकारी तक न काटने देती थीं—"नहीं-नहीं बहू, तुम रहने दो। देखो, प्याज आंखों में लग जाएगा—अरे तुम सुनती नहीं, अपनी साड़ी बदल डालो। श्याम आता होगा, जाकर कुछ पढ़ो-लिखो। यह सब तो हम जैसे गंवारों के काम हैं।" वीणा तब मजबूर होकर उठ जाती। अच्छा भोजन बनाना उसे नहीं आता, किंतु नित्य की दाल-रोटी बनाना कोई कठिन काम नहीं है। दो-चार दिन के अभ्यास से आ जाएगा। पर मां जी करने दें, तब न। बस कपड़े बदल डालो, गहने पहन लो, जाओ आराम करो... यही कहा करती हैं। किंतु उस कथन में प्यार की गंध, स्नेह की चाश जरा भी नहीं होती। होता है शासन का तीखापन, अप्रसन्नता का आवरण और तीव्र अभिमान की मुखर छाया.....।

वीणा के मन-प्राण त्रस्त हो उठते हैं। थोड़ी-सी तसल्ली उसे है तो बस श्याम की ओर से। वह शिक्षित है, कवि है, भावुक है। और आजकल वीणा ही उसके मन के तारों की मींड़ बनी हुई है। रात को सेकिंड शो में सिनेमा जाते हैं। अंधेरी रातों में घूमने भी जाते हैं। कभी-कभी कमला को साथ लेकर उसकी आड़ में श्याम वीणा के साथ बाजार भी जाता है। वीणा को खरीदारी का बहुत शौक है, लेकिन यहां वह खरीदारी क्या करे? ऊपर से नीचे तक जेवर लादकर बढ़िया साड़ी-चादर में लिपटकर बाजार के दर्शन कर आती है, बस। 'नंगी-बूची' निकले तो... मां जी, चाची जी, सभी का मुंह चढ़ जाता है।

आज एक कवि सम्मेलन है। श्याम भी जाएगा। वीणा ने भीतर आकर पूछा—"मैं भी चलूं तो?"

"चलो न, मैं कब मना करता हूं!"—श्याम ने टाई बांधते हुए कहा। परंतु मन में यही चाहता था कि वीणा साथ न जाती, तो अच्छा था। क्योंकि, एक तो घरवाले यह सब पसंद न करते थे, दूसरे मां, चाची, बुआ उसे भी जब-तब सुनाती रहती थीं कि उसने बहू को बहुत सिर पर चढ़ा लिया है। दूसरे अब ब्याह को दो वर्ष होने आए। प्यार का पहला उफान दब चुका था। वीणा को प्रत्येक समय आंखों के आगे रखने की प्यास बहुत कुछ बुझ चुकी थी। और वीणा लाख सुंदर हो, ग्रेजुएट हो, श्याम के लिए वह अलभ्य तो नहीं है, कभी भी नहीं थी। न जाने कितनी

लेखिका

उच्च शिक्षित सुंदर युवतियां आज भी उस पर, उसके स्वर-लालित्य पर मरती हैं। विवाह से पहले भी कई सुकुमारियों के अरुण अधरों का रस-पान वह कर चुका था। अब भी पचासों उस पर शलभ की भांति न्योछावर होने को प्रस्तुत रहती हैं। प्रांत के अन्य नगरों से, जहां प्रायः श्याम को कोई विवाहित नहीं समझता, अनेक साहित्यिक-असाहित्यिक लड़कियों के प्रेमपूर्ण याचना-पत्र आते रहते हैं। एक-दो पत्र अपनी भावुकता की तरंग में उसने वीणा को भी दिखाए थे, लेकिन प्रशंसा करनी तो दूर, वीणा ने मीठी झिड़की देते हुए कहा, "यह सरासर तुम्हारा अन्याय है, लड़कियों का क्या दोष? सुंदर साहित्यिक सर्वगुणी जीवन संगी प्रत्येक युवती चाहती है। जब तुम्हीं किसी पर यह प्रकट नहीं करते कि तुम विवाहित हो, तो यदि वे प्रेम-पत्र भेजती हैं, तब उनका दोष न होकर तुम्हारी दुर्बलता प्रकट होती है।" श्याम अब वीणा से भी सतर्क रहने लगा।

"साड़ी बदल आऊं?" वीणा ने पूछा, "या यही ठीक रहेगी?"

"जैसी तुम्हारी इच्छा!"

वीणा जल्दी-जल्दी केश संवारने लगी।

"भाभी!" कमला ने पुकारा—"अम्मा कहती हैं, खाना खा लो। भाई साहब तो कवि-सम्मेलन से लौटकर ही खाएंगे, पर तुम क्यों तब तक भूखी रहो?"

"बीबी!" वीणा ने जूड़े में फूल खोंसते हुए उत्तर दिया—"अम्मा से कहो, आज मैं भी इनके साथ कवि-सम्मेलन में जा रही हूं। खाना उठाकर रख दें। हम लौटकर आप ही परोसकर खा लेंगे।"

"ओ मां!" कमला एक सांस में मां के पास दौड़ी।

"श्याम!" दो मिनट बाद मां जी भीतर आ गईं—"हया-शरम बिलकुल घोलकर पी डाली है? उस पराई बेटी को क्या दोष देना, जब अपना ही पैसा खोटा है! क्या अब बहू भी मेज पे खड़ी होकर कविता पढ़ेगी?"

"नहीं तो अम्मा जी, सिर्फ सुनने जा रही हूं। आप और बीबी जी भी चलिए!" वीणा ने बीच में ही कहा—"इतने बड़े-बड़े कवि आएंगे।"

"न बाबा... छिमा करो! तुम्हीं जाकर कवियों के दर्शन का पुन्न लूटो," झमकती हुई मां जी चली गईं।

"वीणा! तुम आज न चलो, तो कैसा रहे!" श्याम ने धीरे से कहा—"मां जी का पारा बहुत तेज हो रहा है।"

"रहने दो, न जाऊंगी!" वीणा ने खोंसा हुआ फूल निकाल डाला और पलंग के पायंते बैठकर अंगूठे से फर्श खुरचने लगी। "नाराज हो गईं, रानी!" श्याम ने उसकी पीठ सहला कर कहा—"मैं तो तुम्हारे कारण ही कह रहा हूं कि कभी वे और नाराज हों। अच्छा तो चलूं, देर हो रही है।"

श्याम चला गया। आंखों में मेघ और हृदय में बवंडर लिए वीणा वहीं पड़ी रही।

"भाभी खाना खा लो"—कमला फिर आई—"अम्मा कब तक तुम्हारे लिए रसोई लिए बैठी रहें?"

"बीबी! मुझे भूख नहीं है, आप लोग खा लें।"

"तुम्हारी तो लीला ही निराली है! केसरिया चावल बने हैं; आलू की टिकियां हैं, बादाम का हलवा है। ठंडा होकर सबका मजा जाता रहेगा, जितनी भूख हो, उतना खा लो। तुम आप ही तो अम्मा को नाराज कर देती हो।"

चार ग्रास खाकर वीणा रसोई से उठ गई। गुसलखाने में कुल्ला करते हुए उसने सुना, चाची महरी से कह रही थीं—"परनाले की ईंट चौबारे जा चढ़ी, महरी! बड़े घर की सार बड़े घर की ही बेटी जानती है। मैं तो दुनिया की बात कह रही हूं। कोई यह न समझे कि हमारी ही बहू ऐसी है। अब तो जमाना ही बदल गया है, बाबा!"

श्याम की बदली हो गई। वह पटना चला गया है। वीणा ने चाहा था कि वह भी साथ ही चली जाए, किंतु न तो मां जी ही उसे अकेली भेजना चाहती थीं, और वे साथ जातीं तो घर में जवान लड़की अकेली कैसे रहती? और न स्वयं श्याम ने ही उसे साथ ले जाने की उत्सुकता दिखाई। कुछ भी हो, यहां मां-बाप के साथ रहने से थोड़ा-बहुत दबकर चलना पड़ता था। अब अकेला रहेगा, तो कुछ दिन स्वतंत्रता का आनंद लेगा। वह पुरुष है, कमाऊ है, उसे कहीं आने-जाने, उठने-बैठने की रोक न थी; चाहे आधी रात कहीं फिरे, कुछ भी करे। फिर भी डाक्टर साहब और मां से उसे भय रहता था। पटना तो बहुत दूर है, वहां वह एक नौकर रखकर मजे से दिन काटेगा। कवि-सम्मेलनों में उसकी तूती बोलेगी। उसके स्वर-लालित्य का जादू सबको मोहित कर लेगा। वहां की युवतियां भ्रमर की भांति उसके इर्द-गिर्द चक्कर काटेंगी।

वह चला गया। वीणा को उसने समझा दिया था—"रानी 'वार टाइम' है। सभी चीजों की दिक्कत है, और मैंने कभी गृहस्थी चलाई नहीं। तुम्हें नाहक कष्ट मिलेगा। नौकर न मिला, तो और भी आफत। यहां तो सब तरह की सुविधा है। मैं स्वयं मुसीबत झेल लूंगा, परंतु अपने प्राणों से प्रिय बीनू का कष्ट मुझसे देखा न जाएगा! मैं हर महीने छुट्टी लेकर आया करूंगा। अलग से तुम्हें जेब खर्च भेजा करूंगा। अच्छा बोलो, वहां से तुम्हारे लिए कै साड़ियां लाऊं? यद्यपि उनकी तुम्हें आवश्यकता तो होगी नहीं। कम से कम दो सौ सड़ियां तो तुम्हारे पास होंगी ही, और कहोगी तो अम्मा अपने बक्स से दो-चार निकालकर और दे देंगी।"

वीणा चुप रह गई। वह सब समझती है। उसके कष्टों से कहां, किसके प्राणों में कितनी पीड़ा होती है, वह यह जानती है। फिर भी... वह क्या कहे? किससे कहे? श्याम अकेला चला गया। मां जी कमला के साथ कहीं शादी में गई थीं। घर पर वीणा अकेली थी। वैसे बिलकुल अकेली वह कभी नहीं रह पाती। मौसेरी जिठानी, कमला या महरी, नौकरानी— कोई न कोई घर पर बनी रहती हैं। वह स्वयं कहीं जाए, तब भी एक-आध पुछल्ला साथ बंधा रहता है। आज महरी नहीं आई थी। नौकरानी तो एक महीना पहले ही काम छोड़ बैठी थी। और कमला की सहेली की शादी थी, इसलिए वह भी मां के साथ चली गई। वीणा क्या करे? समझ नहीं पाती। उसके पास ढेरों ब्लाउज हैं, इसलिए सिलाई करने को मन नहीं चाहता। स्वेटर उसने सबके दो-दो चार-चार बुन डाले हैं। फिर गरमी में ऊन छूने की भी इच्छा नहीं होती। घर अकेला छोड़कर कहीं किसी से मिलने-जुलने भी नहीं जा सकती। फिर उसके समकक्ष की समाज सोसायटी, क्लब, संस्थाएं सभी जगह पुरुषों से भरी रहती हैं, जहां अधिक मिलना-बैठना यहां किसी को पसंद नही है। वह क्या करे? श्याम के पत्र बड़ी देर-देर से आते हैं। तीन महीने में बस एक बार उसने पच्चीस रुपए अलग से उसके नाम भेज दिए हैं, तिस पर घर में एक हंगामा मचा था कि भइया सोचते हैं, भाभी को यहां तकलीफ मिलती है; किसी चीज की कमी रहती है; तभी तो अलग से रुपए भेजे!

दस बजे, ग्यारह बजे, बारह... अभी भरी दोपहरी उसे काटनी है, कुछ देर पढ़ती रही; फिर सितार उठा लिया, अनमने मन से वह एक गीत बजाने लगी.....

"तुम्हीं हो प्राणों के आधार। तुम्हीं हो—ओ-ओ ऽ-ऽ..."

वह गाने लगी—"जय जग तारन..."

"भाभी!" महेंद्र ने बाहर से किवाड़ों को धक्का दिया। वह कालिज से लौट आया था; साथ में तीन-चार साथी भी थे। वीणा के द्वार खोलते ही वे सब उसके पीछे पड़ गए, "भाभी! सुनाइए!"

"गीत बंद मत करिए, आपको श्याम भाई की कसम है..."

"भई बिना तबले के गाने में आनंद नहीं आता!" वीणा ने टालना चाहा।

"तो बंदा इस खिदमत को अंजाम देने के लिए हाजिर है!" सलीम ने एक लंबा सलाम बजाकर उत्तर दिया।

भुवन अलमारी में से 'जोड़ी' उठा लाया।

इंकार की जगह न रही थी। वीणा ने तब सितार उठा लिया।

एक गीत... दो गीत... तीन... समां बंध गया।

अकस्मात सभी चौंक पड़े। बाहर से मां जी ने गंभीर स्वर में पुकारा—"बहूऽऽऽ...!"

ठीक तीन बजे चिलचिलाती दोपहरी में वह लौट आई थीं।

वीणा ने सितार रख दिया। सलीम ने तबला पीछे खिसका दिया। महेंद्र ने धीरे से कुंडी खोल दी।

"महेंद्र! पढ़ना-लिखना तो सब चूल्हे में गया। बस अब भाभी को मीरासी बनाकर पेट पालना!" मां जी ने कमला का हाथ पकड़ कर भीतर ठेलते हुए कहा—"यहां खड़ी क्या ताक रही है?"

महेंद्र के सभी साथी 'नमस्ते' करके चुपके-से उठ गए।

महेंद्र ने चिढ़े स्वर में कहा—"तुम भी अम्मा, बस खूब हो। उन सबके बैठे हुए ही गरजने लगीं। इनके कहने से भाभी ने एक गीत गा ही दिया, तो कौन महाभारत अशुद्ध हो गया!"

और मां जी, जो अभी तक दूसरों पर ढालकर ही ताने देती थीं, आज बिखर ही तो पड़ीं—

"तू चुप रह, महेंद्र। और बहू! तुम्हें तो कभी हमारी इज्जत का ख्याल न होगा! तुम चाहती हो, ये लोग शहर में नक्कू बन जाएं। मेरे जाने की देर थी कि महफिल जमा ली। बस नाचने की कसर रह गई थी, वह भी कुछ दिनों में पूरी हो जाएगी!"

वीणा का बांध भी आज टूट गया। ताने देना, व्यंग्य कसना उसे नहीं आता। परंतु

निधन

डाक्टर श्यामसुंदर दास

8 अगस्त 1945 को हिंदी के अनन्य भक्त तथा निस्वार्थ सेवी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक, *हिंदी शब्द सागर* के संपादक मंडल के अध्यक्ष, कई दर्जन पुस्तकों के लेखक व संपादक, साहित्य वाचस्पति रायबहादुर डा. श्यामसुंदर दास का निधन 70 वर्ष की अवस्था में हुआ। इनके निधन से हिंदी साहित्य क्षेत्र का एक जाज्वल्यमान नक्षत्र टूट गया। आपके अवसान से हिंदी साहित्य में ऐसा स्थान रिक्त हुआ है जिसके निकट भविष्य में पूरे होने की आशा कम है।

आपके पूर्वज लाहौर के रहने वाले थे। आपका घराना 'टकसालियों' के नाम से प्रसिद्ध था और खत्रियों के प्रतिष्ठित घरानों में गिना जाता था। समय के फेर से आपका वंश अपना प्राचीन वैभव खो बैठा और जीविका उपार्जन हेतु काशी आ गया। काशी में आपके पूर्वजों ने कपड़े का व्यवसाय किया जिसमें आशातीत सफलता मिली। यहीं आपका जन्म 14 जुलाई, 1875 को हुआ और काशी में रहकर ही आपने बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। विद्यार्थी जीवन में ही आप हिंदी के पक्षपाती थे। इसके कारण आपको कई बार अपने प्रोफेसरों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा। कालेज के बाद का आपका जीवन हिंदी साहित्य का इतिहास है।

उस समय हिंदी बड़ी भग्न अवस्था में थी। स्कूलों में उसे केवल आठवीं तक ही स्थान मिला था। हिंदी में बोलना हेय समझा जाता था और शिष्ट समाज में इसे गंवारू बोली का नाम मिला हुआ था। हिंदी-साहित्य सृजन कार्य भी प्रायः नहीं के बराबर था। यत्र तत्र कोई एक-आध सज्जन साहित्यिक कार्य कर रहे थे, जिसका कोई आदर न था। ऐसे आपत्तिकाल में बाबू श्यामसुंदर दास ने हिंदी की जीर्ण तरी की पतवार अपने हाथ में ली। सन् 1893 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की गई। इस कार्य में आप ही अग्रसर थे। जिस समय इसकी स्थापना की गई थी तो संस्थापकों को इसका अनुमान भी नहीं था कि यह छोटा-सा बीज विशाल वट-वृक्ष का रूप धारण कर लेगा। आपके तत्वावधान में नागरी प्रचारिणी सभा ने जो उन्नति की है, वह किसी से छिपी नहीं है। प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों की खोज में इस संस्था ने अपूर्व प्रयत्न किया है जिसकी पाश्चात्य विद्वानों ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह सब कार्य डा. श्यामसुंदर दास के मंत्रित्व काल में अधिक हुआ। आपका सबसे प्रशंसनीय कार्य है *हिंदी शब्द-सागर* का संपादन। हिंदी का यह शब्दकोश अद्वितीय तथा अपूर्व है। अब तक किसी भी देशीय भाषा का इतना वृहद् सर्वांगीण कोश नहीं बना है। प्रांतीय सरकारों ने भी इस कोश की प्रशंसा की तथा धन से सभा की सहायता भी।

हिंदी शब्द-सागर के संपादन के उपरांत आप कुछ काल तक लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल के हेड मास्टर भी रहे। सन् 1921 में आप काशी विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। यहां आपने 1937 तक कार्य किया। 1938 में आपको हिंदी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि दी, हिंदी-सेवा के उपलक्ष में भारत सरकार ने भी 1927 में रायसाहब तथा सन् 1933 में रायबहादुर की उपाधि प्रदान की। काशी विश्वविद्यालय ने डाक्टर ऑफ लिटरेचर की उपाधि देकर आपका सम्मान किया।

आपने प्राचीन हिंदी पुस्तकों के संपादन कार्य के अतिरिक्त कितनी ही पुस्तकें भी लिखी हैं। इनमें *साहित्य-आलोचन*, *भाषा-विज्ञान* तथा *हिंदी भाषा और साहित्य* मुख्य हैं। साहित्यालोचन में आलोचना के तत्त्वों आदि की सूक्ष्म विवेचना की गई है। यह अपने ढंग की हिंदी साहित्य में प्रथम पुस्तक है।

डा. श्यामसुंदर दास के निधन पर आज हिंदी संसार शोक के आंसू बहा रहा है। श्रद्धा और मान, प्रेम और भक्ति, स्नेह और सौजन्य के कुसुम अर्पण कर रहा है। हिंदी प्रेमियों के हृदय में जो भाव आंदोलित हो रहे हैं, उन्हें व्यंजित करना भाषा के बस के बाहर की बात है।

हिंदी संसार इनके ऋण से उऋण नहीं हो सकता। इस साहित्य महारथी का मान करने तथा इनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए हिंदी संसार किसी ठोस योजना को कार्यान्वित करेगा? उनकी सेवाओं का आभार मानेगा? भगवान दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करे, यह हमारी प्रार्थना है। ❑

—सितंबर, 1945

वह भी अब दबेगी नहीं। कड़वेपन से उसने कहा—"आपकी दृष्टि में यह सब महफिल सजाना है, तो वह भी होकर रहेगा। कोई कहां तक आपकी 'नाक' बचाता रहे। आप मुझे मेरे घर भेज दें। मैं यहां नहीं रहूंगी।"

"अच्छा-अच्छा.....यह बात है! आने दो उन्हें, मैं रात की गाड़ी से भिजवा दूंगी। श्याम को लिख दूंगी, तेरी बहू हमारे बस की नहीं है!"

दूसरे दिन वीणा लखनऊ चली गई।

चार मास हो गए हैं। वीणा अपने मायके ही है। आज पूरे दो महीने बाद श्याम का पत्र आया है, लिखा है—

'रानी!

अपराध चाहे जिसका हो, माता-पिता सदा ही पूज्य हैं। तुम्हें माता जी से क्षमा मांगनी होगी। मुझे काम बहुत रहता है, इसी से उत्तर में इतनी देर हो जाती है... छुट्टी नहीं मिली, इसीलिए होली पर नहीं आ सका। शेष कुशल है।

तुम्हारा,
श्याम' ❑

—अक्तूबर, 1945

भाषा विज्ञान

•

मंगोल भाषा और देवनागरी

रघुवीर

भारतवर्ष का इतिहास केवल आधुनिक भारतवर्ष के संबंधों तक सीमित नहीं रहा है। इसका विस्तार दूर-दूर तक रहा है। क्या सदा बाहर के ही लोग आकर यहां शासन करते रहे? क्या हमने अपनी हिमालय और समुद्र की सीमाओं से आगे पांव नहीं बढ़ाए? यदि कहा जाए तो अरब, तुर्की और ईरान को छोड़कर सारे एशिया में भारतीय सभ्यता के जीते-जागते प्रमाण विद्यमान हैं।

साधारणतया भारतवर्ष की पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में भारतीय इतिहास का कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं है। अपने साहित्य और देश के विषय में विद्यार्थियों का ज्ञान अधूरा है। भारतवर्ष का साहित्य संसार के किसी साहित्य से भी छोटा अथवा हीन नहीं है। इसके अपने विशेष गुण हैं। जो चमत्कार भारत के मौलिक साहित्य में है, वह हमारे विद्यार्थियों और साहित्यिक व्यक्तियों की आंखों से ओझल होता जा रहा है। इतिहास के विषय में भी यही बात लागू है।

भारतवर्ष का इतिहास केवल आधुनिक भारतवर्ष की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा है। इसका विस्तार बहुत दूर-दूर तक है। 20, 50 विद्वानों को छोड़कर इस बाह्य भारत के इतिहास पर दृष्टि डालने का सौभाग्य बहुत थोड़े लोगों को मिला है। क्या सदा बाहर के ही लोग आकर यहां शासन करते रहे और हमारी स्वतंत्रता को पददलित करते रहे? क्या हमने अपनी हिमालय और समुद्र की सीमाओं से आगे पांव नहीं बढ़ाया? इसका उत्तर भारतवर्ष के ग्रंथ ठीक प्रकार से नहीं देते। जिन ग्रंथों में प्रश्नों का उत्तर मिल सकता था, वे ग्रंथ नष्ट हो गए, उन ग्रंथों का कोई अवशेष नहीं रहा। हमारे सारे प्रमाण विदेशों में ही मिलते हैं। यदि कहा जाए तो अरब, तुर्की और ईरान को छोड़कर सारे एशिया में भारतीय सभ्यता के अत्यंत उज्ज्वल जीते-जागते प्रमाण विद्यमान हैं जो तारस्वर से घोषणा करते हैं—भारती हमारी जन्मभूमि है, भारत हमारा गुरु है।

आज हम अपने पाठकों के सामने एक छोटा-सा अविदित सुगंधित पुष्प भेंट करते हैं। यह पुष्प मंगोलिया नाम के देश से आया है। जैसा वह अपनी उद्भव-भूमि से चला, वैसा का वैसा ही आप के सामने उपस्थित करते हैं।

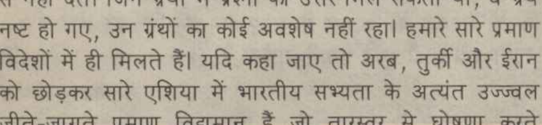

पहचानिए, यदि इसमें कोई भारतीय अंश है। पहली पंक्ति—आलिकालिबिजाहारं—इस अद्‌भुत पुष्प का नाम है। आप इसका अर्थ पूछेंगे। सो दूसरी पंक्ति में चलिए। यह भोटभाषा है। देवनागरी अक्षरों में इनका लेखन इस प्रकार होगा—दब्यङस. गसल. बज़ुगस। अब यदि आप तनिकमात्र यत्न करेंगे तो देवनागरी के साथ तुलना करने से आप भोट का एक-एक अक्षर पढ़ पाएंगे। दव्यङस. गसल. समस्त पद है। समास का विग्रह करने से पूरा रूप दव्यङस. यिग. दब्यङस. गसल. ब्येद 'स्वर और व्यंजन' होगा। बज़ुगस. का अर्थ है 'सन्निवेश करना'; यह पुस्तकों के नामों में प्रयोग होता है। इस सारी पंक्ति का अर्थ हुआ स्वर और व्यंजनों की पुस्तिका। अब तीसरी पंक्ति पर चलिए। यह मंगोल-भाषा में है—'एगेशिग्-उसग् कीगेद् गेइगुलुग्चि-उसुग् उओल् ओरु-शिब।' एगेशिग् का अर्थ 'स्वर', उसुग् का 'वर्ण', कीगेद् 'और', गेइ गुलुग्चि 'व्यंजन', उसुग् 'वर्ण', उओल् 'बहुवचन का प्रत्यय' और ओरु-शिब का 'समाविष्ट' अर्थ है। भोट और मंगोल से स्पष्ट हो जाता है कि आलि का अर्थ 'स्वर', और कालि का अर्थ 'व्यंजन' है। 'बीज' शब्द तंत्रों में वर्णों के लिए प्रसिद्ध है। सो बीजहार का अर्थ हुआ 'वर्णमाला'।

यह हुआ पुस्तक के नाम का विवरण। अब इसके आगे, आओ, पुस्तक का पाठ आरंभ करें। एक बार मंगोल देश के बालकों के साथ बैठकर हम भी अक्षरों का बोध करें।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः।

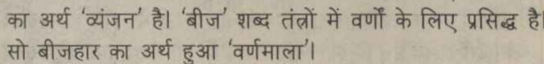

पहली पंक्ति की लिपि का नाम 'लंछ', दूसरी का 'भोट' (तिब्बती), तीसरी का 'मंगोल' अथवा 'ऊइगूर' है। यह साधारण संस्कृत की षोडशाक्षरी ऊपर दिए हुए देवनागरी अक्षरों की सहायता से प्रत्येक पंक्ति का अनुशीलन हो सकता है। सबसे अधिक विचित्र रूप इ ई का है। इनमें से कई अक्षरों का सर्वथा यही रूप भारतवर्ष में से लोप हो चुका है। आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व इन अक्षरों ने भारतवर्ष से मंगोल आदि देशों में प्रवसन किया था।

स्वरों का पाठ करने के पश्चात्, आओ, व्यंजन भी सीख लें।

क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न।

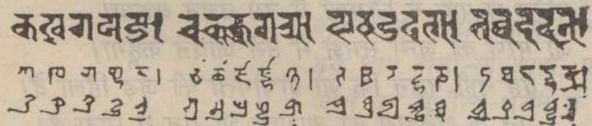

प फ ब भ म। य र ल व। श ष स ह। क्षः ।।

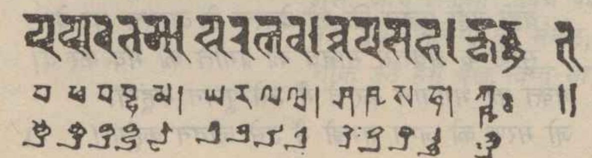

देवनागरी से लंछ अक्षरों का बहुत अधिक भेद नहीं। तिब्बती अक्षर अवश्य पर्याप्त भिन्न हैं। किंतु कठिनाई विशेष रूप से ऊइगूर अक्षर स्मरण करने में पड़ती है। इन अक्षरों की विशेषता और गुर्वर्थता को समझने और समझाने के लिए स्थान कुछ और अधिक चाहिए, इसलिए अभी इनकी व्याख्या न करेंगे।

यह पुस्तिका बहुत लंबी है। प्रत्येक व्यंजन के साथ प्रत्येक मात्रा का निदर्शन तथा दो-दो, तीन-तीन संयुक्त रूप दिए गए हैं। इनको मंगोल आदि देशों के बच्चे बाल्यावस्था में ही सीख जाते हैं।

अब आपको कुछ विचित्र व्यंजन समूहों के रूप दिखलाएंगे। अनभिज्ञ लोगों में यह विचार है कि बहुत-से अक्षरों को मिलाकर ओतप्रोत जटिल रूप देना पश्चिमी आविष्कार है जिसको अंग्रेजी में मोनोग्राम कहते हैं। नीचे चार उदाहरण दिए जाते हैं।

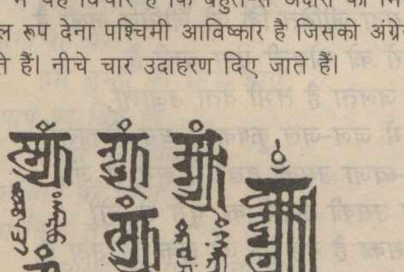

पहला स्म्र्युं और ध्ल्हां, दूसरा त्स्र्युं के दो रूप, तीसरा क्ष्म्र्युं। अंत में हक्ष्म्ल्व्र्यं। प्रतिभाशाली वाचक यत्न करने से एक-एक अक्षर को अलग सुलझा सकेंगे। यह स्मरण रखिए कि मंगोलिया में यह छोटे बच्चों की पाठ्यपुस्तिका है।

लेखक

संस्कृत किस प्रकार से तिब्बती और मंगोल में लिखते हैं, इसका उदाहरण आलिकालिबिजाहारं का अंतिम श्लोक है।

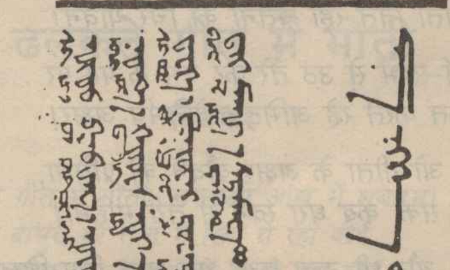

इसका लिप्यंतर एवं होगा:
ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुन्तेषान्तथागतो ह्यवदत्।
तेषाञ्च यो निरोध एवं वादी महाश्रमण:।।
ग्रंथ की समाप्ति 'मंङ्गलं' शब्द से की गई है। ❑

—अक्तूबर, 1945

भारत माता के प्रति

सुमित्रानंदन पंत

हाय, आंसुओं के आंचल से ढंक नत आनन
तू विषाद की शिला बन गई आज अचेतन!

ओ गांधी के धरे, नहीं क्या तू अकाय व्रण?
कौन शस्त्र से भेद सका तेरा अछेद्य तन?

तू अमरों की जनी, मरते-भू में भी आकर
रही स्वर्ग से परणिता, तप-पूत निरंतर!

मंगल कलशों से तेरे वक्षोजों में घन
लहराता नित रहा चेतना का चिर यौवन!

कीर्ति-स्तंभ से उठ तेरे कर नभ के पट पर
अंकित करते रहे अमिट ज्योतिर्मय अक्षर!

उठ, ओ गीता के अक्षण यौवन की प्रतिमा,
समा सकी कब धरा स्वर्ग में तेरी महिमा!

देख, और भी उच्च हुआ अब भाल हिम-शिखर
बांध रहा तेरे अंचल से भू को सागर! ❑

—मार्च, 1948

गीत

बलवीर सिंह चौहान 'रंग'

जो मरण को जन्म समझे मैं उसे जीवन कहूंगा!
वह नहीं बंधन कि जो अज्ञानता में बांध ले मन
और फिर सहसा कभी जो टूट सकता हो अकारण
मुक्ति छू पाए न जिसको मैं उसे बंधन कहूंगा।
जो मरण को जन्म समझे मैं उसे जीवन कहूंगा!
वह नहीं नूतन कि जो प्राचीनता की जड़ हिला दे!
भूत के इतिहास का आभास भी मन से मिटा दे!
जो पुरातन को नया कर दे उसे नूतन कहूंगा।
जो मरण को जन्म समझे मैं उसे जीवन कहूंगा!
वही नहीं पूजन कि जो देवत्व में दासत्व भर दे!
सृष्टि के अवतंस मानव की प्रगति को मंद कर दे!
भक्त को भगवान कर दे मैं उसे पूजन कहूंगा।
जो मरण को जन्म समझे मैं उसे जीवन कहूंगा! ❑

—जनवरी, 1946

गीत

पुष्पा भारती

जीत उसकी ठोकरों को चूम ले जो।
वह सदा जीवित कि जो जीवित जली है,
पत्थरों को फोड़ती गंगा चली है,
दीप जलता है तभी देता उजाला,
धूप में जल-जल कृषक ने धन निकाला,
जय-ध्वजा उसकी दुखों में झूम ले जो।
जीत उसकी ठोकरों को चूम ले जो।
उठ सका है वह कि जो झुक कर उठा है,
युद्धश्री उसकी कि जो फुंककर उठा है,
लक्ष्य उसका मौत से लड़कर चला जो,
धन्य है वह फूल कांटों में पला जो
प्रीति वह है जहर पीकर झूम ले जो।
जीत उसकी ठोकरों को चूम ले जो। ❑

—सितंबर, 1946

कथाकार से

मैथिलीशरण गुप्त

बैठो विविध विषय-निष्णात!
आज कहानी ही होने दो, लो, यह हूंका तात!
बुनो कलापट कथासूत्र से, कलित कल्पना कात,
भंग करे सौ सुर चापों को रंगों की बरसात!
बजती रहे तुम्हारी वाणी वीणा-सी विख्यात,
बनें आप बीती-सी आहा, परबीती भी बात!
जन्में वन में दैत्य-भवन में अमर-सुधा अवदात,
स्वपुरुष उसके लिए प्रकृति के झेले सब उत्पात!
खेले झड़ियों से घड़ियों तक झर झर झंझावात,
झुला जायं झकझोर हृदय को घात और प्रतिघात!
कटे उधर कृतियों का संकट, इधर हमारी रात,
चौंक उठें हम देख स्वप्न-सा, पावें नया प्रभात! ❑

—मई, 1949

बापू की विदा

रामकुमार वर्मा

आज बापू की विदा है!
अब तुम्हारी संगिनी यमुना, त्रिवेणी, नर्मदा है!
तुम समाए प्राण में पर
प्राण तुमको रख न पाए,
तुम सदा संगी रहे पर
हम तुम्हीं को छोड़ आए,
यह हमारे पाप का विष ही
हमारे उर भिदा है!
आज बापू की विदा है!
सो गए तुम किंतु तुमने
जागरण का युग दिया है!
व्रत किए तुमने बहुत अब
मौन का चिर-व्रत लिया है,
अब तुम्हारे नाम का ही
प्राण में बल सर्वदा है!
आज बापू की विदा है! ❑

—मार्च, 1948

ढलकते गीत में मोती

दिनकर

ढलकते गीत में मोती, चमकती आंख में शबनम।
तुम्हारी बांसुरी की तान में छिप रो रहा कोई,
गुलाबी आंख अपनी आंसुओं से धो रहा कोई,
तुम्हारे गीत में तारे झपकते-झिलमिलाते हैं,
कमल, मानो, सरोवर में निकलते—डूब जाते हैं,
मनाती हो चिता के पास जैसे चांदनी मातम।
कहीं से सात रंगों में नहा कर वेदना आई,
उदासी या किसी गम की उषा के लोक में छाई,
तुम्हारी मूर्च्छना ऐसी की जैसे प्राण हिलते हों,
किरण-सी फूटती, मानो, तिमिर में फूल खिलते हों,
अंधेरी रात में यह बज रही है ज्योति की सरगम। ❑

—सितंबर, 1949

कहानी

अमर बेलि

भैरव प्रसाद गुप्त

मैं उन्हें दादी कहता और वह मुझे बेटा। यही कहने-सुनने का रिश्ता था मेरा और उनका दुनिया की नजरों में।

न जाने कितनी बार मैंने उस क्षण को पकड़ने की कोशिश की है, जब पहले-पहल मैंने उन्हें दादी कहा था। घटनाओं के जालों में उलझना, यादों के हुजूम से टकराता तेजी से बीते काल की ओर बढ़ा हूं, लेकिन देखा कि स्मृतियों का प्रकाश धीरे-धीरे मद्धिम हो जाता है, और इसके पहले कि मैं मंजिल तक पहुंच सकूं, वह एक ऐसे अंधकार के महागर्त के किनारे ले जाकर छोड़ देता है, जिसमें जीवन की बाकी सब घटनाएं सदा के लिए दफन हो गई हैं। फिर भी, क्योंकि वह क्षण मुझे प्यारा है, कई बार असफल रहने पर भी मैं कोशिश से बाज नहीं आता। आंखों को हद से ज्यादा फाड़कर देखता हूं कदाचित उस गहन अंधकार में भी किसी खोई किरण का सहारा मेरी दृष्टि को मिल जाए, जिससे वह उस क्षण की झलक मात्र भी पा सके। कह नहीं सकता कि यह मेरी कोशिशों का नतीजा है, या उस अंधकार में उड़ते परमाणुओं की आपसी रगड़ का, कि कभी-कभी उस गर्त में तारों-से कुछ झिलमिला उठते हैं, और उनके क्षणिक, सूक्ष्मतम प्रकाश में भी मेरी दृष्टि जैसे अंधकार को चीर कुछ अंदर तक घुस जाती है।

बरसात आते ही सहन में खड़े उस इमली के पेड़ पर हरा परिधान फैल जाता। उसके खोखले तने लूली डालियों और सूखी-सी टहनियों को नन्ही-नन्ही पत्तियों की हरियाली ढंक लेती। हरी सुषमा पाकर वह झूम उठता, और आस-पास वातावरण में उसकी मंद-मंद मुसकान बिखर जाती। दादी दालान में झिलंगे खटोले पर बैठे-बैठे अपनी आंखों से उसकी हरियाली का रस पीतीं। उनकी गहरी सुर्मई आंखों में सरोवर के निर्मल जल की तरह वह हरीतिमा तरल हो झिलमिला उठती। और तब, न जाने क्यों, दादी की पलकें डबडबाती, झुक जातीं, और फिर चलने लगतीं उनकी पतली-पतली उंगलियां जीवन की जाली बुनती कपड़ों के टुकड़ों पर। सवेरे से ही उनका झिलंगा खटोला उस सीड़न-भरे दालान में पड़ जाता। सिरहाने एक मैला तकिया रहता और उससे कुछ हटकर उनका पुराना पानदान। पैताने एक बड़ी-सी डलिया होती, जिसमें रंग-बिरंगे कपड़ों के टुकड़े, कतरनें, कैंची, सुई-धागे का बटुआ और कुछ कांच के बटन पड़े रहते। और बीच में धंस जातीं—दादी दीवार से सटकर। और तब जान पड़ता कि दादी अपना समस्त संसार लिए खटोले पर आ बैठी हैं, और अब दिन भर उनको हिलने-डुलने की कोई जरूरत नहीं पड़ेगी। और शुरू हो जाता उनका जीवन-धंधा। सीते-सीते जब उंगलियां थक जातीं, तो वह पानदान खोलतीं, और पान के टुकड़े पर चूना और कत्था पोत सरौते से काटकर डली रखतीं, और चुटकी-भर तमाकू डाल मुंह में दबा लेतीं। काम करते-करते जब आंखें जलने लगतीं, तो सुई को कपड़ों में खोंस डलिया में डाल देतीं और देखने लगतीं इमली की ओर। इमली की हरियाली जैसे उनकी आंखों में ठंडक उंडेल देती। उनका मुरझाया चेहरा हरा हो जाता, और फिर जुट जातीं वह काम में। सैकड़ों लोग उधर से आते-जाते, मगर उनकी नजर किसी की ओर न उठती। बस, चलती रहती उनकी नन्ही सुई जीवन के तार से जोड़ती कपड़ों के टुकड़ों पर।

दोपहर के बाद घर-गृहस्थी के कामों से फुरसत पा गांव की किसान औरतें और मजदूरिनें बाल-बच्चों को लिए पहुंच जातीं। दादी का ओसारा चहल-पहल से भर जाता। वह उनके सुख-दुख सुनतीं और अपनी सुनातीं।

इमली की छाया सिमटकर जड़ों में समा जाती। हरियाली सूरज के मुड़ते ही अलसा कर कुछ फीकी-सी पड़ जाती। कांव-कांव करते कुछ कौए इधर-उधर से टहनियों पर आ जुटते, और तनिक देर के लिए उन अलसाए क्षणों को झकझोर कर कोलाहलमय कर देते। इमली जैसे जम्हाई लेती अपनी टहनियों को कुछ फैला देती, और कौए पर समेटे हरियाली के आंचल में दुबक जाते। चारों ओर एक सन्नाटा-सा छा जाता कि पास की मसजिद से मुअज्जिन पुकार उठता—'अल्लाहो अकबर।'

दादी का सिर उठता। सुई को विश्राम मिलता। कमर थामे वह खटोले से उठतीं, और ऐंठी हुई जूतियों को किसी तरह पंजों से घसीटती आंगन में पहुंचतीं। मिट्टी के बधने में घड़े से पानी उंडेल वुज़ू करके नमाज पढ़तीं।

बादलों की गहरी छाया में इमली का धुला रंग और भी निखर गया था। भीगी हवा धीरे-धीरे उसकी पत्तियों को सहला रही थी, और पुहियों की हल्की बौछार हरियाली को गुदगुदा रही थी, मैं कुछ गुनगुनाहट-सी सुन ओसारे में ही ठिठक गया, और दबे पांव कुछ हटकर दरवाजे

की बगल से जो झांका, तो देखा, दादी कुछ मगन-सी गुनगुनाए जा रही थीं, और उनकी उंगलियां टप-टप टांक रही थीं रुपहले और सुनहले सलमे चटक गुलाबी दुपट्टे में। सारा दालान जगमगा उठा था जैसे खटोले पर एक गुलाबी धारा फूट पड़ी हो, और उसमें सोने-चांदी की चमकती मछलियां आंखमिचौनी खेल रही हों।

मैं रुक गया। शायद इस अस्फुट गुनगुनाहट में कोई तान फूट निकले, और कदाचित मैं सुन सकूं दादी के जीवन का भूला-सा गाना। मिनटों कान लगाए खड़ा रहा, किंतु बेकार। कहीं बरफ की सतह पर भी लहरों का कलकल सुनने में आया है? काश, मैं गुनगुनाहट की भाषा समझ सकता!

आखिर मैंने दीवार को थपथपाया। अंदर से दादी की आवाज आई—"कौन है रे?"

मुझे दिल्लगी सूझी। मैंने फिर दीवार को जरा जोर से थपथपा दिया। दादी, 'कौन है रे? बोलता क्यों नहीं?' कहती जरा हड़बड़ाई-सी उठने को हुई कि मैंने सोचा, दादी को नाहक तकलीफ क्यों दूं। आगे बढ़ कर कहा—"दादी, सलाम!"

दादी संभल कर बैठी, सिर हिलाती हुई बोली—"है न शरारती तू!" और मैंने देखा कि दादी की बड़ी सिकुड़ी आंखों में दुपट्टे की गुलाबी मुस्कुरा उठी थी, और उनके सफेद चेहरे पर गुलाबी धारियां झिलमिल कर रही थीं, जैसे बरफ की सतह पर उषा की किरणों के तार चमक रहे हों।

न जाने कब और क्या-क्या मेरी खोई आंखें उनके चेहरे की आभा में पढ़ती रहीं कि दादी बोल उठीं—"क्या देखता है रे? आज बड़ा गुपचुप-सा लग रहा है।"

"मैं...मैं...देख रहा था उस दुपट्टे को। कितना हल्का-फुल्का, कैसा खुशनुमा है यह! और ये...ये सलमे तो जैसे तारों को मात कर रहे हों! भला है किसका यह?"

"क्या करोगे यह जानकर?" एक मंद मुस्कान के साथ पूछ बैठीं दादी।

"यों ही सोच रहा था कि इतना कीमती दुपट्टा भला इस गरीबों के गांव में हो ही किसका सकता है? और इतने दिलकश दुपट्टे के लायक तो इधर कोई नजर भी नहीं आती। मुझे लगता है कि आकाश से उड़ती जा रही किसी परी का उड़कर इस खंडहर में आ गिरा है!"

"हां, है यह एक चांद-सी सूरत वाली परी का ही, जो दुपट्टे के साथ खुद भी आ टपकी है; खंडहर में नहीं, बल्कि रूपमहल के आंगन में।"

"यह क्या कहती है, दादी? खंडहर में बैठी कहीं रूपमहल का सपना तो नहीं देख रही?"

"ऊं-हूं, दादी सपने की बातें नहीं करती, सच कहती है।"

"सच कह रही है? तो बता न, कहां है वह रूपमहल और कहां है वह रूप की रानी?"

"मैं नहीं बताती! ऐसी बातें क्या यों ही बताई जाती हैं?" कहकर दादी मेरी ओर कनखियों से देखने लगीं।

मैं समझ गया कि दादी मेरी उत्सुकता से बेजा फायदा उठाना चाहती हैं। इसलिए यों ही कह दिया—"तो फिर जाने दो। मुझे उससे लेना-देना क्या है, जो फेर में पड़ूं।"

"अरे रे, ऐसा न कहो!" आंखों को फाड़ते सिर हिलाते बोल उठीं—"तुम्हें उससे बहुत-कुछ लेना-देना है, समझे?"

"मुझे?"

"हां-हां, तुम्हें!"

"भला वह कैसे?" मैंने उत्सुकता से पूछा।

"वह यों कि वह रूपमहल में रहती है, वह रूप की रानी है। और है वह तुम्हारी दुल..." और खिलखिलाकर हंस पड़ीं दादी। खुशी के मारे उनका चेहरा चमक उठा, और आंखों में हर्ष की बूंदें झलक पड़ीं।

मैंने देखा और मुंह लटकाकर चुप हो गया।

अपनी आंखें पोंछ दादी ने मेरी ठुड्डी उठाते हांफती आवाज में पूछा—"क्यों रे, शरमा गया क्या?"

और मैंने सिर झकझोरते रुठाकर-सा कहा—"चलो, हटो, दादी, ऐसी दिल्लगी मुझे अच्छी नहीं लगती।"

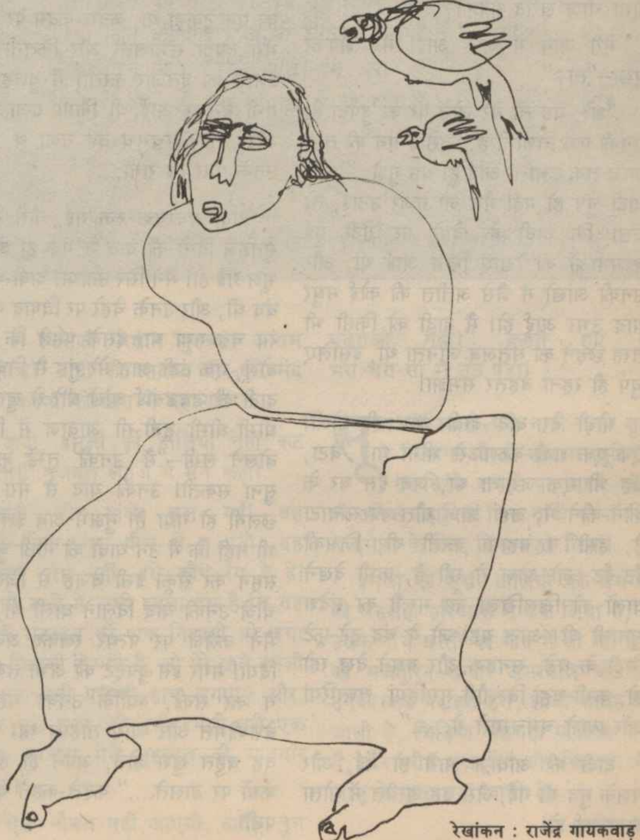

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

"अरे, वाह! मैं क्या दिल्लगी कर रही हूं?" प्यार से बोलीं दादी।

"और नहीं तो क्या? कहां मेरी दुलहन और कहां यह दुपट्टा? वह बेचारी देहातन क्या जाने दुपट्टा-शलवार? और फिर हम लोगों के यहां यह सब पहनने का चलन भी तो नहीं है।"

"चलन हो या न हो, वह जाने या न जाने, तुम्हारी दादी तो जानती है न!"

"दादी!" मैं जोर से चीख उठा, यह ख्याल करके ही कि कहीं दादी ने यह दुपट्टा तैयार करने में अपनी सारी निधि तो नहीं लुटा दी। मगर मेरे चीखने का असर दादी पर कुछ न पड़ा। उनकी मुद्रा धीरे-धीरे कुछ गंभीर हो गई।

मैं अवाक्-सा उनकी ओर देखने लगा। उन्होंने अपनी छलकती आंखें उठाईं। मेरी आंखें झुक गईं। मैंने उनकी भर्राई आवाज सुनी—"पागल, देखता नहीं यह पुराना है। तेरी दादी के पास खजाना रखा है, जो वह ऐसी चीज खरीद सकेगी?"

मेरी जान में जान आई। मैंने झेंपकर पूछा—"तो?"

"अरे, यह तो मेरे जोड़े पर का दुपट्टा है। उनकी एक निशानी है, जिसे ईमान की तरह आज तक बचाती आई हूं। यह मुझे..." और दादी चुप हो गईं। मैंने जो नजर उठाई, तो देखा कि दादी के चेहरे पर रौंदी हुई कामनाओं की रेखाएं खिंच आई थीं, और उनकी आंखों में जैसे अतीत की कोई मधुर याद उभर आई हो। मैं दादी को किसी भी तरह छेड़ने का मतलब जानता था, इसलिए चुप ही रहना बेहतर समझा।

थोड़ी देर बाद दादी आप ही बोलीं। एक-एक शब्द करुणा से भीगा था, "बेटा, वह भी एक जमाना था, जब इस घर के कोने-कोने में, जहां आज मौत का सन्नाटा है, हंसी चहचहाया करती थी, जिसकी ईंट-ईंट, जो आज रो रही है, कभी देखने वालों को खिलखिला कर मस्ती का संदेश सुनाती थी! आज यहां जो ये चंद टूटे-फूटे मिट्टी के घड़े, सनहक और बधने देख रहो हो, कभी यहां बिल्लौरी सुराहियां, तश्तरियां और प्याले चमचमाते थे......"

दादी की आवाज भारी हो गई, और पलकें मुंद-सी गईं, जैसे वह अतीत में गोता लगा गई हों।

लेखक

तनिक देर में उनके अधर फिर सजीव हो उठे। वह बोलीं—"उस वक्त, बेटा, तुम नहीं थे। वह दिन जैसे आज भी मेरी सूनी जिंदगी में एक बड़े सितारे की तरह चमक रहा है, जब पहले-पहल दुलहन बन मैं इस घर में आई थी। घर क्या था जन्नत का एक टुकड़ा था, कदम-कदम पर लौंडियां मेरा दुपट्टा संभालतीं और कितनी ही मेरे इशारों का इंतजार करतीं। मैं दुलहन क्या, रानी बनकर आई थी किसी राजा के घर! और, बेटा, सचमुच वह राजा थे, और मैं उनके प्यार की रानी...."

दादी यकायक रुक गईं, जैसे वह उन सुनहले दिनों की याद में गर्क हो अपने को भूल गईं हों। मैंने सिर उठाया। दादी की आंखें बंद थीं, और उनके चेहरे पर विषाद का गहरा रंग चढ़ गया था। इसके पहले कि मैं कुछ बोलूं, एक ठंडी आह मेरे मुंह से निकल गई। दादी की डबडबाई आंखें धीरे से खुलीं, और धीमी-धीमी डूबी-सी आवाज में फिर वह बोलने लगीं—"मैं 'उनकी' तुम्हें कुछ नहीं सुना सकती। उनकी याद से मेरा कलेजा छलनी हो गया है। मुझमें अब इतनी ताब भी नहीं कि मैं उन यादों की मीठी चुभन भी सहन कर सकूं। इसी वजह से जितनी भी चीजें उनकी याद दिलाने वाली थीं, सबको मैंने कलेजे पर पत्थर रखकर अलग कर दिया। मगर इस दुपट्टे को अभी तक अलग न कर सकी, क्योंकि उनका यह सबसे बेशकीमत और प्यारा तोहफा था। इसे जब वह बहुत खुश होते, अपने ही हाथों मेरे कंधों पर डालते...." कहते-कहते दादी फूट पड़ीं।

मैं अपने को और अधिक रोक न सका। हृदय की उमड़ती व्यथा के आवेग में बोला, "दादी! दादी!"

लेकिन दादी पाषाण-प्रतिमा-सी अचल रहीं। मैंने उनके हाथों को पकड़कर झकझोरते हुए कहा—"दादी! दादी! तुम इस...."

बीच में ही दादी धीरे से बोल पड़ीं—"तुम इस वक्त जाओ, मुझे अकेला छोड़ दो! नाहक तुम यह न सोचना कि दादी को, जो वह करने जा रही है, उससे, तनिक भी दुख होगा। वह अपनी चांद-सी प्यारी बहू को अपनी सबसे प्यारी चीज मुंह दिखाई में देने जा रही है। वह उनकी याद मेरे बाद भी बनाए रहेगी!" और दादी ने हाथ उठा मुझे जाने का इशारा किया।

मैं बहुत-कुछ चाहकर भी कुछ न बोल सका। दादी ने जर्जर किवाड़ों को बंद कर लिया। बाहर आते ही मेरी नजर इमली पर पड़ गई। मुझे लगा कि उसकी एक-एक पत्ती दादी के घर की ओर हसरत-भरी निगाहों से देख रही थी।

उस दिन इमली के नीचे बहुत-से लोग जमा थे। नगाड़े बज रहे थे। मुसलमान लोग करबला की याद को ताजा कर रहे थे।

मैं दादी के दरवाजे की ओर मुड़ा। देखा, तो किवाड़ भिड़े थे। सिर टेककर दरारों से मैंने अंदर झांकना चाहा कि दरवाजा भड़ाम से खुल गया। मैं गिरते-गिरते बचा। अंदर ओसारे में दादी पैर लटकाए खटोले पर कुछ गुमसुम-सी बैठी थीं। मेरा माथा ठनका कि आखिर बात क्या है, जो दादी यों बैठी हैं! मैंने पास जा सलाम किया। उन्होंने जाने का इशारा किया, और फिर चुप हो गईं। उनकी आंखें फैली हुई थीं, चेहरा कुछ लाल-सा हो रहा था और रह-रहकर नथुने कुछ फूल-से जाते थे।

कुछ देर बाद मैंने ही छेड़ा—"दादी!"

बोलना क्या, दादी ने मुड़कर मेरी ओर देखा तक नहीं। मैंने सोचा, आज रंग कुछ बेढब है। फिर कहा—"दादी, अचरज है कि आज सब्र के दरिया में उफान-सा नजर आ रहा है।"

"उफान!" आंखें मेरी ओर तरेरते दादी बोल उठीं—"उफान क्यों न उठे? तुमने कुछ सुना नहीं?"

"सुना होता, तो अचरज क्यों करता?"

"अच्छा, तो सुन लो कि इमली की डालियां आज कटने जा रही हैं।"

"इमली की डालियां कटने जा रही हैं! आखिर क्यों?"

"क्योंकि नजीर मियां की आंखों में यह खटक रही है। वह मेरे घर के सामने इसे हरा-भरा नहीं रहने देना चाहता!"

"क्यों?" मैंने आश्चर्य से पूछा—"इसने उनका क्या बिगाड़ा है? यह कौन हैं नजीर मियां?"

दादी ने हवा में हाथ उठा, उंगलियों को एक अजीब अंदाज से नचाकर कहा—"कहता है, इमली की वजह से ताजिया ले जाने में रुकावट पड़ रही है। तुम नहीं जानते इस नजीर को? यह वही है, जिसने 'उनको' जहर देकर मेरी सुहाग की दुनिया लूट ली; जिसने मेरी जर-जायदाद को हड़पकर मुझे खंडहर की भिखारिन बना दिया; जिसने मेरे इकलौते लड़के को, जिसे सब कुछ बचा-बचाया लुटाकर मैंने पाला-पोसा, कपड़े सी-सी कर, खुद सत्तू चाट-चाटकर तालीम दिलाई, अपना दामाद बनाने का लालच दे, उसे गुमराह कर मुझसे छीन लिया और मेरी जिंदगी का आखिरी सहारा भी बेदर्दी से छीन लिया और मुझे जिंदगी की अंधेरी राह में अकेले बिलख-बिलखकर रोने और तड़पने के लिए छोड़ दिया। जानते हो, उसने यह सब क्यों किया?" दादी का दुबला-पतला शरीर कांपने लगा, और आवाज बेकाबू होने लगी—"क्योंकि 'उनके' बाद वह मुझसे निकाह करना चाहता था। दोजखी कुत्ता!" कहकर दादी ने थूक दिया। नफरत के मारे उनका चेहरा बिगड़-सा गया।

मैं एक लंबी सांस में जैसे एक कड़वा घूंट पीकर रह गया।

दादी फिर बोलीं—"अब हर तरह से मुझे परेशान करने और तकलीफ पहुंचाने की सोचा करता है। उसकी बेशर्म आंखों में अब मेरी इमली की डालियां खटक रही हैं। वह इन्हें आज कटवाने पर ही तुला है। मगर वह नहीं जानता कि इमली का पेड़ किस पाक घड़ी की याद में रोपा गया था, किन अरमानों का पाला-पोसा है, और इसके ठंडे साए में किसकी परेशान मुहब्बत आराम करती है।" दादी की आवाज धीरे-धीरे मंद होकर करुणा की धारा में बह गई।

"दादी, इमली की डालियां नहीं कट सकतीं।" मजबूत लहजे में मैंने कहा।

दादी की आंखें खुल गईं। वह बोलीं—"बेटा, तुम बीच में न पड़ो! वह मक्कार, पता नहीं, इसे कौन रंग दे दे। तुम्हारी दादी में अभी इतना दम है कि वह अपनी मुहब्बत की पाक निशानी को बचा सके। किसकी हिम्मत है, जो मेरे रहते इमली की एक पत्ती पर भी हाथ लगाए? और, अगर कुछ हुआ, तो इसी इमली-तले एक दूसरा करबला मेरी मुहब्बत की यादगार बनेगा।"

"ऐसी नौबत नहीं आएगी, दादी! तुम घबराओ नहीं!" कहते हुए कुछ भरा-भरा-सा मैं उठ पड़ा।

सूत की स्याही-भरी नन्ही-नन्ही सुइयों से किसान औरतों और मजदूरिनों के रंग-बिरंगे कपड़ों पर अपने जीवन की अनेक कहानियां लिख दादी की उंगलियों ने हमेशा के लिए विश्राम ले लिया।

इमली की सूखी डालियों को अमरबेलि की लहलही हरियाली ने ढंक लिया है, और उसके नीचे धरती की गोद में सो रही है सुई की मजदूरिन—दादी। अमरबेलि की छाया उनकी कब्र पर हरी-हरी, झीनी चादर बिछा जाती है, चिड़ियां चहचहा फातिहा पढ़ती हैं, और गरीब मजदूरिनें और किसान औरतें आंसू के फूल चढ़ा जाती हैं।

—अप्रैल, 1947

कविता

स्मरण रहे वह बात

नरेशकुमार मेहता*

स्मरण है वह बात?
जो तुम्हें मैंने कही उस रात!
मुझको जिंदगी के सकल संकल्पों विकल्पों बीच
होगी खींचनी सौमित्र की-सी रेख।
वही दिन,
आ रहा है, आ गया है प्राण!
देखो खोल आंधी औ' बगूले पंख अपने,
नयन में अंगार, भस्मीभूत करने,
उसी दिन की नील परछांई गगन पर गिर रही है,
उसी दिन की प्राण! आंधी घंटियां तुम सुन रही हो?
उसी दिन के मोरपंखी झांवरे रंग अंग
जलती जून की इस दोपहर से हो गए हैं □

—नवंबर, 1951

**** प्रारंभ में नरेश मेहता की रचनाएं इसी नाम से छपा करती थीं।***

ज्योतिष

ज्योतिष के क्षेत्र में हिंदू-मुस्लिम संपर्क

हजारी प्रसाद द्विवेदी

गणित और फलित ज्योतिष के क्षेत्र में हिंदू-मुस्लिम संपर्क कैसा गंभीर रहा है, यह बात शायद बहुत कम लोग ही जानते हैं। कुछ लोग इतना तो जानते हैं कि हिंदू ज्योतिष के कई ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ था, पर अरबी ज्योतिष के अनेक पारिभाषिक शब्द और विचार-पद्धतियां भी संस्कृत ग्रंथों में गृहीत हुई हैं, यह बात लोग एकदम नहीं जानते। इस विषय की चर्चा प्रायः नहीं के बराबर ही हुई है। होना वांछनीय है।

सन् 771 ई. में भारतीयों का एक जत्था बगदाद गया था। उसी के एक विद्वान सदस्य ने अरबों को 'ब्रह्मस्फुट सिद्धांत' से परिचित कराया। यह ग्रंथ ब्रह्मगुप्त नामक प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषी का लिखा हुआ है। अरब लोग इसे 'अस्-सिंद-हिंद' कहते हैं। इब्राहीम इब्न हबीब अल फजारी ने इसी ग्रंथ के आधार पर मुस्लिम चंद्रवर्ष के लिए अपनी सारणी बनाई थी। 'ब्रह्मस्फुट सिद्धांत' तथा एक अन्य भारतीय ज्योतिषी की गणना के आधार पर याकूब इब्न तारिक ने अपना 'तरकीब-अल-अफ्लाक' (गोलाध्याय) लिखा। यह दूसरा ज्योतिषी सन् 161 हिजरी में अरब की ओर गया था। इसका नाम अरबों ने क्-न्-म्-ह् लिखा है। ब्रह्मगुप्त का एक दूसरा ग्रंथ 'खंडकखाद्य' भी 'अल्-अरकंड' नाम से अरबी में अनूदित हुआ था। अल फजारी और याकूब इब्न तारिक के समसामयिक अबुल हसन अल अहवाजी ने अरबों को भारतीय ग्रहगणित अल-अर्जमंद (आर्यभट्ट का ग्रहगणित) का परिचय कराया। सन् ईसवी की ग्यारहवीं शताब्दी के अंत तक हिंदू ग्रंथों के अनुकरण पर मुसलमान ग्रंथ लिखते रहे। कुछ अरब ज्योतिषी (हब्श-अननैरीजी, इब्न-अस् सबाह आदि) भारतीय प्रणाली और अरब तथा ग्रीस की सामग्रियों का उपयोग करके नए ग्रंथ लिखते रहे। एक अन्य श्रेणी के ज्योतिषयों ने भारतीय युगमान के आदर्श पर लंबे-लंबे युग वर्षों की कल्पना पर ग्रंथ लिखे। इनमें मुहम्मद-इब्न-इसहाक-अस् सरासी, अबुल वफ़ा, अल बेरुनी तथा अल हजीनी का नाम उल्लेखनीय है (एन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलिजन एंड एथिक्स, 112 वीं जिल्द, पृ. 95)।

अरबों ने भारतीय ज्योतिष और गणित शास्त्र को स्वयं ग्रहण ही नहीं किया, सारे यूरोप में उसे फैला भी दिया। भारतीय ज्योतिषियों के साथ उनका दशगुणोत्तर अंकक्रम भी बगदाद पहुंचा था। नौवीं शताब्दी के प्रारंभिक समय में अबू ज़फर मुहम्मद अल खारिज्मी ने उक्त दशगुणोत्तर क्रम का विवेचन किया और तब से अरब में यह क्रम प्रतिष्ठा पाता ही गया। यह पूरा अंकक्रम ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में अरबों ने यूरोप को सिखाया। इस क्रम से बना हुआ सारा अंकगणित अलगोरिद्मस (अलैगोरिथ्म) नाम से प्रसिद्ध हुआ जो वस्तुतः अरबी गणितज्ञ 'अल खारिज्मी' के नाम का ही यूरोपियन रूपांतर है।

अनुमान किया गया है कि परवर्ती काल में दशगुणोत्तर अंकक्रम में गुणन-क्रिया को सरल बनाने के लिए जो 'लोगोरिथ्म' पद्धति प्रचलित हुई वह इसी शब्द से संबद्ध है। कुछ लोग ग्रीक 'लोगस' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति बताते हैं। परंतु पूर्ववर्ती अनुमान यदि ठीक है तो एक अत्यंत मनोरंजक संबंध का स्मरण हो जाता है। लोगोरिथ्म शब्द को संस्कृत के आधुनिक गणित ग्रंथों में 'लघुरिक्थ' नाम दिया गया है। यह नाम स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी का दिया हुआ है। जिस अरबी पंडित ने भारतीय अंकविद्या का प्रचार यूरोप में किया था उसका नाम नानाभाव से बदलता हुआ भारतीय अंकगणित की एक शाखा का नाम हो गया।

अरबी में हिंदुओं से गृहीत इस अंकक्रम को 'हिंदसे' कहते हैं। अलबेरूनी ने लिखा है कि हम लोग जिन अंकों का व्यवहार करते

लेखक (बाएं) राहुल सांकृत्यायन के साथ

हैं, वे हिंदुओं के सबसे सुंदर अंकों से लिए गए हैं। दसवीं शताब्दी के नाना घाट वाले लेख में पाए गए अंक उसी समय की 'शीराज' में लिखी हुई एक अरबी पुस्तक में पाए जाने वाले अंकों से प्रायः ज्यों के त्यों मिलते हैं। महामहोपाध्याय पं. गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा कहते हैं कि 'शीराज' वाली पुस्तक के अंक वस्तुतः नागरी ही हैं, उसमें केवल 4 अंक को टेढ़ा और 7 को उलटा लिखा है, बाकी कोई अंतर नहीं है (प्राचीन लिपि माला, पृ. 119)। ऐसा जान पड़ता है कि पंद्रहवीं शताब्दी में अरब और भारत का यह संबंध भुला दिया जा चुका था। फीरोज-अबदि नामक भाषा विज्ञानी पंडित ने 'हिंदसे' शब्द की व्युत्पत्ति 'अंदाजह' शब्द से बताने का प्रयास किया था।

भारतवर्ष में फलित और गणित दोनों के लिए ज्योतिष शब्द का व्यवहार हुआ है। अरब में भी एक ही 'इल्म-अन-नजूम' शब्द दोनों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। मुसलमान ज्योतिषी यद्यपि ग्रीस, भारतवर्ष और ईरान से प्राप्त ज्योतिष विद्या के आधार पर ही अपनी गणना करने लगे थे, परंतु बाद में उन्होंने ज्योतिष की आश्चर्यजनक उन्नति की। उन्होंने अक्षांश-देशांतर, चरसंस्कार और उदयास्त के सूक्ष्म अध्ययन से अनेक सूक्ष्म गणनाओं को जन्म दिया। यह गणना दीर्घकाल तक यूरोप को प्रभावित किए रही। भारतवर्ष में मुसलमानों के साथ राजनीतिक संघर्ष स्थापन के पूर्व ही ज्योतिष के क्षेत्र में दोनों ही देशों में एक ही प्रकार की विचार-पद्धति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। मुसलमान धर्म में रात्रिकालीन प्रार्थना के लिए सायं-गोधूलि के अंत से लेकर प्रातःकालीन गोधूलि के आरंभ का मध्यवर्ती समय प्रशस्त माना गया है और मक्का की ओर मुंह करके प्रार्थना करने का विधान है। इसीलिए मुसलमान ज्योतिषियों ने गोधूलिकाल का यथार्थरूप में निर्णय करने और मक्का की ठीक दिशा निकालने के लिए बड़ा परिश्रम किया। इससे विभिन्न स्थानों का अक्षांश-देशांतर, चरसंस्कार और उदयास्त जानने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। आगे चलकर भारतीय ज्योतिष में भी ये बातें गृहीत हुईं।

वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया हैः (1) तंत्र अर्थात् अंकगणित, बीजगणित, ग्रहगणित आदि, (2) होरा, अर्थात् जन्मकालीन ग्रहस्थिति पर से फल बताना, और (3) संहिता अर्थात् आकाशस्थ ग्रहस्थिति और अन्य घटनाओं के आधार पर समस्त जगत को प्रभावित करने के बारे में फलादेश। इनमें 'होराशास्त्र' ग्रीक लोगों के संसर्ग से पुष्ट हुआ है। इस शास्त्र में होरा, द्रेक्काण, आहोवलम, हिबुक, पणफर आदि 36 पारिभाषिक शब्द ग्रीक भाषा से ग्रहण किए गए हैं। संहिता विशुद्ध भारतीय विज्ञान है। तंत्र भी मूलतः भारतीय है। मुहूर्त विचार कर शुभ कर्म करना इसी संहिता शाखा का एक विकसित अंग है, जो आगे चलकर स्मार्त निबंधों से अधिक संबद्ध हो गया।

मुसलमान ज्योतिषी इन तीन विभागों के अतिरिक्त दो और विभाग बताते हैं—मसाइल या प्रश्न विद्या और इहतियारात अर्थात् मुहूर्तशास्त्र। मुहूर्तशास्त्र अधिकांश में भारतीय मुहूर्तशास्त्र जैसा ही है। परंतु प्रश्नतंत्र भी यद्यपि भारतीय ज्योतिष में पृथक् विभाग के रूप में गिनाया नहीं गया है, तथापि भारतीय ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण अंग रहा अवश्य है। ऐसा जान पड़ता है कि वराहमिहिर के युग में (शाके 5 म शतक) यह उतना महत्त्वपूर्ण अंग नहीं बना था। वराहमिहिर के पुत्र की लिखी बताई जाने वाली एक प्रश्नशास्त्रीय संदिग्ध पुस्तिका पाई जाती है। इसका नाम 'षट् पंचाशिका' है।

वस्तुतः मुस्लिम संपर्क के बाद भारतीय फलित ज्योतिष में दो नए अंग और जुड़े हैं। एक ताजक या ताजिक शास्त्र और दूसरा रमल विद्या। ताजक का अर्थ है अरबी। सुना है, ईरान के लोग अरब वालों को ताजक कहा करते थे। इस प्रकार ताजक शास्त्र का अर्थ हुआ अरब लोगों से प्राप्त शास्त्र। संस्कृत में इस विषय पर दो दर्जन से अधिक पुस्तकें पाई जाती हैं। सब छपी नहीं हैं। सबसे अधिक प्रचारित पुस्तक नीलकंठ भट्ट की लिखी हुई 'ताजक नीलकंठी' है। यह पुस्तक काशी और बंबई से कई बार छप चुकी है। इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है वर्षफल और मासफल आदि। होरा शास्त्र में किसी व्यक्ति के जन्म के समय की ग्रहस्थिति पर से उसके संपूर्ण जीवन का शुभाशुभ फल बताया जाता है, परंतु ताजक या ताजिक शास्त्र में उस व्यक्ति के नवीन वर्ष और मास में प्रवेश करने की ग्रहस्थिति पर से उसके समूचे वर्ष और मास का फल बताया जाता है। ताजिक शास्त्र में जिन योगों की चर्चा है, वे अरबी के शब्द हैं। उदाहरणार्थ, इकबाल या इक्कबाल, इंदुवार, इत्थशाल, ईसराफ, नक्तं, यमया, मणऊं, कंबूल, गैरिकंबूल, खल्लासर, रद्द, दुफालिकुत्थ, दुत्योत्थदिबीर, तंबीर, कुत्थ, दुरुफ—ये सोलह योग वस्तुतः अरबी शब्दों के संस्कृत रूपांतर मात्र हैं। नीलकंठ ने इनके विस्तृत लक्षण अपनी 'ताजिक नीलकंठी' के दूसरे अध्याय में दिए हैं। यदि कंटक और फणकर में अर्थात् लग्न से प्रथम-चतुर्थ-सप्तम-दशम और द्वितीय-पंचम-अष्टम-एकादश स्थानों में सभी ग्रह वर्षप्रवेश के समय हों तो इकबाल योग होता है, जो राज्य-सुख का कारण होता है। (ता.नी. 2.17)। लेकिन यदि सभी ग्रह आपोक्लिम (तृतीय-षष्ठ-नवम-द्वादश) में हों तो फिर इंदुवार योग होता है जिसे ताजिक शास्त्र ने किसी भी अवस्था में शुभ नहीं माना है—न स्याच्छुभः क्वचन ताजिक शास्त्रगीतः। इसी प्रकार अन्य योगों के लक्षण भी दिए हुए हैं।

इन पुस्तकों में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय प्रश्नतंत्र होता है। प्रश्नतंत्र मुस्लिम ज्योतिष की अत्यंत महत्त्वपूर्ण शाखा है। रमल शब्द भी अरबी रम्माल का संस्कृत रूपांतर है। इस शास्त्र को भी प्रश्नतंत्र से संबद्ध समझा जा सकता है। इसमें भी अरबी के अनेक शब्द गृहीत हुए।

जब मुसलमान लोग इस देश के शासक हुए तो उन्होंने इस देश में अपना हिजरी सन् चलाया, परंतु शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि फसलों की नियमित उपज के हिसाब से चांद्र वर्ष उपयुक्त नहीं है। इस देश के ज्योतिषियों की मदद से उन्होंने हिजरी संवत् को सौरवर्ष के अनुकूल बनाने के लिए नए-नए संवत् चलाए। इनमें से कई सन् भारतवर्ष के राष्ट्रीय सन् हो गए हैं। मुहम्मद तुगलक का (?) चलाया हुआ शाहूर सन्, अकबर का प्रवर्तित फसली सन् तथा विलायती सन्, बंगाब्द आदि ऐसे ही सन् हैं, जो भारतीय जीवन में घुलमिल गए हैं।

ज्योतिष के विशुद्ध वैज्ञानिक क्षेत्र में हिंदू-मुस्लिम संकोच और झिझक छोड़कर मिले हैं। शायद इतिहास की इस परिणति से हमें यह सीखना अब भी बाकी है कि हिंदू और मुसलमानों के मिलन की भूमि वैज्ञानिक मनोवृत्ति ही हो सकती है। ❑

—नवंबर, 1946

कहानी

अवरोध और गति

पहाड़ी

मैं चुपचाप लेटा हुआ था। नौकर मेज पर चाय की ट्रे लगाकर चला गया। मुझे जाड़ों की सुबह सदा से ही फीकी लगती रही है। आलस्य की खुमारी हटाकर मैं उठ बैठा और रजाई हटा कंबल ओढ़ लिया। अब चाय बनाकर चुपचाप पीने लग गया। मेरा हृदय बिलकुल खाली था, मानो रात्रि की कालिमा में वह सब कुछ लुटा चुका हो। कई बातें मन में उठती थीं, मैं उन पर कुछ सोचना चाह कर भी सब कुछ भूल गया था। मेरे पायताने रजाई के ऊपर बिल्ली का बच्चा अब तक चुपचाप लेटा हुआ था। अब वह अंगड़ाई लेकर उठा और म्याऊं-म्याऊं की मीठी आवाज में चेतावनी देकर, पंजों के बल मेरे हाथ के सहारे खड़ा हो गया। उसने चाय की प्याली सूंघी और चुपचाप मेज पर धावा बोल दिया। मैंने चाय की प्याली मेज पर रख दी। एक बिस्कुट उठाया, उसके टुकड़े-टुकड़े करके उसे खिलाने लगा। वह बिल्ली का बच्चा अनायास एक दिन सुबह को कहीं से मेरे यहां चला आया और मेरे सीमित परिवार का सदस्य बन गया था। उसके सफेद रोओं पर काली-भूरी बालों की डोरियां बहुत भली लगती थीं। बिल्ली के बच्चे ने अंगड़ाई ली और नीचे कूदकर चुपचाप बाहर छज्जे पर धूप में बैठ गया। मैं चाय की चुस्कियां लेता रहा।

नौकर ने तभी एकाएक आकर सुनाया कि कोई महिला नीचे ड्राइंग रूम में मेरी प्रतीक्षा कर रही है। इस परिवार में किसी महिला का इस प्रकार चला आना एक नई घटना थी। शहर में मेरा कोई परिचित नहीं था और बाहर से किसी आने वाले मेहमान की सूचना मुझे नहीं थी, अतएव एक बार मैंने अपनी स्मृति को पैनी करके महिलाओं के उस गिरोह की छानबीन करनी शुरू कर दी, जिससे कभी पिछले जीवन में संबंध रहा हो। किंतु कोई परिचित चेहरा याद नहीं पड़ा। मुझे अपनी बुद्धि पर हंसी आई। जल्दी-जल्दी स्नान से निबटकर मैंने ओवरकोट ओढ़ लिया और सीढ़ियां उतरकर नीचे पहुंच गया। दरवाजे का परदा हटाकर मैंने देखा कि कोई महिला चुपचाप सुबह का अखबार पढ़ रही थी। मुझे देखकर उसने अभिवादन किया, अब वह चेतन हो सोफे पर बैठ गई थी। मैंने उसे पहचान लेने की चेष्टा की, पर असफल रहा। वह असाधारण सुंदरी थी। उसका रुचिपूर्ण पहनावा देखकर लगता था कि वह किसी अच्छे परिवार की महिला है, उसके चेहरे पर जीवन की स्पष्ट छाप थी। असमंजस में मैं उसे पहचान लेने पर तुला था, किंतु किसी निर्णय पर न पहुंच सकने के कारण अपनी बुद्धि को धिक्कारने लगा। वह मेरी उलझन को हटाकर बोली, "मुझे कल्पना कहते हैं।"

कल्पना! ठीक मुझे याद हो आया। इस नाम की एक लड़की हमारे साथ एम.ए. में पढ़ती थी। तब लड़कों के बीच उसकी कई बातें चालू थीं। वह प्रतिदिन नए-नए डिजाइन के कपड़े पहनकर आती थी जिससे विद्यार्थी समुदाय उससे विशेष-रूप से आकर्षित था। कुछ लड़के तो उसके जीवन की निरर्थक-सी छानबीन करते हुए मिलते थे। कई का मत था कि वह बहुत घमंडी लड़की है। दो-तीन लड़कों को देख कर शायद वह कभी मुस्कुराई थी और उनका ख्याल था कि वह प्रेम के सुनहले सुबह की पहली छटा थी। लेकिन मैं तो केवल यही जानता था कि कल्पना को अपनी पढ़ाई के अतिरिक्त और किसी बात से दिलचस्पी नहीं थी। वह खाली वक्त लाइब्रेरी में बैठकर काट देती थी। ठीक समय पर उसकी 'कार' उसे विश्वविद्यालय पहुंचाती और वहां से ले जाती थी। सिनेमा, थियेटर अथवा अन्य किसी उत्सव में मैंने उसे कभी नहीं देखा था। कुछ साथियों का कहना था कि वह एक बाल-विधवा है तो कुछ का ख्याल था कि हाल में ही उसकी सगाई हुई है। कुछ का रोना था कि ऐसी लड़कियां 'फारवर्ड' होनी चाहिएं, अन्यथा विश्वविद्यालय का जीवन नीरस हो जाता है। उसे घरेलू लड़की कहकर, कुछ उसका मजाक उड़ाते थे कि उसका भविष्य किसी परिवार में बैठकर सात-आठ

बच्चे पैदा करना ही है। मैंने पहले कभी इन सब बातों में कोई दिलचस्पी नहीं ली थी। आज अनायास उसे इस स्थिति में पाकर कुछ अज्ञेय-सी घटनाएं स्वयं चमकीली पड़ गईं। वह सांवली-सी लड़की एक बार डिबेट में बोली थी। बोलते-बोलते उसका गला भर आया था और वक्त से पहले ही वह लौट कर चुपचाप घर चली गई थी। फिर तो वह आठ-दस रोज तक कालेज नहीं आई, सुना कि वह बीमार पड़ गई है। जब वह लगभग एक मास के बाद आई तो उसका रूप और निखर आया था; किंतु उसने अपना जीवन और अधिक सीमित कर लिया था। अब तो वह अपनी सहेलियों से भी बहुत कम बातें किया करती थी। उसके उस व्यवहार से किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। उसे डिबेट में प्रथम पुरस्कार मिला था। उसने वह लेना स्वीकार नहीं किया। उसके इस कौतूहलपूर्ण व्यवहार पर सबको अचरज हुआ; किंतु किसी ने इसकी आलोचना नहीं की।

इस कल्पना का फिर भी अपना ही एक व्यक्तित्व था, वह था उसका श्रृंगार, और रुचिपूर्ण कपड़े पहनने की रुचि। रंग-बिरंगी साड़ियां, सुंदर ब्लाउज, कई प्रांतों की पोशाकें, प्राचीन गहने तथा कई अजनबी-सी वेष-भूषा वह आसानी से अपना लेती थी। एक बार म्यूजिक-कांफ्रेंस में उसने कोई बहुत पुराना नृत्य किया था, जिसे आज तक कोई शायद ही भुला सका होगा। लोगों का ख्याल था कि उसके पिताजी पुरातत्व के विद्वान हैं और वह पिता के गुणों की साक्षात प्रतिमा थी। यह बात सच ही होगी। उसके व्यक्तित्व में सांस्कृतिक विकास को एक नूतन गति मिलती थी, जो बरबस सबको अपनी ओर खींच लेती थी फिर भी उस कल्पना को पहचान लेना आसान नहीं था। उसके जीवन का विस्तार किसी की पहुंच से बड़ी दूर था। उसके परिवार में झांक कर कोई कब उसकी छानबीन कर सका था। उसका जीवन कोई ऐसी पहेली भी नहीं था कि हर एक उससे संबंधित गुत्थियों को सुलझाने में ही अपना समय व्यतीत कर देता। अतएव कल्पना विश्वविद्यालय में होने पर भी सबसे अलग और हटी रही, फिर तो आगे उसकी किसी ने खास-सी चर्चा नहीं की।

अब वह कल्पना झिझक हटाती हुई-सी बोली, "मुझे बहुत दिनों से ज्ञात था कि आपका तबादला यहां हो गया है। मैं कई बार आपके पास आना चाहती थी, पर समय ही नहीं मिला। फिर यह भी सोचा कि कौन जाने, आप मुझे भूल ही गए हों।"

यह कहकर वह सरल-सी हंसी हंसी। उसकी दांतों की पांती चमक उठी। वह हंसी बरबस मेरे हृदय को झंकृत करने में सफल हो गई। वह हंसी बहुत स्वस्थ लगी। मैंने पहले कभी भी इस लड़की को हंसते हुए नहीं पाया था। आपसी बातचीत में हम लोग तो उसे 'गूंगी' कहा करते थे। विश्वविद्यालय के प्रेमी त्रिकोणों की मित्र-मंडली जब कभी आपस में चर्चा किया करती तो कल्पना कभी कहीं नहीं मिलती थी। उसका जीवन तो एक समानांतर रेखा की भांति लगता था, जिस पर कोई कोण बनाना आसान-सा नहीं होता। वह उस ओर उदासीन मिली और कोई उसके प्रेमपत्र पाने में सफल नहीं हो सका। कुछ मूक चातक अपने तक ही प्यासे तड़पते रहे तथा कई ऐसे थे जिन्हें रंगीन बातों को गढ़कर जीना ही स्वीकार था। फिर भी कोई घटना अनुकूल नहीं पड़ी। कभी-कभी तो लगता था कि सच ही कल्पना किसी के प्रेमजाल में फंस गई है। किंतु अंत में वह खेल झूठा निकलता था। कल्पना ने कभी किसी को दर्द भरी आह की दवा नहीं सौंपी। किसी के प्रेमपत्र का उत्तर नहीं दिया।

तब तो मैंने कल्पना के उस वैराग्य पर कभी नहीं सोचा था। न उसके किसी खास आकर्षण का लोभ ही मेरे मन में उठा था। मैं यह जानता था कि कल्पना का भावी जीवन विश्वविद्यालय की भांति नीरस नहीं रहेगा। वह परिवार के भीतर अपना स्थान बनाकर, आसानी से वहां रहेगी। यह बात कहां तक सच निकली होगी यह तो वही जाने। शायद साधारण किसी कौतूहल के प्रति गृहस्थी में उसका रुझान होना संभव होगा। वैसे मैं उसे भूल चुका था। पहले कभी उसे इतने समीप से देखने का अवसर नहीं मिला था। आगे जीवन में वह कहीं दीख पड़ेगी, इस सब पर मैंने कभी नहीं सोचा था। न किसी ऐसे अनुमान की लालसा ही मुझे थी। वे पिछले साथी भी जो कि एक सर्जन की भांति कल्पना की ख्याली प्रतिमा की चीर-फाड़ किया करते थे—न जाने कहां-कहां होंगे। अन्यथा उनको एक परिपत्र अवश्य भिजवा देता कि वह कल्पना किस नाटकीय ढंग से मेरे पास आई है। स्वयं मैं तो उसका स्वागत करने तक के लिए तैयार नहीं था। वैसे मैं आज भी उसे ठीक-ठाक नहीं पहचान पाता था। उसकी पुरानी विश्वविद्यालय वाली रूपरेखा पर सोचा तो वह आज अधिक खिली हुई मिली। वह तो पहले से अधिक गतिवान थी। उसके व्यक्तित्व में प्राण छलकते हुए दीख पड़े। उसकी बातों में लोच, गति में नवचेतना और बात-बात में एक ज्ञेय रुझान कूट-कूट कर भरा हुआ था।

मैं उसे टकटकी लगा कर निहार रहा था। वह चुपचाप हथेली पर ठोढ़ी टिकाए न जाने क्या-क्या सोच रही थी। उसकी आंखें मुंदी थीं। बालों की कुछ लटें चेहरे पर फैल गईं। उसका काला ब्लाउज खिड़की से बिखरी धूप में चमक रहा था। वह सुनहरे चौड़े पाट की साड़ी पहने हुए थी। कानों में टाप्स के हीरे झिलमिला रहे थे। उंगलियों पर रंग-बिरंगी मणियों वाली अंगूठियां थीं। कल्पना इतनी रूपवती होगी, मैंने इसका अनुमान आज तक नहीं लगाया था। एकाएक मन में एक पगली-सी भावना उठी कि क्या कल्पना शादी के अवसर पर इससे अधिक सुंदर रही होगी। उसके उस बिखरे हुए रूप को देखने का लोभ मन में उठा। मैं उसके पति को नहीं जानता हूं। उसके संबंध में मेरी अपनी कोई धारणा भी नहीं थी। कल्पना यहां कहां रहती है, इसका कोई ज्ञान भी कब था! वह क्यों इस भांति चली आई है! ये सब अबूझे प्रश्न मन में उठे। वैसे मैं उसके इस व्यवहार पर मुग्ध था। यह मेरा पूर्ण विश्वास था कि कल्पना सरीखी लड़कियां जीवन में कठिनाइयों का आसानी से मुकाबला कर सकती हैं। उनका जीवन किसी भी भांति असफल नहीं रह सकता है। यद्यपि मेरा इस ओर अपना कोई अनुभव नहीं था, फिर भी न जाने क्यों कल्पना के जीवन को तोल लेने की निरर्थक-सी चेष्टा मैं करने लगा।

एकाएक कल्पना चौंक उठी। वह बिल्ली का बच्चा उसकी गोदी में बैठने का निरर्थक-सा प्रयास कर रहा था। वह उसे हटा रही थी। तभी मैंने समझाया कि वह पंजे नहीं मारता है। वह फिर भी बहुत सतर्क हो गई। असावधानी में बिल्ली का नाखून लग कर, हाथ पर एक लाल रेखा पड़ गई थी। वह बच्चा तो म्याऊं-म्याऊं करता हुआ उसकी गोदी पर बैठ गया था तथा अपनी स्वाभाविक आदत के अनुसार

गुर-गुर-गुर-गुर करने लग गया। कल्पना उसकी पीठ को सहला रही थी और वह छोटा बच्चा आंख मूंदे हुए अपनी पूंछ हिला रहा था। कल्पना ने एक बार उसका मुंह उठाया और उसकी आंखों और मुंह को ताकती रही। फिर उसे उसी तरह पड़ा रहने दिया। मुझे कुछ ऐसा लगा कि वह अपने से झगड़ रही है। बार-बार उसका चेहरा गुलाबी पड़ जाता था। मुझे उसके हृदय के उस विद्रोह की कोई जानकारी नहीं थी। मैंने पहले कभी उसकी बुद्धि की सराहना की थी। तब तो उसके रूप के प्रति कोई रिझान मन में नहीं उठा था। वह कल्पना इतनी सुंदर होगी, इसका सही अनुमान आज तक मुझे नहीं हुआ था।

मैं हतबुद्धि-सा उसे देख रहा था। कोई ठीक बात पकड़ में नहीं आ रही थी। बार-बार मुझे देख, वह अनायास फिर अपनी दृष्टि नीचे कर लेती थी। मैं क्या प्रश्न पूछूं, यह समझ में नहीं आया। मैं उस स्थिति को कब समझ पाया था! स्थिति को सुलझाने के लिए मैंने एकाएक नौकर को पुकारा और उसके आ जाने पर चाय लाने को कहा। कल्पना ने तो सरलता से अस्वीकार कर दिया कि वह चाय नहीं पीती है। नवयुग के इस आतिथ्य की उपेक्षा कोई आधुनिका इस आसानी से कर सकती है, यह साहस कल्पना में ही हो सकता है। फिर भी यदि वह विश्वविद्यालय की 'फारवर्ड' लड़कियों में से एक होती, जिनकी करतूतों और प्रेमपत्रों से लड़के 'गधे' बन जाते थे तो मैं पिछली घटनाओं पर ही कुछ कह लेता। मैं उस कल्पना को कब ठीक से जानता-पहचानता हूं! वह मुझसे सदा दूर रही है। उसके जीवन की छानबीन करनी मुझे अपेक्षित नहीं लगी। अब आज स्थिति आसान नहीं थी। इतने समीप आ जाने पर भी जीवन का फासला दूर-दूर ही-सा लगा। वह तो जीवन के दायरे के बिल्कुल दूर खड़ी हुई मिली।

कभी तो मैं कल्पना को देखता और फिर उस बिल्ली के बच्चे को। मैं दोनों को ही समझ लेना चाहता था। दोनों ही मुझे समान, अबूझे-से लगे। मैं दोनों की किसी भाषा से परिचित नहीं था। मुझे कल्पना भी उस अबोध बच्चे के समान लगी। उसका कोई ज्ञान मुझे नहीं था। पहले मैंने उसकी किसी गति पर सोचा भी नहीं था। अब इस सबसे मन को कोई संतोष नहीं हुआ। उसके जीवन की वास्तविक किसी घटना से मैं कब परिचित था? वह तो बचपन की भांति गुमसुम बैठी हुई थी। आंखों में एक पैनापन था, ओंठ सूखे थे! उसमें फिर भी एक सजीवता की स्पष्ट-सी झलक दीख पड़ी, जिसे समझ लेना आसान नहीं था।

"मैं यहां नौकरी करती हूं।" कल्पना ने फिर आग्रहपूर्वक अपने जीवन के परदों को हटाना शुरू कर दिया।

"कहां...?"

"...कालेज में प्रिंसिपल हूं।" कहकर वह चुप हो गई। उसका इस प्रकार नौकरी करना ठीक ही लगा। नारी अपने लिए आर्थिक दरजे की मांग कर रही है। उसकी अपनी आर्थिक स्थिति बनाने वाली बात न्यायसंगत है। कल्पना की इस दृष्टि की मैंने मन ही मन सराहना की कि वह कम से कम अपनी अन्य पढ़ी-लिखी सहेलियों की भांति किसी गृहस्थी के भीतर केवल एक फर्नीचर ही तो नहीं बन गई है। अपनी विद्या का सही उपयोग उसने किया है। उस 'टाइप' की लड़की के लिए यह उचित था। अब उसकी वह गंभीरता, उसके विचारों की गहनता की प्रतीक लगी।

उस चुप्पी को तोड़ते हुए मैंने पूछा, "शायद आपके पिताजी पुरातत्त्व विभाग में...।"

"जी हां; वे वहां एक उच्च ओहदे पर हैं। मेरी मां बचपन में मर गई थी। पिताजी ने ही हमें अपने सांचे में ढाला। उनकी लाइब्रेरी की पुरानी मूर्तियां, ढांचे, ताम्रपत्र, पांडुलिपियां तथा और सामग्री, बचपन में भले ही हमारे लिए कौतूहल की बात रही हों, आगे जीवन में वे सब नीरस लगीं। उस पुरातन की बातों को सोचते-सोचते हमारे मन में एक गतिरोध-सा आ गया था। पिताजी हमें अपने अन्वेषण की बातें सुनाते थे। मिट्टी की छोटी-छोटी कुरूप मूर्तियों का महत्त्व समझाते थे। हम आज्ञाकारी बालकों की भांति चुप रहते थे। उनके पास फोटो के बड़े-बड़े 'एलबम' थे। उनका पुरातन भले ही सुंदर रहा होगा, अब तो वे फोटो बहुत कुरूप लगते थे। पिताजी उस अतीत की महानता को सुनाते-सुनाते गद्‌गद् हो उठते थे। हम तो अचरज से सोचते थे कि पिताजी उनमें कैसे सौंदर्य पाते हैं! उनकी दिलचस्पी हमारे लिए परेशानी हो जाती थी। पिताजी पुराने जमाने की अजीब-अजीब पोशाकें हमारे वास्ते बनवाते थे। मोहल्ले के लोगों को इकट्ठा करके पुराने कथानकों के नाटक खिलवाते थे। वह भाषा-विज्ञान के पूर्ण पंडित थे। पिताजी मुझसे खुश थे, कारण कि मैं उनकी सब बातों को चाव से सुनती और अपना पूर्ण सहयोग उनकी योजनाओं को पूरा करने में देती थी। उनका ख्याल था कि आगे चलकर मैं उनके अनुकूल निकलूंगी। इसीलिए अपनी खोजों के अवसर पर वह मुझे अपने साथ ले जाया करते थे।"

कल्पना अपने जीवन के चंद पन्ने बिखेरकर अब चुप हो गई थी। वह कुछ देर चुप रहकर अपने में न जाने क्या सोचने लगी। तभी मैंने पूछा—"आजकल आपके पिताजी कहां हैं?"

"मद्रास में।"

आगे किस भांति बातों का सिलसिला जारी रखूं, इस पर सोच ही रहा था कि वह बोली, "चार वर्ष से हम अलग हैं।"

"चार साल से?"

"हां, जब मैंने अपनी पसंद की शादी की तो उनको मेरा यह आचार पसंद नहीं आया। मैंने परंपरा को तोड़कर दूसरी जाति में शादी की थी। कोई धार्मिक ढोंग न रचकर साधारण समारोह के साथ आमंत्रित मित्रों और स्नेहियों के आगे एक सूत्र में बंध जाने की घोषणा की थी। पिताजी ने मेरी बात का विरोध नहीं किया था। वह सावधानी से सब कुछ देखते रहे और अंत में हम दोनों को अपने पास बुलाकर आशीर्वाद दिया। मुझे अकेले में बुलाकर तीस हजार का चेक देकर अपने गले लगाया। बंधे हुए स्वर में बोले कि अब उनका मुझ से कोई नाता नहीं रह गया है। पहले तो मैं वह बात नहीं समझ सकी। जीवन की नई भावुकता के दौर में बहती रही और एक दिन पाया कि सच ही पिताजी ने मुझसे संबंध विच्छेद कर लिया है। जब तक कि मैं उनको मनाने की बात सोचूं, काफी अरसा बीत चुका था। मैं बहुत चिंतित रहने लगी। किसी भांति चुपचाप एम.ए. की परीक्षा देकर यह नौकरी स्वीकार कर ली। मैं पिताजी के हठी स्वभाव से परिचित थी। वह स्वयं कभी मुझे क्षमा कर दें, यह संभव है, पर मेरे किसी अनुरोध पर पिघल जाएं, यह आसान नहीं है। वह असाधारण व्यक्ति हैं। हजारों वर्ष पूर्व की मूर्तियों में स्थित मरे व्यक्तियों को उनके फोटो आदि तक में से भले और बुरों को अलग-अलग रखते थे। कभी-कभी तो उत्तेजित होकर कुछ की बुराइयां सुनाते थे। जो व्यक्ति मरी आत्माओं तक को क्षमा नहीं कर सका,

उससे जीवित व्यक्ति क्या आशा रख सकते हैं?"

मैं कल्पना के उस विश्वास पर अवाक् रह गया। वह मूक-सी गूंगी मूर्ति आज सरलता से अपना हृदय खोल रही थी। वह बिल्ली का बच्चा कूदकर चला गया था। कल्पना उसी भांति चुपचाप बैठी हुई थी। आज वह विश्वविद्यालय वाली कल्पना, जिसे समझने की कोई जिज्ञासा कभी मन में नहीं उठी; वह, जो कि लोगों के लिए एक अबूझी पहेली थी, आसानी के साथ मेरे जीवन में फैलने लगी। मेरा उसके परिवार की घटनाओं के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं था।

अपनी समझ को तोलकर यही जान पाया कि वह यहां नौकरी करती है। संभवतः किसी परेशानी में पड़कर आई है। अतएव मानवता के नाते उसकी सहायता करना मेरा कर्तव्य था। वह न जाने किस सोच में पड़ गई थी। मैं उसका रूप देखकर दंग रह गया। मैंने इतनी सुंदर लड़कियां कम देखी हैं। उसके चेहरे से फिर भी एक स्पष्ट-सी परेशानी झलक रही थी। वह बार-बार, उस निराशा के-से घने बादलों को हटाकर ही कुछ कहती हुई लगी। उसके उस सौंदर्य में एक पीड़ा मिली, जहां कि नारी के जीवन से सुनहरे रंगीन बादल हट जाते हैं। उसके जीवन के स्थायित्व को पहचान लेने में मैं फिर असफल रहा।

"आप आफिस कै बजे जाते हैं?"

"साढ़े ग्यारह तक।"

उसने अपनी घड़ी देखी और फिर कान से लगाई। शायद वह बंद हो गई थी। उलझन में भी वह बोली, "अभी तो शायद नौ ही बजे होंगे। आपसे एक बात कहने के लिए आई थी कि मैंने नौकरी से 'इस्तीफा' दे दिया है।"

"क्यों?" मैं अनजाने-सा पूछ बैठा।

"यहां मेरा मन नहीं लग रहा था। फिर आज मुझे अपने प्राणों का मोह भी नहीं रह गया है। इस अपरिचित शहर में आपके अतिरिक्त मेरा और कोई स्नेही नहीं है। पिताजी....! शायद कभी वह मुझे माफ कर दें तो उनके पास चली जाऊंगी। आज वहां नहीं जा सकती हूं। पिछले हफ्ते मेरा एकमात्र बच्चा एकाएक रात्रि को बीमार पड़ गया। मैं अकेली थी। मेरे पास कोई नहीं था। वह बिना किसी ठीक-सी परिचर्या के मर गया। मैंने पिताजी को 'एक्सप्रेस' तार द्वारा सूचना दी। कोई उत्तर न पाकर मैंने अपना अपमान भुलाकर विस्तार से रजिस्ट्री पत्र लिखा कि मैं कुछ महीने उनके पास रहना चाहती हूं। उसकी पहुंच का उत्तर उनके सेक्रेटरी ने दिया। पिताजी ने स्वयं सहानुभूति के दो शब्द तक नहीं लिखे थे। उनके इस व्यवहार से मैं दंग रह गई। चुपचाप मैंने सारी स्थिति को संभाल लेने की चेष्टा की। एक बार मन में यह बात उठी थी कि आपके पास आकर सब कुछ कह दूं। फिर सोचा कि व्यर्थ आपको क्यों अपनी परेशानियों में उलझा दूं। मैं अकेले ही सारी परिस्थिति से संघर्ष करने के लिए तुल गई। मैं नारी को अबला स्वीकार नहीं करना चाहती थी। आज फिर भी लाचार हो गई हूं, अन्यथा आपके पास नहीं आती। आज मेरा मन ठीक नहीं है। हृदय में धुंध-सा छाया रहता है। मैं अपने को निर्बल पाकर ही आपके पास आई हूं। किसी की दासता की बेड़ी पहनना मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। आज भी अपने को बलवान बनाना चाहती हूं। आशा है कि मेरी इस निर्बलता का आप मखौल नहीं उड़ाएंगे।"

मैंने देखा कि कल्पना की आंखें भीग गई थीं। अब वे टप-टप करके बरस पड़ीं। अब उसका चेहरा धुल गया था। उसने साड़ी के छोर से मुंह पोंछ लिया। आंखों पर गुलाबी रंग छाया हुआ था। वह कुछ देर तक सिसकती रही। कल्पना इतनी कोमल होगी, इसका कोई अनुमान मुझे नहीं था। अब मैं उसके पिता पर सोचने लगा। किंतु उनको सही-सा पहचान लेना मेरी बुद्धि के परे की बात थी। कल्पना ने जो बातें कही थीं, उससे अधिक कोई ज्ञान मुझे नहीं था। एक दिन कल्पना ने उनके पुराने संस्कारों पर कड़ी चोट मारी थी। मां के मर जाने के बाद, पिता ने उसे अपने सांचे में ढालने की चेष्टा की। उनका विश्वास था कि वह उनकी शिक्षा-दीक्षा को अपनाएगी। अपने अनुकूल न बना सकने के कारण उनको दुख हुआ। उसके उस विद्रोह के बाद एक संभव वैराग्य उठना स्वाभाविक ही था। आज पिता का हठी मन पिंजरे में बंद पक्षी की भांति तड़प रहा होगा। किंतु जो व्यक्ति किसी को क्षमा करना नहीं जानता है, जो आज से हजारों वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक व्यक्तियों को उनकी भूलों के लिए माफ नहीं कर सकता है, वह कल्पना के स्नेह के बंधनों को आसानी से तोड़ने की क्षमता रखता है। कल्पना ने उस रूढ़िवाद के खिलाफ बगावत की थी। परंपरा को मान्य मानने वाला व्यक्ति उस विद्रोह को आसानी से नहीं भुला सकता।

पिता और पुत्री के उस विरोध पर मैं क्या कह सकता था! मैं असमर्थ-सा अपने मन में उस सब पर विचार कर रहा था। कल्पना ने विश्वास के साथ अपना समूचा हृदय खोला था। उसके प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करना चाहकर भी चुप ही रहा। पिता और पुत्री के उस झगड़े के बीच मैं क्या कहूं, यह मुझे अजीब पहेली लगी। मुझे कल्पना ने यह कैसा अधिकार सौंपने का निश्चय किया था! यह सच बात थी कि मेरी कल्पना के साथ पूर्ण सहानुभूति थी। उसकी वह शादी वाली विवशता भी मैंने स्वीकार कर ली! फिर भी उस वातावरण के भीतर जो अभेद-सा कुहरा छा गया था, मैं वहां भटकने लगा। मैंने उस कल्पना की ओर देखा। वह उदास बैठी हुई थी। मैं उसे बार-बार पहचान लेने की चेष्टा करने लगा। आज तो वह विश्वविद्यालय की परिधि से बड़ी दूर थी, कल संभवतः पिछला कोई साथी मिल जाए और उससे सारी बातें कहूंगा तो वह उलझन में पड़ जाएगा। शायद मेरे भाग्य की सराहना करने का साहस उसे नहीं होगा। तब तो सलोनी कल्पना सबल हृदय पर आसानी से ज्वारभाटा लाती थी और अधिक निखरी और गतिशील होने पर भी मृत्यु की भांति कड़ी पड़ गई थी।

अब कल्पना संभल गई थी। अपना आंचल ठीक तरह से सिर पर रखकर वह सावधानी से बैठ गई। एकाएक उसके गले पर पड़ी हुई सोने की मटरों के-से दानों वाली माला हिली, उसकी ठोढ़ी के नीचे वाले बड़े काले तिल पर मेरी दृष्टि गड़ गई। उसकी हाथ की चूड़ियां एकाएक बजीं। वे हल्के जाफरानी रंग की थीं। अब उसके संपूर्ण श्रृंगार में दुख की एक स्पष्ट झलक मिली। मां की वह प्यास जो कभी नहीं बुझ सकती। पिता का दुलार, जिसमें उसका बचपन पनपा था। आज उस बच्चे ने उसको पागल बना दिया था। अन्यथा शायद वह यहां नहीं आती। उसे जितना पहचान पाया, अब उसे फैलाकर न जाने मैं क्या छानबीन करता ही रह गया! नारी की इस समीपता का आज मुझे नया अनुभव हुआ था। कल्पना ने मेरे हृदय की गांठ आज अनजाने खोल डाली थी। सोचता था, शीघ्र ही उसे गृहस्थी के बंधन से

जोड़ लूंगा। यह कल्पना अज्ञेय ही मुझे जीवन के प्रति सचेत करने में सफल हो गई थी। मैं उसका यह उपकार आजीवन नहीं भूल सकूंगा।

तभी कल्पना बोली, "मैं आज शाम तक कालेज वाला घर छोड़ने का निश्चय कर चुकी हूं। यही कहने आई थी।"

"क्यों?" एकाएक मैंने जल्दी से प्रश्न पूछ डाला।

"वहां दिल नहीं लगता है। अकेले-अकेले ऊब उठती हूं। बाग की फूलों से भरी हुई क्यारियों से बच्चे की किलकारियां पाकर मेरी छाती भर आती हैं। उस सुनसान में मन व्याकुल हो उठता है। बार-बार अपने को नष्ट कर देने की बलवती भावना उठती है।"

कल्पना की भावुकता फूट निकली थी। वह अपने को संभाल नहीं पाई। मैं अवाक्-सा नारी की उस निर्बलता पर सोच रहा था। उसका गला भर आया था। वह कहती रही, "मैं आपसे यही पूछने आई थी कि यदि आपको आपत्ति नहीं हो तो मैं एक सप्ताह के लिए आपके यहां रहूं। इस बीच आप पिताजी को पत्र लिख दीजिए।"

कल्पना मेरे परिवार में रहेगी, यह एक आश्चर्यजनक घटना लगी। मुझे किसी सामाजिक कसौटी पर इस बात का उपहास उड़ाने का साहस भी नहीं हुआ। वह कल्पना सदा से किसी न्याय की भूखी नहीं रही है, अपने आर्थिक-व्यक्तित्व के बाद भी नारी के दासता वाले युग-युग से प्रचलित संस्कारों को सुलझाना सरल नहीं होगा। उस कल्पना के विवेक की सहायता करके भी उसके इस प्रस्ताव पर मैं कुछ नहीं सोच सका, उसका पति कहीं होगा? कल्पना ने उनको पत्र लिखा नहीं। इसकी कोई चर्चा उसने नहीं की थी। आखिर कल्पना ने उसी व्यक्तित्व के लिए तो अपने पिता से झगड़ा किया था। लेकिन उसकी वह नष्ट करने वाली भावना, जिसका आभास वह अभी-अभी दे चुकी थी! कल्पना को फिर भी जीवित रहना चाहिए। उसका नष्ट हो जाना अनुचित-सा लगा। मैंने उसके उस साहस की सराहना की। वह किसी भी कच्ची चोट को आसानी से सह लेने की क्षमता रहती है; यह जान मुझे खुशी हुई। लेकिन वह अपरिचित-सी कल्पना जितना ही अपना हृदय खोल रही थी, उतना ही मेरा मन सिकुड़ रहा था। मन में कई-कई विचार उठते थे। मैं कुछ ठीक-सा समाधान नहीं कर पाता था।

"आपको क्या कहना है?"

कल्पना ने आंखें ऊपर उठाकर मुझे एक बार देखकर कहा। मैं उसकी उन खिली हुई आंखों को कुछ देर तक देखता रह गया। अब उसने आंखें झुका ली थीं। मानो कि वह मेरा निर्णय सुनने के लिए इच्छुक थी। वह उसी भांति सिर झुकाए थी। एकाएक हवा के एक साधारण झोंके से उसके सिर पर से साड़ी गिर गई। उसके जूड़े में ठुंसा हुआ लाल गुलाब का फूल खिल उठा। उसके काले-काले बालों की झलक आंखों पर पड़ी। उसने अब सावधानी से साड़ी ओढ़कर एक किनारी दांतों के तले दबाई।

कल्पना के प्रश्न का उत्तर मैंने देना चाहा, "कल्पना देवी......?" कि वह फीकी हंसकर मेरी बात काटकर बोली, "देखिए इसमें कल्पना की कोई ऐसी बात नहीं है। मैंने अपनी नौकरानी को सामान तैयार करने के लिए कह दिया है। अपना मन पक्का करके ही मैं आपके पास आई हूं। मैं कितनी दुःखी हूं, इसकी पूरी-पूरी जानकारी आपको है ही। किसी पर तो जीवन में भरोसा करना ही होता है।"

यह कह करके कल्पना चुप हो गई। कुछ देर बाद बोली, "आप शाम को कै बजे दफ्तर से लौटते हैं। नौकर तो घर पर ही रहता है। मैं चार बजे तक नौकरानी के हाथ सब सामान टैक्सी पर भिजवा दूंगी।"

"आपके पति!" मैं उलझन में-सा पूछ बैठा। यह जानकारी मुझे आवश्यक लगी। ऐसे अवसर पर मुझे कल्पना के पति का उससे दूर रहना उचित नहीं लगा। मैं उनके संबंध में जानने के लिए भी उत्सुक था। कल्पना ने पति के लिए वह त्याग किया था। पिता के उस विशाल व्यक्तित्व, जहां कल्पना पनप रही थी; वहां से अपनी ओर खींच लेने वाला व्यक्ति साधारण नहीं होगा। अन्यथा कल्पना भावना की कोरी पुतली मात्र ही नहीं थी कि साधारण से भावुकता के प्रवाह में बह जाती।

कल्पना ने तो मेरी उलझन हटाकर, मुस्कुराते हुए कहा, "वह सब आप को बतला दूंगी। हमारा किस्सा 'लैला मजनूं' की भांति दिलचस्प नहीं है। मैं अपने भाग्य की किसी कसौटी पर जीवन समर्पित करने का पक्षपाती भी कभी नहीं रही हूं। आपसे मुझे कई और बातें भी करनी हैं। मेरे मन में फूटे हुए ज्वालामुखी का अनुमान आप नहीं लगा सकते हैं। आखिर जीवन में किसी न किसी पर तो भरोसा रखना ही पड़ता है। कल रात भर मैं अपने जीवन में किसी एक ऐसे व्यक्ति को ढूंढ रही थी। तभी आपकी याद आ गई।

अब वह फिर चुप हो गई। वह बिल्ली का बच्चा म्यांऊं म्यांऊं कर रहा था। मैं उसे पकड़ने के लिए उठा तो वह भागकर मेज के नीचे चला गया। वह चाहता था कि मैं उसे पकड़ने वहीं पहुंच जाऊं। उसके उस शान पर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। मैंने उसे पकड़कर गोदी में ले लिया। वह तो छूटकर मेज पर बैठ गया। मैं सावधानी से उसे देख रहा था।

कल्पना एकाएक उठी और बोली, "आपको सूचना दे दी है। अस्वीकृति का प्रश्न तो उठता ही नहीं है। आपको सारी स्थिति समझा चुकी हूं। जीवन में कभी भी ऐसी अवरोध वाली स्थिति आ सकती है। यह मैं जानती थी। मैं अपने को सदा से बहुत सबल मानती आई हूं। आज ज्ञात हुआ कि भले ही हम एक नए युग में प्रवेश कर रहे हैं, नए विचार अपना रहे हैं; फिर भी पिछले युग की भावुकता वाले उफान को नहीं बिसार पाए हैं।

एक बार उसने बिल्ली के बच्चे को पकड़ लिया। कुछ देर तक उसे अपनी छाती से टिकाए रही। उसे खूब सहलाकर पूछा, "आप इसे क्या कहते हैं?"

"खुशी"

नाम दुहराकर वह हंस पड़ी। उसे मेज पर रखकर बोली, "चलिए आप आशावादी तो हैं।"

और वह चुपचाप बाहर चली गई। कुछ देर के बाद मैंने टैक्सी के 'स्टार्ट' होने की आवाज सुनी।

मैं बड़ी देर तक दरवाजे पर खड़ा का खड़ा ही रह गया। जब टैक्सी आंखों से ओझल हो गई तो मैं कमरे के भीतर लौटकर चुपचाप टहलता रहा। तभी नौकर आकर बोला, "साब नहाने के लिए गरम पानी रख दूं?"

मैंने सिर हिलाया और वह चुपचाप चला गया। अब मैं अपने मन में ही न जाने क्या सोच रहा था कि मेरी दृष्टि मेज पर पड़े कागजों पर पड़ी। एक कल्पना के पिता के सेक्रेटरी का पोस्टकार्ड था और दूसरा कल्पना के नाम तार। मैंने उसे पढ़ा, लिखा था–'सेनिटोरियम में आपरेशन टेबुल पर उसके पति की मृत्यु हो गई है।'

कल्पना के उस अंतिम अंगार पर सोचा। उसके जीवन के अवरोध की स्थिति और गति पर विचार करता रह गया। ❑

–मई, 1947

आजकल का भावी रूप

मई 1945 में 'आजकल' का प्रथम अंक प्रस्तुत करते हुए यह घोषणा की गई थी—'हम देशवासियों के सम्मुख दो बातें उपस्थित करना चाहते हैं। एक तो विदेशों का वास्तविक चित्रण, विशेषकर भारत के निकट पड़ोसियों का और दूसरे भारत में जो परिवर्तन हो रहे हैं उनको स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना, जो भारत को युद्धोत्तरकाल में संसार के निर्माण में प्रमुख भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देंगे।' उस समय किसे ज्ञात था कि 'आजकल' को बहुत शीघ्र हिंदी का चिरस्मरणीय एवं लोकप्रिय पत्र कहलाने का गौरव प्राप्त होगा। 'आजकल' में ऐसे लेख निरंतर प्रकाशित होते रहे हैं जिनमें भारतीय कला तथा संस्कृति के अनेक पृष्ठ सजीव हो उठे; साहित्यिक प्रगति का 'आजकल' ने एकनिष्ठ समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त समस्त एशिया में भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नति का अभिनंदन भी 'आजकल' का ध्येय रहा है।

भारत का भाग्य उदय हुआ। 15 अगस्त सन् 1947 का ज्योतिर्मय दिवस भारत के इतिहास में युगयुगांतर तक शत-सहस्री आभा का पर्व बनकर आयाः स्वतंत्रता-संघर्ष शेष हुआ और राष्ट्र ने अग्निमय—रक्तमय अध्याय को समाप्त कर अपने चिरस्मरणीय इतिहास के एक नए अध्याय में प्रवेश किया। उस दिन राष्ट्र के समस्त बलिदान सजीव हो उठे। असंख्य शहीदों की समाधियों की ओर जनता की निगाहें उठ गईं। उस दिन नव्वे वर्षों की पराधीनता का अंत हुआ, और राष्ट्र की स्वतंत्रता के उपलक्ष्य में 'आजकल' ने 15 अगस्त का विशेषांक प्रस्तुत किया।

किंतु देश के बटवारे और सांप्रदायिक झगड़ों के कारण देश की धरती देशवासियों के रक्त से अपवित्र हुई। भाई-भाई आपस में जूझ पड़े। कई-कई मील लंबे काफिले घर छोड़कर लंबी यात्रा पर चलने के लिए विवश हुए। स्त्रियों और युवतियों का अपहरण किया गया। इस विवाद की वेला में 'राष्ट्रपिता' की वाणी ही शांति और मैत्री की भावना को पुनः स्थापना में संलग्न रही। इसी के लिए राष्ट्रपिता को अंतिम उपवास करना पड़ा। इसी पथ पर राष्ट्रपिता को शहीदों की मृत्यु प्राप्त हुई। 'आजकल' का 'बापू अंक' राष्ट्रपिता के बहुमुखी और विश्व-वंदनीय व्यक्तित्व का प्रतीक है। स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री पंडित नेहरू के शब्दों में 'गांधीजी अमर हो गए।' सरदार वल्लभ भाई पटेल ने राष्ट्रपिता के वास्तविक स्मारक की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया है।

'राष्ट्रपिता' के महानिर्वाण का स्मरण करते हुए बुद्ध के शब्दों में हम आज भी कह सकते हैं—

'जिसने अपनी यात्रा पूरी कर ली है, जो विशोक है, जो सर्वथा मुक्त है, जिसने सब ग्रंथियां काट दी हैं, उसे कोई पीड़ा नहीं सताती।

मनस्वी सदा आगे बढ़ता है, वह गेह में नहीं रमता, वह घर-बार वैसे ही तज देता है जैसे हंस अपने सरोवर को।

पृथ्वी के समान वह अविचलित होता है, इंद्र की कीली के समान वह दृढ़ होता है, स्वच्छ सरोवर के समान वह निष्कलुष होता है। ऐसे व्यक्ति को संसार का क्रम नहीं बांधता।'

—धम्मपद, अरहंत वग्गो

'आजकल' का भावी रूप क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर एक ही हो सकता है, और वह यह कि 'आजकल' राष्ट्रीय थाती का साथ कभी नहीं छोड़ेगा; वर्तमान इसे सदैव प्रिय रहेगा, और भविष्य के वातायन में झांकने की बात भी वह कभी नहीं भुलाएगा। संस्कृति और कला, पुरातत्व और इतिहास, नृशास्त्र और लोकवार्ता, साहित्य और जीवन, सामाजिक जागरण और आर्थिक प्रगति, शस्य श्यामला वसुधा का आशीर्वाद और पावन नदियों का संदेश, राष्ट्र के पशु, पक्षी, पुष्प, वनस्पति और राष्ट्र के अनेक जनपदों की लोक-संस्कृति—यह सब सदैव 'आजकल' को प्रिय रहेंगे। धरती के स्पर्श की कभी अवहेलना नहीं की जाएगी। प्रांतों की पारस्परिक एकता हमारा ध्येय है। इस प्रकार 'आजकल' राष्ट्रभाषा हिंदी के माध्यम द्वारा राष्ट्र का संबल सिद्ध हो, यही हमारी कामना है, यही हमारे भावी कार्यक्रम की सीधी और स्पष्ट रूपरेखा है।

हिंदी के प्रसिद्ध और प्रतिनिधि लेखकों एवं कवियों की कृपा तो 'आजकल' पर सदैव रही है। आल इंडिया रेडियो के हम विशेष रूप से आभारी हैं जिनके सहयोग से हमें बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई। ❑

—मार्च, 1948

बुद्ध और गांधी के अंतिम संस्कार

भदंत आनंद कौसल्यायन

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शब्द सागर ही शायद हिंदी का सबसे बड़ा कोष है। उसमें 93115 शब्द हैं। किंतु इतने हजार शब्दों में क्या एक शब्द ऐसा है जो इस देश की वेदना की उस तीव्रता को व्यक्त कर सके जो इसे अपने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को गंवाकर हुई?

कहा जाता है कि नाथूराम गोडसे एक पत्रकार रहा है। इससे हर पत्रकार लज्जित है। सुनते हैं, वह ब्राह्मण भी है, इससे हर ब्राह्मण जमीन में गड़ा जा रहा है। वह हिंदू है, यह हर हिंदू के लिए डूब मरने की बात है। वह भारतीय है, भारतमाता उस कुलकलंकी को जन्म देने के कारण अनुतप्त है। भारतीयता ही नहीं, सारी मानवता पर लगे अभिशाप का दूसरा नाम है नाथूराम गोडसे।

हमें लगता है कि जिस प्रकार इस देश में कोई भी रावण कहलाना पसंद नहीं करता, विभीषण कहलाना पसंद नहीं करता है, उसी प्रकार भविष्य में कोई अपना नाम नाथूराम भी रखना पसंद न करेगा।

किंतु इस महान पातक का दूसरा पहलू भी है। इस पातक ने महान बापू को और भी महान सिद्ध कर दिया। देश में भभकती हुई सांप्रदायिकता की आग की शांति के लिए कदाचित स्वयं राष्ट्रपिता की बलि अपेक्षित थी। अब तो यह द्वेषाग्नि शांत हो।

बापू के बलिदान के बाद देश में जो कुछ हुआ है, वह सभी कुछ अभूतपूर्व है। बलिदान-दिवस से आज तक इस महान राष्ट्र ने ही नहीं, अन्य राष्ट्रों ने भी 'हाय बापू' कहकर जितने ठंडे सांस लिए, उतने इससे पहले काहे को कभी किसी बड़ी से बड़ी विभूति की याद में भी लिए होंगे! यमुना तट पर का दाहकरण-संस्कार गंगा, यमुना तथा सरस्वती के संगम में बापू की अस्थियों का प्रवाह और देश भर की सभी पवित्र नदियों का बापू की भस्म का अधिकारी होना हमें भगवान बुद्ध के अंतिम संस्कार की याद दिलाता है। पाली वाङ्मय में वह इस प्रकार दर्ज है :

अंतिम वचन—तब भगवान ने आयुष्मान आनंद से कहा—'आनंद शायद तुमको ऐसा हो, (1) अतीत शास्ता (=चले गए गुरु) का यह उपदेश है। अब हमारा शास्ता नहीं है। (2) आनंद! इसे ऐसा मत समझना, मैंने जो धर्म और विनय विहित किए हैं, मेरे बाद वही तुम्हारे शास्ता (=गुरु) हैं....(3) इच्छा होने पर संघ मेरे बाद छोटे-मोटे भिक्षु नियमों का छोड़ दे सकता है।'

तब भगवान ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया, 'भिक्षुओ, यदि बुद्ध, धर्म संघ में एक भिक्षु को भी कुछ शंका हो, तो पूछ लो। भिक्षुओ, पीछे अफसोस मत करना, शास्ता हमारे सम्मुख थे किंतु हम भगवान के सामने कुछ पूछ न सके।'

किसी एक भी भिक्षु को कोई शंका न थी।

तब भगवान ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया—'हंत, भिक्षुओ, अब तुम्हें कहता हूं। सभी संस्कार नाशवान हैं। अप्रमाद के साथ (= आलस्यरहित होकर) जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करो।' यही तथागत के अंतिम वचन हैं।

निर्वाण—तब भगवान प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए।.... चतुर्थ ध्यान से उठने के अनंतर भगवान परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान के परिनिर्वाण होने पर निर्वाण होने के साथ भीषण, लोमहर्षण भूचाल हुआ। देव दुंदुभियां बजीं। उस समय ब्रह्मा ने कहा..."संसार के सभी प्राणी जीवन से गिरेंगे। जब कि लोक में ऐसे बल प्राप्त अद्वितीय पुरुष, तथागत, शास्ता, बुद्ध परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

उस समय देवेंद्र शक्र ने कहा... "अरे संस्कार उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं। जो उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं, उनका शांत होना ही सुख है।"

भगवान के परिनिर्वाण हो जाने पर जो अवीतराग भिक्षु थे, उनमें कोई बांह पकड़कर क्रंदन करते थे, कटे वृक्ष के सदृश गिरते थे, धरती पर लोटते थे, भगवान बहुत जल्दी परिनिवृत हो गए। किंतु जो वीतराग भिक्षु थे, वे स्मृति संप्रजन्य के साथ स्वीकार करते थे, संस्कार अनित्य है, वियोग न हो, यह कहां मिलेगा?

तब आयुष्मान अनुरुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—"नहीं आवुसो, शोक मत करो, रोदन मत करो। भगवान ने तो, आवुसो, यह पहले ही कह दिया है, सभी प्रियों से जुदाई होनी है।"

आयुष्मान अनुरुद्ध और आयुष्मान आनंद ने वह बाकी रात धर्म-कथा में बिताई। तब आयुष्मान अनुरुद्ध ने आयुष्मान आनंद से कहा, "जाओ आयुस आनंद, कुसीनारा में जाकर, कुसीनारा के मल्लों से कहो—वाशिष्टो, भगवान परिनिवृत हो गए। अब जो तुम्हें करना उचित लगे, वह करो।"

"अच्छा भंते," कह आयुष्मान आनंद कुसीनारा में प्रविष्ट हुए। उस समय किसी काम से कुसीनारा के मल्ल, संस्थागार (= प्रजातंत्र सभा-भवन) में जमा थे। आयुष्मान आनंद वहीं जाकर बोले, "वाशिष्टो, भगवान परिनिवृत हो गए। अब तुम्हें जो करना उचित लगे, वह करो।"

आयुष्मान आनंद से यह सुना तो मल्ल, मल्लपुत्र, मल्लवधुएं, मल्लभार्याएं, दुखित हो क्रंदन करने लगीं। कोई केशों को बिखेरकर रोती थीं, बांह पकड़कर रोती थीं, कटे वृक्ष की भांति गिरती थीं, धरती पर लुंठित-विलुंठित होती थीं। बड़ी जल्दी भगवान का निर्वाण हुआ, बड़ी जल्दी सुगत का निर्वाण हुआ, बड़ी जल्दी लोक नेत्र अंतर्धान हो गए।

तब कुसीनारा के मल्लों ने पुरुषों को आज्ञा दी—"तो भणे! कुसीनारा की सभी प्रकार की गंध मालाएं और सभी वाद्यों को जमा करो।"

तब कुसीनारा के मल्ल गंधमाला, सभी वाद्यों और पांच हजार थान-जोड़ों को लेकर जहां उपवत्तन था, जहां भगवान का शरीर था, वहां गए। जाकर उन्होंने भगवान के शरीर को नृत, गीत, वाद्य, माला, गंध से सत्कार करते, पूजते, कपड़े का मंडप बनाते, दिन बिता दिया। तब कुसीनारा के मल्लों के मन में आया—भगवान के शरीर के दाह करने को आज बहुत विकाल हो गया। अब कल भगवान के शरीर का दाह करेंगे। इस प्रकार कुसीनारा के मल्ल सात दिन तक भगवान के शरीर की सत्कार पूजा ही करते रहे। सात दिन के बाद कुसीनारा के मल्लों ने नगर से उत्तर-उत्तर को ले जाकर, जहां मुकुट बंधन नामक मल्लों का चैत्य था, वहां भगवान का शरीर रखा। तब कुसीनारा के मल्लों ने आयुष्मान आनंद से पूछा—"भंते! आनंद! हम तथागत के शरीर को कैसे करें?"

"वाशिष्टो! जैसे चक्रवर्ती राजा के शरीर को करते हैं वैसे ही तथागत के शरीर को करना चाहिए?"

"कैसे भंते! चक्रवर्ती राजा के शरीर को करते हैं?"

"वाशिष्टो! चक्रवर्ती राजा के शरीर को नए वस्त्र से लपेटते हैं, नए वस्त्र से लपेटकर धुनी रुई से लपेटते हैं। इस प्रकार लपेटकर तेल की लोह द्रोणी (दोन) में रखकर दूसरी लोह द्रोणी से ढांककर, सभी सुगंधित लकड़ियों की चिता बनाकर राजा चक्रवर्ती के शरीर को जलाते हैं, जलाकर बड़े चौरस्ते पर राजा चक्रवर्ती का स्तूप बनाते हैं। हमें भी तथागत का स्तूप बनवाना चाहिए। वहां जो माला, गंध, या चूर्ण चढ़ाएंगे, या अभिवादन करेंगे, या चित्त को प्रसन्न करेंगे, उनके लिए वह चिरकाल तक हित सुख के लिए होगा।"

तब कुसीनारा के मल्लों ने भगवान के शरीर को कोरे वस्त्र में लपेटा। कोरे वस्त्र से लपेटकर धुनी रुई से लपेटा, धुनी रुई से लपेटकर कोरे वस्त्र से लपेटा फिर तांबे (लोह) की तेलवाली कढ़ाई में रख चंदन आदि सुगंधित काष्टों की चिता बनाकर भगवान के शरीर को चिता पर रखा।

तब आयुष्मान महाकाश्यप ने जहां मल्लों का मुकुट बंधन नामक चैत्य था, जहां भगवान की चिता थी, वहां पहुंचकर चीवर की एक कंध पर अंजलि जोड़ तीन बार चिता की परिक्रमा कर सिर से वंदना की। पांच सौ भिक्षुओं ने भी एक कंधे पर चीवर कर हाथ जोड़ तीन बार चिता की प्रदक्षिणा कर भगवान के चरणों में सिर से वंदना की।

दाहक्रिया—आयुष्मान महाकाश्यप और उन पांच सौ भिक्षुओं के वंदना कर लेते ही भगवान की चिता स्वयं जल उठी। भगवान के शरीर में जो झिल्ली या चर्म मांस, नस या चर्बी थी, उनकी न राख जान पड़ी न कोयला, सिर्फ अस्थियां ही बाकी रह गईं, जैसे कि जलते हुए घी या तेल की न राख (छारिका) जान पड़ती है न कोयला (मसि)। भगवान के शरीर के दग्ध हो जाने पर मेघ ने प्रादुर्भूत हो आकाश से भगवान की चिता को ठंडा किया। कुसीनारा के मल्लों ने भी सर्वगंध मिश्रित जल से भगवान की चिता को ठंडा किया।

तब कुसीनारा के मल्लों ने भगवान की अस्थियों को सप्ताह भर संस्थागार में रखा। उनकी पूजा की।

स्तूप निर्माण—राजा मागध, अजातशत्रु वैदेही पुत्र ने सुना, भगवान कुसीनारा में परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। राजा मागध, अजातशत्रु वैदेही पुत्र ने कुसीनारा के मल्लों के पास दूत भेजा—भगवान भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूं, भगवान की अस्थियों में मेरा भी उचित हिस्सा है। मैं भी भगवान की अस्थियों पर स्तूप बनाऊंगा और पूजा करूंगा।
वैशाली के लिच्छिवियों ने सुना, कपिलवस्तु के शाक्यों ने सुना।
अल्लकप्प के बुलियों ने सुना, रामग्राम के कोलियों ने सुना।
वेठ दीप के ब्राह्मणों ने सुना, पावा के मल्लों ने भी सुना।

ऐसा कहने पर कुसीनारा के मल्लों ने उन संघों और गणों से कहा, "भगवान हमारे ग्राम क्षेत्र में परिनिवृत हुए, हम भगवान की अस्थियों का भाग नहीं देंगे।"

उनके ऐसा कहने पर द्रोण ब्राह्मण ने उन संघों और गणों से कहा, "आप सब मेरी एक बात सुनें। हमारे बुद्ध क्षमावादी थे। यह ठीक नहीं कि उन उत्तम पुरुष की अस्थियां बांटने में मार-पीट हो, आप सभी एकमत होकर आठ भाग करें, दिशाओं में स्तूपों का विस्तार हो। बहुत-से लोग बुद्ध में प्रसन्न हों।"

"तो ब्राह्मण तू ही भगवान की अस्थियों को आठ समान भागों में सुविभक्त कर।"

"अच्छा," कह ब्राह्मण ने भगवान की अस्थियों को आठ भागों में बांटकर उन संघों से निवेदन किया, "आप सब ये कुंभ (=घड़ा) मुझे दें, मैं कुंभ का स्तूप बनाऊंगा और पूजा करूंगा।"

उन्होंने द्रोण ब्राह्मण को कुंभ दे दिया।

पिप्पलिवन के मौर्यों ने सुना।

"भगवान की अस्थियों का भाग नहीं है। भगवान की अस्थियां बंट चुकीं। यहां से कोयला ले जाओ।"

वे वहां से कोयला ले गए।

राजा अजातशत्रु ने राजगृह में भगवान की अस्थियों का स्तूप बनाया और पूजा की।
वैशाली के लिच्छिवियों ने भी, कपिलवस्तु के शाक्यों ने भी।
अल्लकप्प के बुलियों ने भी, रामग्राम के कोलियों ने भी।
वेठ दीप के ब्राह्मणों ने भी, पावा के मल्लों ने भी।
कुसीनारा के मल्लों ने भी, द्रोण ब्राह्मण ने भी कुंभ का।
पिप्पलिवन के मौर्यों ने भी कोयले का।

इस प्रकार चक्षुष्मान (=बुद्ध) का शरीर सुसंस्कृत हुआ। देवेंद्रों, नागेंद्रों, नरेंद्रों से पूजित तथा श्रेष्ठ मनुष्यों से पूजित हुआ, उसे हाथ जोड़कर वंदना करो, सौ कल्प में भी बुद्ध होना दुर्लभ है।

काश बापू की राख पर भी देश के कोने-कोने में स्तूप बनवा दिए जा सकते! ❑

—मार्च, 1948

साक्षात्कार

साहित्य वही है जिसमें सार्वजनिक कल्याण और सौंदर्य की भावना हो—रामकुमार वर्मा

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

[मैंने एक प्रश्न-तालिका बनाकर हिंदी के प्रमुख कलाकारों—कवि, कथाकार, नाटककार, आलोचक आदि—से उसके उत्तर लिए हैं। इसका अभिप्राय कलाकार के आंतरिक जीवन के रहस्य का उद्घाटन है, जिससे उसके क्रमिक विकास का पता चल जाए। यह लेख उसी की एक किस्त है।—लेखक]

प्रश्न : **आपका बाल्यकाल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके कलाकार के निर्माण में कहां तक सहायता पहुंचाई?**

उत्तर : इस संबंध में दो विशेष बात उल्लेखनीय हैं। पहली तो यह है कि हमारे पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद वर्मा डिप्टी-कलक्टर थे और हमारा पोषण जीवन की उन समस्त कृत्रिमताओं में हुआ, जो कि पाश्चात्य संस्कार के साथ जीवन में प्रवेश पा जाती हैं और जिनमें काव्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। किंतु दूसरी बात यह है कि हमारे कुल में साहित्य की परंपरा अनेक पीढ़ियों से चली आ रही है और हमारे प्रपितामह श्री छत्रसाल बड़े लगन के साहित्यिक थे। आज भी हमारे पास उनके अनेक हस्तलिखित ग्रंथ हैं, जिनमें से कुछ उन्होंने स्वयं लिखे हैं और पुराने कवियों की कुछ हस्तलिखित पांडुलिपियां भी उन्होंने स्वयं तैयार की हैं, जिनमें तुलसी की 'विनय-पत्रिका' और 'कवितावली' प्रमुख हैं। यह परंपरा अथक रूप से हमारे कुल में चलती रही, यद्यपि पिताजी के पास सरकारी काम के कारण इसके लिए अवसर नहीं था। हमारे पिता तुलसी के राम के अनुरागी थे। घर पर प्रायः कथावाचकों की भीड़ लगी रहती थी। इसके साथ ही हमारी माता श्रीमती राजरानी देवी अपने घर से संगीत और साहित्य के बड़े प्रबल संस्कार लेकर आईं थीं। इस प्रकार हम लोगों का बाल्यकाल उनकी वात्सल्यमयी भावनाओं के साथ संगीत और साहित्य से परिपूर्ण वातावरण में बीता। साहित्य के समस्त संस्कार मुझे अपनी माता श्रीमती राजरानी देवी से मिले जिनमें तुलसी, कबीर और मीरा के साहित्य और उनके पदों के स्वर बाल्यकाल से ही मेरे कानों में गूंजते रहे। मेरे कबीर-साहित्य के अध्ययन और ग्रंथ-प्रणयन का समस्त श्रेय माता श्रीमती राजरानी देवी को है। प्रभात काल में वे हम लोगों को जगाते हुए गाया करती थीं। यद्यपि माताजी ने भी कुछ कविताएं लिखी हैं, किंतु उनकी प्रमुख रुचि उन प्राचीन कवियों के काव्य गायन और काव्य-पारायण की ओर ही अधिक है। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि पिता के उच्चपद की गौरवशीलता और सामाजिक श्रेष्ठता के मध्य में मेरी माताजी की यह संगीत और साहित्य की साधना प्रायः गुप्त सरस्वती की भांति हमारी पारिवारिक त्रिवेणी की पूर्ति करती थी। इस प्रकार यद्यपि ऐसी कोई भी परिस्थिति व्यक्त रूप से मेरे परिवार में नहीं रही, जो मुझे साहित्य-साधना का सुयोग प्रदान करती किंतु प्रबल रूप से माताजी के संस्कार और साथ ही परंपरा से आई हुई साहित्य-साधना, जो इस समय गौरव देती थी, मेरे हृदय में प्रवेश कर, मुझे साहित्य मार्ग पर जाने का संस्कार दे सकी।

आपकी साहित्य-साधना कब और कैसे आरंभ हुई और उसके लिए प्रेरणा आपको कहां से मिली?

वस्तुतः मेरी स्फूर्ति के दो केंद्र हैं। प्रथम—बाल्यकाल में मेरी मां का कबीर और मीरा के पदों का प्रभाती रागिनी में मधुर स्वर, और दूसरा—प्रभात फेरी में देश प्रेम की लहर में निकले हुए गीतों का अखिल स्रोत। इन दोनों ने ही मुझे गीतात्मक मनोविज्ञान दिया। संभवतः यही कारण है कि मैंने अपनी समस्त काव्य-साधना में 85 प्रतिशत गीत लिखे हैं और 15 प्रतिशत प्रबंधात्मक काव्य। यों तो आरंभ में मेरे गुरु पं. विश्वंभर प्रसाद गौतम विशारद अपनी कविताओं की प्रतिलिपि मुझसे कराते थे और उनकी कविताओं को लिखते-लिखते मैं भी परिहास या विनोद में तुकें जोड़ दिया करता था। 'ईश्वर मुझ को पास कराओ अब और मिठाई खूब-सी खाओ तब' जैसी तुकबंदियां विनोदात्मक कौतूहल में ही जोड़ी गई थीं, किंतु साहित्य-साधना की सात्विक प्रेरणाएं मुझे इन दो उपर्युक्त केंद्रों से ही प्राप्त हुईं।

वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिन्हें आप अधिक पसंद करते हैं और जिनका आपके जीवन में अपरिहार्य स्थान है?

साहित्य में मुझ पर प्रभाव कम पड़े। बचपन से ही मैं अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र रूप से विकसित करने का पक्षपाती रहा हूं और मैंने किसी के अनुकरण पर कुछ लिखना उच्छिष्ट भोजन करने के तुल्य समझा है, इसलिए मैंने अपनी साहित्य-साधना को एक मात्र अपने व्यक्तित्व से ओतप्रोत रखा है और उसके लिए मैंने साधना भी की है। यह साधना तत्त्वतः आत्मगत चिंतन और मननशीलता के परिणामस्वरूप हैं। यों अध्ययनशीलता के नाते मैंने देशी-विदेशी साहित्य का अध्ययन खूब किया है। किंतु यह विशेषतः तीन

भागों में रहा है—(1) काव्य, (2) नाटक और (3) आलोचना। काव्य में मुझे संस्कृत के बाणभट्ट, हिंदी में तुलसी और कबीर, बंगाली के अनुवादों में रवींद्रनाथ ठाकुर और अंग्रेजी में कीट्स अत्यंत ही प्रिय रहे हैं। नाटक के क्षेत्र में संस्कृत के कालिदास, हिंदी के भारतेंदु हरिश्चंद्र, बंगाली के द्विजेंद्रलाल राय, अंग्रेजी के इब्सन और शा विशेष प्रिय रहे। आलोचना में मुझे हिंदी के पं. पद्मसिंह शर्मा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बंगाली के रवींद्रनाथ ठाकुर और अंग्रेजी के जेम्सस्काट विशेष आकर्षक लगे। उपन्यास मैंने बहुत कम पढ़े। हिंदी के प्रेमचंद, बंगाली के शरत् और अंग्रेजी के डिकेंस को मैंने पढ़ा, परंतु प्रेमचंद को छोड़कर किसी देशी-विदेशी उपन्यासकार के पूरे उपन्यास मैं न पढ़ सका। कारण, मैं बहुत धीरे पढ़ता हूं बहुत सोच कर—समझ कर। शायद मेरी अध्ययनशीलता की प्रवृत्ति मुझे जल्दी नहीं पढ़ने देती और जो समय बड़े-बड़े उपन्यासों के पढ़ने में लगता, उतना मेरी अपनी साहित्य-साधना में मिल नहीं सकता। इसीलिए जब कोई मुझसे मेरी पढ़ने की परिधि के बाहर के उपन्यास की बात पूछता है तो अन्यमनस्कता से उस ओर से अपनी उदासीनता प्रकट कर देता हूं। मेरे दृष्टिकोण से तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, बर्नार्ड शा सबसे बड़े नाटककार और प्रेमचंद सबसे बड़े उपन्यासकार। और जब मैं यह कहता हूं, तब एक विशेष दृष्टिकोण से। साहित्य वही है, जो अपने राष्ट्र—अपनी संस्कृति का प्रतीक हो और जिसमें सांप्रदायिकता से परे एक सार्वजनिक कल्याण और सौंदर्य की भावना हो। मेरी इस कसौटी पर यही तीन साहित्यस्रष्टा सबसे खरे उतरते हैं। इन कलाकारों ने अपने देश और समाज का नेतृत्व किया है; कटु आलोचनाएं भी की हैं और वात्सल्यमयी जननी की भांति साहित्यशिशु को पोषित किया है तथा उसके दोषों को उसी प्रकार परिहार किया है जैसा कि तुलसीदासजी ने कहा है—*'जिमि सिसुतन व्रण होहि गुसाईं, मातु चिराब कठिन की नाईं'* अथवा—

जदपि प्रथम दुख पावहिं,
रोवहिं बाल अधीर।
ब्याधि-नास हित जननी,
गनहि न सो सिसु-पीर।

साहित्य-स्रष्टा का यही मापदंड होना चाहिए और मैं आज इसी सिद्धांत का समर्थक हूं।

छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के संबंध में आपका क्या मत है?

साहित्य के दो भाग हुआ करते हैं—पहला तो साधना-सम्मत, जिसमें युग-युग की परंपराओं को पोषित कर जीवन के परिष्कार का दृष्टिकोण परिलक्षित है और दूसरा परिस्थिति-सम्मत, जिसमें कि समसामयिक आवश्यकताओं की प्रेरणाएं आंदोलन किया करती हैं। रहस्यवाद और छायावाद प्रथमकोटि में आते हैं और प्रगतिवाद दूसरी में। मैं साहित्य के स्वस्थ जीवन के लिए दोनों की आवश्यकता समझता हूं। रहस्यवाद सभी साहित्यों में और सभी कालों में पाया जाता है। इसे मैं आत्म-परिष्कार की सबसे बड़ी साधना समझता हूं। मनुष्य अपनी परिस्थितियों से उठकर अपनी सहज सभ्यता से किसी श्रेष्ठ और अलौकिक शक्ति का अपने जीवन में आह्वान करता है और अपने आत्म-समर्पण से उसमें एकाकार हो जाना चाहता है। वह सत्ता संपूर्णतः पवित्र और कल्याणकर है। उसे आप चाहे जो नाम दे दें। इसे आप राम कहें, कृष्ण कहें, ब्रह्म कहें, हक कहें या अचिंत्य आनंदमय प्राकृतिक शक्ति के नाम से पुकारें। जो हो, वह मानवता का एक चरण लक्ष्य-बिंदु है, जिसमें उन परिस्थितियों की उलझनों से हटकर विशुद्ध जीवन की शक्तिमयी अनुभूतियां प्राप्त होती हैं, जिनसे वह युग-युग के आघातों को सहन करता हुआ दृढ़तापूर्वक अपने विकास-पथ पर अग्रसर होता है। यही रहस्यवाद का लक्ष्य है, यद्यपि हिंदी मे इसे अनुभवहीन अनेक कवियों ने अपनी ना-समझी से भ्रष्ट कर दिया है। यह अनुभूति मानवता के आलोक का वह प्रकाश स्तंभ है, जिसकी किरणें भविष्य जीवन के सहस्रों योजनों तक भी प्रकाश फेंकती हैं और मनुष्य चाहे तो अपने निश्चल जीवन को शांति और मानव-प्रेम के शक्तिशाली यान पर बैठकर पार कर सकता है। इस साधना में कवि को भक्त होने की आवश्यकता नहीं और न उसको छापा-तिलक लगाने की आवश्कता है। उसे केवल अपने हृदय में एकांतिक प्रेम की पवित्रता घनीभूत करते हुए जीवन को पवित्र करने वाली सत्ता की ओर स्वाभाविक रूप से अग्रसर होने की आवश्यकता है। इसमें कोई कृत्रिमता का आभास न हो। यह हृदय की स्वाभाविक चेष्टा है, जो अपनी गति में उस ओर चली जाए, जिस प्रकार ढालू जमीन में पानी आगे चलता जाएगा और जिस प्रकार सहस्रों वर्ष पूर्व वेद की ऋचाओं में यह रहस्यवाद था, उसी प्रकार आज से सहस्रों वर्ष बाद भी किसी दूसरे रूप में यह रहस्यवाद रहेगा। इसके साधन भिन्न होंगे, इसकी भाषा भिन्न होगी, किंतु इसकी भावना भिन्न न होगी।

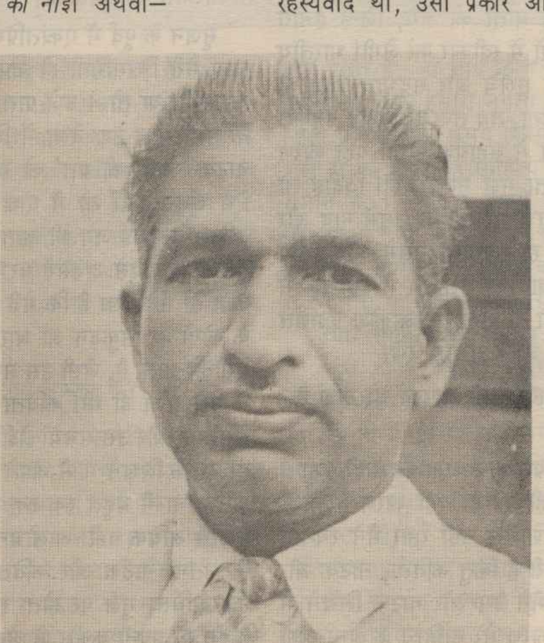

रामकुमार वर्मा

छायावाद और रहस्यवाद में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। रहस्यवाद एक समष्टिभावना है और छायावाद एक व्यष्टिभावना। रहस्यवाद में यह अनुभूति एकांतिक प्रेम से पूर्ण रहती है, छायावाद में केवल एकांगी। उस अव्यक्त सत्ता की छाया या प्रतिबिंब इस भौतिक जगत में कलाकार को दीख पड़ता है; फूल में उसकी हंसी, लहरों में उसका बाहु-बंधन, तारों में उसका संकेत, भ्रमरों में उसका गुंजन, सुख में उसकी सौम्य हंसी। तब कवि कौतूहलमय जिज्ञासा से उस हंसी को, उस बाहु-बंधन को, उस संकेत को, उस गुंजन को और उस सौम्य हंसी को पहचानना

चाहता है। मेरे आत्मीय मित्र श्री सुमित्रानंदन पंत की 'मौन निमंत्रण' शीर्षक कविता छायावाद का हिंदी में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। उसी प्रकार श्रीमती महादेवी वर्मा की 'बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं' में रहस्यवाद की पूर्णानुभूति है। दोनों में यही अंतर है। श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'दोनों ओर प्रेम पलता है' शीर्षक *साकेत* का एक गीत रहस्यवाद की एक कुंजी है, जो उर्मिला और लक्ष्मण के बहाने आत्मा और परमात्मा के प्रेम का एक प्रोज्ज्वल प्रतीक है। रहस्यवाद में अनुभूति प्रधान है, छायावाद में जिज्ञासा, यद्यपि दोनों ही एक सत्ता के परिचायक हैं।

प्रगतिवाद आज की आवश्यकताओं से उद्भूत एक प्रवृत्ति मात्र है। यों काव्य में प्रगतिवाद तो साहित्य का एक आवश्यक अंग है। इस दृष्टि से कबीर, तुलसी, भारतेंदु, प्रसाद–सभी प्रगतिवादी थे क्योंकि उन्होंने अपनी परिस्थितियों से उठकर अनुचित परंपराओं का परिहार करते हुए जागृत-जीवन की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न किया। जिस अर्थ में प्रगतिवाद साम्यवादी या कम्यूनिस्टिक प्रतिरूपक हो गया है जिसमें मात्र विद्रोह, हिंसा, कुरुचि, नग्नता और समस्त विध्वंसात्मक प्रवृत्ति आ गई है, वह मैं साहित्य के लिए हितकर नहीं समझता। रूढ़ियों का तोड़ना एक बात है और कुरुचिपूर्ण यथार्थ का चित्रण दूसरी बात। आधुनिक प्रगतिवाद में दूसरी बात अधिक है। दूसरी बात यह है कि जो सिद्धांत सोशलिज्म के हैं, वे हमारे यहां साहित्य में परिव्याप्त होते हुए भी हमने स्वीकार नहीं किए, किंतु वे ही जब विदेशी माध्यम से आए तो हमने अपना लिए। मैं राष्ट्र और उसके सिद्धांतों को बिना अपने अनुकूल परिष्कृत किए स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हूं। यों मानवता एक है और उसमें कोई व्यक्ति भेद नहीं, फिर भी भौगोलिक परिस्थितियों से मनोविज्ञान में अंतर होता है। प्रथाएं बनती हैं, संस्कार बदलते हैं और इसलिए हम अपने देश की जलवायु के अनुकूल उन्हीं बातों को लेंगे, जिन्हें हमारी मानवता अपनी अनुकूल परिस्थितियों में स्वीकार कर लेगी। भारतीय साहित्य का सबसे बड़ा गुण उसकी सुरुचि और सद्भावना रही हैं और जब तक इनका संरक्षण होता रहेगा, तब तक वह हमारे अनुकूल रहेगी और हमारे साहित्य के विकास में सहायक होगी। यही कारण है कि कविता के क्षेत्र में उच्छृंखलता मुझे मान्य नहीं। विद्रोह तो मैं चाहता हूं, पर ग़दर न हो। मुक्तवृत्त भले हो पर उसमें नाद और भावनाओं की एकरूपता सुरुचिपूर्ण हो, अन्यथा उसमें और प्रलाप में कोई अंतर न रह जाएगा। प्रगतिवाद का संशोधन मैं इसी रूप में चाहता हूं कि जीवन की विषमताओं के प्रति पूर्ण आक्रोश प्रदर्शित करते हुए हम पुनर्निर्माण का लक्ष्य अपने सम्मुख रखें।

इतनी लंबी साहित्य-साधना में क्या कभी आपका जी ऊबा है? यदि हां, तो क्या कारण रहे हैं?

कभी नहीं। मैं तो समझता हूं कि प्रत्येक साधना की सीढ़ी समाप्त करने पर मेरे हृदय में उमंग बढ़ती ही गई है। यही कारण है कि मैं अपने साहित्यिक जीवन में कभी शिथिल नहीं रहा। मैंने रचनाएं प्रकाशित न कराई हों, यह बात दूसरी है किंतु कविता, नाटक और आलोचना कभी रुकी नहीं। यद्यपि मैंने इस ओर नाटक लिखने में विशेष रुचि दिखाई है, किंतु इसका कारण मेरे साहित्य के अन्य अंगों की उपेक्षा नहीं, वरन् अपने एक अंग को, जिसे मैं अधिक व्यवस्थित करना चाहता हूं, उसे अधिक से अधिक संपन्न और स्थायी करने की भावना है। साहित्य कभी मेरा पेशा नहीं रहा, इसलिए दैनिक कार्यों के करने के समान उसमें ऊब की भावना कभी नहीं आई। मैं तो जब साहित्य लिखता हूं तो अनुभव करता हूं कि एक गायक अपनी वीणा पर गाता है या एक पुजारी पूजा करता है या एक चित्रकार चित्र बनाता है। न गायक कभी ऊबता है, न पुजारी कभी थकता है और न चित्रकार कभी उदासीन होता है। यही मनोवृत्ति मेरी रही है। नए-नए गीत लिखना, नए-नए दृष्टिकोण उपस्थित करना और नई-नई भावनाओं को जन्म देना मेरी स्वभाविक वृत्ति रही है और जो स्वभावगत, है, उसमें ऊब कहां?

किस कृति को लेकर आपको सर्वाधिक संतोष हुआ है?

यों तो मैं जो कुछ लिखता हूं, तैयारी के साथ लिखता हूं। उसके समस्त साधन मेरे पास हों और उसके अनुकूल मनोवृत्ति मुझमें आ गई हो, तभी लिखता हूं किंतु लिखता सदैव हूं, फिर चाहे कविता लिखूं, चाहे नाटक, चाहे आलोचना। ऐसी स्थिति में मनोवृत्ति के अनुकूल चीज लिख लेता हूं। नाटकीय मनोवृत्ति में मैं कविता नहीं लिखूंगा और न आलोचना की मनोवृत्ति में नाटक। इसलिए मेरे साहित्य में जबर्दस्ती नहीं। इस हालत में मैं अपने मित्रों के अनुरोध को मानने से भी इंकार कर देता हूं, क्योंकि मैं लिखूंगा अपनी मनोवृत्ति के ही अनुसार। इसलिए अपनी दृष्टि में न तो कोई चीज हीन लिखना चाहता हूं न लिखता हूं। फिर भी मानसिक स्थिति के अनुकूल कोई रचना अच्छी या बुरी हो ही जाती होगी। अपनी रुचि के अनुसार सभी रचनाएं एक-सी बन ही न सकती होंगी। जिन रचनाओं ने मुझे विशेष संतोष दिया है, वे हैं—काव्य के क्षेत्र में 'चित्ररेखा', नाटक के क्षेत्र में 'चारु मित्रा' और आलोचना के क्षेत्र में 'संत कबीर'।

सृजन के पूर्व, सृजन के समय और सृजन के पश्चात आपकी मन:स्थिति क्या होती है?

सृजन के पूर्व मैं एकांतप्रिय होता हूं। ऐसी स्थिति में सिगरेट और चाय मेरी चिरसंगिनी हो जाती हैं। यह प्रायः दो अवसरों पर हुआ करता है। या तो 4 बजे प्रातःकाल या 12 बजे रात को। 'चित्ररेखा' के सभी गीत उषा-बेला में लिखे गए हैं और 'चारु मित्रा' के सभी नाटक 'रजनी की रात' को छोड़कर, अर्द्धरात्रि में ही लिखे गए हैं। ऐसे अवसरों पर तो मैं एकांत सरलता से पा लेता हूं, किंतु उस अवसर पर कोई जग भी जाता है तो मैं उसे सोने का आदेश दे देता हूं। कई बार ऐसे अवसरों पर मैंने अनायास शीशे में अपना मुंह भी देखा है। मैंने देखा है कि मेरी भौंहें संकुचित हो जाती हैं और आंखों के कोनों पर सिकुड़न आ जाती है। शायद उस समय मेरी मुख-मुद्रा ऐसी हो जाती है, जैसी उस समय थी जब सत्याग्रह करने पर पिताजी ने मुझे सजा दी थी। कविता लिखने में गाने लगता हूं, गुनगुनाने लगता हूं और उस समय कोई मुझे देखे तो समझे कि शायद मैं पागल हूं। नाटक लिखने में मैं अपने पात्रों का अभिनय स्वयं करता हूं और आलोचना मैं बहुत रुक-रुक कर लिखता हूं। शायद एक घंटे में दो पृष्ठ से अधिक नहीं। आलोचना में जितना अधिक भाषा को तौलता हूं, उतना नाटक और कविता में नहीं। संभवतः एक प्रोफेसर का उत्तरदायित्व मुझ पर होता होगा। मेरी कल्पना में बात यह आती है कि मैं अपनी क्लास में लेक्चर दे रहा हूं और गंभीरता से अपनी दीवाल को ही विद्यार्थी मानकर सुनाता हूं। लिखने के बाद मेरी मनोवृत्ति अपनी रचना को सुनाने को बड़ी प्रबल हो जाती है। कई बार मैंने इसी मनोवृत्ति के वशीभूत होकर अपात्रों को भी अपनी

समीक्षा

हिमालय का प्रकाशन

हिमालय (मासिक साहित्य)—संपादक : शिवपूजन सहाय और रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी; प्रकाशक : पुस्तक भंडार, हिमालय प्रेस, पटना। एक अंक का मूल्य 1 रु.; वार्षिक मूल्य 10 रु.।

'हिमालय' का प्रकाशन जिस परिस्थिति में, जिस उद्देश्य को लेकर और जिन महान साहित्यिकों के तत्त्वावधान में हुआ है वह बिहार के लिए ही नहीं, समस्त हिंदी जगत के लिए महत्त्व का विषय है। यों तो प्राकृतिक वैभव, प्राचीन संस्कृति और उदात्त भावनाओं की दृष्टि से बिहार बहुत समृद्ध है, परंतु बहुत-सी ऐसी बातें भी हैं जिनमें यह प्रांत अपने पड़ोसी प्रांतों से बहुत पीछे है। उंगलियों पर गिने जाने योग्य हिंदी के प्रथम श्रेणी के लेखकों और कवियों की गणना में बिहार का स्थान भले ही ऊंचा हो, परंतु जहां तक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का संबंध है, प्रमुख हिंदी प्रांत होते हुए भी बिहार अपने पड़ोसी संयुक्त प्रांत से पीछे है। (मासिक साहित्य के विषय में यह बात और भी लागू होती है।) ऐसी स्थिति में 'हिमालय' के समान उच्चकोटि के मासिक साहित्य के प्रकाशन का हम हृदय से स्वागत करते हैं। इसके संपादन का भार हिंदी जगत के भीष्मपितामह श्री शिवपूजन सहाय एवं श्री बेनीपुरीजी जैसे महारथी—साहित्यिकों ने ग्रहण किया है। डा. राजेंद्र प्रसाद और आचार्य नरेंद्रदेव जैसे महान व्यक्तियों का इस पर वरद हस्त है। पहले ही अंक में 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—यह उक्ति चरितार्थ हो रही है।

डाक्टर राजेंद्र प्रसाद की आत्मकथा में हमें बिहार के वास्तविक सामाजिक जीवन का जितना सुंदर चित्र मिला है, संभवतः अब तक किसी अन्य साहित्यिक की कलम से ऐसा सजीव चित्र अंकित नहीं हुआ है। हिंदी साहित्य के लिए इस का मूल्य इसीलिए नहीं है कि यह राजेंद्रबाबू की जीवनी है; उसके द्वारा हमारे सामने लोक-जीवन का वास्तविक चित्र भी उपस्थित होता है।

आचार्य नरेंद्रदेवजी के 'व्यक्ति और समष्टि', बाबू फूलन प्रसाद वर्मा के 'मार्क्सवाद और साहित्यकला', श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के 'संस्कृति समन्वय' एवं श्री जानकी वल्लभ शास्त्री के 'काव्य-परिचय' के रूप में हिमालय द्वारा जो गंभीर लेख प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे स्पष्ट है कि हिंदी में गंभीर लेख के लिखने वालों की कमी नहीं है; कमी है गुणग्राहकों की। दिनकरजी की तीनों ही कविताएं अपने-अपने ढंग की अनूठी हैं। 'बलदेव सिंह' का चित्रण तो बहुत ही सजीव हुआ है। बेनीपुरीजी उसके लिए बधाई के पात्र हैं।

हमें 'हिमालय' से बहुत आशा है और आशा है, हिमालय हमारी आशा पूरी करेगा।

—हंसराज

—अप्रैल, 1946

रचनाएं सुनाई हैं। सुनाने का एक दृष्टिकोण है और वह है संशोधन का या सुझाव का। सुनाते वक्त सैकड़ों नई-नई बातें मुझे सूझी हैं, जो मैंने अपनी रचना में समाविष्ट की हैं। कभी-कभी सुपात्रों से कोई सुझाव मिल जाता है और मैं आदरपूर्वक उसे स्वीकार कर लेता हूं। इस प्रकार मेरी रचना हिंदी-संसार में जाने से पूर्व कम से कम एक दर्जन बार मेरे मुंह से गुजर जाती है। कभी-कभी तो सुनाते-सुनाते रचना में आमूल परिवर्तन हो गया है और मैंने पहली रचना फाड़ डाली है और दूसरी बार लिखी है। इस प्रकार मेरी रचनाओं के अनेक संस्करण घर पर ही हो जाते हैं।

क्या साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है?

इस समय संभव नहीं है। कुछ वर्षों में हिंदी के प्रेमियों की संख्या ऐसी हो जो धनिकों को भी अपनी परिधि में घेर ले और उनका साहित्यकारों पर पूर्ण विश्वास हो जाए अथवा हिंदी के पाठकों की वृत्ति साहित्य खरीदने की हो जाए, तब संभव है हमारा साहित्यिक साहित्योपजीवी हो सके। कितनी बार मैंने सोचा है कि मैं अपनी कृतियों के बल पर स्वतंत्र-जीवन व्यतीत करता और मुझसे प्रोफेसरी की कैद छूट जाती, किंतु मेरी 14 पुस्तकों की वर्ष भर की रायल्टी 3 हजार से अधिक नहीं हुई। ऐसी स्थिति में जब मैं इतनी पुस्तकें लिखकर भी उतना नहीं कमा सकता, जितना मैं थोड़े-से परिश्रम से यूनिवर्सिटी से कमा लेता हूं, तब उन बेचारे साहित्यिकों की बात क्या पूछते हैं, जो साधनहीन हैं और जिनकी बात प्रकाशक लोग पूछते तक नहीं। हमारी जनता उनका आदर करना नहीं जानती। वह किसी प्रकार किसी समय किसी अवसर विशेष पर उनका मनोरंजन भले ही कर ले, किंतु साहित्य उनके लिए रेल के एक कंपार्टमेंट के समान है, जिसमें वे अपनी सुविधानुसार कुछ घंटे बैठकर बाहर निकल आते हैं, अपने घर की तरह उसमें सदैव नहीं रह सकते। जब कि पाठक साहित्य को जीवन का एक आवश्यक अंग समझने लगेंगे, तब हमारा साहित्यिक साहित्योपजीवी होगा।

हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा?

बहुत उज्ज्वल। साहित्यकारों में ऐसी लगन पहले कभी नहीं देखी गई थी। अन्य साहित्यों की प्रतियोगिता में हमारा साहित्य बड़ी तीव्र गति से चल रहा है। यदि हमारे साहित्यकारों ने साहित्य-सेवा में साधना को अधिक स्थान दे दिया और वे एक उत्तरदायित्व के साथ साहित्य-साधना करते गए तो भारतीय साहित्यों में हिंदी-साहित्य सर्वश्रेष्ठ होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। हिंदी में स्वाभाविक गतिशीलता है, जो कदाचित अन्य भाषाओं में नहीं। इसे अखिल भारतीय समर्थन प्राप्त हो चुका है और हमारा साहित्य अन्य अंगों में भी विकसित होता जा रहा है। चाहे जितने भी विरोध होंगे, वे क्षणिक सिद्ध होंगे और हिंदी का मार्ग प्रशस्त बनकर हमारे देश की उन्नति का सर्वोच्च सोपान होगा। ❑

—फरवरी, 1946

श्रद्धांजलि

'अत्तसरणा भवथ अत्तदीपा'

राहुल सांकृत्यायन

आज तक भारत में किसी अपने महान-पुरुष पर, उसके विचारों की भिन्नता के लिए ऐसा नृशंस कार्य नहीं किया गया था। बुद्ध ने बहुत-सी कड़वी-मीठी बातें कहीं, समाज के कोढ़ों पर गहरा प्रहार किया, किंतु वह अपना पूरा जीवन बिताकर निर्वाण को प्राप्त हुए। महावीर के विचार तत्कालीन समाज के बहुत अंशों में विरोधी रहते हुए भी, किसी ने उनके रक्त से अपना हाथ नहीं रंगना चाहा। जो घृणित कार्य हमारे सारे इतिहास में नहीं देखा गया, हमारी संस्कृति जिससे अपरिचित थी, उसकी कालिमा हमारे इतिहास पर लगाई गई।

गांधीजी की हत्या अत्यंत कायरतापूर्ण कृत्य है। उनका प्राण लेना कोई कठिन काम नहीं था, वह सर्वथा अरक्षित लाखों की भीड़ में घूमते थे। उन्हें अपने जीवन की परवाह न थी। उन्होंने अपने सारे जीवन के एक-एक क्षण का मूल्य चुका लिया था, वह कृत्य-कृत्य थे, भारमुक्त थे। उनके हत्यारों ने अपने इस जघन्य काम का क्या लाभ समझा था! हां गांधीजी की हत्या का पाप केवल गोडसे पर ही नहीं है, इसके पीछे बहुत-से छोटे-बड़े लोग हैं, जिनके संकल्पों की भनक महीनों से हमारे कानों में आ रही थी। गांधीजी और देश के नेताओं की हत्या करके जबरदस्ती राज्य शासन को हाथ में लेने की बातें कितने दिनों से हमारे वायुमंडल में फैली हुई थीं। गांधीजी अपराधियों को क्षमा कर सकते थे किंतु राष्ट्र क्षमा नहीं कर सकता—'जो नहिं दंड करहु खल तोरा, वृथा होहि सन्मारग मोरा।'

गांधीजी ने जीवन के क्षण-क्षण का मूल्य तो चुका ही लिया, उन्होंने मृत्यु का मूल्य भी बाएं नहीं जाने दिया। 78 वर्ष का वह निर्बल शरीर, बुद्ध के वचनानुसार रस्सी से बांधकर चलाए जाते शकट की तरह चल रहा था, कुछ दिन और चलता। उसे तो एक दिन विश्राम लेना ही था। गांधीजी ने असाधारण विश्राम लिया। उनकी यह मृत्यु भी जीवन की तरह ही यशस्वी हुई। जहां तक कि उसका गांधीजी से संबंध है, गांधीजी वह महान पुरुष थे, जिनका स्थान शताब्दियों में भी पूरा नहीं हो सकता। वह वास्तविक अर्थ में, हमारे राष्ट्र के पिता थे, भारत के नए जन्म में उनका बड़ा हाथ है। भारत अमर है, उसके साथ-साथ गांधीजी भी अमर रहेंगे। गांधीजी ने वह रास्ता दिखलाया है, वह प्रदीप हमारे हाथ में दिया है, जिससे हम अपना पथ देख सकते हैं। यदि यह न होता तो उनके सारे जीवन का प्रयत्न निष्फल होता। निर्वाण शैया पर लेटे बुद्ध की भांति हमारे राष्ट्र पिता भी चाहते थे—

'अत्तसरणा भवथ, अत्तदीपा।' ❑

—मार्च, 1948

कविता

ओ प्रभात

चंद्रकुंवर बर्त्वाल

ओ प्रभात, मेरे प्रभात सुंदर, आओ तुम धीरे;
ओ पुलकित पवनों की चंचल स्वर्णपुरी के हीरे।
निर्मल जल पर पड़ती लखकर तरुण किरण की छाया
इस निरभ्र नभ-सा मुझको भी हंसना है ही भाया।
उमड़ो ब्रन प्रवाह सौरभ के शिशिर-शीर्ण जीवन में;
जागो आशा के बसंत-से यौवन के उपवन में।
दूर करो मानिनि! निद्रा के आनन का अवगुंठन;
उसे प्रीति की रीति सिखाओ मुग्धा के जीवन-धन!
स्वर्ण-अश्व को थाम द्वार पर उतरो हे चिर सुंदर;
निद्रित प्रेयसि के आगे तुम आओ मृदुल चरण धर!
सोने की वंशी हाथों में, मृदुल हंसी अधरों पर,
भर बांहों में वह लज्जित मुख चूमो हे मधुराधर!
तुम्हें देखकर उठी ससंभ्रम तरु-तरु-तल पर छाया;
तुम्हें देख कुसुमों के मुख पर मंद हास फिर आया।
जोड़ तरल कर लगा भाल पर बिंदु अरुण चंदन का,
हुई तुम्हारे शुचि चरणों में प्रणत पावनी गंगा।
निश्चल पंखों को दी तुमने शक्ति पुनः उड़ने की;
थिर चरणों को मिली प्रेरणा फिर उठकर चलने की।
मुंदे नयन फिर खुले, हृदय में फिर आईं आशाएं;
अधरों में गुनगुना उठीं फिर प्राणों की भाषाएं।
गोशाला के द्वार खोलकर, गौओं को बाहर कर;
चले मधुर गाते तुम हिम-जल से भीगे वन-पथ पर।
भेजी तुमने कृषक-कुमारी हंसिया ले खेतों को,
कटने को चुपचाप खड़ी हैं जहां फसल आनत हो।
ले जाते किशोर पृथ्वी को तुम यौवन के पथ पर;
कलिकाओं के फूल बनाते, फूलों के फल सुंदर।
करते अस्त चंद्र को, रवि को नील गगन में लाते;
ऋतुओं को करते परिवर्तित, विविध समीर बहाते।

चंद्रकुंवर बर्त्वाल: गढ़वाल के तरुण कवि, 'नंदिनी' खंड-काव्य के रचयिता; कुछ दिन पहले क्षय से असमय देहांत हो गया। अनेक भावपूर्ण कविताएं अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं।

चतुर चोर तुम नव-यौवन के उपवन में नित आकर;
मधुर फलों के परिणत रस से अपनी तृषा बुझाकर;
बैठ आम्र के तरु के नीचे घन छाया में दिन भर,
संध्या-समय चले जाते हो मुरली मधुर बजाकर।
नील नगन के स्वर्ण-गीत तुम, स्वर्ण-भरण रजनी के;
तुम जागृति के स्वप्न मनोरम पलकों पर अवनी के।
तुम दिन-दिन नवीन होने वाले पृथ्वी के यौवन;
सदा पल्लवित रहने वाले अखिल विश्व के जीवन।
हे परिचित, हे सदा अपरिचित, हे नीरव, हे सुंदर;
हे प्राणों के परम मित्र, हे शत्रु उदास मनोहर।
नील गगन के द्वार खोलकर, स्वर्ण-मुकुट धारण कर,
मेरी आत्मा के द्वारों पर आते तुम वर बनकर।
कर एकांत देश में परिणय अपनी तरुण वधू को,
भर बांहों में, उसका मृदु-मृदु रोदन सुन पुलकित हो।
उसे बिठाकर अपने रथ पर मधुर स्वरों में गाते,
सुख में दुख में प्रतिदिन तुम, हे बंधु! कहां ले जाते?
भाग रही है रात सामने अंधकार को लेकर;
पीछे से घिरता आता तम तारों से सज-धज कर।
आसपास करती रहती हैं ऋतुएं अस्थिर नर्तन;
पृथ्वी के आनन पर होते, क्षण-क्षण नव परिवर्तन।
ये नीरव नयनों के चुंबन, ये कोमल आलिंगन,
ये चुप-चुप विह्वल कानों में पुलक स्वरों के वर्षण;
आंखें मूंद तुम्हारी बांहों पर अपना सिर धरकर,
मैं चुपचाप चला जाता हूं साथ तुम्हारे सुंदर।
बिदा, चिर-बिदा मधु से लेते फिर न कभी खिलने को,
कहां जा रहे हम अपनों से फिर न कभी मिलने को?
यह कैसी यात्रा है जिसमें आज पदों पर चुभकर;
कल कांटे भर आते कोमल स्मिति बन अधरों पर?

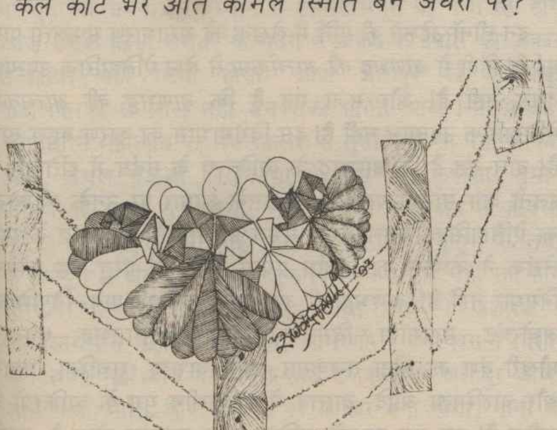

चलना भूल खोल अश्वों को बैठ मृदुल दूर्वा पर,
दूर किसी नीरव निर्जन में, बांहो में बांहें भर;
पुष्पों के वन में सरिता की कोमल कल-कल सुनते,
हे सुंदर, हम सदा सुखी बन क्या न रुके रह सकते?
पलकों पर मोती की बूंदें, अंचल में मृदु किरणें;
वाणी में विहगों का कलरव, अलकों में नव पवनें—
ये उपहार सदा उड़ जाते जो निष्फल स्वप्नों से,
क्या न सदा के लिए बनेंगे वन उर के नयनों से?
और जरा जब आकर मेरे नयन मलिन कर देगी,
जब इस बुझते हृदय-दीप को निविड़ निशा घेरेगी।
तब मेरे सिरहाने अपनी कोमल प्रभा बिछाकर,
आश्वासन क्या दे न सकोगे तुम रजनी में आकर?
गहन मृत्यु के किसी अंधेरे वातायन तक उठकर,
मैं विहगों के गीत सुनूंगा आंखों में आंसू भर।
देखूंगा सुदूर जीवन के पथ पर किरणें लेकर,
उतर रहे हो नील गगन से तुम हंस हास मनोहर।
मैं रोऊंगा, जब फूलों से तुम वन-वन भर दोगे!
मैं रोऊंगा जब तुम दूर्वा के आंसू पोंछोगे!
मैं रोऊंगा जब छाया के तट पर लेट अकेले,
तुम कोमल-कोमल भ्रमरों के गुंजन मधुर सुनोगे।
मुझे दूर अपनी किरणों से अधिक न प्रियतम रखना;
मेरी गहन मृत्यु में सुंदर सपना बनकर जगना!
मुझे जगाना पुनः सृष्टि में, जिसको छांह तुम्हारी,
देती है नित तरल स्वर्ण की कांति नयन-हर प्यारी!
मुझे जगाना पुष्प बनाकर इस सुखपूर्ण भुवन में;
मुझे उड़ाना भ्रमर बनाकर इस मृदु मंद-पवन में।
खग, मृग, तरु-पल्लव जो कुछ भी बनकर फिर जागूं मैं;
मुझे सदा रखना अपनी ही कल-किरणों के वन में।
ओ! मेरी आशा के वैभव, सागर नीरव सुख के,
हे! उज्ज्वल अवलंबन मेरे जन्म-जन्म के दुख के;
इस पृथ्वी में कहीं न दीखें जब मुझको सुख अपने,
तब भी देख सकूं मैं निशि-दिन सुखद तुम्हारे सपने।
दूर्वा से अब ओस उड़ गई, स्थिर हो गया समीकरण;
चारों ओर व्यस्त कल-रव कर बहता जाता जीवन!
मैं एकाकी, गए सुखों की सुधि से भरकर लोचन;
करता हूं चुपचाप तुम्हारी शोभा का अभिनंदन।

उतरो, ओ प्रभात जीवन में,
उतरो धीरे-धीरे!! ❑

—अप्रैल, 1948

पुस्तक-चर्चा

बाणभट्ट की आत्मकथा

चंद्रगुप्त विद्यालंकार

स्वयं अपनी रचना के संबंध में रचना का ही अंश बनाकर की गई यह आलोचना बहुत अंशों तक बाणभट्ट की आत्मकथा की यथार्थ समालोचना है। इस दृष्टि से हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत सफल और साधारण नई शैली खोज निकाली है।

एक उपन्यास को किसी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति की आत्मकथा के रूप में लिखने का यह ढंग काफी अंशों तक मौलिक है। ऐतिहासिक व्यक्तियों या ऐतिहासिक घटनाओं के संबंध में उपन्यास या नाटक तो लिखे ही जाया करते थे, परंतु हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस तरह अपना यह उपन्यास *बाणभट्ट की आत्मकथा* के रूप में लिखा है, इस तरह के उपन्यास संपूर्ण विश्व के उपन्यास-साहित्य में भी बहुत कम मिलेंगे।

यही कारण है कि अपने इसी उपन्यास के उपसंहार में द्विवेदीजी एक तटस्थ आलोचक की तरह स्वयं अपनी रचना की निष्पक्ष समालोचना कर गए हैं। इस उपसंहार का प्रारंभिक अंश इस प्रकार है:

'*बाणभट्ट की आत्मकथा* का इतना ही अंश मिला था। स्पष्ट ही यह कथा अपूर्ण है। मेरा विचार था कि कथा की जांच केवल बाणभट्ट की उपलब्ध पुस्तकों से सादृश्य रखने वाले अंशों के साथ तुलना करने तक ही सीमित न रखी जाए, बल्कि उसकी भीतरी साहित्यिक जांच भी की जाए। कादंबरी की शैली के साथ कथा की शैली में ऊपर-ऊपर से बहुत साम्य दिखता है, आंखों का प्राधान्य इसमें भी अन्य इंद्रियों की अपेक्षा अधिक है... रूप का, रंग का, शोभा का, सौंदर्य का इसमें भी जमकर वर्णन किया गया है, पर इतने से ही साहित्यिक जांच समाप्त नहीं हो जाती। कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है, उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत कुछ आजकल की डायरी शैली पर लिखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे-जैसे घटनाएं अग्रसर होती हैं, वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहां उसके भावावेग की गति तीव्र होती है, वहां वह जमकर लिखता है। परंतु जहां दुख का आवेग बढ़ जाता है, वहां उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है। अंतिम उच्छ्वासों में तो वह जैसे अपने ही में धीरे-धीरे डूब रहा है।' (पृष्ठ 386)

स्वयं अपनी रचना के संबंध में रचना का ही अंश बनाकर दी गई आलोचना बहुत अंशों तक *बाणभट्ट की आत्मकथा* की यथार्थ समालोचना है। और इस दृष्टिकोण से हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत सफल और असाधारण नई शैली खोज निकाली है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वयं एक सिद्धहस्त समालोचक हैं। उनकी समालोचना संतुलित होती है, एकांगी नहीं। इसी कारण वह इतनी सफलता से स्वयं अपनी रचना की भी समालोचना कर गए हैं। इतना ही नहीं, संपूर्ण उपन्यास की रचना में यह तथ्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि यह एक सिद्धहस्त समालोचक की कृति है। लेखक इस बात से गाफिल नहीं कि उसकी रचना की भी आलोचना होनी है।

बाणभट्ट की आत्मकथा की आलोचना को मैं दो भागों में बांटना पसंद करूंगा। पहले इस उपन्यास की खूबियां और उसके बाद उपन्यास की कमजोरियां।

इस उपन्यास का उद्देश्य बाणभट्ट के युग के उत्तर भारत के, विशेषतः महाराजा हर्ष की राज्य-सीमा के सामाजिक जीवन का चित्रण करना है। बाणभट्ट के जीवन के संबंध में जो थोड़ी-बहुत सामग्री, इंगित या स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती है, उसके आधार पर बाणभट्ट के व्यक्तित्व का औपन्यासिक निर्माण करना भी इस रचना का उद्देश्य प्रतीत होता है। औपन्यासिक निर्माण से मेरा अभिप्राय है व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के लिए औपन्यासिक वातावरण की काल्पनिक सृष्टि करना। इस उपन्यास का तीसरा ध्येय है—हिंदी में बाणभट्ट की शैली का परीक्षण करना।

इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में लेखक को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। हिंदी में *बाणभट्ट की आत्मकथा* से श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास दूसरा नहीं है। और मजा यह है कि *बाणभट्ट की आत्मकथा* ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है। इस विरोधाभास का कारण बहुत स्पष्ट है। बात यह है कि बाणभट्ट के व्यक्तित्व के संबंध में इतिहास में इतनी कम सामग्री प्राप्त है कि उसके आधार पर उनके व्यक्तित्व का ऐतिहासिक चित्रण करना संभव ही नहीं है। इस तथ्य के रहते लेखक ने कल्पना का निर्बाध प्रयोग किया है। परंतु यह कल्पना निराधार नहीं है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* के सभी पात्र—निपुणिका, अघोरघंट, महामाया, विरतिवज्र, भट्टिनी, सुगतभद्र, धनदत्त, मौखरी वंश का छोटा राजकुमार, आर्य वाभ्रव्य, सुचरिता, धावक और चारुस्मिता आदि, वास्तव में हर्षकालीन युग के व्यक्तियों के प्रतीक हैं। उस युग का जो साहित्य आज उपलब्ध होता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि हर्षकालीन भारतीय समाज उसी ढंग से स्त्री-पुरुषों से बना था, जिनका वर्णन आचार्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने *बाणभट्ट की आत्मकथा* में किया है। ये सब पात्र स्वयं ऐतिहासिक भले ही न हों, हर्षकालीन ऐतिहासिक युग के सामाजिक पात्रों के सच्चे प्रतीक अवश्य हैं। यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता है। जिस तरह श्री राखालदास बंद्योपाध्याय ने *करुणा* और *शंशाक* में गुप्तकालीन भारत का बहुत सजीव और ऐतिहासिक चित्रण किया है, हर्षकालीन भारत का चित्रण करने में उसी तरह की सफलता आचार्य द्विवेदी को भी प्राप्त हुई है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* पढ़ते हुए पाठक को सचमुच यह अनुभूति होती है कि जैसे वह हर्षकालीन भारत में विचरण कर रहा है। वह अनुभव करता है कि जैसे वह उसी युग के रहन-सहन, रीति-रिवाज, विश्वास और अच्छी-बुरी प्रथाओं में सांस ले रहा है। यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है।

जहां तक महाकवि बाणभट्ट के व्यक्तित्व के चित्रण का प्रश्न है, इस संबंध में दो मत हो सकते हैं कि द्विवेदीजी इस प्रयत्न में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं या नहीं। बाणभट्ट की रचनाएं पढ़कर पाठक उसका जो चित्र बनाता है, संभव है कि बाणभट्ट के संबंध में द्विवेदी जी का बनाया चित्र उससे मिलता-जुलता न भी जान पड़े। परंतु इस बात से उपन्यास की श्रेष्ठता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस संबंध में लेखक ने कल्पना का निर्बाध आश्रय लिया है और उसकी कल्पना निस्संदेह सजीव और मनोरंजक है। यह मैं पहले ही कह चुका हूं कि वह साधार भी है, क्योंकि द्विवेदी जी ने साहित्यिक इंगितों से पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया है।

बाणभट्ट की शैली का पूरा आनंद वर्तमान हिंदी में इस उपन्यास से लिया जा सकता है। उपन्यास की आलोचना करते हुए उसका संक्षिप्त कथानक दे देने की प्रथा मुझे नापसंद है, परंतु बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली का उदाहरण दिए बिना पाठक उसकी शैली संबंधी नवीनता का शायद अंदाजा ही न लगा सकेंगे। और पाठकों को मैं विश्वास दिलाता हूं कि पूरी की पूरी *बाणभट्ट की आत्मकथा* इसी शैली मे लिखी गई है।

नाना गलियों में भटककर बाणभट्ट छोटे राजकुल के सामने आ उपस्थित हुआ है। कल रात उसने इसी राजकुल के पापमय चंगुल से भट्टिनी का उद्धार किया था। राजकुल को देखकर वह सोचता है:

'आज छोटे राजकुल का अंतःपुर मौन है। आज उसके क्रीड़ा पर्वत पर सुंदरियां अपने वलय ध्यान से उन्माद मयूरों को नचा रही होंगी। आज उसके क्रीड़ा सरोवर के मृदंग ने चक्रवाक दंपति को अकारण उत्कंठित नहीं किया होगा। आज अंतःपुर की कुट्टिमभूमि पादालक्तकों से लाल नहीं बन सकी होगी। आज मित्तियाओं के अंगहारों ने महोत्सव को मंगलकलश से सुसज्जित-सा नहीं कर दिया होगा, चंचल चक्षुओं की किरणों से सारा दिन कृष्णसार मृगों से परिपूर्ण की नजरों से दिखेगा, भुज लताओं के विक्षेप से जीवलोक मृणाल वलय से वलयित नहीं जान पड़ेगा। शिरीष कुसुम के स्तवकों के कर्णपूरों से अंतःपुर की धूप शुक पिच्छ के रंग में नहीं रंगी होगी, शिथिल घम्मिल्ल से चुए हुए तमाल पत्रों ने अंतरिक्ष को कज्जलायमान नहीं किया होगा, आमरणों से रणत्कार ने दिशाओं में किंकणी नहीं बांध दी होगी। छोटे राजकुल का अंतःपुर आज न जाने कैसी भीति और आशंका का शिकार बना होगा, नाना देशों की अपहृता, लांछिता अंतःपुरिकाएं वर्ष में एक दिन आनंद का उत्सव मनाती हैं; हाय, आज वह भी बंद होगा। मैंने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही, पर मुझे क्या मालूम है कि इस अंतःपुर में और कितनी भट्टिनियां हैं। और ऐसे अंतःपुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती। अभी जो उच्छृंखल नृत्य देख आया हूं और यहां जो भयंकर भीतिभाव लक्ष्य कर रहा हूं, इन दोनों ही दशाओं में आपाततः कितना प्रभेद है, पर सत्य यह है कि दोनों ही जगह इस सृष्टि की सबसे बहुमूल्य वस्तु अपमानित हो रही है। क्यों ऐसा हो रहा है? क्या स्त्रियों ने स्वयं यह जाल बुना है और अब स्वयं उलझ गई हैं? मैं जिस रास्ते पर जा रहा हूं, वहां से कोई मदोन्मत्त उत्सवकारी दल निकल गया है। कालिदास ने उज्जयिनि में प्रातःकाल जो दृश्य देखा था, वह मैं स्थाण्वीश्वर में मध्यान्ह को देख रहा हूं। ठीक उसी प्रकार गमन के उत्कंपावश यहां भी सुंदरियों के केश से मंदार पुष्प झड़े हुए हैं, कान के सुनहरे कमल खिसककर भू लुंठित हो रहे हैं, हृदय देश पर बार-बार आघात करने वाले हारों से बड़े-बड़े गंधराज कुसुम टूटकर गिर गए हैं, परंतु फिर भी मैं इसे प्रेमाभिसार का मार्ग नहीं समझ रहा हूं.....' (पृष्ठ 121, 122)

बाणभट्ट की यह आत्मकथा भी, बाणभट्ट की रचनाओं के समान अधूरी है। परंतु उपन्यास का यह अधूरापन भी यथेष्ठ कलापूर्ण है। इस अपूर्णता का ही परिणाम है कि उसमें कुछ भी अनावश्यक वस्तु नहीं आने पाई। लेखक जो कुछ कहना चाहता था, उस पर तीव्र प्रकाश फेंककर उसने उसे इतना प्रकाशमान बना दिया है कि उसे देखने में आंखों को जरा-सी भी शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ता। जो चीज उसके लिए अनपेक्षित थी, उसे पृष्ठभूमि के रूप में भी देने की उसने आवश्यकता नहीं समझी।

बाणभट्ट की आत्मकथा में दो-एक कमजोरियां भी हैं। उपन्यास के गठन की दृष्टि से *बाणभट्ट की आत्मकथा* का कथानक एकदम साधारण कोटि का है। बुरा मैं उसे नहीं कहता। आत्मकथा घटना-प्रधान नहीं है, थोड़ा-बहुत सस्पैंस (औपन्यासिक अनिश्चितता, जो उसे विशेष दिलचस्प बना देती है) उसमें सिर्फ दो जगह है, एक तो अघोर-भैरव के यहां महास्मशान में और दूसरा नौका डूब जाने पर। और इन दोनों घटनाओं को भी पूरी तरह उपन्यासकार का विशेष या मौलिक निर्माण नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिकोण से *बाणभट्ट की आत्मकथा* को 'करुणा' की तुलना में नहीं रखा जा सकता।

जिस तरह बाणभट्ट भट्टिनी को छोटे कुल के राजमहल से निकाल लाया है, वह व्यवहार में संभव नहीं है। इतना पहरा रहते हुए इस आसानी से भट्टिनी को निकल जाने देना कथानक की एक कमजोरी है। इस घटना का यथेष्ट औचित्य स्थापित नहीं हो सका।

बाणभट्ट की आत्मकथा की दूसरी कमजोरी उसकी शैली में निहित है। बाणभट्ट की शैली, बल्कि प्राचीन संस्कृत में लोकप्रिय उक्त शैली, में एक आधारभूत कमजोरी थी और उसी कमजोरी ने उसे समाप्त कर दिया। वह कमजोरी थी शब्दों का बोझलपन। बाणभट्ट की रचनाओं में, विशेषकर कादंबरी में, एक असाधारण सौंदर्य अवश्य विद्यमान है, परंतु उसमें उतना ही असाधारण बोझलपन भी है। पाठक के लिए वह बोझ उठाकर बहुत दूर तक चलना अवश्य दूभर हो जाता होगा। साथ ही एक और दृष्टिकोण से भी शब्दों का यह बोझलपन रचना की साहित्यिकता में बाधक बन गया। शब्दों की भरमार में, रोबदार शब्दों की तलाश में और अनुप्रासों के जंजाल में लेखक आसानी से अर्थ को ओझल कर जाता है। पुराना संस्कृत साहित्य इस तरह के उदाहरणों से भरा पड़ा है।

कविता

आदिम संगीत

रघुवीर सहाय

रेखांकन : आलोक उनियाल

भावना के लोक में मैं था अपरिचित,
किंतु परिचय के लिए कर सब समर्पित,
मिल गए तेरे नयन से नयन जब से,
हो रहा हर ओर स्वागत-गीत मुखरित!
रूप के वरदान की आकाशवाणी सुन रहा हूं!
प्रकृति के प्रारंभ की कोई कहानी सुन रहा हूं!
वीण पर उच्छ्वास ने मृदु हाथ फेरा,
पुनः कंपित है ललित स्वर आज तेरा;
सुप्त जीवन में प्रथम जब राग जागा,
प्यार के पहले चरण का गीत छेड़ा;
गीत के पहले चरण की सजल वाणी सुन रहा हूं!
प्रकृति के प्रारंभ की कोई कहानी सुन रहा हूं!
सर्वदा अति अधिक जल से बांध टूटा,
है उमड़ते स्रोत का कलकल अनूठा;
पीर के तीखे शरों से तिलमिलाकर
ही, प्रथम जग में निरक्षर कंठ फूटा;
आदि कवि की वही कविता, वही वाणी सुन रहा हूं!
प्रकृति के प्रारंभ की कोई कहानी सुन रहा हूं! ❑

—अगस्त, 1947

बाणभट्ट की आत्मकथा भी इस दोष से मुक्त नहीं है। कहीं-कहीं लेखक शब्दों के प्रवाह के साथ जैसे बरबस बह जाता है। यहां सिर्फ एक उदाहरण देना काफी होगा—

'मोतियों भरे शुक्ति पटल की भांति, तुहिन बिंदु से पूर्ण पद्म पलाश की भांति, शिशिर सिक्त पारिजात पुष्प की भांति, अर्द्धस्फुट सिंदुवार लता की भांति, वे अश्रुभरी आंखें चित्त को करुण रस से प्लावित कर रही थीं, सहानुभूति की वर्षा से सींच रही थीं, अनुकंपा की धारा से धौत कर रही थीं।" (पृष्ठ 221)

आंसुओं से भरी जिन आंखों को देखकर हृदय करुण रस से भर आता है, उनके संबंध में आंखों का सौंदर्य याद कराने वाली उपमाओं का कभी स्मरण भी नहीं आ सकता। वे आंखें मोती भरी सीप के समान हैं या ओस भरे कमल के फूल के समान, इस तरफ ध्यान देना भी स्पष्टतः रस-विच्छेद करने के समान है।

इसी तरह—

"मज्जमान जरठ भास्कर की दो-चार किरणें दिगंत के छोर तक फैल गई थीं जो रक्तस्नान से सद्योविनिर्गत महाकालिका की नृत्यविकीर्ण पिंगल जटाओं का भ्रम उत्पन्न कर रही थीं, सारा आकाश उद्धूम अग्निकुंड की भांति जल रहा था, वृक्षों की उच्च शिखाओं पर चिपकी हुई लाल आभा भयंकर आशंका उत्पन्न कर रही थी मानो ज्वाला के भय से भागने वाली वनदेवियों के चरण लक्तक की ही लालिमा हो।'

पुरानी संस्कृत शैली के सभी गुण दोष, जिनमें उपमा को बहुत दूर तक खींचना शामिल था, द्विवेदीजी की इस शैली में भी हैं। इस शैली में प्रत्येक शब्द के निश्चित अर्थ की ओर यथेष्ट ध्यान दिया ही नहीं जा सकता।

सब मिलाकर *बाणभट्ट की आत्मकथा* आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की हिंदी जगत को एक शानदार देन है। मुझे विश्वास है कि अभी हिंदी को उनसे और भी बहुत कुछ और बहुत मूल्यवान 'बहुत कुछ' मिलेगा। ❑

—जुलाई, 1948

साहित्य

•

दो महाकवि

शचीरानी गुर्टू

मानव-हृदय सभी देशों में एक-सा है।

कालिदास संस्कृत-साहित्य के ही नहीं, वरन विश्व-साहित्य के भूषण हैं। इसी प्रकार शेक्सपीयर भी केवल अंग्रेजी-साहित्य के ही नहीं, क्योंकि उनकी रचनाएं केवल यूरोप को ही नहीं, वरन समस्त विश्व-साहित्य को प्रभावित कर चुकी हैं। ये दोनों कवि सच्चे विश्व-कवि हैं—समस्त भूमंडल के महाकवि!

'उपमा कालिदासस्य'—यह सूक्ति प्रसिद्ध है। आलंकारिक तत्व कालिदास की रचनाओं में प्रायः परिपूर्ण हैं। रसों में उन्होंने अधिकतर श्रृंगार रस को अपनाया है। उनकी कविता में भारतीयता के आदर्श तत्व भरे हैं। आज अनेक शताब्दियों के पश्चात भी कालिदास की प्रतिष्ठा जो संस्कृत कवियों में सर्वाधिक है—इसका विशेष कारण है कालिदास के भावों की सरलता और उनकी भाषा का माधुर्य। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा का जो चरम विकास, गहन से गहन भावों को वहन करने का जो सामर्थ्य कालिदास के काव्यों और नाटकों में है वह किसी अन्य संस्कृत कवियों की रचनाओं में नहीं है। काव्य की सरसता, शब्दों का माधुर्य, अपूर्व प्रसाद, प्रेम और श्रृंगार, अनुपम उपमाएं, करुणा की अटूट धारा, अलंकारों की छटा, रचना-कौशल एवं भाव-वैचित्र्य आदि कवित्व के समस्त गुणों के साथ-साथ इनकी रचनाओं में जो एक अन्य विशेषता पाई जाती है वह है इनकी उपमाओं की सजीवता। निःसंदेह, कालिदास उपमा के आगार थे। प्रकृति की साधारण से साधारण वस्तु भी इन्हें अत्यंत रहस्यमयी प्रतीत होती थी अथवा उनकी दृष्टि ही ऐसी थी जो केवल बाह्य आवरण पर न अटक कर वस्तु के अंतराल को छूने का प्रयत्न करती थी। प्रकृति के विविध उपादानों एवं प्रसाधनों पर वह मुग्ध थे और उसकी विचित्रता एवं विविधता में कवि को असाधारणत्व की प्रतीति तथा चिर-परिचित साहचर्य-संभूत-रस की अनुभूति होती थी। अभिज्ञान शाकुंतल में शकुंतला का मादक-सौंदर्य एवं रूप-लावण्य उस समय प्रस्फुटित होता है जब कि वह आश्रम के छोटे-छोटे वृक्षों, पौधों एवं लताओं को सींच रही है। मेघदूत में भी प्राकृतिक-सौंदर्य के अनेक चित्र हैं। इस प्रकार प्रकृति-जन्य लोकोत्तर सुख एवं आनंद की जो विमल धाराएं कालिदास ने बहाईं, उनमें आज भी विश्व-भारती निमज्जन कर अपने सौभाग्य को सराहती है।

महाकवि शेक्सपीयर की लेखनी में भी ऐसी ही अद्भुत भावोद्बोधन शक्ति थी, जिसका कि व्यापक प्रभाव उनके परवर्ती साहित्य एवं समाज पर बराबर पड़ता रहा। यद्यपि उनके समय के अनेक कलाकार मारलोव, वेबस्टर, बेन जान्सन, फ्लेचर और डेकर आदि ने काफी ख्याति प्राप्त की थी, तथापि शेक्सपीयर का व्यक्तित्व इतना विशाल एवं जटिल तथा उनकी प्रतिभा इतनी बहुमुखी थी कि अन्यान्य साहित्यिकों के साथ उनकी सहज ही तुलना नहीं की जा सकती। बहुत से लोग तो शेक्सपीयर को संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटककार मानते हैं और जो ऐसा नहीं मानते, वे कम से कम इतना तो अवश्य मानते हैं कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में आसानी से उनकी गणना की जा सकती है। सचमुच यूरोप में शेक्सपीयर के नाटकों की महत्ता बेजोड़ है। कहना न होगा कि उनकी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि एवं पर्यवेक्षण-बुद्धि इतनी तीक्ष्ण और प्रखर थी कि दुःखांत, सुखांत, प्रहसन, श्रृंगारिक जिस विषय पर भी उन्होंने कलम उठाई, उसी में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की।

शेक्सपीयर की प्रारंभिक रचनाएं यद्यपि इतनी प्रसिद्ध नहीं हैं, फिर भी उनमें उनकी कलात्मक प्रतिभा का परिचय अवश्य मिलता है। 'रोमियो और जूलियट' वस्तुतः एक कलापूर्ण रचना है। सन् 1601 से 1608 तक शेक्सपीयर के जीवन का मध्याह्न काल कह सकते हैं। इस अवधि में उनकी प्रसिद्धि देश-विदेशों में फैल चुकी थी और उनकी प्रतिभा के प्रखर प्रकाश से दिग्-दिगंत प्रोद्भासित हो गया था। उनकी बड़ी-बड़ी कलाकृतियां 'हैमलेट', 'ओथेलो', 'लीयर', 'मेकबेथ', 'टाइमन आफ एथंज़' 'मेज़र फार मेज़र', 'ट्रायलेस एंड क्रेसीडा' आदि लिखी जा चुकी थीं। इस समय तक उनका कलाकार का रूप पूर्ण सजग एवं क्रियाशील हो उठा था। जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने 'टेंपेस्ट', 'विंटर्स टेल', 'सिंबलाइन' आदि नाटक लिखे। इन कृतियों में इनकी अंतरात्मा का दर्शन हुआ, मानो जीवन के चतुर्थ चरण में आते-आते इनकी अंतर्दृष्टि एवं आध्यात्मिक प्रवृति सजग और सचेष्ट हो उठी।

कालिदास और शेक्सपीयर—दोनों अनेक प्रकार के मनुष्यों तथा स्त्रियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, विचारों की कल्पना करने की सामर्थ्य रखने के कारण अनेक प्रकार के पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में समर्थ हुए हैं। दोनों के पात्रों में पूर्ण सजीवता है। वे हमारे मन को आकर्षित कर लेते हैं और हमारी राग-विराग की वृत्तियों से आबद्ध हो जाते हैं। हम उनके साथ रोते हैं, हंसते हैं, हम उन्हें जीवन में उसी प्रकार नहीं भूल पाते जैसे कि अपने किसी प्रिय मित्र को।

दोनों महाकवियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों को काल्पनिक रूप देकर उसके ऊपर इतिहास का गाढ़ा रंग चढ़ा दिया है। मानव-जीवन में कितनी अशांति, उतार-चढ़ाव और विश्रृंखलता है, फिर भी मनुष्य का जो मौलिक जीवन है उसकी धारा कभी रुकती नहीं। जीवन का अखंड प्रवाह समस्त विश्रृंखलताओं के मध्य भी चलता रहता है। यही तो मानव-जीवन है। मानव-जीवन के इस रूप को लेकर ही इनके नाटकों की रचना हुई है और उनमें इन महाकवियों के व्यक्तिगत अनुभव के न मालूम कितने विचित्र और रंगीन चित्र हमें देखने को मिलते हैं। दोनों की व्यक्तिगत स्मृतियों एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के अक्षय भंडार को देख कर हमें विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है।

कालिदास और शेक्सपीयर दोनों ही में विलक्षण प्रतिभा है और इनकी रचनाओं का क्षेत्र इतना विशद एवं विविधता से पूर्ण है कि उनमें लोक-ज्ञान का अनंत कोष भरा पड़ा है। ❑

—दिसंबर, 1948

"साहित्यकार निज की परिपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाता!"

सियारामशरण गुप्त से **जैनेंद्रकुमार** *की बातचीत*

जैनेंद्र कुमार—सियाराम, तुम्हें याद है न कि मैंने चिरगांव में एक बार कहा था कि तुम्हारे लिखने में चोट क्यों काफी नहीं होती? अब आए हो तो चलो, इसका खुलासा तुमसे लेकर कुछ सीख ही लूं।

सियारामशरण गुप्त—तुम भला क्या सीखोगे? प्रश्न पूछा था चिरगांव में, उत्तर चाहते हो दिल्ली में। कुछ कहूंगा तो सत्य से उतना ही दूर होगा, दिल्ली जितना चिरगांव से दूर है।

जैनेंद्र कुमार—नहीं भाई! सवाल तो मन का है। वह जरूर चिरगांव में भी था और अब दिल्ली में भी है। यानी वह मन के साथ है। और हल होगा तो वहीं कहीं, बाहर नहीं। सुनो, मुझमें तो गुस्सा भी उठता है। क्या मैं यह न मानूं कि जो लिखा जाएगा, उसमें मेरा पूरा का पूरा अक्स आ रहेगा, चाहे चाहूं चाहे न चाहूं। गुस्से को अलग ताक पर रखकर, शुद्ध साधु बनकर साहित्य का लिखना हो जाएगा, ऐसा मुझसे नहीं माना जाता। अब तुम्हारे यहां वह गुस्सा ढूंढे मिले तो मिले, वैसे नहीं मिलेगा। इस पर एक तरफ मुझे ईर्ष्या, दूसरी तरफ खीझ मालूम होती है। लगता है, जैसे भोजन में सब है, खूब मिठास है, स्वाद है, पर नमक कहीं-कहीं कुछ कम है, कहो कि मेरी खातिर क्या जरा ज्यादा नमक देना मंजूर करोगे?

सियारामशरण गुप्त—तो तुम मानते हो कि मेरे पास नमक ज्यादा है और उसे मैं दे भी सकता हूं। आजकल अंकुश प्रत्येक वस्तु पर ऊपर से लग रहा है। गेहूं पर ही नहीं, नमक पर भी। तब मैं कृपण हो उठूं तो कदाचित मुझे इसके लिए... सहज ज्ञान ने मुझे उस वस्तु से बचाया है जिसे तुम मुझ में से अधिक मेरी रचना में पाना चाहते हो?

सियारामशरण गुप्त (दाएं)
बड़े भाई मैथिलीशरण गुप्त के साथ

जैनेंद्र कुमार—जानता हूं, उपमाएं तुम्हारी चेरी हैं, लेकिन उन्हें मैं तुम पर छाने न दूंगा। गुस्से को न कहो नमक, चलो तिक्त कह लो। लेकिन मुझे तो पूछना है कि गुस्से को एकदम पीछे रोककर उसे अपने अंदर कहीं अलग बंद कर, निरे निपट शुद्ध पवित्र बनकर क्या साहित्य सृजन होगा?

तुम तो कवि हो, निरंकुश होने का हक क्या छोड़ दोगे? धर्म-शास्त्रों के तमाम अंकुश जितने कीमती हैं, शायद कवि की निरंकुशता उससे कहीं अधिक कीमती निकले। हां, मैं कहता हूं, जितना क्षार और जितना तिक्त हो, स्वभाव में जितना जो कुछ हो, सभी स्रष्टा की सृष्टि में क्यों न आ जाए? क्या सब सृष्टि भगवान की ही नहीं है? भगवान की है, इसी से है कि उसमें वह सब दानवता है, जो हो सकती है। दनुज को छोड़कर मनुज को पैदा करने वाला भगवान ही था, इसी में स्रष्टा की संपूर्णता और महत्ता है। यानी नमक ज्यादा हो जाने के डर को अहंता के सिवा क्या कहा जाए। ज्यादा होता तो अपने अंदर ही न रह पाता। बताओ, तुम्हें गुस्सा उठता है? उठता है तो उसका क्या करते हो? साहित्य में आने देते हो? नहीं आने देते, तो क्यों? और आने देते हो तो यह क्यों है कि वह तीव्र नहीं दीखता? क्रोध का स्वधर्म तीव्रता है।

सियारामशरण गुप्त—चित्र में जो दिया जाता है, उसमें भी दूसरा रुख ओट में रहता है। हां, मूर्ति में चारों कोने देखे जा सकते हैं। किंतु यह उसी अवस्था में, जब देखने वाला स्वयं इधर से उधर घूमने और चलने का कष्ट करे। इस प्रकार हमने जाना कि साहित्यकार निज की परिपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। उसे कुछ न कुछ अंतराल में रखना ही होगा, इसलिए यदि मेरी रचना में तुम्हें

क्रोध या गुस्सा जैसा कुछ नहीं मिलता तो यह न मान बैठो कि मुझमें उसका अभाव है। मैंने तो, जैनेंद्र, बातचीत में देखा है कि मैं उत्तेजित हो उठा हूं और तुम शांत रहकर दर्शन चर्चा आगे बढ़ाए जाते हो। अपनी कमजोरी मैं जानता हूं। मेरा क्रोध तुमने देखा है, दूसरे बंधुओं ने भी देखा है। वह मुझे ऐसा नहीं जान पड़ा कि उसको मुझे अपनी रचना में कहीं न कहीं जड़ ही देना चाहिए। प्रतिदिन के जीवन में उसकी व्यर्थता ही देखने को मिली है। क्रोध उगलकर अपनी बात न मैं तुमसे मनवा सका हूं और न दूसरों से। यही कारण है कि सहज-बुद्धि ने मुझे स्याना बना दिया और इसी से तुम उस क्रोध को मेरे लिखे में नहीं पाते, जिसकी चर्चा चल पड़ी है। क्रोध ठंडा करके ठंडेपन से काम चला लेने में क्या मैंने खोया कुछ नहीं है?

अपनी रचना का एक उदाहरण दूं। 'एक फूल की चाह' एक कविता है। हमारे धर्म-धनी अछूतों के प्रति जो व्यवहार करते हैं उसका समाचार मिलता ही रहता है। एक दिन गांधीजी के 'नव-जीवन' में श्री महादेव भाई का एक लेख पढ़ा। उसमें मद्रास प्रांत की एक घटना का उल्लेख था। एक अछूत मंदिर में दर्शन के लिए चला गया, इस अपराध के लिए उस पर मुकदमा चला। उसकी ओर से श्री राजगोपालाचार्य ने पैरवी की। फिर भी उसे एक महीने के लिए बड़े घर की हवा खाने को मिली। जैनेंद्र, तुम मुझे बहुत भला समझते हो, तो लो सुनो। उस दिन जी में क्रोध का बवंडर उठा, उसने मेरे धैर्य की जड़ हिला दी। कुछ सूझा नहीं कि विरोध में करूं क्या! हाथ में पिस्तौल होती तो उसे तार या चिट्ठी से मद्रास भेज देता। किंतु प्रगतिशीलता का यह गौरव मुझे मिलना न था, इसलिए आंसुओं से ही क्रोध ठंडा करना पड़ा। मेरी कविता में उस अछूत से उसके जेल के साथी कहते हैं:

कैदी कहते—अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मंदिर पर ही ।

साथ वहीं मस्जिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी ।।

तो मैं आज समझता हूं कि उन कैदियों के मुंह से मैं स्वयं बोल गया हूं। और इस प्रकार अपने काल्पनिक रूप में भी मैं गालियां नहीं बक सका। यह असफलता है तो उसे माने लेता हूं।

जैनेंद्र कुमार—यह ठीक है, गुस्सा गाली बनकर बाहर चला गया तो मानो वह काफी तेज न था। तेज होकर वह और भीतर जाता। यहां तक कि गाली बनना उसके लिए संभव न रहता। भीतर गहरे में उस तल से जा छूता, जहां सब तरल हैं। और वहां से फिर आंसू बनकर ही निकल पाता।

उस 'फूल की चाह' में तुम्हारे साथ यही न बीता हो। लेकिन आंसू ऐसा भी हो सकता है, जो आंख तक न आए। शायद टपक पड़ने वाले से भीतर रम रहने वाला आंसू वेधक हो जाता हो। साहित्य में गाली इसी से नहीं हो सकती कि वह हलकी है। लेकिन क्या आंसू वही न सच्चा है जो अमित क्रोध को गलाकर अपने में थामे हुए है। उस सत्य के बिना क्या केवल आंसू बिडंबना न रह जाएगा?

सियारामशरण गुप्त—कोई वस्तु कम तेज होती है, कोई अधिक तेज—यह तो लगा ही रहेगा। हमारे सामने जो लकीर है वह तभी तक छोटी या बड़ी है, जब तक उसके सामने दूसरी लकीर न रहे। जिस पट पर यह एक लकीर खींची जाती है उसका आयतन कितना बड़ा है, यह किसी ने नहीं देखा। इसलिए अपनी लकीर छोटी होने का खेद मुझे नहीं होता। इतने बड़े पट पर मेरी रचना की छोटी लकीर भी खिंच गई तो यही मेरे लिए बहुत है। इसी से मैंने संतोष के साथ कहा है—

जैनेंद्र कुमार—नहीं, नहीं, नहीं! मुझे गलत न लो। छोटे-बड़े की बात नहीं। बात असल में द्वैत की है। सु और कु अलग ही रहेंगे, क्रोध और करुणा क्या विमुख होकर ही चलेंगे?

तेरे तीर्थ सलिल से प्रभु है मेरी गगरी भरी भरी ।

कल कल्लोलित धारा पाकर तट पर ही वह तरी तरी ।।

सियारामशरण गुप्त—क्रोध और करुणा का यह समत्व योग सबके लिए सहज प्राप्य नहीं है। उसके लिए साधना की आवश्यकता है। साधना संयम के बिना कैसे सधेगी? आज तो संयम को अभिशाप समझ लिया गया है। ऐसे में क्रोध क्रोध ही रहेगा, उसका करुणा में भी परिवर्तन न होगा। इसी से अपनी रचनाओं में क्रोध के तीखेपन का लोभ मुझे छोड़ना पड़ा है। किसी वस्तु का उचित उपयोग न हो तो उसका लाभ हम नहीं ले पाते और क्रोध का जैसा प्रयोग आज के साहित्य में हो रहा है, वह हिंसा से भरा है। इसी से सारे वातावरण में हिंसा ही हिंसा दिखाई दे रही है। इसके लिए मैं साहित्यकार को मुख्य रूप से दोषी ठहरा सकता हूं। वह हिंसा का भाट बना हुआ है। उसकी स्थिति अपने क्षेत्र में निरे पलटनिए जैसी है। उसने गुस्सा करना तो सीखा है, पर प्रेम को वह कमजोरी मान बैठा है। तुम्हारे आज के प्रश्न से मेरे भीतर उसके प्रति जो क्रोध है, यदि वह उभर आया और उसे मैं आज के इस उद्भट साहित्यकार के ऊपर उंडेल सका तो इसे मैं अपना प्रेम प्रकाशन ही मानूंगा। और उस विषय में मुझे उभारने का जो कार्य तुमने किया है, उसके लिए मेरा हृदय कृतज्ञ रहेगा। ❑

(आल इंडिया रेडियो, नई दिल्ली के सौजन्य से)

—मई, 1949

साहित्य

पंत का नवीन जीवन-दर्शन

नगेंद्र

पंतजी की इस जीवन-दर्शन की ओर आरंभ से ही प्रवृत्ति रही है। ज्योत्स्ना जिसमें कि उन्होंने पहली बार अपने विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है, मानववाद की सबल घोषणा है।

युगवाणी और *ग्राम्या* की आलोचना करते हुए आज से आठ-नौ वर्ष पूर्व मैंने लिखा था कि मार्क्सवाद में श्री सुमित्रानंदन पंत का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पंत के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सकते। उनका सूक्ष्म-चेता मन उन वृद्धि-गृहीत भौतिक मूल्यों के विरुद्ध उस समय भी बार-बार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वह शीघ्र ही फिर उसी परिचित पथ पर लौट आएंगे। कारण स्पष्ट है: पंत के व्यक्तित्व में वह काठिन्य और दृढ़ता नहीं है जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद, पंत जैसे कोमल-प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। उसके लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है तथा आत्मा और ईश्वर में ही अंत में उसे जीवन और जगत का समाधान मिलता है। अतएव *स्वर्ण-धूलि* और *स्वर्ण-किरण* का प्रकाशन और उनमें अभिव्यक्त पंत का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मानव मनोविज्ञान से अभिज्ञ, संस्कारों में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वाभाविक घटना ही मानेगा।

यों तो *स्वर्ण-धूलि* और *स्वर्ण-किरण* में कई प्रकार की कविताएं हैं: अनेक कविताओं का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएं आत्मगत हैं जो परिष्कृत मधुर रस से अभिषिक्त हैं, कतिपय कविताएं प्रकृति संबंधी भी हैं, परंतु अधिकांश कविताएं आध्यात्मिक हैं। इसलिए इन नवीन कृतियों का प्रधान स्वर आध्यात्मिक है। ग्रंथि से *पल्लव* और *पल्लव* से *गुंजन*, *ज्योत्स्ना* और *युगांत* में पंतजी क्रमशः शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे। बीच में *युगवाणी* और *ग्राम्या* में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मार्क्स के वस्तुवादी जीवन-दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वह अपने सहज मार्ग से थोड़ा हट गए। उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नहीं हुई थी। *युगवाणी* और *ग्राम्या* दोनों में भी उन्होंने अति-भौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म सत्य और वस्तु सत्य के समन्वय पर बल दिया है। परंतु फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि उस काल-खंड की कविताओं में भौतिक सत्य का ही प्राधान्य है। चेतन पर वस्तु सत्य का प्रभुत्व है, यद्यपि अवचेतन में आत्म सत्य की सत्ता का अंत नहीं हुआ है। यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्राकृत संस्कार फिर उभर आए और पंतजी वस्तु से आत्मा की ओर फिर से प्रवृत हो गए—

सामाजिक जीवन से कहीं महत् अंतर्मन,
बृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किंतु चिरंतन।

उनका विकास पथ भी निसर्गतः यही है और इसकी चेतना उन्हें स्पष्ट है—

दीप-भवन युग विद्युत्-युग में ज्यों दिक् शोभित,
मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित।

परंतु इस आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। यह आध्यात्मिकता मनोवैज्ञानिक है। इसका संबंध सूक्ष्म चेतना से है। पंतजी का आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है। परंतु वह आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने में सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकांत अविष्कृत उसा अस्तित्व नहीं है। और स्पष्ट शब्दों में मानव हृदय का पूर्णतम विकसित रूप आत्मा है। अतएव उसमें मानव हृदय की विभूतियों का चरम विकास मिलता है। उनसे रहित शुद्ध-बुद्ध अथवा निर्लिप्त रूप, नकारात्मक एवं निवृत्तिमूलक पंत को अग्राह्य है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है, उन्नयन है, दमन नहीं है:

आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख
परंतु साथ ही—
वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गंभीर चिरंतन।

(लोक सत्य)

तीसरे रे भूख आत्मा की गहन।
इंद्रियों की देह से ज्यों है परे मन।।
मनोजग से परे ज्यों आत्मा चिरंतन,
जहां मुक्ति विराजती,
औ डूब जाता हृदय-क्रंदन।
वहां सत् का वास रहता,
चित् का लास रहता,
वहां चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग दर्शन।

किंतु ऊपर हो कि भीतर,
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृतघन,
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन?
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बंध
पुण्य जीवन करें यापन।
औ धरा हो ज्योति-पावन

प्रवृत्तिमय होने के कारण यह आध्यात्मिकता स्वभावतः आनंदरूपिणी है—इसमें आत्मा का सात्विक उल्लास है। भूत रत जीवन के काले लौह पाश से मुक्त अंतश्चेतना का सोना है। भौतिकता अथवा भूत-लिप्सा मरणोन्मुखी और नाशमयी है और आत्मा का सहज उल्लास सृजनशील है। अतएव पंत की इस नवीन आध्यात्मिक चेतना में प्रेम के माधुर्य से समन्वित जीवन की जागृति, सृजन की स्फूर्ति और निर्माण-स्वप्नों का राशि सौंदर्य-वैभव है—

खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीति द्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करता अभिसार,
धरा पर ज्योति भरण,
हंसी लो स्वर्ण किरण।

यह आध्यात्मिकता वैसे तो पंतजी की काव्य चेतना का सहज विकास था परंतु इसका तात्कालिक कारण उनकी रुग्णता भी है। तीन-चार वर्ष पूर्व पंतजी उस स्थिति पर पहुंच गए थे जहां से मृत्यु दृष्टिगोचर होने लगती है। मृत्यु के उस अंध तमस को भेदकर नवजीवन की स्वर्ण किरण का उद्भास स्वभावतः जीवन-दर्शन में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। वास्तव में मृत्यु जीवन की भौतिकता के लिए सबसे बड़ी ललकार है—आज के शत सहस्र वर्ष पूर्व मानव चेतना के उस नव प्रभात में वैदिक ऋषि ने मानव को भौतिक लिप्साओं से सावधान करने के लिए ही तो कहा था: 'ओं क्रतो स्मर, कृतं क्रतो स्मर।' मृत्यु की चेतना जीवन के स्थूल तथ्यों को भेद कर उसके सूक्ष्म सत्यों को अनायास ही उद्घाटित कर देती है। अतएव कवि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर, वस्तु से आत्मा की ओर प्रेरित करने के लिए उसकी इस रुग्णता ने भी कम से कम परिस्थिति का कार्य अवश्य किया है। पंत जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही कटुता के लिए स्थान कम था, जो कुछ थी वह इस अग्नि में जलकर निःशेष हो गई—अब उसमें प्राणों का अमृत है, नवजीवन, आशा, उल्लास, है।

इस अध्यात्म चेतना का मूल तत्व है समन्वय—व्यष्टि और समष्टि अर्थात ऊर्ध्व विकास और समदिक विकास का समन्वय, बहिरंतर अर्थात भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय—जिसे पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान और प्राच्य दर्शन में

नगेंद्र

अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्मज्ञान) कहा गया है—

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु कृषि-दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।
बहिरंतर की सत्यों का जगजीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।

यही मानव का देवत्व है जिसमें कि जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है; इसी के आधार पर विश्व-संस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओं का एकमात्र समाधान है। आज के द्रोहरत मानव की यही मुक्ति है। और यह समाधान युग का सामयिक सत्य नहीं है। युग-युग का शाश्वत सत्य है। मानव जीवन की चिरंतन समस्या का चिरंतन समाधान है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे उपनिषद इसकी घोषणा कर चुके हैं—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से पंतजी इस समय जीवन की प्रौढ़ि पर पहुंच गए हैं। जीवन की यह वह अवस्था है जहां स्वयं कवि के शब्दों में—

रूप रंगों का चित्र जगत
सिमट, घुल, हो अनुभव-अवगत
विचारों भावों में परिणत,
नियम चालित लगता संतत।
भिन्न रुचि प्रकृति नहीं कल्पित,
एकता में वे आलिंगित,
विकर्षण-आकर्षण से नित्य
हो रहा जग जीवन विकसित।

अर्थात *पल्लव* के सौंदर्य, कवि के मानस का रूप-रंग प्रौढ़ि की इस अवस्था में जीवन के अनुभवों से घुलकर विचार और भाव में परिणत हो गया है। यौवन-सुलभ रोमानी उल्लास चिंतन और विचार में परिणत हो गया है और जीवन के वैचित्र्य में उसे एकता की अनुभूति होने लगी है। अब विकर्षण और आकर्षण एक ही सत्य के दो रूप होने के कारण एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जीवन और जगत के विकास में उन दोनों का समान योग है। इसीलिए आज वह समन्वय की अमोघ औषधि लेकर विश्व की वर्तमान व्याधियों का उपचार करने के लिए आगे बढ़ता है। वह देखता है कि आज मानव जाति वर्ण, वर्गों में विभक्त है। पृथ्वी का वक्ष राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से खंडित हो रहा है। अर्थव्यवस्था सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई है। जीवन के मंदिर में हंसती हुई मानव

मूर्ति के स्थान पर यंत्रों की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जनगण के रक्त-प्राण का शोषण हो रहा है। उधर सामाजिक जीवन पूर्णतय विशृंखल हो गया है। मध्य वर्ग कृमिव्यूह की तरह क्षुद्र स्वार्थों में ग्रस्त है। अर्थ-दरयु उच्च वर्ग धन-मद से अंधा हो रहा है। सारा जीवन अहम्मन्यता और अंध लालसा से कांप रहा है। उधर बौद्धिक दृष्टि से, आज समाज में चार वर्ग मिलते हैं—एक बुद्धि-प्राण वर्ग, दूसरा धर्म-प्राण वर्ग, तीसरा राजनीतिक वर्ग और चौथा वर्ग उन नव-शिक्षितों का है जिनका कोई विशिष्ट एवं निश्चित दृष्टिकोण नहीं है, जो विचारहीन जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें पहला वर्ग तर्कों, वादों और सिद्धांतों के जाल में उलझा हुआ है। दूसरा धर्म-प्राण वर्ग धर्म की आत्मा को भूल उसके बाह्य स्थूल रूपों, रीति-नीति और शाखा-पंथों से आगे नहीं बढ़ पाता। राजनीतिक वर्ग जीवन के रचनात्मक कार्यों को छोड़ ध्वंसात्मक कार्यों में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। रह गया चौथा वर्ग, उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं है। नव शिक्षा ने उसे पूर्णतया भाग्यवादी बना दिया है, उसके प्राप्य हैं स्त्री, धन, पद, मान, बस इनके आगे उसकी चेतना की गति नहीं है।

कवि इस सार्वभौम अधःपतन के कारण पर विचार करता है तो उसे ज्ञात होता है कि इस संपूर्ण ह्रास का मूल कारण है जीवन मत संतुलन (समन्वय) का अभाव।

आज का मानव बाह्य जीवन में इतना खोया हुआ है कि वह अपने अंतः स्वरूप को सर्वथा भूल गया है। वाष्प, विद्युत और किरण आज मानव के वाहन हैं, यहां तक कि भूत शक्ति का मूलकवि भी आज अणु ने समर्पित कर दिया है। वह वनस्पति और पशु वर्ग का विकास कर सकता है, गर्भाशय में जीवन अणु को भी ऊर्जित करने की क्षमता उसने प्राप्त कर ली है। एक प्रकार से संपूर्ण दिशा काल पर उसका आधिपत्य है—

दिशा काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित !

परंतु फिर भी आज वह सर्वाधिक दुखी और विषण्ण है। क्योंकि उसका अंतर्जीवन सर्वथा उपेक्षित है—परिणामतः उसके बहिर्जीवन और अंतर्जीवन का सामंजस्य नष्ट हो गया है—

बहिर्चेतना जागृत जग में अंतर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियां जीवित, अंतर्जीवन मूर्छित मृत ।

जब तक यह सामंजस्य फिर से स्थापित नहीं होता, संसार की समस्या हल नहीं हो सकती। आज आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की जाए। तभी मानव जातियों और राष्ट्रों में खंडित मानवता, मानवीय एकता का साक्षात्कार कर सकेगा और तभी आज के मानव की मुक्ति संभव है। इस प्रकार राष्ट्रों और वर्गों की अनेकता में मानव एकता की स्थापना—यही कवि के अनुसार आज की विषमताओं का समाधान है। व्यक्तिगत साधनों के क्षेत्र में कवि और आगे बढ़ता है और अनेकता में एकता की यह अनुभूति भौतिक तत्वों से ऊपर उस परम तत्व तक पहुंचती है—

अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
इन सबमें चिर व्याप्त ईश रे,
मुक्त सच्चिदानंद चिरंतन।

यह कोई नवीन दर्शन नहीं है, शास्त्रीय शब्दावली में यह भारतीय अद्वैतवाद की पीठिका पर यूरोप के मानववाद की प्रतिष्ठा है, जो आज से कुछ दिन पूर्व कवींद्र रवींद्र कर चुके थे। वैसे तो अद्वैतवाद और मानववाद दो विशिष्ट दर्शन प्रतीत होते हैं। एक पूर्व का, दूसरा पश्चिम का है; एक प्राचीन, दूसरा नवीन है—इस तरह की कुछ धारणा मन में होती है। परंतु तात्विक विश्लेषण करने पर मानववाद अद्वैतवाद का ही एक प्रोद्भास मात्र है। अद्वैतवाद का मूल आधार है—अनेकता में एकता का ज्ञान, अर्थात विश्व की प्रतीयमान अनेकता मिथ्या है, उसमें अनुस्यूत एकता (एक तत्व) ही सत्य है। एकांत व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में तो साधक उस एकता (एक तत्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न में अनेकता को मिथ्या मानकर उसकी ओर से सर्वथा परांगमुख हो गया। परंतु जब वह सामाजिक दृष्टिकोण लेकर साधना में अग्रसर हुआ तो उसने अनेकता (जगत) को मिथ्या नहीं माना—वरन इस अनेकता की धारणा को मिथ्या माना। स्थूलतः जो अनेक नाम रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के अनेक प्रतिबिंब होने के कारण उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार जगत में स्व और पर का भाव, महान और लघु का भाव, उच्च और निम्न का भाव अर्थात किसी प्रकार के भी पार्थक्य का भाव मिथ्या है। विधाता की सृष्टि के सभी प्राणी—कीरी और कुंजर समान हैं। मानव जगत में राजा-रंक, धनी-निर्धन, ब्राह्मण और क्षुद्र आधुनिक शब्दावली में जाति, वर्ण वर्ग आदि का भेद भ्रांति है। सभी मानव समान हैं और उस परम शक्ति का प्रतिबिंब होने के कारण मूलतः श्रेष्ठ हैं। कबीर और उनके सहयोगी संतों ने इसी आध्यात्मिक मानववाद का अपने जीवन और काव्य में प्रतिपादन किया था। आधुनिक युग में कवींद्र रवींद्र ने पश्चिम की मानववादी विचारधारा से भी प्रभाव ग्रहण कर इसी को नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने विश्व-बंधुत्व सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

रवींद्र का यही विश्व-बंधुत्व पंत में विश्व संस्कृति बन गया है—

हमें विश्व संस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित ।

रवींद्र पर जहां पूर्ववर्ती मानववादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पंत पर वहां परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने मानव एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है—

मानवीय एकता जातिगत मन में करनी स्थापित,
मनःस्वर्ग की किरणों से मानव मुखश्री कर मंडित ।

यह 'मनःस्वर्ग' आत्म संस्कार का ही काव्यमय नाम है।

पंतजी की इस जीवन दर्शन की ओर आरंभ से प्रवृत्ति रही है। ज्योत्स्ना, जिसमें कि उन्होंने पहली बार अपने विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है, मानववाद की सबल उद्घोषणा है। *युगांत* में कवि ने इसमें आध्यात्मिक रंग देना आरंभ किया था परंतु *युगवाणी* और *ग्राम्या* में मार्क्स-दर्शन के प्रभाववश उसकी चिंतन प्रवृत्ति बहुत कुछ बहिर्मुखी हो जाने से इस चिंताधारा का स्वाभाविक विकास-क्रम टूट गया। अंत में सन् 1944 की अस्वस्थता ने उसे पुनः अंतर्मुखी चिंतन पर बाध्य किया और *स्वर्ण-धूलि* तथा *स्वर्णकिरण* में उपर्युक्त चिंताधारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गई। ❑

—मई, 1949

चलचित्र की बात

वृंदावनलाल वर्मा

झांसी में एक फिल्म को देखकर सिनेमा से बाहर निकला। जिनको नीची श्रेणी का दर्शक कहा जाता है, उन्हीं की भीड़ में होकर थम-थमकर चलने लगा।

13-14 साल का एक लड़का फिल्म में ही गाए हुए गीत को गाता जा रहा था—

'मेरे दिल में दिल रहा नहीं, अब दिल को ढूंढूं किस जगह?'

18-19 साल के एक दर्शक ने तुरंत फबती कसी,—"किसी भी दलदल में से ढूंढ़ निकालो।" 13-14 साल वाले ने तेल से सराबोर लहराते हुए अपने पट्ठों को गर्दन का झटका देकर हिलाया; मुस्कुराया और बोला, "हिश!"

मैं और भी थम-थमकर चलने लगा।

19-20 साल के एक दर्शक ने भीड़ की उस चहल-पहल से भी ऊपर अपनी आवाज को उठाकर कहा, 'आज के पैसे तो मुफ्त में ही गए। गाना लचर था, कहानी बे सिर-पैर की और एक्टिंग सटर-पटर।'

"पर, भाई, नवीना का एक्टिंग तो मज़ेदार था," उसके मित्र ने अपनी मौज प्रकट की।

"हां नवीना की मजेदारी आंखें मटकाने, छाती फड़काने और कूल्हे चटकाने तक ही रही। नाच तो उसका वैसा ही फूहड़ था जैसा..... उन सब फिल्मों में देखा है।" उसने फिल्मों के नाम गिनाए।

मेरे पीछे से भीड़ की एक टुकड़ी कुछ आगे बढ़ी।

भीड़ में से एक बोला, "साले उसी एक कहानी को दुहराया, तिहराया और चुहराया करते हैं।"

"हम लोग मजबूर हैं, भाई। तांगा ढीला कर घोड़े को दाना खिलाया ही था कि मुन्नू की मां ताव पर आ गई। मुझको भी गुस्सा आ गया। सोचा, दो हाथ जड़ दूं। फिर मन सिनेमा की तरफ दौड़ गया। दूसरे शो में चला आया।"

"तकदीर में यही सब तो बदा है।"

तकदीर के फैसलों पर चर्चा को करवट बदलते देखकर मैंने पग बढ़ाए। आगे 'बाबू' समाज के दो महाशय जा रहे थे। वे भी उसी फिल्म के संबंध में बातचीत कर रहे थे। मैं उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

"फोटोग्राफी तो मजे की थी, मगर डाइरैक्शन खराब थी।"

"शांताराम डाइरैक्शन करता तो फिल्म अच्छा बन जाता।"

"खाक अच्छा बनता। कहानी बेजान है, वही कुटा-कुटाया बासी पुराना कथानक। शांताराम क्या, इंद्रदेवता भी इसको अच्छा नहीं बना सकते थे।"

"हिंदुस्तानी संगीत पद्धति में, कभी इटली के किसी प्रसिद्ध गीत का एक हाथ काटकर जोड़ देते हैं, कभी वैगनर का कान उखाड़कर जमा देते हैं, कभी बाक और कभी बीथोविन की टांग काटकर रोप देते हैं।"

मैं सचेत हुआ। सोचा, ये दर्शक कला-विवेक के कुछ प्रतिनिधि-से जान पड़ते हैं। मैं बहुत सावधानी के साथ उनकी बातें सुनता हुआ चलने लगा—

"एक्टिंग तो इनमें से नव्वे फ़ीसदी नहीं जानते। ओवरएक्टिंग करते हैं, भांड बन जाते हैं।"

"किसी मासिक पत्र में आलोचना छपवाओ न।"

"उस आलोचना को फिल्म वाले क्या कभी पढ़ेंगे?"

"सरकार का ध्यान तो आकृष्ट होगा।"

फिर वे लोग सिगरेट पीने की धुन में लग गए। मैं उनका पीछा न करके फिर धीमा पड़ गया। जिनको नीची श्रेणी का कहा जाता है, उनकी भीड़ फिर बढ़ आई। इस भीड़ में मध्यम श्रेणी के भी कुछ लोग थे। अधिकांश पच्चीस वर्ष तक की आयु के। कुछ चुप थे, कुछ इखरे-बिखरे मंतव्य प्रकट कर रहे थे और कुछ चिल्लाने में किसी प्रकार की भी कसर नहीं छोड़ रहे थे।

जो चुपचाप जा रहे थे, उनमें से एक ने मुझको अपने कुछ निकट पाकर जानकारी का वातावरण बनाने के लिए मुझसे कहा, "सरकार कुछ डौक्यूमैंट्री फिल्म बनाने जा रही है, पर उनको सरस कैसे बनाया जाएगा?"

लेखक (दाएं) मैथिलीशरण गुप्त के साथ।

चर्चा चलने लगी।

"जरूरी नहीं है कि डौक्यूमैंट्री रूखे और नीरस ही बनें।"

"हां, हां, मलेरिया बुखार और टी.बी. के विषयों पर जो फिल्म विलायत से बनकर आए थे वे तो अच्छे थे।'

भीड़ में से एक चिल्लाया—"ओ भगवान, हैजा और प्लेग पर भी फिल्म बनेंगे क्या?"

हम लोगों ने मुड़कर देखा। चिल्लाने वाला भीड़ में विलीन हो गया।

मेरे साथी ने राय दी, "जनता डौक्यूमैंटरी की कीमत और फायदे को समझती ही नहीं है।" सब लोग इधर-उधर चले गए।

मेरे विचार में, भीड़ समुदाय या पढ़े-लिखे लोगों की भिन्न-भिन्न सम्मतियां एक बड़ी समस्या के अलग-अलग पहलू हैं और अपने-अपने स्थान पर सब सही हैं। सब लोग—उन्नत और अनुन्नत—दिन-भर की झंझटों के बाद संध्या समय दिमागी खुरचट से किसी न किसी प्रकार का पलायन, मनोरंजन या दूसरा कोई आकर्षक काम चाहते हैं। थोड़ी-बहुत मात्रा में, भला-बुरा, ग्राह्य और अग्राह्य, जैसा कुछ भी मिल जाए, उसके सामने जाने-अनजाने मन की झोली पसार देते हैं।

अभी तक कला एक छोटे-से समूह की चहारदीवारी में सीमित थी। जानकारों के असाधारण अनुभव थोड़े-से ही लोगों के घेरे में चक्कर काटते रहते थे। अब सभ्यता, संस्कृति और कला सामान्य जनता का साधारण अनुभव और नित्य नैमित्तिक जीवन का अंग बनने लगी है। ललित कलाएं सामान्य जन के विस्तृत घेरे की दिशा में यात्रा कर रही हैं। इस यात्रा में उनका रूप बदले बिना नहीं रह सकता है। उनके ढांचे में परिवर्तन का होना अनिवार्य है। उनके प्राण अवश्य सुरक्षित रहने चाहिएं। परंतु इस यात्रा में कला के प्राणों पर आ बनने की पूरी आशंका है। कलाकारों का कर्तव्य है कि उसके ढांचे को सामान्य जन की रुचि के अनुसार बदलते रहें और प्राणों को सोलह आने बनाए रखने के लिए सतत सचेष्ट रहें।

फिल्म-चित्रपट की कला में संगीत, साहित्य, चित्रकारी, अभिनय इत्यादि का सम्मेलन है। सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् के कांटे-तराजू पर अनुपात के बाट से समन्वय किया जाए, तभी फिल्म को कला का नाम दिया जा सकता है। वरना वैसे, वह फोटोग्राफी और ध्वनि-आलेखन के यंत्रों की सफल क्रिया का परिणाम मात्र तो है ही।

फिल्म का पहला और सबसे बड़ा आधार अच्छी-सी कहानी और उसका युक्तिसंगत गठन है। इस कहानी में जो चरित्र आए हों, उनका निर्माण मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों द्वारा होना चाहिए। संवाद सरल, समझने योग्य और चमत्कारपूर्ण हों। गायन और नृत्य कहानी के अंग होने चाहिएं। फिल्म में रोते-हंसते सबको गवाना और नचाना सिवाय ग्लानि के कुछ और उत्पन्न नहीं करता है। जिस साधारण जन के मनोरंजन के लिए रद्दी और सस्ती फिल्मों का, बारह-बारह हजार फीट की फिल्म-सामग्री नष्ट करके आयोजन किया जाता है, वही साधारण जन इस प्रकार की फिल्मों का सबसे कठोर अलोचक बनता है। उसकी गांठ में मनोरंजन का कोई दूसरा सुलभ साधन न होने के कारण ही वह रद्दी-भद्दी फिल्मों को देखने के लिए जाता है। कलाकार यदि प्राणपण से इस सिद्धांत को ध्यान में रखे रहे तो कला-शिल्प में कला का प्राण भी सुरक्षित रहेगा और पैसे की कमी भी नहीं रहेगी। जितने लोग अभी सिनेमाघरों में जाते हैं, उससे अधिक ही जाने लगेंगे।

डौक्यूमैंट्री फिल्मों की रुखाई उनके छोटे होने के कारण नहीं अखरती, परंतु उनको सामाजिक जीवन की किसी कोर में जड़ देने से उनका आकर्षण और मूल्य, दोनों बढ़ाए जा सकते हैं।

फिल्म के द्वारा प्रत्येक क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की जा सकती है। जनतंत्र के पाठ व्याख्यानों द्वारा जनता के मन पर टिकाऊ बैठक नहीं पा सकते, फिल्म द्वारा अकल्पनीय सफलता प्राप्त हो सकती है। रूस ने किया है। फ्रांस कर रहा है, इंग्लैंड ने आरंभ कर दिया है, अमेरिका भी कर उठा है, फिर हमारा देश ही क्यों पीछे रह जाए? जनतंत्र, सहयोग और उद्योग, म्युनिसिपल शासन इत्यादि अनेक विषयों पर डौक्यूमैंट्री फीचर फिल्में बनाई जा सकती हैं। कहानी और डौक्यूमैंट्री का सही अनुपात अवश्य निरंतर रहना चाहिए। यह तभी संभव होगा, जब कलाकार सरकार को न ढूंढकर, सरकार कलाकारों को ढूंढे।

दूसरे दिन एक काम से लगभग तीन बजे की कड़ी धूप में मैं उसी सिनेमा के सामने से निकला। चमचमाते बालों वाले युवक कतार बांधे हुए, तेज धूप में अपनी खोपड़ी सेंकते हुए, उसी फिल्म को देखने के लिए टिकट खरीदने के अवसर की प्रतीक्षा में खड़े हुए थे। जो भाग्यवान टिकट खरीद चुके थे, वे किवाड़ खुल पड़ने के लिए बेताब हो रहे थे। भीड़ बढ़ती जा रही थी। और युवक आए। बढ़िया साड़ियां पहने हुए अनेक युवतियां भी। सबकी निगाहें थीं बाक्स आफिस के टिकट बाबू पर। दीवारों पर टंगे हुए स्टारों (नक्षत्रों नहीं, सौंदर्य के मानव-प्रतीकों) के चित्रों पर भी बहुत-सी नजरें एक साथ थीं। मानो मनोरंजन का संग्रह अनजाने ही, किसी हवाई सहयोग समिति द्वारा किया जा रहा हो। मैं कुछ क्षणों के लिए रुक गया। सुनूं, क्या कहते हैं—

"इस सिनेमा को काली मैया उठा ले जाए; न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी," कहकर हंस पड़ा। परंतु वह वहीं डटा रहा।

"अरे वही रद्दी तस्वीर है, खुराफात से भरी हुई; टिकट न मिले तो मैं तो घर लौट जाऊं।"

"कहानी न सही, कुछ नाच-वाच तो है ही।"

"कुछ न सही, थोड़ी देर आराम से बैठ तो लेंगे।"

"कुछ क्यों नहीं है! फिल्म में इशारे हैं, नखरे हैं, नाज़ है, प्यार-दुलार हैं।"

"और नई-नई रंग-बिरंगी, तड़क-भड़कदार शक्लें भी फिल्म में हैं और सिनेमाघर में भी।"

मैंने सोचा, इस सामूहिक प्रवाह के जादू में कहीं मैं भी न पड़ जाऊं। इसलिए मेरे पांव झट घर की ओर मुड़ गए।

—सितंबर, 1949

आधुनिक हिंदी कविता

रामधारीसिंह दिनकर

समकालीन हिंदी कविता पर दो अंकों में प्रकाशित लेख का उत्तरार्ध।

मेरा विचार है कि हिंदी कविता के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया की नींव, भारतेंदु ने ही डाली। *कर्पूरमंजरी* के रचयिता कवि राजशेखर के साथ सहमति प्रकट करते हुए भारतेंदु ने ही कहा था—

भाव अनूठा चाहिए, भाषा कोऊ होय।

वर्तमान व्याख्या के प्रसंग में हम इस टुकड़े के अर्थ की व्याप्तियों पर विचार करें तो संभव है कि इसका एक अभिप्राय यह भी निकले कि कविता जिस गुण के कारण कविता कहलाती है, वह भाषा अथवा शैली के अधीन नहीं है। उर्दू कवि अकबर इलाहाबादी का भी एक शेर है जो इसी से मिलता-जुलता अर्थ देता है—

मानी को छोड़कर जो हों नाजुक बयानियां,
वह शेर नहीं, रंग है लफ्जों के खून का।

भारतेंदु बाबू ने जो प्रयोग किया, उसे उठाकर आगे ले चलने वाले लोग ठीक उनके बाद नहीं आए। ऐसा लगता है, मानो उनके गोलोकवास के बाद उनके उत्तराधिकारियों ने यह समझ लिया हो कि भारतेंदु उनसे खड़ी बोली में देशभक्ति का राग अलापने को कह गए हैं। इस उत्तराधिकार का निर्वाह बड़ी ही भयंकरता से किया गया। सन् 1885 (भारतेंदु के निधन का वर्ष) से लेकर सन् 1915 तक हिंदी कविता में खड़ी बोली का प्रयोग तो बड़े ही उत्साह और अध्यवसाय से किया जाता रहा, किंतु भावपक्ष में इस काल की कविता प्रायः नीरस हो गई। फिर भी नवीन कविता के हम सभी प्रेमी इस काल के कवियों के ऋणी हैं, क्योंकि 37 वर्षों तक उन्हीं के जोतते रहने से खड़ी बोली की भूमि इतनी चिकनी और नर्म हो सकी, जिसमें से छायावादकालीन कविता के द्रुम लहलहा उठे।

खड़ी बोली को काव्यभाषा के रूप में विकसित करने का कार्य नवीनता के संदेशों की स्वीकृति थी। समसामयिक जीवन को काव्य में अधिष्ठित करके ये कवि कविता की भाव-भूमि को ही विस्तृत बना रहे थे। इस दृष्टि से वे सब के सब क्रांतिकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने इस परंपरा को तो तोड़ ही डाला कि कविता केवल ब्रजभाषा में ही हो सकती है। उन्होंने जिस दूसरी रूढ़ि का खंडन किया वह यह भावना थी कि धर्म, स्त्री-प्रेम, विरह, पावस, वसंत, राजा और युद्ध आदि के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु या व्यक्ति कविता के विषय नहीं हो सकते हैं। इस दृष्टि से भारतेंदु और छायावाद, इन दो युगों के बीच पड़ने वाले कवि भी क्रांतिकारी थे और उन्होंने जो कुछ भी लिखा उससे आगे आने वाली कविता के लिए भूमि तैयार हुई। केवल माखनलाल और प्रसाद की ही पंक्तियां नहीं, बल्कि 1912 या 13 में स्वर्गीय लक्ष्मणसिंह 'मयंक' द्वारा पत्नी-वियोग

महादेवी वर्मा और (दाएं) किनारे पर निराला।

पर लिखा गया यह पद भी बतलाता है कि नई कविता के जो बीज भारतेंदु ने मिट्टी में गिराए थे, वे भली-भांति सिक्त होकर अब अंकुरित हो रहे थे—

गंगा मां के वक्षस्थल पर,/उस दिन शीतल निर्मल जल पर,
देखी थी तब स्वर्गीय छटा,/फिर सघन घनों की घोर घटा।
गूंजा था स्वर झंकार नया,/दीखा था सब संसार नया,
मानस को उथल-पुथल करके,/गंगाजल को उज्ज्वल करके,
तू किधर गई, उड्डीन हुई,/हा, किस दिगंत में लीन हुई?

फिर भी आश्चर्य होता है कि नई चेतना के जो रूप माखनलाल, प्रसाद और मयंक की इन पंक्तियों में मिलते हैं, वे तत्कालीन अन्य कवियों में क्यों नहीं मिलते? इन तीन कवियों को हम छायावाद की आरंभिक कड़ी कह सकते हैं, क्योंकि नवयुग का पहला प्रकाश इन्हीं की प्रतिभा पर चढ़कर हिंदी काव्य में पहुंचा।

छायावाद का आविर्भाव हिंदी में सन् 1920 से माना जाता है, जब भारत के राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी ने सत्याग्रह आंदोलन का श्रीगणेश किया था। छायावादी आंदोलन पर हिंदी में काफी लिखा गया है। हिंदी साहित्य में छायावाद उसी प्रकार का आंदोलन था, जिस प्रकार का आंदोलन अठारहवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेजी साहित्य में आया था। इसके पीछे केवल रवींद्र ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के स्वर भी विद्यमान थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि हिंदी में जब छायावादी आंदोलन जारी था, तब उसके कवि अपने समर्थन में घनानंद, मीरा और कबीर की वैयक्तिक अनुभूतियों का भी उद्धरण देते थे। किंतु उस समय किसी भी दशा से यह आवाज़ नहीं आई कि जिसे तुम छायावाद कह रहे हो, वह और कुछ न होकर राष्ट्र की एक नई मुद्रा की अभिव्यक्ति का प्रयास है—वह मुद्रा जो अंग्रेजी साहित्य और यूरोपीय सभ्यता तथा विज्ञान के सेवन से उत्पन्न हुई है और जो अपनी पूर्ण अभिव्यंजना के अनुरूप विशिष्ट शैलियों का माध्यम खोज रही है। छायावाद के विपक्ष में भी मतों का अभाव नहीं है। छायावादी कवियों का साहित्य के इतिहास में चाहे जो भी स्थान हो, एक बात सच है कि उनमें से छोटे से छोटा कवि भी अपनी बात को बड़ी ही नजाकत से कहना चाहते थे और समकालीन अवस्थाओं की गर्मी को भूलकर वे काल्पनिक शीतलता के देश में बड़ी ही निश्चिंतता से विचरण कर सकते थे।

छायावाद में जो कुछ भी सुंदर और सारवान था, वह मुख्यतया हिंदी के चार कवियों में विभक्त हुआ। उसकी दार्शनिकता प्रसाद के हाथ लगी तथा उसका पौरुष निरालाजी को मिला। पंत ने उसकी प्रभाती अरुणिमा, गंध और ओस को ग्रहण किया और महादेवी के हिस्से आई उसकी धूमिलता जिससे उनकी आध्यात्मिक विरह की कल्पना और भी गंभीर हो गई है। हिंदी में गीतिकाव्य की परंपरा भी छायावाद काल में ही सुदृढ़ हुई। ये गीत उन पक्षियों के कंठ से फूटे थे, जिनके चारों ओर तूफान चल रहे थे अथवा जिनके आस-पास गुजरे हुए तूफानों की छाया मौजूद थी। तूफान में गाए जाएं या तूफानों की छाया में, गीत फिर भी गीत ही होते हैं।

जब दो सभ्यताएं परस्पर मिलती या टकराती हैं, तब उनसे प्रायः कोई नई चीज उत्पन्न होती है। इस्लाम और हिंदुत्व के मिलन से पठानों के समय में हिंदी साहित्य में एक नवीनता उत्पन्न हुई थी, जिसे हम कबीर और दूसरे संत अथवा सूफी कवियों की रचनाओं में देखते हैं। इसी प्रकार, यूरोपीय साहित्य और भारतीय संस्कार के संपर्क से एक नई चेतना उत्पन्न हुई जो अपनी सम्यक अभिव्यक्ति प्राचीन कवियों के द्वारा निर्मित शैली में नहीं कर सकती थी। वैज्ञानिक चिंतन की प्रक्रिया को ग्रहण कर लेने के बाद हम अपनी परंपरागत अनुभूतियों और विश्वासों में से अनेक को शंका की दृष्टि से देखने लगे। इस प्रकार जन्मांतरवाद और कर्मफलवाद की वह लक्ष्मण-रेखा विलीन होने लगी, जो हमारे चिंता-जगत को चारों ओर से घेरे हुए थी और जिसका अतिक्रमण हमारे यहां नास्तिकता का पाप समझा जाता था। इस रेखा के विलीन होते ही भारतीय मनीषियों की युगों की बंदिनी और भूखी जिज्ञासा मनचाही दिशाओं में उड़-उड़कर नई सनसनाहट और नवीन चेतना का सुख अनुभव करने लगी। छायावादकालीन हिंदी कविता में जितने भी नए प्रयोग नजर आते हैं, सब इसी सनसनाहट और सुगबुगाहट को व्यक्त करते हैं।

बारह-पंद्रह वर्ष बीतते-बीतते लोगों ने सुना कि आधुनिक हिंदी कविता में एक और आंदोलन आया है। इसे हम प्रगतिवाद के नाम से अभिहित करते हैं, जो आज भी समग्र विश्व-साहित्य में अपना झंडा उड़ाए चल रहा है। पहले तो ऐसा लगा, मानो प्रगतिवाद के भीतर से राजनीति साहित्य पर चढ़ी आ रही है। अब लोग मानने लग गए हैं कि प्रगतिवाद राजनीति नहीं, वरन साहित्य में ही एक विशिष्ट प्रकार की नवीनता का द्योतक है, जिसका समाज की प्रगतिशील प्रवृतियों से पूरा सामंजस्य है।

भारतेंदु ने जिस आंदोलन का सूत्रपात किया था, वह अभी पूरा नहीं हुआ है। आधुनिक हिंदी कविता यह शपथ लेकर चली थी कि वह जनता की भाषा में बोले और अनावश्यक सामग्रियों को छोड़कर कवि की चेतना को आसानी से पाठकों तक पहुंचा दे। सभी तरह की अनुभूतियों को सरल भाषा में सहज ही जनता तक पहुंचा देना, यही तो आधुनिक हिंदी कविता का लक्ष्य था और इसी का सहारा उन लोगों ने भी लिया जो कवियों को यह उपदेश देते थे कि तुम्हें जनता के लिए साहित्य लिखना चाहिए। इस आंदोलन से एक लाभ हुआ कि कविता के भीतर जन-साधारण की दुहाई दी जाने लगी। किंतु समाज के प्रति उठा हुआ विद्रोह इतनी प्रबलता से आया कि कविता के रूप में की जाने वाली क्रांति पीछे पड़ गई। आज तो भीड़ से अलग रहने की भावना और एक प्रकार की घरेलू भाषा के मोह से वे भी ग्रसित हैं जिनके बारे में यह अनुमान किया जाता है कि वे जनता के लिए लिखते हैं।

विकास की दृष्टि से देखने पर आधुनिक हिंदी कविता चार सीढ़ियां पार कर चुकी है। आदि सोपान तो भारतेंदु ने ही निर्मित किया, जबकि खड़ी बोली पहले पहल प्रयोग में आई, ब्रजभाषा को अपनी जटिलता का त्याग करना पड़ा, समकालीनता काव्य के भीतर झांकने लगी और कवि की वैयक्तिकता ने अपने अधिकारों की मांग की। दूसरा सोपान उन लोगों की रचना है जिन्होंने खड़ी बोली को निश्चित रूप से काव्य की भाषा बना दिया और कविता के प्राचीन विषयों की उपेक्षा करके उसे नवीन विषयों की ओर प्रेरित किया, भले ही ये नवीन विषय शुष्क और निष्प्राण रहे हों। तीसरा सोपान उन महाकवियों की देन है, जो नई कविता को लेकर उस स्वप्न महल में चले गए जिसे अंग्रेजी में 'आइवरी टॉवर' कहते हैं। इतिवृत्तात्मकता के दिनों में हिंदी कविता जितनी सादी और स्थूल थी, 'आइवरी टॉवर' में पहुंचकर वह उतनी ही सूक्ष्म

विचार

कला का शहराती अभिशाप

माखनलाल चतुर्वेदी

हमारी कला और हमारे कलाकारों का शहराती रूप जो है, सो है। किंतु गांवों की ओर हमने बहुत कम ध्यान दिया है। गांवों की भजन मंडलियां, संगीत मंडलियां, रासलीला की मंडलियां, आल्हा और बिरहा के गायक, गांवों के मौसम के गीत, विवाह आदि संस्कारों के गीत, विविध जातियों के गौरव गीत, मोती-बिनौले, लेखनी और तलवार, भंग-तंबाखू आदि के सवाल-जवाब के गीत—यह सब का सब हमारा ग्रामीण और सांस्कृतिक साहित्य, हमारी शहराती उपेक्षा खा गई। और प्रतिभाहीन तथा संस्कार दुष्ट होने से, हमारी शहराती आदत ने गांवों में कोई संस्कार, स्नेह, वीरता, विनोद, सूझ, प्रार्थना और पारिवारिकता तथा साहित्य नहीं पहुंचाया। कितनी ही बार हमारे शहराती स्वभाव ने कहानियों, गीतों आदि में गांवों की सूझों की चोरी की और अपनी कठिन शब्दों से लदी कृत्रिम भाषा में लिखकर, उसे ऐसी फांसी दे दी कि पहले वह अपने ग्राम्य रूप में कहीं दुहराई तो जा सकती थी, अब शहराती चौखटे में, वह मुहाफिजखाने के बस्तों में शरण पा गई।

इसी तरह हमारा एक उपयोगी साहित्य संतों की वाणियों में मर रहा है। साक्षर और सुसंस्कृत लोगों की उपेक्षा और उदासीनता से धार्मिक क्षेत्रों में नागरिकता के अति सभ्य लोगों का आवागमन टूट जाने के कारण गीतों की भाषा और सूझों में कुछ ग्राम्यता अधिक बढ़ गई, सच तो यह है कि तुलसी, सूर, मीरा, कबीर, दादू, नानक, नंददास, सहजी आदि संतों की वाणियों के बाद, लगभग पौने दो सौ वर्षों से हमने संतों की सुधि ही न ली। गणित के प्रश्नों को सुलझाने, पहेलियों के अर्थों को बुझाने अथवा प्रेम-लीलाओं के पवित्र नाम दे-देकर छपवाने के कविता के नाम पर जो व्यापार हमने चला रखे हैं, उनमें इस देश की उपमा, अलंकार, मुहावरे, कहानियां, संकेत, संस्कार और सूझों के सहज अपनाए जाने योग्य कौशल गायब हैं। इसीलिए हमारे कवि श्रृंगार और प्रेम-लीला का, अपरिपक्व तरुणाई में सुगमता से खपने वाला द्रव्य लेकर अपने कवि-जीवन का 'श्री गणेशाय नमः' लिखते हैं और फिर जब उस पर थोड़े ही दिनों में मक्खियां भिनकने लगती हैं, तब कुछ सज्जन देश-पूजा की ओर मुड़ते हैं और भूले भटके देव-पूजा की ओर। किंतु विधिहीन, मंत्रहीन, कष्ट सहन से खाली और कवित्व के 'अहं से' भरी इन रचनाओं की जिंदगी केवल आलोचना-लेखक मित्रों की दिमागी कुलाटों के बल जीवित रहने का स्वांग भरती हैं और ज्यों ही इन कवि-मित्रों का रुख पलटा, त्यों ही इनका भी अवतार समाप्त हो जाता है। इधर एक युग और आ गया। जब ब्रिटेन के विरुद्ध हमारा आंदोलन चल रहा था, तब कला से रहित किंतु खून-फांसी से सने हमारे गीत, लोगों तक कभी-कभी पहुंच भी जाते थे। उन कविताओं और कवियों ने जन जागरण में अपना महान काम कर दिया। किंतु उनमें भी केवल वही साहित्य जीवित है और रहेगा, जिसमें कला है। शेष तो न साहित्य था और न वह जीवित रहेगा।

इधर कुछ गायक, गांवों तक सरलता से पहुंच सकने वाली इन्हीं अमर भाषाओं में आज की तेजस्विता और आज के सुधारों को भी पहुंचा रहे हैं। हमें ऐसे गायक चाहिएं, जो गांवों की बोली में आज की समस्याओं को लेकर देश का संदेश जनता तक पहुंचा रहे हों। ❑

—जून, 1950

और रंगीन हो गई और लोगों ने कहना शुरू किया कि कविता इतनी ऊंचाई पर जा पहुंची है कि हमें वह दिखाई भी नहीं पड़ती।

प्रगतिवाद ने जो सोपान बनाया, वह एक तरह से उतार का सोपान था। *कामायनी*, *यामा* और *तुलसीदास* की रचना करके हिंदी कविता निश्चित रूप से 'आइवरी टॉवर' से नीचे उतर आई है। यह उन लोगों के लिए दुख का विषय है जो 'आइवरी टॉवर' में विश्वास करने वाले हैं। किंतु जो लोग कविता की अपार्थिवता में विश्वास नहीं करते, वे इस उतार को भी आधुनिक हिंदी कविता की प्रगति का सोपान ही मानते हैं।

कविता को हम मिट्टी पर नहीं घसीटना चाहते और न यही चाहते हैं कि वह नीचे रहे। किंतु उसे बराबर हमारे जीवन के बीच से उठ कर ऊपर जाना चाहिए। यह फूलों, पादपों और पर्वतों का धर्म है। इससे विपरीत धर्म किरणों और नदियों का होता है जो ऊपर से जन्म लेकर नीचे आती हैं। जीवन किरणों तथा नदियों के बिना भी नहीं चल सकता। इन दोनों वर्गों की चीजें जीवन से मिली होती हैं। पर्वत का मूल जीवन के कंधे पर होता है और किरणों की उंगलियां उसके शरीर पर भ्रमण करती हैं। मगर साहित्य में इस मिलन का क्षेत्र कहां हो सकता है? भावों और विचारों में अथवा भाषा और छंद में? उत्तर किसी एक के पक्ष में नहीं दिया जा सकता।

आधुनिक हिंदी कविता विशिष्टीकरण को लक्ष्य मानकर चली थी। विशिष्टीकरण यानी चुस्ती। विशिष्टीकरण यानी अच्छा लगने वाला हलकापन। विशिष्टीकरण यानी गहन से गहन मुद्राओं को भी सरल से सरल ढंग से लोगों तक पहुंचा देना। सादगी और प्रभावपूर्णता—इन्हीं के संतुलित योग से आधुनिक हिंदी कविता अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है। ❑

—जून, 1950

संस्मरण

मैं 'निराला' से मिला

प्रभाकर माचवे

'निराला' का रेखाचित्र शब्दों के चौखटे में नहीं समाता। हिंदी का यह अभिशप्त सूफी, यह मस्ताना फकीर, यह क्रांतिकारी सौंदर्यदर्शी, यह दार्शनिक सहृदय—सब विशेषणों के बाद भी विशेष्य है। 'अनामिका' का चित्रकार, साहित्यिक सन्निपात का शिकार, 'भारति! जय-विजय करे!' का क्लासिक गायक, व्यंग की तीक्ष्ण अतिवास्तववादी चोटों से मर्मांतक पीड़ा पहुंचाने वाला, आहत परंतु दृप्त कवि 'निराला'!

'निराला' के समूचे गठन में एक तिक्त अनासक्तता है। एक अंतर्करुणा। जैसे—

'स्नेह-निर्झर बह गया है,
रेत-सा तन रह गया है।'

'निराला' के दर्द की गांठ कहीं गहरे में है। उसका ऐसा ऊपरी-ऊपरी विश्लेषण कि 'निराला' को आर्थिक कष्ट रहे, प्रकाशकों ने लूटा, स्त्री का प्यार नहीं मिला, वह कवियों की उपेक्षा-अपमान से उत्पीड़ित रहे, एक साथ सब परिवार प्लेग का शिकार हो गया, या कि उन्हें पर्याप्त यश और मान नहीं मिला आदि सब व्यर्थ के और बिल्कुल ऊपरी कारण हैं। 'गीतिका' की भूमिका में निराला जी लिखते हैं—'चूंकि मैं बाजार का नहीं बन सका, शायद सरस्वती ने इसीलिए मेरे स्वरों को बाजारू नहीं बनने दिया।'

निराला जी से मेरी पहली भेंट लखनऊ में हुई। भूसा मंडी में 'निराला' का तंग छोटा-सा मकान बड़े कष्ट से मिला। अंदर एक भव्य-वपु व्यक्ति तहमद पहने सो रहे थे, पढ़ रहे थे। जगे, बहुत प्रेम से स्वागत किया। आले में एक बोतल रखी थी, उसे खोलकर सुरती निकाली, मलकर फांकते जाते थे। आंखों में विषाद और ओज का अजब मिश्रण था। गर्दन हिलाते, तब लंबे बाल अभिनेताओं की भांति हिलते। रवींद्रनाथ की 'सूरदास' कविता सुनाई। अपने गद्य के अवतरण भी सुनाते जाते। 'गीतिका' के 'नयन से नयन बंधे' वाले गीत की विशद व्याख्या की और बीच-बीच में

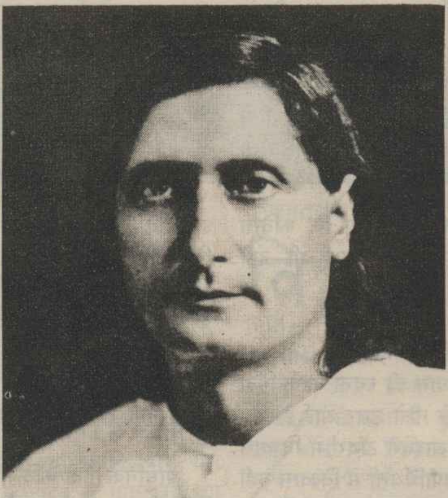

'निराला'

ब्राउनिंग, कालिदास, माईकेल और गालिब के उद्धरण सुनाते जाते। वे उनके कमरे में बिताए छः घंटे एक अविस्मरणीय साहित्यिक दावत थी।

बाद में वह हमें एक बंगाली होटल में ले गए। हम मांसाहार नहीं करते, इस बात पर उन्होंने निराशा व्यक्त की। फर्राटे से उस बंगाली के साथ वह बंगला बोलते थे। हिंदी में बंगालियों की-सी और उनसे भी साफ गिनती के ही साहित्यिक अब बंगला बोलने वाले बचे हैं। 'निराला' महिषादल रियासत मे पुजारी थे, रामकृष्ण मिशन में भी रहे। विवेकानंद की कविताओ के कैसे साफ अनुवाद किए हैं उन्होंने!

निराला जी से दूसरी भेंट मेरठ साहित्य परिषद में हुई। वह होमवती जी के यहां ठहरे थे। एक साथ दो-दो रसगुल्ले मुंह में भरकर खाते जाते और कोई नर्म परिहासमयी बात कहकर कहकहा लगाते। बंगाल के कलामय वातावरण की छाया में पले-पनपे नियति के निमर्म व्यंग के शिकार इस कलाकार में लखनऊ की नफासत का भी रंग चढ़ा था। मुझसे सूफी कवियों की महत्ता की बात की। जब मैंने उनका एक स्केच बनाया, तो बोले—"यह तो विक्टोरिया रानी की-सी शक्ल बन गई।" रामविलास शर्मा तब पास ही बैठे थे, बोले—"निराला जी ओंठ तो कुछ वैसे ही हैं, डील-डौल चाहे हाथी का-सा हो!"

निराला जी से मुक्त छंद पर भी बहुत विस्तार से चर्चा हुई। वह बंगला के स्वर-आलोड़न को खड़ी बोली में असंभव बताते थे। इसीलिए उनका कहना था कि केवल घनाक्षरी ही उसके अनुकूल थी। नए कवियों में वह तब शिवमंगल सिंह 'सुमन' को बहुत प्रेम करते थे; और गिरिजाकुमार माथुर को भी खासा होनहार मानते थे। तब तक 'निराला' पूर्ण स्वस्थ थे—तन से और मन से। तेजयुक्त, दीप्त और संभ्रांत गंभीर।

7 वर्षों का व्यवधान बड़ा व्यवधान होता है। इस बीच में एक विश्वव्यापी महायुद्ध घटित हो गया। 'निराला' वह निराला न रहे। मैं राहुल जी के साथ शासन शब्दकोश का कार्य कर रहा था, सत्यनारायण कुटीर में ठहरा था। राहुल जी पहाड़ चले गए थे। एक दिन शाम को वहीं आनंद जी, श्री कृष्णदास, शमशेर और मैं बैठे कुछ विचार कर रहे थे, कि सहसा उधर से 'निराला' आ गए। उनके साथ में गले में माला पहने गंगाप्रसाद पांडेय थे; 'निराला' ने माला पहनी थी, सो उन्हें दे दी थी। वह राहुल जी से मिलने आए थे। सुना—नहीं हैं, तो आनंद जी से बातें करने बैठे। अब बाल छंट गए थे; बदन की कसावट कुछ ढीली-सी हो गई थी। आंखों में वह दर्पोन्नत सिंह का-सा निश्चिंत आत्मविश्वास मंद होकर, एक आतंक को अमान्य करके भी उसकी सत्ता से तंग शरविद्ध हिरण की-सी आर्तता आ गई थी।

बोले—"मैंने यूरोप के सब हिल स्टेशन देखे हैं। आल्प्स पर हमारा डेरा था। गेटे से मैंने बातें की थीं। मगर वहां का पानी हमें पसंद नहीं। राहुल जी चले गए। अच्छा फिर मिलूंगा।" किसी ने कहा—"पंत जी भी परसों जाने वाले हैं।" निराला बोले—"हां, मैं भी जाता। पर वहां का पानी हमें माफिक नहीं आता। हमें यहीं अपना हिसाब-किताब करना है। जनता दुखी है, गोली चल रही है। पर हम तो संन्यासी हैं। अच्छा चलें।" शमशेर और पांडेय को साथ लिए वह चल दिए। वही मस्तानी झूमती चाल, वही उन्नत भाल। परंतु कपड़े फकीरों से, बाना कैदियों का-सा। मानो युग की मेधा अब गुर्राती नहीं, परंतु भुनभुनाती चली जा रही थी।

गत वर्ष वर्षाकाल में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के हाल में खचाखच भीड़ थी। कालेज के छात्र और छात्राएं 'बच्चन' के प्रणय-गीतों की आतुरता से राह देख रहे थे। और कवि जम नहीं पाते थे। 'निराला' अध्यक्ष थे। वही गेरुआ तहमद और ऊपर एक दुपट्टा। सर्दी में भी नंगे बदन। दाढ़ी कुछ-कुछ रुपहली बेतरतीब बढ़ी हुई। अंत में उनकी बारी आई तो बोले—"ये यूनिवर्सिटियां हमारी बनाई हुई हैं। मैं अभी घाव की चोट खाकर लौटा हूं। सिर पर यह निशान बाकी है! अब हमारी जवानी नहीं रही, नहीं तो मैं आपका मनोरंजन करता। फिर भी सुनाता हूं!" कहकर उन्होंने दो-तीन बहुत मधुर गीत सुनाए। बीच-बीच में व्याख्या करते जाते।

कवि सम्मेलन समाप्त होने पर विद्यार्थियों को कुछ गद्य में लंबा-सा संदेश लिख दिया। चाय पर 'बच्चन', डा. सत्यप्रकाश और मैं उनके साथ थे। मैंने कहा—"निराला जी, सर्दियों में कुछ पहन तो लिया करें।" उसी तरह गर्दन को झटका देते हुए बोले—"आर्थिक प्रश्न रहता है। हमें हिसाब-किताब करना बाकी है। परंतु कालिदास की उक्ति के सहारे जी रहे हैं।" उन्होंने कई श्लोक सुना डाले। फिर 'बच्चन' की ओर देखकर बोले—"अब दस-बीस बरस आप ही के हैं। आपका बहुत अच्छा रंग जमा है। यूनिवर्सिटी आपकी है।" तब 'बच्चन' जी बोले—"निराला जी, आप तो यूनिवर्सिटी के क्या, 'यूनिवर्स' के कवि हैं!" फिर निराला जी स्वागत भाषण में निमग्न हो गए। उसी तरह बुदबुदाते, आंखों में वही नियति-आहत पुतलियां।

अब की बार सम्मेलन भवन में निर्मल जी ने जल-पान का आयोजन किया था। निराला जी ने वहीं एक छोटा-सा भाषण दिया—"मेरे सिर में घाव हो गए हैं। अभी बहुत लड़ाई बाकी है। आप सब लोग हिंदी भारती की जो अभ्यर्थना कर रहे हैं, वह बहुत गौरवमयी है। अब हम तो मैदान से अलग हो गए। संन्यस्त हो गए हैं। अब वह गीतों का यौवन नहीं रहा, फिर भी सुनिए, इसमें बंगला के अमात्रिक छंद को मात देने वाला हिंदी छंद ढाला गया है। लीजिए! और निराला जी ने 'जागो फिर एक बार' नामक ओजस्वी रचना सुनाई। सुनाते-सुनाते 'गीता है, गीता है' कहते समय उठ खड़े हुए। एक रोमन पुतले की तरह उनका उत्तरीय उनके बाएं कंधे से उतर झूल रहा था। हाथों की मुद्राएं और भंगिमाओं से वह कविता के भाव को और भी स्पष्ट करते जाते थे। इतनी बड़ी कविता एक सांस में सुना गए। सम्मेलन भवन में समां बंध गया।

कुछ समय पूर्व राहुलजी एक दिन निरालाजी से मिलने संसद भवन, रसूलाबाद में गए। मैं भी साथ था। निरालाजी संन्यासियों की-सी भगवा पोशाक पहने अकेले इधर से उधर घूमते थे। बीच-बीच में अपने आप ही बोलते जाते। ठिठककर दूर तक के रजत बालुका विस्तार की ओर देखते, जहां आकर जीवन की धारा सूख-सी गई है।

लेखक

राहुल जी को देखकर बहुत खुश हुए। आतिथ्य के लिए आकुल हो गए। चाय बनवाई। पांडेय जी उधर से आ ही गए थे। बड़ी पुरानी-पुरानी स्मृतियां उन्हें याद आ गईं। उनकी स्मृति बहुत अच्छी है।

फिर एक दिन और ऐसे ही कुछ काम से संसद में 'अज्ञेय' के साथ निराला जी से मिलने गया। दो-तीन घंटे एकांत में बिताए। निराला जी अंग्रेजी में बोलते जाते थे। कहने लगे—"टी.एस. ईलियट मुझसे मिलने आया था। अच्छा लिखा है। उसकी बात में रूखापन है। कचोट है।" फिर मुक्त छंद की चर्चा करने लगे। बोले—"इधर क्या हिंदी में लिखा जा रहा है, मुझे पता नहीं है। परंतु अब तो हमारे 'रिटायर' होने का समय आ गया। अब तो बस तुम लोगों की ओर आशा से देखते हैं।"

उस दिन वह बहुत उद्वेलित जान पड़ रहे थे। पैर जोर-जोर से हिलाते जाते थे और बाद में जल्दी ही वे संसद छोड़कर दारागंज चले गए। उन्हें माघ मेले के विराट जन विस्तार में अधिक शांति मिली। 'निराला' आज कुछ साधारण जन से भिन्न हो गए हों, फिर भी वह मूलतः जन-जन के कवि हैं।

9 फरवरी को मैं दारागंज मे गंगा नहाने जा रहा था। राह में अलोपी बाग के मोड़ पर डाक्टर उदयनारायण तिवारी के घर निराला जी बैठे अखबार पढ़ रहे थे। वही भगवा तहमद, वही दाढ़ी बढ़ी-सी, बेपरवाह मुद्रा! मैंने तांगे से उतरकर प्रणाम किया। मेरी भुजा की मछली छुई, बोले—"वजन कितना है?" मैंने पूछा—"यहां की गंगा अच्छी लगती है या रसूलाबाद की?" न जाने क्या सोचकर अंग्रेजी में बोल उठे—"माई माइंड वाज नाट ट्रांक्विल देयर।" (मेरे मन को वहां शांति नहीं थी।)

28 अप्रैल की रात को गंगा की रेणुका पर संसद भवन के सामने मैथिलीशरण जी गुप्त की अध्यक्षता में कविवर 'दिनकर' को साहु-पुरस्कार दिया गया। तब निराला जी की इतने साहित्यिकों के बीच में स्वाभिमान भरी भाव-भंगिमा देखी। कोई बीस वर्ष बाद डा. हेमचंद्र जोशी से मिल रहे थे। उन्हें अपने हाथों चाय बनाकर दी। बीच में सुरती मलकर फांकते जाते और अंग्रेजी में बोलते जाते। भाषण में आरंभ बहुत ठिकाने से किया, फिर ए.आई.सी.सी. की बातों में खो गए। बाद में उपाहार के वक्त महादेवी जी के पास बैठे थे। मैं पास था। पकौड़ी आई। मैंने कहा, "निराला जी, लीजिए।" उत्तर मिला, "तेरे लिए छोड़ी मैंने बामन की बनाई हुई घी की कचौड़ी।" ❑

—मार्च, 1951

पत्रकारिता

गत अर्द्धशती में हिंदी पत्र

अंबिकाप्रसाद वाजपेयी

हिंदी समाचार-पत्र का जन्म हुए अभी सवा सौ साल ही बीते हैं, इसलिए अन्य भाषाओं के पत्रों के सामने यह बालक ही है। फिर भी गत अर्द्धशती में इसने आशातीत उन्नति की है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

जो इस क्षेत्र में अग्रणी थे, उनकी दृष्टि विशाल थी और उन्होंने इस क्षेत्र में बहुजनहिताय की मंगल कामना लेकर ही इसमें प्रवेश किया था। परंतु इनके पीछे जो आए, वे यो तो सांप्रदायिकता या जातीय भावना के मोह में फंस गए, जिससे अपने संप्रदाय की उन्नति और जाति का सुधार ही उनका लक्ष्य हुआ। इसी से हमने देखा कि पचहत्तर वर्षों में जो प्रायः 475 पत्र निकले, उनमें प्रायः 100 तो 'आर्यसमाज', 'धर्मसमाज', 'ब्राह्मसमाज' और 'जैन समाज' के प्रचारक और पोषक थे। शेष में प्रायः कायस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय राजपूत और खत्री समाजों की उन्नति और सुधारों के अभिलाषी 50 पत्र थे। इन जातियों में सुधार तो प्रायः नहीं हुए, पर जाति के नाम पर इन्हें सहायता मिलती रही, जिससे राष्ट्रीयता के इस युग में भी जाति विशेष के पत्रों का अस्तित्व बना हुआ है। जाति प्रेम के कारण इन्हें रुपये का रोना सार्वजनिक पत्रों की तुलना में नहीं रहा, यह कहने में कोई हर्ज नहीं।

वह युग दैनिक पत्रों का नहीं था, यद्यपि उनमें चार दैनिक पत्र भी निकले थे, जिनमें एक को छोड़ शेष अकाल ही काल के मुंह में चले गए। ऐसा होना आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि जहां साप्ताहिकों की ही पूछ न थी, वहां दैनिक कैसे चल सकते थे? 475 पत्रों में भी साप्ताहिक केवल 75 थे। उन्नीसवीं शती के तृतीय चरण के अंतिम महीनों में ही अच्छे साप्ताहिक निकले और यह क्रम उस शती के अंत तक चलता रहा। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सार्वजनिक हित को बहुत प्रोत्साहन दिया और इसलिए 'कवि वचन सुधा' के बाद जो पत्र निकले, उनमें जान अधिक थी। फिर भी एक तो शिक्षा की कमी, दूसरे सार्वजनिक हित की उपेक्षा और तीसरे धनाभाव ने इनका मार्ग कंटकाकीर्ण कर दिया। फल यह हुआ कि अपनी चमक-दमक दिखाकर ये लुप्त हो गए। उन दिनों पत्र पाठकों के भरोसे ही निकलते थे, इससे भी अकाल के मृत्यु-मुख में चले जाते थे। इस दुर्दमनीय परिस्थिति में जिन्होंने हिंदी पत्रों का प्रकाशन और संपादन किया, वे हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं और उनकी जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।

यद्यपि सार्वजनिक हित का आंदोलन कांग्रेस के जन्म से भी दस पंद्रह वर्ष पहले चल चुका था, तथापि वह स्वतंत्रता का आंदोलन न था। उसका उद्देश्य अंग्रेजों से मिलकर देश का शासन करना था। नौकरियों में साझा बंटाना और अंग्रेजों की तरह बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाना था। परंतु बीसवीं शती के आरंभ में जो कई घटनाएं घटीं, उनसे इस सोए हुए देश की निद्रा भी भंग हो गई। पहली घटना तो बोर युद्ध थी और दूसरी रूस-जापान युद्ध। बोर युद्ध तो गोरों में ही हुआ था। फिर भी दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों को मार खाते देख हम प्रसन्न ही होते थे। इसके बाद तो विशालकाय रूस को जब वामन जापान ने हराया, तब हमें अपने डील-डौल पर कुछ लज्जा आई और हम में कुछ उत्तेजना और उत्साह का भी संचार हुआ। हमने सोचा कि यदि छोटा-सा जापान इतने बड़े रूस को हरा सकता है, तो 30 करोड़ लोगों का भारत देश क्या तीन साढ़े तीन करोड़ अंग्रेजों की गुलामी की बेड़ियां नहीं तोड़ सकता?

और इसके बाद तो अपने ही देश में एक ऐसी घटना घटी जिसने हमें अपने को मनुष्य समझने को बाध्य किया। यह थी लॉर्ड कर्जन की बंग-भंग की आज्ञा। सन् 1905 में लॉर्ड कर्जन ने बंगालियों के प्रतिवाद और विरोध की उपेक्षा कर बंगाल के दो टुकड़े कर दिए। बंगाली नेताओं ने इसका बदला लेने को ब्रिटिश माल का बहिष्कार करने का निश्चय किया। बस फिर तो ब्रिटिश बहिष्कार और स्वदेशी ग्रहण का आंदोलन उत्पन्न हो गया और अंत में इस प्रकार भारतीय पत्रों के लिए लिखा-पढ़ी का नया मसाला मिल गया, जिसे हिंदी पत्रों ने बड़े चाव से अपना लिया। इस समय हिंदी में नाम के लिए एक दैनिक पत्र कालाकांकर का 'हिंदोस्थान' था, पर यह भी बीसवीं शती के कुछ ही वर्ष देख सका। यह जनता का पत्र न था और न इसके पाठक ही थे। इसकी कुछ प्रतियां—अधिक से अधिक दस बीस, इलाहाबाद स्टेशन पर बिक जाती होंगी। इसका उत्तराधिकारी कालाकांकर से ही 'सम्राट' निकला, जिसमें कुछ समय तक हमारे वयोवृद्ध साहित्यिक पंडित बालकृष्ण भट्ट ने काम किया था। पर जागरण के युग में 'सम्राट' नाम का पत्र चलना कैसे संभव था? हां, अजमेर के मनीषी (मुंशी) समर्थदान ने अपने 'राजस्थान' को इससे पहले दैनिक कर दिया था। पर यह कुछ चमका नहीं और न किसी का उपकार करने में ही समर्थ हुआ।

ऋषिकल्प दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में सन् 1906 में जो कांग्रेस कलकत्ता में हुई थी, उसने राजनीतिक आंदोलन की दिशा ही बदल दी। सन् 1907 में हिंदी के अनेक पत्र निकले, यद्यपि सब साप्ताहिक थे। इनमें एक तो प्रयाग से महामना पंडित

मदनमोहन मालवीय ने 'अभ्युदय' नाम से निकला। मालवीय जी महाराज राजा रामपालसिंह के 'हिंदोस्थान' का संपादन कर चुके थे। पर इस समय वह युक्तप्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के नेता थे, इसलिए कालांतर में 'अभ्युदय' का संपादन भार क्रमशः बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, पंडित सत्यानंद जोशी और पंडित कृष्णकांत मालवीय पर आ पड़ा। महामना मालवीय जी सौम्य विचारों के नेता थे, इसलिए 'अभ्युदय' भी नर्म विचारों का पत्र रहा। लोग उग्र नीति पसंद करते थे, इसलिए उत्तमोत्तम लेख प्रकाशित करने पर भी 'अभ्युदय' बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ।

दूसरा पत्र नागपुर से निकला था। इसका नाम 'हिंदी केसरी' था। इसमें लोकमान्य तिलक के मराठी 'केसरी' के लेखों का अनुवाद छपता था। लोकमान्य का 'केसरी' बहुत लोकप्रिय था, क्योंकि वह उग्र विचारों का पत्र था। इसलिए 'हिंदी केसरी' बड़े चाव से पढ़ा जाता था। जो लोग इस डर से 'हिंदी केसरी' नहीं पढ़ते थे कि कहीं पुलिस के पंजे में न आ जाएं, वे भी लुक-छिपकर उसे पढ़ लिया करते थे। परंतु इसका जीवित रहना ही कठिन था। सन् 1908 में 'केसरी' के जिन दो लेखों के कारण लोकमान्य पर राजद्रोह का मामला चला था और उन्हें 6 वर्ष के लिए मांडले के किले में कैद होना पड़ा था, उन्हीं के कारण 'हिंदी केसरी' के संपादक पंडित माधवराव सप्रे को जेल-यातना भुगतनी पड़ी और 'हिंदी केसरी' भी बंद हो गया। परंतु इनसे लोगों का दमन नहीं हुआ, ब्रिटिश शासन से उनका विराग उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सन् 1907 में ही कलकत्ता से राजनीति का सबसे पहला मासिक पत्र 'नृसिंह' निकला था, पर यह धनाभाव के कारण एक साल से अधिक नहीं चल सका।

राजनीति का एक सिद्धांत है कि जब शत्रु प्रबल हो, तो उसकी भक्ति दिखाने को उसे अपने सिर पर बैठा कर नाचे और जब अवसर पाए, तब उसे कच्चे घड़े की तरह जमीन पर पटक दे। कदाचित इसी विचार से 'ईश्वर और मेरा स्वत्व' इस फ्रेंच आदर्श वाक्य के साथ अंग्रेजी सत्ता का चिन्ह हमारे देश के समाचारपत्रों के मुख्य लेख के पहले छपा रहता था। 'भारतमित्र' पर तो था ही, मद्रास के 'हिंदू' पत्र पर तो स्वराज्य स्थापना के पहले तक देखा था। पर बाबू बालमुकुंद गुप्त ने बंग-भंग के बाद ही उसे दासता का चिन्ह समझ कर हटा दिया था। बंगाल में, विशेषकर कलकत्ता में तो सन् 1905 से 1910 तक ऐसा जान पड़ता था कि अंग्रेजी राज्य उठ गया। कलकत्ता का अंग्रेजी दैनिक 'वंदेमातरम्' जहां भारत के ब्रिटिश नियंत्रण से रहित पूर्ण स्वातंत्र्य का समर्थन करता था, वहां बंगला साप्ताहिक पत्र 'युगांतर' मार-धाड़ को उत्तेजन देता था। अपने पत्र की अंतिम प्रति का मूल्य इसने 'फिरंगीर कांचा माथा' (अंग्रेजों का कच्चा सर) छाप रखा था। परंतु जब लॉर्ड हार्डिंग और लॉर्ड क्रू की मंत्रणा से लॉर्ड मोरले का 'वज्रलेप' निर्लेप हुआ, तब सन् 1911 के दिल्ली दरबार के समय राजभक्ति का प्रदर्शन एक बार फिर दिखाई दिया। यह गर्भांक मात्र था, क्योंकि इसके बाद की घटनाओं से यह नहीं सिद्ध होता कि लोग ब्रिटिश भक्त हो चले थे।

'भारतमित्र' उन्नीसवीं शती के अंतिम दशक में दो बार दैनिक हो चुका था और दूसरी बार तो साल भर तक दैनिक रहा भी, पर वह समय दैनिक के अनुकूल नहीं था, क्योंकि न पाठक थे और न विज्ञापन। हिंदी के पाठक युद्ध के समाचार और वाद-विवाद संबंधी लेख बड़े चाव से पढ़ते हैं। उन दिनों इनका भी अभाव था, इसलिए 'भारतमित्र' दैनिक न रह सका। परंतु सन् 1911 के दिल्ली दरबार के समय अवस्था बहुत बदल चुकी थी। प्रायः सौ वर्ष के शासन में कोई ब्रिटिश नरेश भारत नहीं आया था। सन् 1877 में जब विक्टोरिया रानी भारत की सम्राज्ञी घोषित हुई थीं, तब भी विक्टोरिया लंदन में ही रहीं। पर इस दरबार में भारत को ब्रिटेन का प्रताप ही नहीं दिखाना था, उसे संतुष्ट भी करना था, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने तय किया कि स्वयं राजा पंचम जार्ज को भारत भेजकर भारतीय जनता में राजभक्ति उत्पन्न की जाए। इसी से इस दरबार का महत्व था और 'भारतमित्र' ने इस अवसर पर लाभ उठाने के लिए उसे अस्थायी रूप से दैनिक कर दिया।

'भारतमित्र' का दैनिक संस्करण निकालना बात ही बात में तय हो गया था। न तो कोई सहायक था और न समाचारों का प्रबंध और न इन कठिनाइयों पर विचार ही किया गया था। यह भी नहीं सोचा गया था कि दरबार का वर्णन कहां से दिया जाएगा। उन दिनों कलकत्ता से संध्या को अंग्रेजी दैनिक 'एंपायर' निकलता था। इसी का मुख्य आश्रय था। 'इंग्लिशमैन' और 'इंडियन डेली न्यूज' से जो 'टेलिग्राम्स एक्स्ट्रा' निकलते थे वे विदेशी समाचार ही देते थे। अपने पास दिल्ली से दरबार का समाचार मंगाने का कोई प्रबंध न था। परंतु इस अवसर पर संपादक के सहपाठी जमाना-संपादक मुंशी दयानारायण निगम ने एक संक्षिप्त तार दिल्ली से भेज दिया। इस खाके से बड़ा काम बना, क्योंकि इसमें रंग भरकर और भानमती का कुनबा जोड़कर दूसरे दिन जो प्रकाशित किया, तो किसी ने नहीं जाना कि कहां से क्या आया। 'भारतमित्र' ने पाठकों पर अपनी योग्यता और कर्तृत्व की छाप लगा दी।

दैवयोग से प्रथम महासमर भी पाठकों को दैनिक 'भारतमित्र' की ओर खींच लाया। 'एंपायर' और 'टेलिग्राम्स एक्स्ट्रा' से समाचार प्राप्त होते थे और संपादक मंडल के परिश्रम से पाठकों को ज्ञानवर्द्धन की सामग्री मिलती थी। सन् 1914 में महासमर के आरंभ में ही कलकत्ता से ही दूसरा दैनिक 'कलकत्ता समाचार' भी निकलने लगा था। यह धनियों का पत्र था, पर 'दैनिक भारतमित्र' की-सी पाठ्य सामग्री नहीं दे सकता था।

'कलकत्ता समाचार' देशी और विदेशी तार भी लेता था और दैनिक 'भारतमित्र' के पास इनका अभाव था फिर भी लोग इसे अधिक पसंद करते थे। कारण यह था कि दैनिक 'भारतमित्र' में बातें इस ढंग से लिखी जाती थीं कि गहन विषय भी पाठकों के लिए सरल हो जाता था। इसी प्रसंग में समाचार-संग्रह के संबंध में कुछ बता देना अनुचित न होगा। विदेशी तार लंदन से रायटर कंपनी द्वारा भारत आते थे और देशी तारों के लिए ऐसोशिएटेड प्रेस था। श्री राय ने ऐसोशिएटेड प्रेस खड़ा किया था। कालांतर में रायटर कंपनी ने ही ऐसोशिएटेड प्रेस ले लिया, पर उसे श्री राय के प्रबंध में ही रहने दिया। इसके उपरांत दोनों में अनबन हो गई, इसलिए श्री राय अपने साथियों सहित बाहर निकल आए।

अब श्री राय ने 'न्यूज ब्यूरो' नाम से दूसरी एजेंसी बनाई और इसके गाहक जुटाने के लिए श्री ऊषानाथ सेन को कलकत्ता भेजा। इन्हें

लेकर बाबू श्यामसुंदर चक्रवर्ती 'भारतमित्र' आफिस में गए और आग्रह करने लगे कि 'भारतमित्र' भी 'न्यूज ब्यूरो' के तार लिया करे। जब किसी प्रकार पिंड न छूटा, तब 50 रुपये मासिक पर तार लेना तय हुआ। पर 'न्यूज ब्यूरो' का काम तीन महीने से अधिक नहीं चला। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि बालासोर षड्यंत्र केस की ठीक-ठीक रिपोर्ट 'न्यूज ब्यूरो' को नहीं मिल पाई और दूसरा यह कि दोनों दलों में समझौता हो गया। इसलिए श्री राय अपने पारिषदों सहित फिर ऐसोशिएटेड प्रेस के कर्ता बन गए। परंतु हिंदी के पाठकों की दृष्टि में समाचारों का कोई महत्व न था, आप बासी खबरें छापिए या ताजी। उनके लिए जैसा सूखा सावन वैसा ही भरा भादों। पूछने पर पता लगा कि उन्हें ताजी खबरों का कोई पता नहीं है।

परंतु इसके बाद समझा गया कि दैनिक समाचार पत्र बिना ताजे तारों के बिना हथियार का सिपाही है, इसलिए ताजे तारों की व्यवस्था होनी चाहिए। पर अपने पास उन पर खर्च करने के रकम कहां? दैवयोग से एक सुयोग लग गया। युद्धकाल में सब चीजों का फाटका (इधर की भाषा में सट्टा) जोरों से चलता है। चांदी का भी चलता था। फाटके में वही कमाता है जिसे पहले खबर मिलती है और अखबार को अवश्य व्यापारी से पहले खबर मिलती है। इस घटा-बढ़ी की खबर जिसे पहले मिल जाए, वही बाजी मार ले जाए, इसलिए उक्त व्यापारी ने 'भारतमित्र' से बंदोबस्त किया। अंधे लंगड़े की तरह दोनों का स्वार्थ सिद्ध हुआ। कई महीने बाद यह व्यवस्था टूट गई। महासमर भी समाप्त हो गया। इसके बाद 'भारतमित्र' ने आप अपना प्रबंध किया। नए मैनेजिंग डाइरेक्टर ने पत्र को प्रतिष्ठित रूप देने के लिए कई सौ मासिक व्यय करना आरंभ किया, जिससे इसकी बधिया बैठ गई और फिर इसे बिकना पड़ा।

बीसवीं शती के दूसरे दशक में कलकत्ता से हिंदी के जो दैनिक निकले, उनके सिवा भारत में छोटे-बड़े कई दैनिक ही प्रकाशित नहीं हुए, कुछ साप्ताहिक भी दैनिक किए गए। साप्ताहिकों से दैनिक होने वालों में मालवीयजी के 'अभ्युदय' और बंबई के श्री 'वेंकटेश्वर समाचार' के नाम उल्लेखनीय हैं। महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के साथ-साथ जो नए दैनिक पत्र निकले, उनमें कलकत्ता के 'स्वतंत्र' और काशी के 'आज' की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। दोनों एक ही दिन जन्माष्टमी को सर्वप्रथम प्रकाशित हुए थे, पर ग्रहस्थिति प्रायः एक-सी होने पर भी गृहस्थिति भिन्न थी। 'आज' धनी के घर जन्मा था इसलिए बावजूद इस बात के कि विदेशी सत्ता के खिलाफ उसने डटकर संघर्ष किया और राष्ट्रीय आंदोलन को शक्तिशाली बनाया, वह फला-फूला और दीर्घजीवी हुआ। 'स्वतंत्र' का जन्म गरीब घर में हुआ था, इससे पौष्टिक खाद्य के अभाव में यह अल्पायु हुआ। पर जब तक जिया, तब तक अपना जीवन सार्थक किया, जैसा कहा गया है—'जिंदगी जिंदादिली का नाम है।' 'आज' सांध्य पत्र था, परंतु 'स्वतंत्र' प्रातःकालीन। 'आज' के प्रथम संपादक भारत सरकार के वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्राकृतिक साधन विभाग के मंत्री माननीय श्रीप्रकाश थे। 'आज' ने काशी जैसी नगरी में समाचार पत्र पढ़ने की रुचि लोगों में पैदा की। बिना वस्तुस्थिति का विचार किए 'भारतमित्र' की भांति ही 'आज' भी तारों पर अंधाधुंध खर्च करने लगा था, जिसके फलस्वरूप पहले ही वर्ष उसे 40 हजार का घाटा देना पड़ा। 'स्वतंत्र' के पास इतनी पूंजी नहीं थी, इसलिए उसे धूल की रस्सी बंटनी पड़ती थी। 'स्वतंत्र' में समाचारों का अभाव नहीं था। इसके लिए वह पैसे खर्च करने में भी आनाकानी नहीं करता था। असहयोग आंदोलन में महिला मंडल की मीटिंगों में गांधीजी के जो भाषण होते थे, वे एकमात्र 'स्वतंत्र' में ही छपते थे। उन दिनों 'स्वतंत्र' से अधिक कोई पत्र नहीं बिकता था। परंतु आय की कमी और व्यय की वृद्धि के कारण वह आर्थिक चिंता से ग्रस्त रहता था। उसने न तो भिक्षावृत्ति अपनाई और न सार्वजनिक चंदे का आश्रय लिया। इस पर भी स्वराज्य के सिपाही की वर्दी पहनकर कभी पीछे पैर नहीं रखा। सन् 1930 में 'नमक सत्याग्रह' के निरंतर समर्थन के कारण सरकार ने उस पर जो प्रहार किया, वह उसे सह न सका और अकाल ही उसका प्रकाशन बंद हो गया।

गत बीस वर्षों में कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, कानपुर, पटना, आगरा, लखनऊ आदि स्थानों से बहुत-से पत्र निकले। समाचारों के ठाठ-बाट और संवार-सिंगार की दृष्टि से आज के पत्र बड़े उन्नत कहे जा सकते हैं। वे हवाई जहाज से पहुंचाए जाते हैं। रोटरी मशीन पर मोनो टाइप से छपते हैं। पर संपादक भाषा और व्याकरण को कभी-कभी ऐसा हलाल करते हैं कि सिसकते रहते छोड़ देने के सिवा इनका कोई पुर्साहाल नहीं दिखाई देता। पहले जिन्होंने 'शेष' और 'अनस्थिरता' शब्दों पर शास्त्रार्थ पढ़े हैं, अथवा विभक्ति मिलाकर लिखना उचित है या अलग, इस विषय पर लेख पढ़े हैं, वे जानते हैं कि शुद्ध लिखने के लिए कैसे-कैसे प्रयत्न किए जाते थे। पर आज 'अधिकृत सूत्र', 'महानता', 'आक्रांता' जैसे अशुद्ध प्रयोग और शब्द 'अधिकारी सूत्र', 'महत्ता', 'आक्रामक', या 'आक्रमणकारी' के लिए लिखते समय कोई इतना भी नहीं सोचता कि ये अशुद्ध तो नहीं हैं और 'आक्रांता' का प्रयोग 'आक्रांत' के लिए हो रहा है या 'आक्रमणकारी' के लिए। इसे क्या कहा जाए? और तो क्या, ऐसा गदर मचा हुआ है कि एक ही लेख में 'कोटा में' और 'कोटे में' दोनों प्रयोग दिखाई देते हैं। यद्यपि बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन जी के इस सिद्धांत से सहमत होना संभव नहीं है कि नामवाचक संज्ञा में प्रत्यय जोड़ने के पहले उसमें विकृति नहीं करनी चाहिए, तथापि हिंदी संपादक तो किसी नियम के पाबंद ही नहीं हैं। वे गदर के समर्थक जान पड़ते हैं। शब्दों में ही नहीं, वाक्यों की लिखावट में भी धांधली है। लिखते हैं—"इस बात, जिसका हमें अनुमान न था, से हम क्या नतीजा निकाल सकते हैं?" अन्य भाषा-भाषियों पर ऐसी अशुद्ध भाषा का क्या प्रभाव पड़ेगा, यह क्या विचारणीय नहीं है? इसलिए अपने संपादक बंधुओं से मेरा निवेदन है कि वे अपने कर्तव्यों के प्रति अधिक सजग हों। वैज्ञानिक साधन नित्य आपके विचारों को, आप द्वारा प्रदत्त सामग्री को अधिकाधिक लोगों तक पहुंचाने में सफल हो रहे हैं। अब तो आपको और भी सतर्क रहना चाहिए कि आपके विचार शुद्ध, साफ-सुथरी और जन-कल्याणकारी भाषा में प्रकट हों। हिंदी का क्षेत्र पहले से व्यापक हो गया है और इसके कुछ अंग इस समय निर्माण अवस्था में हैं। संपादकों को उभय उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है—भाषा भ्रष्ट न होने पाए और जनता से इसका संबंध दूर न होने पाए। यह सही है कि आज के संपादक के मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं, फिर भी उसकी विशाल और कुशाग्र बुद्धि उससे बहुत कुछ करा सकती है। ❑

—जून, 1951

पुस्तक-चर्चा

'झांसी की रानी' पर एक दृष्टि

शिवदानसिंह चौहान

जब कोई देश संघर्ष और संक्रांति के युग से गुजरता होता है और जब पुरानी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, रुचि और फैशन आए दिन बदलते रहते हैं और जो भी पुराना होता है वह समाज और राष्ट्र के जीवन को रूढ़ि और परंपरा की ऐसी बोझिल श्रृंखला के समान लगता है जो हमें आगे बढ़ने से रोकती है, तो ऐसे समय—और यह बात कहने-सुनने में विलक्षण लगती है—साहित्य और कला के स्रष्टा अक्सर अपनी प्राचीन संस्कृति और इतिहास की ओर उन्मुख होते हैं। कुछ लेखक अपने समकालीन जीवन की क्लांतिजनक खींचातानी, संघर्ष और परिवर्तन से आक्रांत होकर पुरातन की काल्पनिक भव्यता में शरण लेते हैं, और राजकुमारों और राजकुमारियों की रोमांचपूर्ण प्रेम-गाथाओं से अपने मन की भ्रांति मिटाते हैं। इतिहास की परंपराओं के प्रति ऐसे पलायनवादियों का विशेष आकर्षण और मोह हमारे लिए साधारणतया अनुमेय है। लेकिन जब सजग और चेतनाप्राप्त कलाकार प्राचीन काल की विशेष घटनाओं और ऐतिहासिक परंपराओं की ओर प्रेरणा के लिए मुड़ते हैं तो कुछ उतावले लोगों को इससे अचरज होता है। उन्हें लगता है मानो ये लेखक सामयिक जीवन की व्यापक समस्याओं से कतराना चाहते हैं, और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं। परंतु यह तो उतावले, संकीर्ण विचार वालों की असमर्थता है कि वे गलत और सही प्रवृत्तियों में भी भेद नहीं कर सकते। अन्यथा क्रांति और संघर्ष के युगों में कलाकार—और कलाकार ही क्यों, संघर्षशील उच्चवर्ग और जनसाधारण भी आम तौर पर ऐतिहासिक परंपराओं और प्राचीन जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं की ओर प्रेरणा के लिए मुड़ते आए हैं। सजग लेखक और कलाकार जब यह अनुभव करने लगते हैं कि वर्तमान की अनस्थिरता और उथल-पुथल निरुद्देश्य नहीं है, कि मनुष्य-जीवन के मानवीय विकास-पथ को प्रशस्त करने के हित ही यह क्रांति-परिवर्तन, वर्ग-संघर्ष, ध्वंस और निर्माण होता रहता है, और मनुष्य की यह चिरकालिक युक्ति-चेष्टा ही प्राचीन इतिहास से हमारे कार्य के विकास की श्रृंखला का निर्माण करती है तो उन्हें प्राचीन केवल नष्ट तत्वों का विषय पुंज ही नहीं नजर आता, बल्कि उन्हें लगता है कि उसमें अनेक स्वस्थ और प्राणवंत तत्व भी हैं जो हमारी स्मृति में निरंतर कौंधकर हमें प्रेरणा, स्फूर्ति और बल प्रदान करते हैं। ये लेखक और कलाकार इतिहास के गर्त में से इन्हीं तत्वों को खोजकर निकालते हैं और जब संक्रांति युग की अनस्थिरता हमारी दृष्टि-परिधि को सीमित और एकांगी बना देती है, उस समय वह मानव इतिहास के इन प्राणवंत, स्थायी तत्वों को सामने लाकर हमारे लक्ष्य को अधिक मूर्त रूप और हमारे दृष्टिपथ को विस्तार और व्यापकत्व देते हैं। एक प्रकार से यह कार्य इतिहास के पृष्ठ भाग पर खड़े होकर वर्तमान की प्रगति को जांचने, समझने और स्फूर्ति देने का प्रयास है।

हिंदी में पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए हैं, जो दोनों कोटियों में आते हैं। कुछ में इतिहास लेखक की पलायनवृत्ति का आश्रय बना है, कुछ में संघर्ष-भावना का प्रेरक। वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों के अतिरिक्त यशपाल की 'दिव्या' और राहुल सांकृत्यायन के दो उपन्यास 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' काफी ख्याति पा चुके हैं। इन उपन्यासों में इतिहास के उस अतीत काल को मूर्तिमान करने की चेष्टा की गई है जब देश में जनतंत्र और राजतंत्र की व्यवस्थाएं एक-दूसरे पर विजयी होने के लिए संघर्ष में लगी हुई थीं। यह समस्या हमारे लिए आज विशेष रूप से सामयिक महत्व की है। हमारी स्वतंत्रता का क्या स्वरूप होगा, उसमें जनवाद की रूप-रेखा किन मानव-मूल्यों की पीठिका पर खींची जाएगी, व्यक्ति और समाज के जीवन में परस्पर सामंजस्य और संतुलन स्थापित करने की जनवादी कार्य-पद्धति क्या होगी, अधिकार और कर्त्तव्यों का लेखा-जोखा शोषक वर्ग के प्रति पक्षपात और शोषित मानवता के प्रति तिरस्कार का चार्टर तो नहीं बनेगा—ये सारे प्रश्न हैं जो व्यापक और स्थायी महत्व के हैं। राहुल और यशपाल के उपन्यास अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद इन मूल प्रश्नों को कलात्मक ढंग से उठाते हैं, जिससे उनका महत्व भी ज्यादा है।

वृंदावनलाल वर्मा हिंदी के पुराने और मंझे ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनके पिछले उपन्यासों में *गढ़ कुंडार* और *विराटा की पद्मिनी* विशेषकर प्रसिद्ध हैं।

अपने नए उपन्यास 'झांसी की रानी' में उन्होंने एक विशिष्ट सत्य की स्थापना करने की कोशिश की है। वह सत्य यह है कि झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने स्वराज्य के लिए लड़ाई लड़ी, अपने प्रभुत्व के लिए नहीं। इस तथ्य पर पर्दा डालने के लिए अंग्रेज इतिहासकारों ने चाहे जो दलीलें दी हों, लेकिन भारतीय जनता को तो इसकी सत्यता में कभी संदेह नहीं रहा। फ्रांस की 'जोन आफ आर्क' की तरह झांसी की रानी ने आजादी की देवी के रूप में ही हमारे मानस में प्रतिष्ठा पाई है। असंख्य कथाओं और गीतों में रानी लक्ष्मीबाई का गौरव गान किया गया है। इसलिए वर्मा जी के 511 पृष्ठों के वृहद् उपन्यास को पढ़कर एक विवेकशील पाठक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विदेशी इतिहासकारों के कुतर्कों का खंडन करने के लिए उन्होंने उपन्यास न रचकर इतिहास की पुस्तक क्यों नहीं लिखी। क्योंकि मैं यह तो नहीं समझता कि *झांसी की रानी* उपन्यास एकदम असफल कृति है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि ऐतिहासिक घटनाओं के इतिवृत्ति को राजनीति, युद्ध-वर्णन और व्यक्त-अव्यक्त प्रेमाभिनय के प्रसंगों से सरस और मांसल बनाने का प्रयत्न अत्यंत कुघड़ और अपरिपक्व हुआ है।

झांसी की रानी की वीरता, देश-प्रेम, अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध उनका विद्रोह करना और अंत में चारों ओर से घिरकर वीरगति को प्राप्त हो जाना—यह अपने आप ही एक महान तेजोमय बलिदान की अपूर्व कहानी है। उसे इतिहास के शुष्क पृष्ठों में भी पढ़कर

रोमांच हो आता है, और श्रद्धा और क्रोध, करुणा और घृणा से रोम-रोम सिहर उठता है।

इस कारण शैली और गठन की अपरिपक्वता और ढीलेपन के बावजूद पाठकों को यह उपन्यास सफल भी लगेगा, क्योंकि उपन्यास में ऐसे अनेक स्थल हैं, विशेषकर अंतिम भाग में जब सुंदर, मुंदर, काशीबाई, जूही, जवाहरसिंह, गुलाम गौस खां, खुदा बख्श, सागरसिंह आदि अनेक वीरों के पराक्रम, देश-प्रेम और युद्ध में वीरगति पाने के दृश्य जहां हृदय को झकझोर देते हैं और समवेदना से पाठक की आंखें सजल हो जाती हैं, वहां अंग्रेजों की कूटनीति, विश्वासघात और बर्बरता के प्रति दुर्दमनीय घृणा से हृदय को क्षत-विक्षत भी कर देते हैं। परंतु यह सन् सत्तावन से लेकर अब तक के आजादी के संघर्ष के कटु और तीखे अनुभवों द्वारा बने संस्कारों के रूढ़ हो जाने के कारण है। अन्यथा उपन्यास में छोटे-छोटे महत्वहीन प्रसंगों को इतना तूल दिया गया है कि लगता है कि उपन्यास-वस्तु पर लेखक का अधिकार नहीं है या फिर उसने पुस्तक का कलेवर बढ़ाने के लिए ही ऐसा किया है।

इसके साथ ही एक बात और है जो आवश्यकता से अधिक खटकती है। यद्यपि वर्मा जी ने रानी लक्ष्मीबाई को वीरता, आत्म-त्याग, दया और सहानुभूति की प्रतिमूर्त्ति के रूप में चित्रित किया है, लेकिन फिर भी पाठक को इस कमी का अनुभव होता है कि लेखक रानी के उज्ज्वल चरित्र में राजनीतिक दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का संयोग नहीं करा पाया। झांसी का शासन-सूत्र हाथ में लेने के पश्चात तांत्या टोपे और नाना धोंधू पंत से महीनों तक–जब तक कि जनरल रोज़ ने आकर झांसी के किले का घेरा नहीं डाल दिया–कोई संपर्क न स्थापित करना, अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव के उपनयन संस्कार के बहाने सारे उत्तर भारत से बुलाए गए अंग्रेज-विरोधी सरदारों, सामंतों और नेताओं से मंत्रणा करके विद्रोह की तिथि आदि तय कर लेने के पश्चात भी इस विद्रोह के उद्देश्य, और विजय के बाद किसी भी प्रकार के सामाजिक निर्माण का कार्यक्रम न बना पाना, अर्थात अपने समय की चेतना के अनुसार भी स्वराज्य की कोई भी रूपरेखा न गढ़ पाना, मोतीबाई के कहने से अंग्रेजों के जासूस पीर अली पर विश्वास कर लेना और बुरहानुद्दीन के सुझाने पर भी पीर अली की गतिविधि का निरीक्षण न करना और अंत में राव साहब द्वारा ग्वालियर में अपने को पेशवा घोषित करते समय भी 'स्वराज्य' के नाम पर कोई प्रतिवाद न करना आदि बातें यह बताने के लिए काफी हैं कि वर्मा जी ने रानी को भावना के तल पर ही अंग्रेजों का विरोधी चित्रित किया है। यह भावना कितनी भी महती, उदात्त और स्पृहणीय क्यों न हो, जनता के असंतोष को सचेतन नहीं बना पाई। 'स्वराज्य' शब्द की अभिधा उसके मानस में कोई स्पष्ट और ठोस हकीकत नहीं बन पाई। इसके विपरीत रानी द्वारा राव साहब की पेशवाई को निर्विरोध स्वीकार कर लेने से तो यही सिद्ध होता है कि उनके निकट भी 'स्वराज्य' का अर्थ पेशवा का राज्य ही था, जनतांत्रिक राज्य नहीं। वर्मा जी ने रानी के मन की प्रतिक्रियाओं को जानने का अवसर पाठकों को नहीं दिया है, इससे ऐसा निष्कर्ष निकालने को बाध्य होना पड़ता है, क्योंकि लेखक के दावे में और रानी के व्यवहार में आद्यंत एक वैषम्य मिलता है। वैसे यह वैषम्य स्वाभाविक है, क्योंकि लेखक का दावा ऐतिहासिक परिस्थिति पर ऊपर से लादा गया है। इसमें संदेह नहीं कि सन् सत्तावन के विद्रोह का नेतृत्व भारत के सामंत वर्ग के उन देशभक्त सूरमाओं के हाथ में था जो अंग्रेजों के साथ मिलने को तैयार न थे। उनके निकट 'स्वराज्य' का अर्थ जनतंत्र नहीं, पेशवा राज्य ही था। इस बात को स्वीकार करने से सन् सत्तावन के विद्रोह का साम्राज्यवाद-विरोधी रूप मलिन नहीं हो जाता, क्योंकि उस समय जनता की चेतना भी इससे अधिक न थी, और यह विद्रोह मूलतः साम्राज्यवाद-विरोधी और जन-हित में था। इस कारण उस पर 'जनवाद' की विचारधारा का आरोपण ऊपर से ही किया जा सकता है अन्यथा अपने सीमित दायरे के अंदर भी वह सदा अभिनंदनीय बना रहेगा, क्योंकि वह विद्रोह हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का प्रथम रूप था।

झांसी की रानी को पढ़कर खेद इस बात पर भी होता है कि लेखक ने रानी को जितने विचारों की पूंजी का धनी बनाया है, वह अत्यंत स्वल्प और साधारण है। स्त्री-पुरुषों को सदा कुश्ती लड़ने, मलखंभ करने, तीर चलाने, घोड़े की सवारी करने और तैरना सीखने के लिए आदेश देते रहने के अतिरिक्त बात-बात में शिवाजी, छत्रसाल, भीम, अर्जुन आदि की दुहाई देने तक ही लेखक ने रानी लक्ष्मीबाई की बौद्धिक चेतना को सीमित कर दिया है। अपने पति गंगाधर राव के ललित-कला, नाट्य-नृत्य और संगीत-प्रेम की रानी के मुख से भर्त्सना कराकर लेखक ने रानी के चरित्र का 'आदर्शीकरण' किया है और उसे उदात्त मानवी न बनाकर एकांगी बना दिया है। ऐसा ही अन्य पात्रों के बारे में भी हुआ है। एक ऐतिहासिक उपन्यासकार की तरह वर्माजी वस्तुदर्शी नहीं हो पाए और रानी के समय के भारत के जीवन का, उसके समस्त अंगों का सामंजस्यपूर्ण चित्रण नहीं कर पाए।

ये त्रुटियां इसलिए और भी बड़ी लगती हैं कि वर्माजी की शैली वही सतही ढंग की है, जिसमें पात्रों का केवल बाहरी, सार्वजनिक जीवन ही अंकित होता है, आंतरिक, व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक नहीं।

इन सब त्रुटियों के बावजूद इस उपन्यास का सामयिक महत्व है, और प्रत्येक हिंदी पाठक को उसे पढ़ना चाहिए। रानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे और अन्य अनेक पात्र-पात्रियों के बारे में औपन्यासिक ढंग से इतनी ज्ञातव्य सामग्री संकलित करके वर्माजी ने वास्तव में उपयोगी कार्य किया है और आज जब देश में सांप्रदायिक द्वेष का इतना बोलबाला है, हमारे लिए यह जानना शिक्षाप्रद होगा कि हमारी आजादी के प्रथम युद्ध में रानी लक्ष्मीबाई के साथ दो सौ पठानों ने अंग्रेजों से लड़ते-लड़ते प्राण दिए थे, और पठानों के नेता गुल मुहम्मद ने रानी की चिता ठंडी हो जाने के बाद चबूतरा बनाया था।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश की आजादी के लिए हिंदू-मुसलमानों का एक साथ मिलकर रक्त बहाने का यह अंतिम उदाहरण न था और न रानी लक्ष्मीबाई के जीवन-चरित्र को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों में वृंदावनलाल वर्मा का उपन्यास ही अंतिम उपन्यास होगा। ❑

—नवंबर, 1951

संस्मरण

प्रेमचंद के संस्मरण

जैनेंद्र कुमार

प्रेमचंद को गए अब सोलह वर्ष होते हैं, लेकिन मन को यह समझाना मुश्किल है कि वह अब स्वर्ग के हैं, हमारे समाज और जमाने के नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्हें उठाकर काल ने गलती ही की है। न उनकी उम्र इतनी थी, न किसी तरह वह समय से पीछे थे, थे तो एक कदम आगे ही थे और मौजूदा हालतों में शायद वह पहले से भी आज सही और जरूरी साबित होते हैं।

मेरी पहली मुलाकात उनसे सन् 29 में हुई। जाड़ों के दिन थे, कुंभ का मेला पूरा हुआ ही था, बनारस से गाड़ी लखनऊ स्टेशन पर कोई चार बजे आ लगी थी। तड़का फूटते मैं उनके लाल मकान पर पहुंचा। लेकिन यह पहुंचना आसान न हुआ। सोचता था कि नामवर आदमी हैं, लाल मकान का पता अपने पास है ही, एक बच्चा तक जगह बता देगा। पर बात उतनी सीधी न निकली, एक-डेढ़ घंटा मुझे लगा अमीनाबाद के पास के उस लाल मकान को पाने में और मालूम हुआ कि आत्मा की और हृदय की और दिमाग की ऊंचाई तथा दुनियादारी की बड़ाई एक चीज नहीं हैं। शायद दोनों समानांतर हैं।

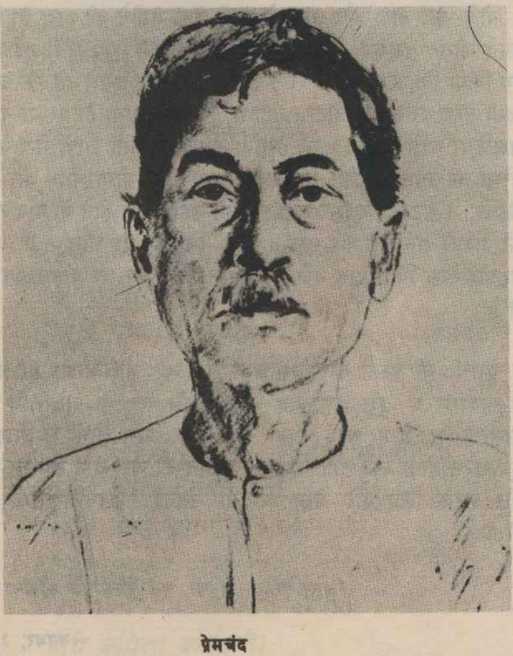

प्रेमचंद

मकान के जीने के नीचे से आवाज देने पर जब ऊपर प्रेमचंद प्रकट हुए तो सहसा मन को धक्का लगा, वह देवोपम नहीं मालूम हुआ, और मैं कुछ वैसी ही आस बांधे था। आगे आए बालों से माथा ढका हुआ, घनी बड़ी मूछें, करीब घुटनों तक बंधी धोती, कंधों पर लाल किनारी की घिसी-पिटी चादर, कुल मिलाकर जो दृश्य आंखों के सामने पड़ा निश्चय ही मनोहारी न था, लेकिन देखते-देखते वह व्यक्ति लपककर जीने से नीचे आया। फौरन मेरे हाथ से सामान की छोटी-मोटी चीज छीनी, और मुझे इस तरह ऊपर ले चला कि मैं समझ ही न सका कि मैं यहां अजनबी हूं या क्या। ऊपर दालान में एक तरफ मिट्टी का ढेर था, पानी की एक मोटी लकीर कर्ण बनाती हुई इस कोने से उस कोने को मिला रही थी। सहन के बराबर वाले कमरे में, जिसमें हम दाखिल हुए और बैठे, किताबें, कापियां, मेज-मूढ़ों पर बेतरतीब खड़ी और पड़ी थीं, और स्याही के धब्बे भी वहां होने के लिए हर प्रकार स्वतंत्र थे। किताबों को झट इधर-उधर सरकाकर मेरे लिए मूढ़े पर जगह हुई, और हम लोग गप करने बैठ गए, ऐसे कि जैसे कब के दोस्त हैं। मैं कच्ची उम्र का अनाड़ी लड़का, वह एक पहुंचे हुए बुजुर्ग। साहित्य के वह सम्राट, उसी के तट पर आकर झिझक के साथ झांकने वाला उत्सुक मैं प्रार्थी। पर प्रेमचंद की सहृदयता काल-पात्र का यह फर्क नहीं डाल सकी, मैं तक अपनी हीनता भूल गया और असंभव नहीं कि चर्चा में उस समय कुछ अनधिकृत बात तक मैं कह गया होऊं।

कब नौ बज गए, पता न चला, आखिर अंदर से ताकीद आई कि दिन इतना चढ़ गया, दवा नहीं लाकर दी जाएगी? तब वह दुनिया की तरफ जागे और जल्दी से पैर में स्लीपर डाल, तकिए से शीशी खींच, नुस्खा तलाश कर, वह दवा लेने दौड़े। कहा, तुम हाथ-मुंह धोओ, मैं अभी आया।

प्रेमचंद का रूप यह था और सब जगह, सब समय शायद यही रहता था। दुनिया में कुछ कृत्रिमता भी चाहिए, ज्यादा खुले और हार्दिक रहने का यहां कायदा नहीं है। जान पड़ता है, प्रेमचंद को दुनिया के इस जरूरी कायदे का ख्याल दिमागी तौर पर अगर था तो अमल में वह उसे साथ नहीं रख पाते थे।

खा-पीकर बोले, चलो जैनेंद्र दफ्तर चलें। मकान से उतरकर मैंने देखा कि हजरत ने अमीनाबाद से तांगा नहीं लिया, इक्का लिया, मैं एक अच्छे से तांगे को देखकर उससे बातचीत करना चाहता था, पर वह बोले, नहीं इक्के से चलेंगे। तांगा हमें खींचना है, इक्के

पर हम सवार होते हैं। वही बात हुई कि मुंह हमारा इधर है और खिच हम पीठ की तरफ रहे हैं।

अपनी चीज तो इक्का है, कहकर कहकहा लगाया, और एक इक्के वाले को इस तरह संबोधन किया, मानो वह इनका कोई जिगरी दोस्त है। दफ्तर में पहुंचकर और बैठकर भी कोई दफ्तरीपन उन पर मैंने चढ़ा नहीं देखा, काम भी हो सकता था और हंसी-ठट्ठा भी हो सकता था।

उस वक्त तो एक ही दिन मैं उनके साथ ठहर सका और उसी रात वहां से चला आया। लेकिन उन चंद घंटों ने हमेशा के लिए मुझे प्रेमचंद का बना दिया। तब *हंस* निकालने का ख्याल चल रहा था, ईश्वरी प्रसाद उसके लिए चित्र तैयार करके लाए थे, और उसी दिन टॉलस्टाय के ग्रंथों का अनुवाद लेकर रुद्रनारायण वहां आए थे। दोनों के प्रति उनका व्यवहार देखकर मुझे अचंभा हुआ, मानो प्रेमचंद दूसरे के प्रति अपने बर्तने में अपनी खुदी को बाद ही कर देते थे। याद पड़ता है, इस पहले ही मौके पर मैं उनसे पूछ बैठा कि अखबार की नौकरी में पढ़ने की ऐसी क्या मजबूरी उन्हें होनी चाहिए थी? छोड़िए, छुट्टी लीजिए। आपकी कलम क्या आपके लिए सब कुछ नहीं हो सकती? इस सवाल पर वह ताज्जुब से मेरी तरफ देख गए। समझ गए कि मैं अनुभव से कोरा हूं, पर नाराज नहीं हुए। जिंदगी की अपनी लंबी दास्तान ले बैठे, बताया कि कैसे एक नौकरी से दूसरी नौकरी में गए, इस मुदर्रिसी से वह मास्टरी की। आखिर प्रेस खोला, प्रेस से तंग आकर उसमें ताला डाल घर बैठे। बोले, सुनो एक जगह से पांच सौ रुपए आने वाले थे, पर दिन इंतजार दिखाए जाते थे, आखिर एक दिन ढाई सौ रुपए पहुंच ही गए, सब नोट ज्यों के त्यों मैंने श्रीमतीजी के हाथ में दिए। उन्होंने पूछा, कितने हैं, मैंने कहा, ढाई सौ। झल्लाकर बोलीं, ढाई सौ, और जोर से हाथ को झटककर उन्होंने सारे नोट दालान में फेंक दिए, और मुझे उस वक्त वह-वह सुननी पड़ीं कि क्या बताऊं? तंगी में दिन गुजर रहे थे, सो तो था, लेकिन तब आस तो लगी थी, पांच सौ की रकम पर। उसकी जगह जो आए ढाई सौ तो पत्नी का धीरज छूट गया। पब्लिशर को तो क्या, सब कुछ मुझको सुनना पड़ा, उसके बाद जो इस जगह का आफर मिला तो मैंने झट कबूल कर लिया। बताओ, तुम क्या नहीं करते? अब रोज-रोज का तो रोना नहीं है।

जैनेंद्र कुमार

दिल्ली लौटने के बाद फिर खतो-किताबत का सिलसिला शुरू हो गया। दूसरी मर्तबा मिलना हुआ तो कुछ बड़ी मजेदार बातें हुईं। उस समय उन्होंने मकान बदल लिया था। एक दूसरे मित्र भी तब लखनऊ में रहते थे, उनसे बात हुई कि चलो प्रेमचंद के चलें। नौकर को हुक्म हुआ कि सवारी लाए। उसने इक्का लाकर खड़ा किया। मित्र ने डांटकर कहा कि बदशऊर, देख के सवारी ला। दुबारा अच्छा समझकर एक तांगा ले आया। मित्र की रुचि के लायक वह भी न निकला, आखिर एक फैंसी रईसी बग्गी लाई गई। मित्र ने रेशमी शेरवानी पहनी, उसकी जोड़ का चुस्त पजामा, बढ़िया पालिश की शू और सफेद झकझकी टोपी, बांकी करके लगाई, पहुंचे प्रेमचंद के यहां। वहां दरवाजे के पास आते हैं कि देखते क्या हैं, कि बगल से उसी वक्त तेज चाल से चले आ रहे हैं, प्रेमचंद। बगल में छड़ी है, दूसरे हाथ में झोला, झोले में से ताजा शाक-सब्जी झांक रही है। बदन पर खाली एक कुर्ता, धोती उसी नमूने की ऊंची बंधी हुई है। साफ था कि कदमों से लंबी राह नापते आ रहे हैं। उस दृश्य के ये दो विरोधी नमूने भूलते नहीं हैं।

उसी कयाम में मैंने पूछा—ये बताइये कि आपको कभी आत्मघात की भी सूझी है या सूझती है?

बोले—कई बार, और एक तो अभी कुछ महीने की बात है। फिर अपने जीवन का एक किस्सा सुनाया। सवेरे कुछ कहा-सुनी हुई और तय किया कि आज मर डालना होगा। दिन भर घूमते रहे कि आज किसी तरह घर वापस लौटना नहीं है, मर के छोड़ना है। पर यों नहीं, वालंटियर जो पिकेटिंग करते हैं वहीं चुपचाप किसी जत्थे में घुसकर पुलिस की लाठी से सिर तुड़वाकर मरना ठीक होगा। दिन भर इस कोशिश में भटके, पर सिर कहीं टूटा ही नहीं। शाम होने के बाद तीन घंटे अकेले सन्नाटा मार एक बाग में बैठे रहे, पर मौत नहीं आके दी और देखा कि ग्यारह बजे वह अपने ही कदम घर वापस आ रहे हैं।

प्रेमचंद की हस्ती की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह हर तरफ से साधारण थे, इस तरह वह जनता और जन के प्रतिनिधि थे, खासतौर पर तो हर कोई बनना चाहता है, आम लोगों में मिलकर खुद खत्म होना कोई नहीं चाहता। प्रेमचंद की जैसे वही साधना थी, और इसके लिए मेरे जैसा आदमी उनका जितना कृतज्ञ हो, थोड़ा है।

(आल इंडिया रेडियो, नई दिल्ली के सौजन्य से)

—नवंबर, 1951

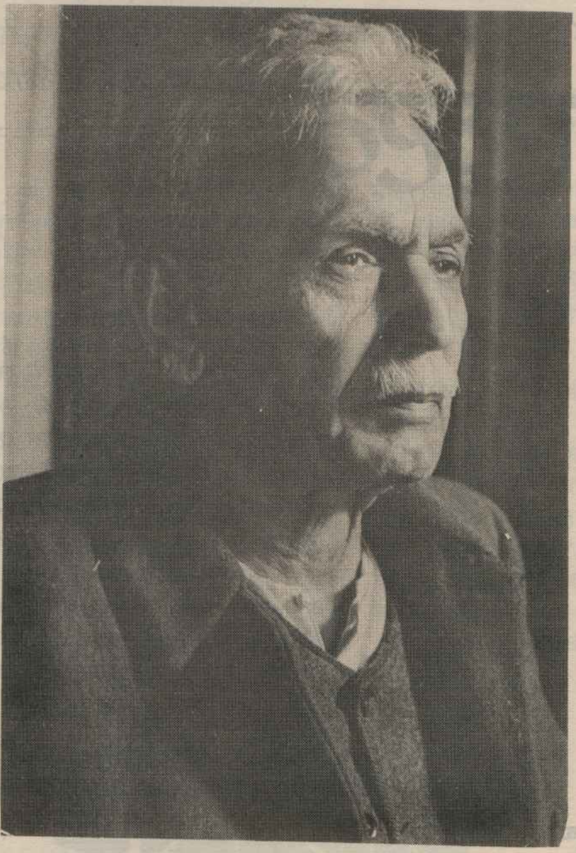

कविता का पथ

माखन लाल चतुर्वेदी

वायु हिंडोलों पर बैठे
उस दिन कुछ बादल आए थे
रंगीन, सलोने, सपनों-से
नीले नभ पर मंडराए थे
धारा के दादुर, गुपचुप, कुछ
कानाफूसी-सी करते थे
जल कण से श्रम कण मिल-मिल कर
होड़ा-होड़ी कर झरते थे
जिस दिन चट्टानों से, चुप-चुप
वह फूट-फूट उठ्ठी बानी
उस दिन आई जलधारा के तट
मेरी कविता कल्याणी।

कविता थी? हां, कविता ही थी
अपने सौरभ का भार लिए
जी पर, जाग्रति का ज्वार लिए
उर पर आंसू का हार लिए
जब कोकिल का स्वर कुंठित था
रागें बैरागिनियां होतीं
जल के फुहार के पुष्प गुच्छ
लेकर अंगुलियां सिर धोतीं
जब धारा-रानी ओढ़-सुखी
कलकल मय थी साड़ी धानी
उस दिन आई जलधारा के तट
मेरी कविता-कल्याणी।

जब विधु बादल में लुक-छिपकर
विधु-मुख से मानो डरता था
जब विंध्या का पागल झरना
बेकाबू होकर झरता था
जब इंद्रधनुष को छोड़-छोड़
पावस पीछा-सा करता था
जब शस्य-श्यामला भू-देवी
का, आंचल हरा लहरता था
मीठा पद-चाप, मधुर वाणी
मीठा ले आंखों में पानी
उस दिन आई जलधारा के तट
मेरी कविता-कल्याणी।

कविते, क्या जाना अपना पथ
शत-शत खो-खोकर पाना है
सम्मानों से बच जाना है
अपमानों को अपनाना है
उन प्रणय प्रलय के डोरों का
ताना-बाना बुन लेता है
प्राणों की रेखा, विधि-रेखा
को, भ्रमर चुनौती देता है
यह पथ कबीर के साहब का
इस पर मीरा थी दीवानी
आओ, सूझों के रथ बैठी
मानव की कविता कल्याणी। ❑

—फरवरी, 1952

कहानी

सुलख्खी

कृष्णा सोबती

हल्के से कंपन के बाद सुलख्खी ने ढीले कुरते पर अटक गई जंजीर को हिलाकर हाथ से छुड़ाया, पट्ट की ओढ़नी माथे पर खींची और झरोखे में से अपनी दो बड़ी-बड़ी आंखें नीचे गड़ा दीं।

मजबूत घोड़े पर बैठा सवार, मखमली झोला और चमचमाता कमरबंद, तीखेपन से लटकती तलवार की सुनहली मूठ, चौड़ी छाती, अकड़े हुए कंधे, तीखे नैन-नक्श, सिर पर केसरी साफा और लहरों-सी झलक मारती माथे पर लगी कलगी। यही तो है वह बहादुर सरदार जो क्षण भर पहले सुलख्खी से विदा लेकर नीचे उतरा है। यही तो है सुलख्खी के सिर का धनी जिसका चौड़ा वक्ष और बलिष्ठ बाहें देखकर उसकी मीठी देह पर से तूफान उठकर गुजर जाता है।

सुलख्खी की रसभरी आंखों ने मोह में भीगकर ड्योढ़ी पर खड़े जोधासिंह को मन की ओर खींचा। आंखें डबडबा आईं और धुंधले-से भीगेपन में जोधासिंह के माथे पर चमकती कलगी तैर गई। सुलख्खी ने चौखट पर कुहनी टेकी, सिर झुकाया और... जोधासिंह ने घोड़े को थाप दी, ऊपर देखा और आंखों से रात के उन प्रहरों का आश्वासन दिया जब दिन भर की लड़ाई के बाद वह दीवटों के प्रकाश में लेटी सुलख्खी के पास पहुंच जाया करता है।

सुलख्खी ने स्वच्छ दृष्टि से एक बार जोधासिंह को देखना चाहा, लेकिन आंसुओं के धुंधलके में केवल चमचमाती कलगी झलक मारकर रह गई। घोड़े की टाप ड्योढ़ी में से निकलकर दूर होती चली गई। टप... टप... दूर... और दूर हवा में विलीन हो गई।

सुलख्खी ने आंचल आंखों से लगाया। झरोखे में से दीखती ड्योढ़ी की छत पर उड़ती-उड़ती सर्दियों की धूप फैल रही थी। महाराज के जमाने की, ढक्की पर बनी हवेली के बुर्ज फागुन की सिहरती हवाओं में खामोश खड़े थे। आकाश न जाने क्यों स्तब्ध-सा था। ड्योढ़ी से लगा तबेला खाली पड़ा था। घोड़े और सवार आज लड़ाई के मैदान में थे। सुलख्खी ने एक लंबी सांस ली, वक्ष के उभार पर जंजीर एक बार फिर हिली और कातर दिल को डुला गई।

दुपहर ढली, फीकी-सी शाम पश्चिम में उतर आई। डूबते सूरज की लाली में आज पिलाई अधिक थी और आकाश में एक ओर किसी अदृश्य पर्दे में से उभरकर आती हुई तीतर-पंखी बदली फैलती आ रही थी। सुलख्खी ने बंधे-बंधे दिन के बाद किसी तरह अपने को संभाला। याद आया पिछली लड़ाई का वह भयानक दिन जब आज ही की तरह जोधासिंह उससे विदा लेकर गया था। फिरंगियों का नाम सुनकर सुलख्खी का दिल बैठा जा रहा था। आशंका से आंख फड़क रही थी, पर जाते-जाते जैसे जोधासिंह की आवाज ने उसे आश्वासन दिया और उसने गर्व से जोधासिंह के बलिष्ठ शरीर को देख भरी-भरी आंखों से मुस्कुराते हुए सोचा था, कोई लाख फिरंगी हो, ऐसी देह पर वार करने के लिए हाथ भर का जिगर होना चाहिए। पर आज? आज वह बात नहीं थी। जोधासिंह ने जाते-जाते गहरी निगाहों से देखा, पहली बार इसी मीठी देह को देखकर न आंखें मचलीं न बाहें फड़कीं। आहत-सी दृष्टि ठिठककर रह गई। सामने खड़ी सुलख्खी जैसे अंधकार में लिपट गई। ओढ़नी का गुलाबी रंग मिट गया, गठे हुए वक्ष

दोपहर ढली, फीकी-सी शाम पश्चिम से उतर आई। डूबते सूरज की लाली में आज पिलाई अधिक थी और आकाश में एक ओर किसी अदृश्य परदे में से उभर कर आती हुई तीतरपंखी बदली फैलती आ रही थी।

को उभार देने वाला कत्थई कुर्ता किसी अशुभ स्याही की तरह काला पड़ गया और सुलख्खी के छुले-छुले मुखड़े पर चमकने वाली कीमती लौंग एक पत्थर का निशान बनकर रह गई। आंसुओं से भरी सुलख्खी की पलकें उठीं, उनसे जैसे विदाई के आलिंगन की मांग थी। लेकिन जोधासिंह हिला नहीं। उसे टूटते-टूटते लगा कि अब ये दो आंखें रोते-रोते पत्थरा जाएंगी। और मादक वक्ष पर झूलती सोने की जंजीर भयावनी लोहे की कड़ी बनकर रह जाएगी।

सुलख्खी ने हिचकी ली। छन-छन! बांहें आगे हुईं, जोधासिंह ने ठंडे हांथों से उन्हें थामा, पर आज वह पुरानी पकड़ नहीं थी। छूटे-छूटे मन से हाथ पीछे खींचे और पीठ मोड़ ली। घोड़े ने हिनहिनाने की आवाज की, सुलख्खी ने निर्जीव शरीर को हिलाया और झरोखे से नीचे झांका। गीले परदों में आंखें फिर मिलीं और बिछुड़ गईं। कानों से दौड़ते हुए घोड़े की टाप टकराती रही..... टकराती रही.....

सूरज डूब गया और बुझी-बुझी सांझ नीली हो गई। आकाश को जैसे अभिशाप के धुएं ने ढक दिया। सुलख्खी सदा की तरह अटारी पर चढ़ी। आंखें मूंद मन-ही-मन मालिक का नाम लिया और आकाश पर चमकते पहले तारे की ओर आंखें घुमाईं। बादलों की बंधी-बंधी लहरें... और एक ओर रात का भागी-भरा पहला तारा... सुलख्खी ने हाथ जोड़े, मस्तक नत किया और अकस्मात गड़गड़ाती भारी तोपों की आवाज से उसके पांव हिले, सिर घूमा, तारा टूटा और वह लड़खड़ाकर दीवार के साथ जा लगी।

रेखांकन : सर्वजीत

नगर के बाहर चौड़े मैदान में आमने-सामने तोपें चलने लगीं। गोले फटने लगे। घोड़े उछले, तलवारें चमकीं और तोपखाने के धमाकों में सूरमाओं की हुंकार विलीन हो गई। हिनहिनाते घोड़े और उनके सवार पल-पल सीना तानते और फूल होकर मिट्टी चूम लेते। धरती वही थी, वही धरती थी, पर उस पर के पांव डोल गए थे। सिंह की वह फिरंगी का सामना करने वाली मजबूती आज बिखर रही थी। बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ने वाली बांहें फिरंगी की धार तले कटकर गिर रही थीं। रात काली होती जा रही थी और रात का भयानक अंधकार लाशों पर फैलता हुआ नगर की दीवारों से लिपटने लगा... मिट्टी खून से लाल हो रही थी और सहस्रों सिरों की सरदारियां पैरों तले लोट गईं।

सुबह की भेदती हवा से जब सुलख्खी की रात भर की मूर्च्छना टूटी तो आस-पास फैले स्त्रियों के समूह ने रुदन का स्वर ऊंचा किया। सुलख्खी ने फटी-फटी आंखें खोलीं। जोधासिंह की खून से लथपथ देह आंखों में तैर गई। सिर धड़ से अलग हो गया था। और माथे की जगमगाती कलगी धूल में गिरी पड़ी थी। यह कलगी छोटी-सी जागीर के मालिक सरदार जोधासिंह के माथे की नहीं थी, यह पंजाब के माथे की कलगी थी जिसको आज मिट्टी में मिलाकर फिरंगी ने पंजाब जीत लिया था।

सुलख्खी निष्प्राण जमीन पर पड़ी थी। पट्ट की ओढ़नी किसी अतीत के छिन्न-भिन्न हो गए स्वप्न की तरह फैली थी और अस्त-व्यस्त कपड़ों में लगी सोने की जंजीर अब भी वक्ष के मध्य में उलझी पड़ी थी... और सूरमाओं की धरती को निगलने वाली फिरंगी की छाया धीरे-धीरे बढ़ती चली आ रही थी... चली आ रही थी! ❑

—अगस्त, 1952

संस्मरण

जब पेरिस की याद आती है

राम कुमार

*प्रसिद्ध चित्रकार **राम कुमार** ने हिंदी में महत्वपूर्ण लेखन किया है। विशेषकर उनकी कहानियां उल्लेखनीय हैं। इस अंक का आवरण उन्हीं की एक चित्रकृति है।*

सन् 1944 में जब फ्रांस के कुछ भागों ने अपने आप को नाज़ियों के शासन से स्वतंत्र कर लिया था तब अरागों ने 'स्वतंत्रता' लेख में लिखा—'सब पार्टियों के सदस्यो, देश के भीतर स्वतंत्रता आंदोलन में लड़ने वाले सिपाहियो, अपने आपसी झगड़े भूल जाओ! सब मिलकर एक हो जाओ, जिससे तुम भविष्य में आने वाली जिम्मेदारियां खुशी से उठा सको, जिससे फ्रांस स्वतंत्र और खुशहाल रह सके!' यह लेख फ्रांस के स्वतंत्रता आंदोलन में अरागों द्वारा लिखे गए अनेक लेखों और कविताओं में शायद अंतिम था। और आज भी अरागों अपनी जिम्मेदारी जितनी सफलता से निभा रहे हैं, उनसे सबको आश्चर्य होता है। बीस वर्ष पूर्व किसने सोचा था कि पेरिस के बुलीवारों और गलियों में घूमता हुआ, पेरिस के कैफों में आधी-आधी रात तक अपने साथियों के साथ बैठा हुआ यह लेखक और कवि किसी दिन फ्रांस के लेखकों और बुद्धिजीवियों का केंद्र बन जाएगा, विश्व शांति के संघर्ष में अपनी आवाज को बुलंद करेगा।

सबसे पहले अरागों हमारे सामने गद्य लेखक के रूप में आते हैं जब 'दादाइज़्म' का प्रभाव उन पर अपनी छाप पूर्ण रूप से लगाए हुए था और वह अराजकतावादियों और क्रांतिकारी रोमांटिक युवक लेखकों की सभा में पहले महायुद्ध के पश्चात काम करते थे। परंतु उन लेखकों के सैद्धांतिक विचारों और उनके कार्यक्रम से वह कभी पूर्ण रूप से सहमत नहीं थे। इन दो महायुद्धों के बीच का समय उनकी उन्नति का पहला युग था जब उन्होंने अधिकतर गद्य लिखा और फ्रेंच साहित्य में अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बना लिया। जिस प्रकार सेजां की कला फ्रांस के 'कला संग्रहों' पर छाकर एक नवीन दिशा की ओर बह चली थी, उसी प्रकार अरागों की कला भी फ्रेंच साहित्य की परंपराओं और फ्रांस की जिंदगी के साथ एक घनिष्ठ संबंध स्थापित कर चुकी थी। उस समय वह आंद्रे ज़ीद के अनन्य भक्त थे। फिर उन पर सररीयलिज़्म का प्रभाव पड़ा और वह 1925 से लेकर 1931 तक उस समय के विख्यात सररीयलिस्टों (जिनमें पाल इलयार एक उच्च कोटि के कवि थे) के संपर्क में आए। उस समय एक प्रकार की अराजकता की जो भावना युवक लेखकों और कलाकारों में थी वह अरागों पर भी पूर्ण रूप से हावी थी। परंतु उनका गद्य भली प्रकार मंजा हुआ और उच्च कोटि का होता था, उसके विषय में कभी दो मत नहीं हुए। इस बीच उनके कुछ उपन्यास प्रकाशित हुए जो कला की दृष्टि से महान थे परंतु वास्तविकता से दूर होने के नाते अपने युग का प्रतीक न बन सके।

सन् 1931 के पश्चात अरागों की जिंदगी का एक नया युग आरंभ होता है जब सररीयलिस्टों की टोली से वह अलग हो गए और दूसरे विश्व-युद्ध के पूर्व अंतर्राष्ट्रीय स्थिति की जो छाया फ्रांस पर पड़ी थी वह उन पर भी पूर्ण रूप से पड़ी। तभी उनकी रचनाओं में यथार्थवाद का प्रभाव अधिक बढ़ा। युद्ध आरंभ होने के पूर्व 1939 में वह पेरिस के एक वामपंथी शाम के समाचार पत्र 'स स्वार' का संपादन कर रहे थे जिसकी 5 लाख प्रतियां प्रतिदिन बिकती थीं। लेखक होने के साथ-साथ संपादन कार्य भी उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया। उस काल के संपादन कार्य के अनुभव अरागों के लिए नाज़ियों के शासन के अंदर अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए, क्योंकि उन्हें कितने ही पत्र, पत्रिकाओं, पेंफलेटों आदि का संपादन करना पड़ा। इससे न केवल लेखकों की कलम जीती रही वरन लेखकों का एक विशाल संयुक्त मोर्चा नाज़ियों के विरुद्ध बनना संभव हो सका, जिसने फ्रांस के स्वतंत्रता आंदोलन में लोगों को उत्साहित किया।

अगले पांच साल अरागों की जिंदगी और उनकी कला के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे और उनके इतिहास को दोहराना फ्रांस की कहानी कहना है, क्योंकि उस समय दोनों में कोई अंतर नहीं रहता। जैसा कि अरागों ने एक बार लिखा कि फौजी कपड़े पहन कर और हाथ में बंदूक लेकर एक व्यक्ति अपनी निजी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाता है और उसे अपने अफसर के आदेशों का ही पालन करना पड़ता है। परंतु गैरकानूनी या फरार बनकर उस व्यक्ति का उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ जाता है। फ्रेंच बुद्धिजीवियों और अंग्रेज एवं अमेरिकी बुद्धिजीवियों में यही अंतर था। क्योंकि वे सैनिक बने हुए थे और फ्रांस पर शासन होने के पश्चात फ्रेंच बुद्धिजीवी फरार होकर छिपे हुए काम कर रहे थे। इसी कारण युद्धकाल में लिखे गए फ्रेंच साहित्य में जितनी जिंदगी, संघर्ष की भावना, एक नया निखार और लोगों के साथ एक नया दृढ़ संबंध देखने में आता है, वह अंग्रेजी या अमेरिकन साहित्य में नहीं मिलता।

युद्ध आरंभ होते ही 'स स्वार' बंद हो जाने के पश्चात 42 वर्ष की आयु में अरागों एक सैनिक बन गए। इस सैनिक अवस्था में कितनी ही बार वह मौत के मुंह से बचे और एक बार नाज़ियों के बंदी बनने के बाद वह भाग आए। सैनिक कार्य के लिए उन्हें फ्रेंच सरकार की ओर से तीन पदक भी मिले। पेरिस का पतन हुआ और अरागों को अपनी पत्नी एल्ज़ा सहित दक्षिणी फ्रांस भाग जाना

पड़ा जहां वह कभी आल्प्स की पहाड़ियों में और कभी छोटे-छोटे गांवों में युद्ध के अंत तक रहे। फ्रांस पर जर्मनी का आक्रमण होते ही अरागों की कविता का स्रोत स्वाभाविक रूप से फूट पड़ा। मानो कितने ही वर्षों से इस क्षण की प्रतीक्षा कर रहा हो। इस काल में जिन लोगों को उनके साथ रहने एवं काम करने का अवसर मिला, वे सब के सब अरागों की अपार शक्ति से प्रभावित हुए। वह जहां कहीं भी, किसी भी दशा में होते थे चाहे वह सैनिकों का शिविर हो या डंकिरक के समुद्र का तट, उनका अपना छोटा-सा कमरा हो या शरणार्थियों से भरा हुआ किसी स्टेशन का वेटिंग रूम, अरागों की कलम कभी नहीं रुकती थी। कभी वह किसी बुद्धिजीवी के नाज़ियों द्वारा हत्या किए जाने पर लेख लिखते और कभी फ्रेंच लोगों को संघर्ष करने के लिए प्रेरित करते। युद्ध आरंभ होने से पूर्व उन्होंने अपना नवीन उपन्यास 'औरेलियो' लिखना आरंभ किया था और युद्ध की इस अनिश्चित जिंदगी में भी अन्य छोटे लेखों और कविताओं को लिखने के अतिरिक्त इस उपन्यास पर वह काम करते रहे।

कुछ समय तक तो अरागों खुले आम नाज़ियों के शासन के विरुद्ध कविताएं लिखते रहे, परंतु सेंसर से बचने के लिए बहुत बार सचेत होकर अपने सब भावों को वह खुले रूप से प्रगट नहीं करते थे। 'लिली और गुलाब' नामक कविता को किसी ने 'ला फिगारो' समाचार पत्र में भिजवा दिया और वह प्रकाशित भी हो गई। इस कविता ने फ्रांस के अन्य लेखकों और कवियों को भी प्रेरणा दी और फिर कितने ही लेख और कविताएं सब कानूनी पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। 'राष्ट्रीय लेखक समिति' की अधीनता में दक्षिणी फ्रांस के अन्य लेखकों को भी एकत्रित करने की अरागों ने ठानी और नए युवक लेखकों के अतिरिक्त आंद्रे ज़ीद, सार्त्र, मारीयाक आदि भी इस संस्था में आए। पियरे सिधरस एक पत्रिका 'कविता' का संपादन कर रहे थे और उन्होंने इसके पन्ने इन सब लेखकों की रचनाओं के लिए खोल दिए। जिन कविताओं में बहुत खुले रूप से फ्रेंच लोगों को नाज़ियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उभारा गया था एवं उन लोगों का पर्दाफाश किया गया था जो नाज़ियों के साथ मिलकर फ्रेंच लोगों में यह प्रचार कर रहे थे कि फ्रेंच लोगों को अब नाज़ियों के विरुद्ध लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है—इस साहित्य को या तो पेंफलेटों के रूप में गैर-कानूनी रूप से प्रकाशित किया जाता था या किसी विदेश को भेज दिया जाता था जहां छपकर उसकी कुछ प्रतियां फ्रांस में छिपाकर भेज दी जाती थीं। 'कविता' की भांति कुछ अन्य पत्रिकाएं भी इन कवियों की कविताओं को प्रकाशित करने लगीं। कभी-कभी तो एक कविता 15-16 विभिन्न पत्रिकाओं में छप जाती थी।

राम कुमार

इस काल में अरागों की कविता के दो रूप हो गए, पहला कानूनी और दूसरा गैर-कानूनी। गैर-कानूनी कविता में कवि के सामने न सेंसर के बंधन होते थे और न ही गेस्टापो द्वारा पकड़े जाने का भय। अतः उनकी कविता में जिस नए यथार्थवाद ने जन्म लिया, वह फ्रेंच कविता के इतिहास में एक नया युग माना जाता है जब फ्रेंच कविता 'दादाइज़्म', 'सररीयलिज़्म' आदि के पश्चात यथार्थवाद के मार्ग पर बड़ी तेजी से बढ़ चली। इसका श्रेय अरागों को है। अरागों ने स्वयं भी कभी इतनी कविताएं न लिखी थीं जितनी उस काल में उनकी कलम से निकलीं। यह एक प्रकार से स्वाभाविक भी था कि युद्ध काल की परिस्थितियों को देखते हुए सीमाओं में बंधे हुए और बहुत कुछ छिपकर गैर-कानूनी रूप से साहित्य प्रकाशित करने में कविता ही एक ऐसा साधन और शस्त्र था जो आम लोगों में दूर-दूर तक अपना प्रभाव सुगमता से डाल सकता था। इसी कारण उस काल में रचित साहित्य बहुत कुछ कविता में था। अरागों एवं दूसरे कवियों की कविताएं हाथों से लिख-लिख कर रात को लोग अपनी जान हथेली पर रखकर मकानों के दरवाजों से अंदर डाल आते, जेलों और नाज़ियों के कंसेंट्रेशन कैंपों के भीतर पार्तीज़न इन कविताओं को गाते और सूली पर चढ़ते समय शहीदों के लिए यही पंक्तियां आश्वासन बन जातीं। इस कविता के विषय में अरागों ने अपने एक मित्र को फ्रांस स्वतंत्र हो जाने के पश्चात एक पत्र में लिखा—'यह नई कविता जाने या अनजाने में कुछ लेखकों और कवियों के बीच में षड्यंत्र थी जिसने हमारे साहित्य में उस आवश्यक देशभक्ति की सुगंधि डाली और वे विचार प्रगट किए जो हमारे स्वामी नहीं चाहते थे।' अरागों की कविता का लोगों पर प्रभाव देखकर नाज़ियों के दबाव डालने पर विची फ्रेंच सरकार ने सब पत्रिकाओं को अरागों की कविताएं छापने से मना कर दिया, परंतु बीसियों दूसरे नामों से अरागों की कविताएं छपती रहीं और पाठक कविता पढ़ते ही वास्तविक लेखक का आभास पा लेते थे।

"आज जब कभी पेरिस की याद आती है तब शनिवार को राष्ट्रीय लेखक समिति की सभा में या उनके पत्र 'स स्वार' के रेस्तरां में खाना खाते समय अरागों का लंबा कद, सफेद रेशम की भांति मुलायम बाल और नीली चमकती हुई आंखों और आत्मीयता से भरी मुस्कान सबसे पहले मेरी आंखों के सामने आ जाती है।"

सन् 1942 में इटेलियन फौजों के नीस में आ जाने से अरागों और एल्ज़ा को फरार होना पड़ा और वे नाम बदल-बदलकर कभी पहाड़ों में और कभी गांवों में रहने लगे। परंतु उनका संघर्ष जारी रहा। वह छिपकर अपने साथियों से मिलते रहे और अपनी रचनाएं भेजते रहे। उनका संघर्ष कभी ढीला नहीं पड़ा। एक बार बहुत भारी खतरा उठाकर अरागों और एल्ज़ा दोनों कितनी ही अप्रकाशित कृतियों की पांडुलिपियां लेकर एक प्रकाशक को देने के लिए पेरिस गए। बीच ही में एक स्थान पर गेस्टापो ने सब यात्रियों के सामान की पूर्ण रूप से तलाशी ली। अरागों के डिब्बे में सब स्त्रियों के हाथ के बैग तक देखे गए, एल्ज़ा के बैग में वे पाडुलिपियां थीं। गेस्टपो का एक सैनिक एल्ज़ा का बैग हाथ में लिए खोलने ही वाला था जब कि किसी अफसर ने उसे आवाज दी। वह बैग को एल्ज़ा के हाथों में थमाकर चला गया। लौटने पर उसे बैग की तलाशी लेनी याद न रही। यदि वह तलाशी लेता, तो कितनी ही कृतियां सदा के लिए नष्ट हो जातीं और अरागों और एल्ज़ा पर क्या बीतती, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं।

अरागों की आर्थिक स्थिति बहुत बुरी थी। एल्ज़ा ने अमेरिका में प्रकाशित अरागों के उपन्यास 'नियति के यात्री' को दिखा कर मुझे बतलाया कि इस पुस्तक की रायल्टी ने युद्ध काल में उनकी बहुत सहायता की। जितना कड़ा परिश्रम अरागों स्वयं करते थे वैसा ही वह अपने साथियों से भी चाहते थे। इसी बीच अरागों ने कितनी ही फ्रेंच लेखकों की सभाओं में भाग लिया और 'राष्ट्रीय लेखक समिति' के मोर्चे को अधिक दृढ़ बनाया। विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक विचारों वाले लेखक जैसे—कैथोलिक, सोशलिस्ट, कम्यूनिस्ट आदि—इस संस्था के अंदर आए, मेक्स जेकोब, पाल इलयार, ट्रिस्तन ज़ारा जैसे सररीयलिस्ट लेखकों ने भाग लेकर इस आंदोलन को अधिक शक्तिशाली और विस्तीर्ण बनाया।

फ्रांस के स्वतंत्र होने पर रिपोर्टों से मालूम पड़ा कि दक्षिणी फ्रांस में लेखकों के आंदोलन के फलस्वरूप 200 पत्र और पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगे थे जिनकी लाखों प्रतियां पाठक खरीदते थे। युद्ध के बाद जब अरागों अपनी पत्नी सहित पेरिस लौटे तब स्टेशन पर उनका स्वागत करने वालों में पाल इलयार भी थे। सन् 1931 में सररीयलिस्टों का खेमा छोड़ने के पश्चात अरागों फिर कभी इस महान कवि से नहीं मिले और उस दिन 13 वर्षों के पश्चात दो महान लेखकों का यह मिलन केवल भावुकतापूर्ण ही नहीं वरन भविष्य में 'राष्ट्रीय लेखक समिति' को शक्तिशाली बनाने में भी बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

यदि अरागों के साहित्य पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली जाए तो पता चलेगा कि वास्तव में अरागों कवि की अपेक्षा उपन्यासकार और गद्य लेखक अधिक उच्च कोटि के हैं। इस युद्ध काल में उन्होंने जो कविताएं लिखीं, वे फ्रेंच साहित्य के इतिहास के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि फ्रेंच कविता का इस काल में पुनर्जन्म हुआ। परंतु उनके उपन्यास 'नियति के यात्री', 'औरेलियो' आदि को पढ़ कर पता चलता है कि इस कला में अरागों कितने उच्च कोटि के कलाकार हैं। वर्तमान युग में अरागों विश्व के इने-गिने उपन्यासकारों में से एक हैं। उनके उपन्यास फ्रांस की महान विभूतियों—बालजाक़, स्टेंढल, ज़ोला, रोमां रोलां—की परंपराओं से घने संबंध स्थापित करके उन्हें आगे ले गए हैं। उनके मंजे हुए कलाकार होने के विषय में दो मत नहीं हैं। उनके उपन्यासों में फ्रेंच जिंदगी का एक सजीव चित्र मिलता है, जिसके पात्र अपने युग की परिस्थितयों का प्रतिनिधित्व करते हैं और सार्त्र, मरियाक, जूली रोमां, कामा की भांति फ्रेंच जिंदगी के एक छोटे-से सड़े-गले टुकड़े को ही चित्रित नहीं करते। उनका उपन्यास फ्रांस की जिंदगी का एक विशाल 'केनवस' होता है जिसका प्रत्येक चरित्र अपनी ही दुनिया में खड़ा न होकर यथार्थता के रंगमंच पर उस युग की स्थिति में संघर्ष करता हुआ उस समय का वास्तविक प्रतीक बन जाता है। 'टेकनीक' की दृष्टि से अरागों के उपन्यास अपना एक विशेष महत्व रखते हैं जिनसे उनकी कला उभरकर पाठकों के हृदय में एक विशेष स्थान बना लेती है।

युद्ध के बाद से आज तक अरागों ने फ्रेंच साहित्यिकों को संगठित करने, युवक और नए लेखकों को ठीक दिशा में अग्रसर होने के लिए उत्साहित करने, साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादन, अपनी साहित्यिक रचनाओं में और विश्व शांति के संघर्ष में जो महत्वपूर्ण काम किया है वह किसी प्रकार भी कम नहीं है। अन्य कार्यों के अतिरिक्त आजकल वह अपना नवीनतम उपन्यास लिखने में संलग्न हैं। आलोचकों का विचार है कि यह उपन्यास बीसवीं शताब्दी के यथार्थवादी सर्वोत्कृष्ट उपन्यासों में से एक है। इस उपन्यास की चर्चा करते हुए एक बार अरागों ने मुझसे कहा था कि इस उपन्यास का प्रत्येक भाग लिखकर वह अनुभव करते हैं कि उनकी कला में यथार्थवाद अधिक निखर रहा है। इस उपन्यास में स्पेन के गृह युद्ध से लेकर युद्ध के अंत तक का फ्रांस का इतिहास है। फ्रेंच लोगों के साथ नाज़ियों के विरुद्ध फ्रांस के स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण अरागों इस उपन्यास में उस काल के फ्रेंच लोगों की जिंदगी को अति सफलता और ईमानदारी के साथ चित्रित कर सके हैं। पिछले महायुद्ध पर लिखे गए उपन्यासों में यह अपना एक विशेष स्थान रखता है जो आने वाले युग में सदा चिरस्मरणीय रहेगा और अपना ऐतिहासिक महत्व रखेगा।

आज जब कभी पेरिस की याद आती है तब शनिवार को राष्ट्रीय लेखक समिति की सभा में या उनके पत्र 'स स्वार' के रेस्तरां में खाना खाते समय अरागों का लंबा कद, सफेद रेशम की भांति मुलायम बाल, नीली चमकती हुई आंखें और आत्मीयता से भरी मुस्कान सबसे पहले मेरी आंखों के सामने आ जाती है, कभी इलयार के गले में हाथ डाले, कभी मार्सेनाक का कंधा पकड़े एक कोने में गंभीरता से बातें करते हुए, कभी युवक कवियों की सभा में उनके साथ साहित्यिक विषयों पर चर्चा करते हुए और कभी किसी सार्वजनिक सभा में मंच पर कुर्सी में चुपचाप ठोढ़ी पर हथेली धरे हुए उनके विभिन्न चित्र और मुद्राएं तस्वीरों की भांति मेरी आंखों के सामने घूम जाती हैं। अभिमान की तो छाया तक उनमें नहीं है और पेरिस आने वाला कोई भी साहित्यिक इस कारण उनसे आसानी से भेंट कर सकता है। आज अरागों का वर्तमान फ्रेंच साहित्य में क्या स्थान है और इस साहित्य को आगे बढ़ाने में उन्होंने क्या किया, यह इस बात से पता चलता है कि युवक लेखक सदा अरागों और उनकी रचनाओं से प्रेरित होते रहते हैं और अरागों किसी न किसी प्रकार अपनी व्यस्त जिंदगी का कुछ समय निकालकर इन साहित्यिकों की रचनाओं पर अपने विचार प्रगट करते रहते हैं। □

—जनवरी 1953

मालवी लोककथा

चार मूर्ख

□ श्यामू संन्यासी

फागुन के दिन थे और दुपहरी का समय। गांव के बरगद की घनी छाया में चार मूर्ख बैठे गप्पें हांक रहे थे। एक उनमें पटवारी था, दूसरा पंडित, तीसरा ठाकुर और चौथा महाजन।

एक ओर से आने वाले रास्ते पर धूल उड़ने लगी। चारों मूर्ख गर्दनें उचकाकर देखने लगे कि यह कौन आ रहा है। इतने में राह पर चलने वाला नजदीक आ पहुंचा। वह पास के गांव का ढोली था। चार मूर्खों को देखकर उसने लंबा फर्शी सलाम किया और कहा—"भले-भले पंचो!"

ढोली की राम-राम ने चारों मूर्खों में झगड़ा मचा दिया। पटवारी बोला—"इसने मुझे राम-राम किया।"

पंडित ने कहा—"नहीं, मुझे राम-राम किया।"

ठाकुर ने शान जमाई—"हुश्! राम-राम मुझे किया है।"

और महाजन ने अपनी टांग फंसाई—"वा जी वा, राम-राम और जै गोपाल तो म्हारा के ज कर्यो है!"

जब आपस का झगड़ा किसी भी तरह न निपटा तो उन्होंने ढोली से पूछा—"क्यों बे, तूने हममें से किसको राम-राम किया?"

ढोली समझ गया कि चारों मूर्ख हैं। इन्हें इनके जैसा ही जबाव देना चाहिए। बोला—"जो तुममें सबसे ज्यादा मूर्ख हो उसको राम-राम किया।"

यह सुनकर महाजन ने कहा—"तो मुझी को राम-राम किया है। मैं ही सबमें ज्यादा मूर्ख हूं। कैसे सो सुनो—दिवाली के दिन की बात है। लक्ष्मी पूजा करके घर की सारी जमा-जथा थाली में धरे मैं और सेठानी बैठे थे। ख्याल आया कि दिवाली की रात को हार-जीत जरूर करनी चाहिए। सेठानी ने कहा—'अब कहां करने जाओगे? मेरे साथ ही हार-जीत का कौल-करार कर लो।'

मैंने और सेठानी ने हाथ ताली देकर

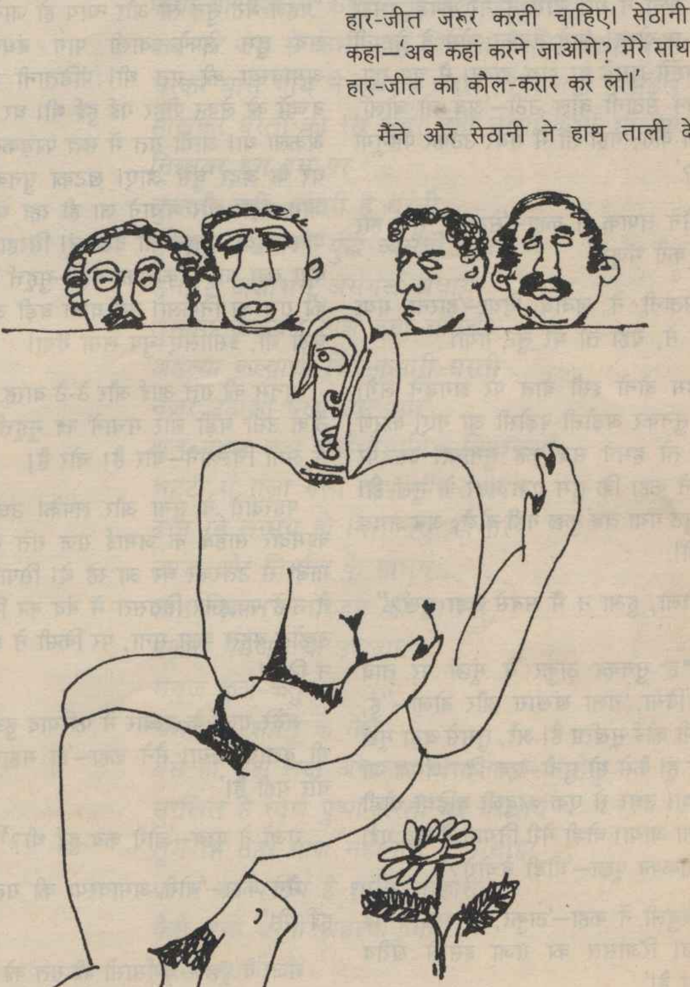

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

कौल किया कि जो पहले बोले, वह हारा समझा जाए। बात पक्की हो गई और हम कपड़े उतारकर सोने चले गए।

आधी रात के वक्त चोर आए। मैं और सेठानी दोनों जाग रहे थे। पर बोलता कौन? जो पहले बोले सो हारे। कोई नहीं बोला। चोर थाली उठाकर चलते बने।

आधी रात के बाद फिर चोर आए। हम दोनों अब भी जाग रहे थे। पर बोले कौन? जो बोले सो हारे। कोई नहीं बोला और चोर घर के बर्तन-भांडे समेटकर चलते बने।

तीन पहर रात कट गई। पिछली पहर में फिर चोर आए। हम अब भी जाग रहे थे। देखें, कौन बोलता और हारता है! इस बार कुछ बचा न था। चोरों ने मेरे कपड़े समेटे। कोई न बोला। आगे बढ़कर चोरों ने सेठानी के लहंगे-लुगड़े पर हाथ डाला। मैं चुप रहा, लेकिन सेठानी बोल उठी—'अब तो बोलो, हल्ला करो; नहीं तो मैं सवेरे उठकर पहनूंगी क्या?'

मैंने तपाक से कहा—'सेठानी, तुम हार गईं। करो मंजूर।'

सेठानी ने जवाब दिया—'हारना गया चूल्हे में, यहां तो घर लुट गया।'

हम दोनों इसी बात पर झगड़ने लगे। शोर सुनकर अड़ोसी-पड़ोसी आ गए। कारण पूछा तो हमने सब कह सुनाया। इस पर उन्होंने कहा कि तुम एक नंबर के मूर्ख हो। घर लुट गया तब कुछ नहीं बोले, अब झगड़ रहे हो।

बोलो, हुआ न मैं सबसे बड़ा मूर्ख?"

यह सुनकर ठाकुर ने मूंछों पर ताव दिया, गला खंखारा और बोला—"हुं, यह भी कोई मूर्खता है। अरे, तुमसे बड़ा मूर्ख तो मैं हूं। कैसे सो सुनो—एक दिन जंगल जा रहा था। उधर से एक काबुली बढ़िया घोड़ी नचाता आया। घोड़ी मेरी निगाह में चढ़ गई। मैंने रोककर पूछा—'घोड़ी बेचोगे?'

काबुली ने कहा—'ठाकुर, तू रूपी दे नई सकता। रिआसत का राजा इसको खरीद सकता है।'

मैंने कहा—'कीमत बतलाओ।'

काबुली ने चार हजार रुपए कहे। मैंने मंजूर कर लिया। घोड़ी लेकर घर आया। हजार रुपए खजाने में थे सो गिन दिए। एक हजार गांव के सेठ साहूकारों से चवन्नी रुपए महीने की दर पर कर्ज लेकर दिए। कितने हो गए? दो हजार। अब दो हजार और बचे। एक हजार में हवेली, ढोर, डंगर, अस्तबल के घोड़े-घोड़ियां, बछेरे खड़े दम नीलामी बोलकर चुका दिए। अब बचे एक हजार। सो एक हजार में वही घोड़ी काबुली के हाथ बेच कर उसका पूरा रुपया चुका दिया।

अब बोलो, तुमसे बड़ा मूर्ख मैं हुआ कि नहीं?"

इतने में पंडितजी ने तंबाकू की फंकी लगाकर और चुटकी बजाकर कहा—"पहले मेरी सुन लो और न्याय हो जाने दो, तब तुम लफ्फे वाली पाग बंधवाना। अमावस्या की रात थी। पंडितानी बाल-बच्चों को लेकर पीहर गई हुई थी। घर में मैं अकेला था। आधी रात में छत फाड़कर चोर घर के अंदर घुस आए। खटका सुनकर मैं जाग पड़ा। शोर मचाने जा ही रहा था कि याद आया, मुहूर्त्त तो देख लूं। सिरहाने ही पत्रा रखा था। निकालकर पढ़ा—मुहूर्त्त पूनम की रात का निकला। उस वक्त बड़ी अशुभ घड़ी थी, इसीलिए चुप लगा गया।

पूनम की रात आई और ठें-ठें बारह बजे। ठीक उसी घड़ी शोर मचाने का मुहूर्त्त था। मैं लगा चिल्लाने—चोर है! चोर है!

पहरेदारों ने सुना और लपके। उधर से कामदार साहब के जमाई राज रात वाली गाड़ी से उतरकर घर आ रहे थे। सिपाहियों ने उन्हें पकड़कर हिरासत में बंद कर दिया। उन्होंने बहुत कहा-सुना, पर किसी ने ध्यान न दिया।

सवेरे राजा के दरबार में फरियाद हुई। मैं भी बुलाया गया। मैंने कहा—'हां महाराज, चोर यही है।'

राजा ने पूछा—'चोरी कब हुई थी?'

मैंने कहा—'चोरी अमावस्या की रात में हुई थी।'

राजा ने पूछा—'पूर्णमासी की रात को क्यों चिल्लाए?'

मैंने कहा—'महाराज, पत्रे में उसी रात को चिल्लाने का मुहूर्त्त लिखा था।'

राजा ने कहा—'निकल जा मूर्ख यहां से।' उन्होंने कामदार के जमाई राज को छोड़ दिया और मुझे धक्के देकर निकलवा दिया।

मुझे राज-दरबार की सनद भी मिल गई और तुम अपने आप को सबसे बड़ा मूर्ख कहते हो?"

अब तो पटवारी जी की बारी आई। उन्होंने कान पर खोंसी हुई कलम को सिर के पीछे पोंछा, नाखून पर परखा, फिर कान पर चढ़ा लिया और बोले—"पहले मेरी बात पूरी हो जाने दो। भरे भादों के दिन थे। नदी-नाले भर रहे थे। ससुराल से खबर आई कि सास बीमार है। मुंह देखना हो तो बेटी-मां को मिलवा जाओ। मैं घरवाली और बच्चों को लेकर चला। रास्ते में मलहरनी नदी पूर जा रही थी। घरवाली ने कहा—'पूर उतर जाने दो तब पार करेंगे।'

मैंने कहा—'नासमझी की बात करती है। अरे, मैं पैमाइश जानता हूं। अभी नपती करके और हिसाब लगाकर बतला देता हूं कि कितना पानी है।'

मैं नदी में उतरा। पहले टखनों इतना, फिर घुटनों इतना, आगे जांघ, उससे आगे कमर, और उसके आगे छाती, मंझधार में सिर से सवा हाथ ऊंचा पानी था। हिसाब जोड़कर औसत लगाया तो सिर्फ कमर-गहरे पानी का औसत बैठा।

लड़के की मां से कहा—'कोई डर की बात नहीं। सिर्फ कमर-गहरा पानी है, डूब नहीं सकती। हो जा पार, मैं भी आता हूं।'

उसने कहना न माना। मुझे तैश आ गया। मेरा हिसाब और गिनती का औसत कोर्ट-कचहरी तक में माना जाता है और कभी कोई उसे गलत नहीं बता सका। यह पकाने-पोने वाली मुझे गलत ठहरा रही है। हाथ पकड़कर नदी में खींच ले गया। लेकिन पूर का ऐसा धक्का लगा कि वह बच्चों समेत न जाने कहां बह गई। बह गई तो बह गई, मेरा हिसाब कभी गलत नहीं हो सकता। मैंने फिर नापकर देखा, औसत बराबर कमर गहरे पानी का ही आया।"

यह सुनकर ढोली ने कहा—"मानो या न मानो, सबसे बड़ा मूर्ख यह पटवारी ही है।" ❑

—अप्रैल, 1953

कविता

धरती

नागार्जुन

धरती धरती है
पन्हाई हुई गाय नहीं
कि चट से दूह लो कछिया भर दूध
धरती धरती है—
चावल व गेहूं का ढेर नहीं
कि कुर्क कराके उठा ले जाओ
बेच दो मंडियों में जाकर
धरती धरती है—
नहीं है वह आटोमोबाइल
कि स्विच दबाकर ड्राइव करोगे
छोड़ दोगे ले जाकर पटना या दिल्ली
धरती धरती है—
सचल अचल वस्तुओं की जननी
सर्वसहनशीला अन्नपूर्णा वसुंधरा
स्तुति नहीं, श्रम-कठोर श्रम मांगती
चाहती आई है सदा से धरती
कर्षण-विकर्षण सिंचन परिसिंचन
वपन तपन सेवा-सुश्रूषा
कर चरण तन का सचेतन संस्पर्श
सुदुर्लभ स्वेदकण
प्रतीक्षातुर नयनों के स्निग्ध तरल प्रेक्षण
शिष्योचित परिचर्या
पति सुलभ प्रीति
मातृ सुलभ ममता
पितृ सुलभ परिपोषण
चाहती आई है सदा से धरती
अविरल अविराम अनाविल स्नेह
सरस स्वादु बहुविध रस भरित फल फूल अन्न
उपजाती आई है जाने कब से
मृत्यु नहीं जीवन का देते आए हैं संदेश
झूमते लहराते धान के पौधे
नाश नहीं निर्माण के प्रतीक हैं साक्षात
दिग्दिगंत फैले हरित शाद्वल क्षेत्र
जिन्हें देख देख अघाते नहीं नेत्र

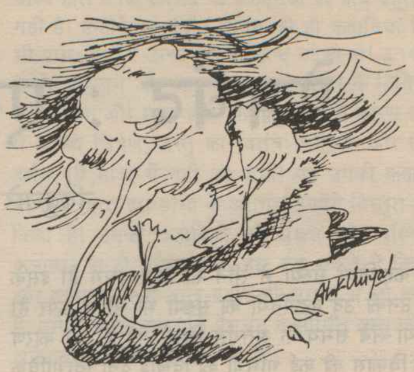

रेखांकन : आलोक उनियाल

पौधों या पेड़ों में कभी नहीं फली हैं छुरियां
कंद की जड़ से कभी नहीं निकला है विस्फोटक बंब
चरकर घास गाय ने दूध के बदले दिया नहीं हलाहल
सोखकर धरती का रस जहर नहीं बरसा कभी भी बादल
निछावर हम इस पर
तुम्हारी नहीं, हमारी है धरती
सुनो हे वज्रपाणी युद्ध व्यसनी दानव
सुनो हे अशोभन अमंगल अघायु
तुम्हारा अपावन स्पर्श नहीं चाहती
अहल्या कल्याणी चिर-कुमारी धरती
नजर उठाओ देखो उस ओर
शत-सहस्र लक्ष लक्ष वैज्ञानिक विश्वकर्मा
भट्ठी में गला गला तोप तीर तलवार
बना रहे तन्मय हो नित नए औजार
उपज और निर्माण के साधन...
ज्ञान-विज्ञान मनोरंजन की सामग्री
प्रकृति पराजय के उपादान...
मनुज कुल-केतु
श्रम और शांति के सेतु
वैसे ही लक्ष लक्ष अनागत विधाताओं के हेतु
सुरक्षित है स्वर्ण पुष्पा धरती का कौमार्य
तुम तो ठहरे नाश महानाश के मसीहा
प्रलय का पर्याय है शांति तुम्हारी
कैसे तुम्हें वरेगी अहल्याकुमारी
धरती धरती है। ❑

—जून, 1953

मूल्यांकन

प्रेमचंद : एक कथाकार

नंददुलारे वाजपेयी

प्रेमचंद की कहानियां संख्या में तीन सौ के लगभग हैं। इसके अतिरिक्त उनकी उर्दू कहानियों की संख्या भी सौ से ऊपर है। ये सारी कहानियां लंबे समय के अंतर्गत लिखी गई हैं, इस कारण इनमें कलात्मक विकास की कई भूमियों का दिखाई देना स्वाभाविक है। आरंभिक कहानियों में कला की दृष्टि से वह सफाई, खराद और कांट-छांट नहीं है, जो परवर्ती कहानियों में है। आरंभिक कहानियां अधिकतर लंबी और वर्णनात्मक हैं जबकि पीछे की कहानियां अधिक गठी हुई, संक्षिप्त तथा नाटकीय प्रभाव से संपन्न हैं, मानों एक प्रभावशाली चित्र का प्रदर्शन कर समाप्त हो गई हों। केवल कला की दृष्टि से ही नहीं, भावों और विचारों की प्रौढ़ता की दृष्टि से भी आरंभ और अंत की कहानियों में अंतर आ गया है। भाव के क्षेत्र में प्रेमचंद की आरंभिक कहानियां भावना-प्रधान और आदर्शवादी हैं। वे प्रत्येक स्थिति में किसी ऊंचे आदर्श पर जाकर समाप्त होती हैं। उनका प्रभाव भावुकतापूर्ण और उपदेशात्मक-सा होता है। किंतु आगे चलकर प्रेमचंद की कहानियों में चित्रित परिस्थितियों और व्यक्त भावों के बीच गहरा सामंजस्य स्थापित हो गया है। उनके चित्रण अधिक मनोवैज्ञानिक, तथ्यपूर्ण और अकृत्रिम होने लगे हैं। यद्यपि मानव-स्वभाव पर अमिट विश्वास के कारण प्रेमचंद की आदर्शवादी प्रवृत्ति यहां भी दिखाई देती है, परंतु यहां वह प्रवृत्ति अधिक संयमित है। जिन कहानियों में प्रेमचंद ने किसी आदर्श का चित्रण नहीं किया है, उदाहरण के लिए—'कफन', 'पूस की रात', 'नशा' आदि में, वहां भी परिस्थिति की विवशता के प्रति प्रेमचंद की व्यंग्यात्मक दृष्टि परिलक्षित हुई है। उन कहानियों में भी मुख्य प्रभाव परिस्थिति के विरुद्ध विद्रोह करने का ही है। प्रेमचंद ने ऐसी कहानियां नहीं लिखीं जो विशुद्ध निराशामूलक हों, जिनके पात्र और चरित्र पूरी तरह जीवनोद्देश्य को भूले हुए हों। पिछली कहानियों में उनके पात्र परिस्थितियों से लड़ते और पराजित होते भी दिखाए गए हैं, पर लेखक ने जीवन-आस्था बनी रहने दी है। इसलिए उन कहानियों का प्रभाव विषादात्मक न पड़कर व्यंग्यात्मक ही पड़ता है। इस दृष्टि से प्रेमचंद की सब कहानियां जीवन के प्रगतिशील और आस्थावादी दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं।

विचारों के क्षेत्र में भी प्रेमचंद प्रौढ़ होते गए हैं। उन्होंने जीवन-संबंधी अपने अनुभवों को निरंतर बढ़ने दिया है। खुली आंख और खुले मस्तिष्क में वह समस्त परिस्थितियों को देखते और आंकते थे। अनुभव की वृद्धि के साथ उनके अध्ययन में भी विस्तार होता गया। वह भारतीय साहित्यिकों के अतिरिक्त पश्चिमी विचारकों और कलाकारों से भी बहुत कुछ परिचित हुए। सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ स्वाभाविक रूप से बदलने वाले दृष्टिकोण को भी प्रेमचंद अपनाते गए हैं। विशेषकर नारी के आत्म सम्मान और पुरुषों के साथ उसकी सामाजिक समानता का निरूपण और उद्घोष उन्होंने अपनी पिछली कहानियों में स्पष्ट रूप से किया है। नारी के पतिव्रत और उसकी गार्हस्थिक निपुणता के साथ ही प्रेमचंद ने उसके समान अधिकारों का भी प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी वे क्रमशः आगे बढ़ते गए हैं।

प्रेमचंद की सब कहानियां सब समय एक-सी ही प्रेरणा से नहीं लिखी गईं। यत्र-तत्र उन्होंने बेगार भी की है। कभी किसी कहानी को आवश्यकता से अधिक बढ़ा देना और अन्य को अत्यंत छोटा कर देना उनके लिए आश्चर्य की बात न थी। पत्र और पत्रिकाओं में निरंतर लिखते रहने की आवश्यकतावश इस प्रकार के विपर्यय होते ही रहते थे। अतएव उनके प्रौढ़ काल में भी ऐसी अनेक कहानियां मिलती हैं, जो उनकी विकसित कला के अनुरूप नहीं कही जा सकतीं। इस दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियों का विभाजन, कलापूर्ण कहानियों और आवश्यकतावश लिखी गई कहानियों के विभागों में किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही उन श्रेष्ठ कहानियों का पृथक्करण किया जा सकेगा, जिनके आधार पर प्रेमचंद की साहित्यिक प्रतिष्ठा अवलंबित है।

विषय की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियां मुख्यतः सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों से संबद्ध हैं। समाज की सीमा में ग्रामीण और नगर के क्षेत्र आते हैं। दोनों ही क्षेत्रों को लेकर उनकी कहानियां लिखी गई हैं। राजनीतिक विषयों में से प्रायः वे सभी विषय आ गए हैं, जो भारतीय राजनीति के तत्कालीन ज्वलंत प्रश्न थे।

यहां यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रेमचंद सामयिक, सामाजिक आंदोलनों और राजनीतिक गतिविधियों के बाहर अपनी कहानियों में बहुत ही कम गए हैं। उनका समस्त क्षेत्र बीस-पच्चीस वर्षों की भारतीय जीवन-प्रगति में केंद्रित है। दूसरे शब्दों में प्रेमचंद प्रत्यक्षवादी कलाकार ठहरते हैं। उन्होंने मानव-विकास के उन पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया, जिनका संबंध इतिहास तथा अन्य प्राणि-विज्ञान संबंधी तथ्यों से है। यह भी कह सकते हैं कि उनकी कल्पना सामयिकता की परिधि से ऊपर उठने में अक्षम थी और दैनिक जीवन की स्थितियों को ही अपनाने में प्रवीण थी। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि प्रेमचंद सदैव सामान्य परिस्थितियों के भीतर सामान्य चरित्रों की अवतारणा करते हैं। असामान्य और विशिष्ट जीवन-चित्रों की विवेचना, जो मनोविज्ञान तथा अन्य संबंधित विज्ञानों के गहरे और विशिष्ट अनुभवों से संबद्ध है, प्रेमचंद की कहानियों की सीमा मे नहीं आती। सामान्य के

अंतर्गत भी प्रेमचंद का मुख्य झुकाव सुधारवाद और आदर्शात्मक मनोविज्ञान की ओर ही अधिक है। तटस्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण उनकी कहानियों में कम ही मिलते हैं। नारी-स्वभाव और नारी-प्रकृति की भीतरी विशेषताओं में जाने का समय प्रेमचंद को न था। और न वह चरित्र की ऐसी रूपरेखाओं को ही अंकित कर सके हैं, जिन्हें इस वैचित्र्यपूर्ण मानव-समाज में प्रायः देखा जाता है। प्रेमचंद की कहानियां इसीलिए 'सब्जेक्टिव' या भावनात्मक श्रेणी में आती हैं। निश्चय ही वे सामाजिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण अस्त्र का काम कर चुकी हैं, परंतु समय के बीत जाने पर उनकी क्या स्थिति होगी, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

कला के क्षेत्र में सामयिक प्रश्नों, स्थितियों और विचारधाराओं का अपना विशिष्ट महत्त्व है, परंतु महान कलाकार में कुछ ऐसी भी वस्तुएं होती हैं, जो उसे सामयिकता का इतिहास-लेखक ही नहीं बनातीं, उसका अन्वेषक और उद्धारक भी सिद्ध करती हैं। इसके अतिरिक्त उस महान कलाकार में यह क्षमता भी होती है कि वह उन बदलती हुई परिस्थितियों में मानव-चरित्र की तथा मानव-मनोभावना की मार्मिक और चिरंतन प्रवृत्तियों को भी अपने दृष्टि-पथ में रखे। ऐसा न करने पर कथाकार का कार्य बहुत कुछ सीमित हो जाता है। वह केवल सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि और उन्नायक बना रहता है। उसकी गणना इतिहास में हो जाती है और वह स्वयं अपनी कृतियों में ऐतिहासिक अनुशीलन की सामग्री छोड़ जाता है। परंतु एक श्रेष्ठ कलाकार कदाचित इस सीमित उद्देश्य को लेकर ही कार्य नहीं करता। उसका जीवन-संबंधी समस्त दृष्टिकोण, उसके सारे अनुभव और उसकी सारी उद्भावना उसकी कला को स्थायित्व देने के लिए हुआ करते हैं। कला का उद्देश्य इतिहास में परिगणित होना ही नहीं है, उसे उच्चतर लक्ष्यों की पूर्ति करनी होती है। प्रेमचंद की कहानियां उनके अनुभव की गहराई, मार्मिकता और ईमानदारी के कारण—संक्षेप में, उनके व्यक्तित्व की प्रतिनिधि हो जाने के कारण—यद्यपि एक विभिन्न स्तर पर पहुंच गई हैं, परंतु प्रेमचंद का सारा दृष्टिकोण और उनकी कला-क्षमता अधिकतर सामयिक जीवन से ही बंधी हुई है।

यह न समझना चाहिए कि कोई कलाकार अपने आख्यानों और चित्रणों को सामयिक स्थितियों और क्षेत्रों से ले रहा है, इसी कारण उसकी रचना सीमित और संकीर्ण है। सामग्री चाहे जिस क्षेत्र से ली जाए, उसके निरूपण और निर्देश में ही लेखक की सारी प्रतिभा लक्षित होती है। सारा प्रश्न लेखक के मानव-स्वभाव की मौलिक विशेषताओं तक पहुंचने, उन्हें चित्रित करने तक का रहा करता है। किसी कृति की सार्वजनिकता इसी भूमिका पर देखी जाती है। प्रश्न उपादानों का नहीं, अपितु उनमें निहित जीवन-स्वरूप और जीवन-प्रक्रिया का है। यदि किसी कलाकार ने छोटे दायरे में काम करते हुए भी मानव-जीवन के स्थाई तारों को स्पर्श किया और उन्हें झनझनाया है, तो उसकी कृति सामयिकता की सीमा से घिरी न रहेगी। उसका प्रसार समय की परिधि के बाहर भी हो सकेगा।

प्रेमचंद की समस्त कहानियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका क्षेत्र सीमित है। कहानियों के निर्माण में लेखक की कल्पना, उसकी रुचि और अध्ययन, उसकी जीवन-संबंधी अभिज्ञता उसे कितने व्यापक क्षेत्रों में ले गई है? हम यह कहने को बाध्य होते हैं कि प्रेमचंद की कहानियों का क्षेत्र बहुत अधिक प्रसरित नहीं है। उन्होंने सामयिक जीवन की ही कहानियां लिखी हैं और वे भी प्रायः राष्ट्रीय उत्थान के विशिष्ट उद्देश्य से। उनकी कल्पना तथा उनके अध्ययन और अनुभव उनको जीवन के विविध क्षेत्रों में नहीं ले जा सके और स्पष्ट लक्ष्य की प्रमुखता के कारण उनकी कहानियों में तटस्थ चित्रण, वस्तु का स्वतंत्र निरीक्षण और स्वतंत्र परिणाम-दर्शन पूरी मात्रा में नहीं आ पाया। यह उनकी कहानियों की मुख्य सीमा है, परंतु इस सीमा के अंतर्गत उन्होंने विस्तृत और अशेष कार्य किया है। उनकी कहानियों की संख्या और परिणाम किसी बड़े कलाकार के ही उपयुक्त हैं। हम कह सकते हैं कि वस्तु-चयन में और व्यापक रूप से वस्तु-ग्रहण की क्षमता में जो कमी दिखाई देती है, उसकी बहुत कुछ पूर्ति प्रेमचंद ने सीमित वस्तु की विविधता और अनेकरूपता द्वारा पूरी कर ली है।

वास्तव में प्रेमचंद की मुख्य प्रेरणा, जिसके आधार पर उन्होंने कहानियों का निर्माण किया, प्रगतिशील थी। वह समाजहित और समाजोत्थान की भावनाओं से प्रेरित थे। इस मूल प्रेरणा के कारण प्रेमचंद की कहानियों में एक विलक्षण आशावाद, मानव-महत्त्व के प्रति अमिट विश्वास और समाज की अनिष्टकारी शक्तियों के विरुद्ध एक कठोर व्यंग्य का भाव भरा हुआ है। यह प्रेमचंद के व्यक्तित्व की विशेषता रही है और इसका शुभ परिणाम उनकी कहानियों में सर्वत्र देखा जाता है। परंतु इस उदात्त उद्देश्य के कारण अनेक स्थलों पर कलात्मक त्रुटियां भी रह गई हैं। उनकी कितनी ही कहानियों में हलकी भावुकता, आदर्शात्मकता और उपदेशात्मक प्रवृत्ति अथवा इतिवृत्तात्मकता स्थान पा गई है। कहानियों में वस्तु और परिस्थिति के साथ भाव की जो संयुक्त और अविच्छेद्य सृष्टि होनी चाहिए, वह अनेक बार उपेक्षित हो गई है। दूसरे शब्दों में, प्रेमचंद ने सर्वत्र वस्तु और भाव के नैसर्गिक तारतम्य का ध्यान नहीं रखा। वह भावना में बह गए हैं, जिससे उनकी कहानियां वास्तविक वस्तु-निरीक्षण और तज्जन्य प्रभावशालिता से अनेक बार वंचित रह गई हैं। परंतु अपनी प्रौढ़ कृतियों में प्रेमचंद अधिक तटस्थ और अधिक मार्मिक निरीक्षण से काम ले सके हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनकी पिछले समय की कहानियां अधिक प्रभावशालिनी हुई हैं।

कला की दृष्टि से भी निरंतर परिवर्तन होता गया है। यहां कला से हमारा तात्पर्य निर्माण-कौशल अथवा कहानी के विधान-पक्ष से है। प्रेमचंद की आरंभिक कहानियां न केवल आकार में बड़ी हैं, वे दीर्घ काल का भी संग्रह करती हैं, जिससे उनमें गतिशीलता की कमी आ जाती है। अनावश्यक वर्णनात्मकता उनकी प्राथमिक कहानियों में अधिक है। आगे चलकर प्रेमचंद की कहानियां अधिक संयत होने लगीं, किंतु मध्यकाल में भी उनकी कहानियों की वर्णनप्रधानता पूरी तरह नहीं छूटी। नमूने के तौर पर यदि मध्यकाल की किसी एक कहानी को लेकर देखें, तो उसमें पूर्ववर्ती कहानियों की अपेक्षा अधिक सचेत कला निर्माण-कौशल के दर्शन होंगे। 'एक्ट्रेस' कहानी ऐसी ही एक कहानी है। इसमें प्रेमचंद ने नई और उन्नततर शैली को अपनाया है, परंतु इसमें भी प्रकरणों की कमी नहीं है। जिन कहानियों में प्रेमचंद ने संख्या देकर अनेक प्रकरणों की सूचना दी है, प्रायः वे सभी कला की दृष्टि से अनावश्यक विस्तार में चली गई हैं। मुख्यतः एक ही प्रकरण लेकर उसे आदि से अंत तक हीरे के

कण की भांति खूब तराशकर चमका देना कहानी के श्रेष्ठ कलाकार का कार्य होता है। प्रेमचंद केवल दस प्रतिशत कहानियों में इस विकसित पद्धति का प्रयोग कर सके हैं। प्रेमचंद की प्रायः सभी कहानियां सामाजिक पृष्ठभूमि पर वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं। शैली-संबंधी विविधता भी नहीं है।

कहानी की श्रेष्ठता किस तत्त्व या किन तत्त्वों में है, इस पर विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी श्रेष्ठता प्रायः उन्हीं तत्त्वों में है, जिनमें अन्य साहित्यांगों की श्रेष्ठता रहा करती है। सबसे पहले लेखक या रचनाकार की कल्पना शक्ति एवं उसकी उद्भावना का विस्तार और वैशिष्ट्य देखना पड़ता है। यह शक्ति जितनी समृद्ध होगी, लेखक उतने ही विस्तृत जीवन-क्षेत्रों को कला का विषय बना सकेगा। इस कल्पना-शक्ति की सीमा में लेखक के व्यक्तित्व के वे सभी उपकरण आ जाते हैं, जो उसकी रचना में सहायक हुआ करते हैं। दूसरी मुख्य शक्ति लेखक की जीवन-दृष्टि होती है। स्वस्थ जीवन-दृष्टि का लेखक ही श्रेष्ठ कहानियों की उद्भावना कर सकता है। यदि उसकी कहानियों में अन्य अनेक त्रुटियां हैं किंतु उसकी जीवन-दृष्टि में उन्नायक प्रभाव वर्तमान है, तो उसकी उन अनेक त्रुटियों का परिमार्जन हो जाता है। प्रेमचंद की कहानियां इस विशेषता से समन्वित हैं। तीसरी विशेषता कहानियों में निहित भावात्मक तत्त्व होती है। सच्चे अर्थों में प्रभावशाली भाव-सृष्टि जीवन की वास्तविक गतिविधि के निरीक्षण और चित्रण से आती है। वस्तून्मुखी परिस्थितियां और उन पर काम करने वाली मानव-चेतना जब लेखक की तूलिका में सजीव होकर एकाकार हो जाती है, तभी सच्चा भावात्मक चित्र बन पाता है। कहानी की भावात्मकता कोई उधार ली हुई वस्तु नहीं होती। उसका जन्म और विकास लेखक के वास्तविक निरीक्षणों और अनुभवों में होता है। अतएव जिस लेखक में तटस्थ अनुशीलन के साथ सच्ची भावप्रवणता होगी, वही श्रेष्ठ कहानीकार बन सकेगा।

कहानी का अंतिम वैशिष्ट्य उसमें निहित बौद्धिक तत्त्व से भी परखा जाता है। बौद्धिक तत्त्व ही जीवन-दृष्टि को दिशा देता है। बौद्धिक क्षमता एक ओर जीवनानुभवों से उत्पन्न होती है और दूसरी ओर उन्हीं अनुभवों को परिपुष्टता और विस्तार भी देती है। बिना अनुभव के बुद्धि का प्रयोग यदि शुष्क और एकांगी है, तो बुद्धि के योग के बिना अनुभवों में वास्तविक सजीवता नहीं आती। प्रेमचंद की कहानियों में विचार पक्ष भी क्रमशः पुष्ट होता गया है और उनकी प्रौढ़ काल की कृतियों में उनकी बौद्धिकता कहानियों को सुंदर रीति से आलोक देती रही है। सच पूछिए तो लेखक की कल्पना-शक्ति, उसकी भावात्मकता और उसकी बौद्धिक क्षमता—सभी तत्त्व बहुत कुछ अभेद्य हैं और कलाकार के व्यक्तित्व से संबंध रखते हैं। इन समस्त शक्तियों के पूर्ण समाहार से ही श्रेष्ठ कलाकृतियों का उद्भव होता है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद की कहानियों में उत्तरोत्तर इन तत्त्वों का समुचित विकास और समाहार होता गया है, परंतु उच्चतम स्तर की निर्माण-क्षमता प्रेमचंद की थोड़ी ही कहानियों में पाई जाती है। वह साधारण और व्यापक प्रयोजन की दृष्टि से श्रेष्ठ कलाकार हैं, किंतु विशिष्ट और सूक्ष्म प्रयोजन की पूर्ति थोड़ी ही कहानियों में कर पाए हैं।

—मार्च, 1953

कविता

पराजित पीढ़ी का गीत

धर्मवीर भारती

हम सबके दामन पर दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ!

हम थे सैनिक अपराजेय
पर हम थे बेबस लाचार,
यह था कठपुतलों का खेल
ऊपर था लोहा पर लकड़ी के थे सब हथियार!

हम सबके थे अपने गीत
आखिर तक गाने की शर्त
पर जाने कैसे ऐसे बदले बोल
हमने गाया कुछ पर कुछ निकला अर्थ!

तुम क्या जानोगे, ओ प्रभु!
उनके मन का कटु विक्षोभ
जिनकी निष्ठा के आगे
गर्हित था छोटे से छोटे समझौते का लोभ!

तुमने कब झेली संक्रांति
तुम क्या जानोगे, ओ प्रभु!
इन गत्यवरोधों का दर्द!
कैसे तरुणाई में ही
घुट मर जाते हैं विश्वास
प्राणों की समिधाएं जमकर हो जाती हैं सर्द!

यदि फिर भी तुमको मंजूर
हमको भटकाओ कुछ और
यदि तुमको फिर भी मंजूर
सच्चाई की बाहों में हम सब पाएं मत ठौर?

तो कम से कम, करुणामय,
इतना तो दो ही वरदान
दो हमको फिर झूठे लक्ष्य
दो हमको फिर झूठे युद्धों का झूठा मैदान!

तुम क्या जानोगे, ओ प्रभु!
संघर्षों के ही अभ्यासी ये प्राण
हो जाते कितने बेचैन
छिन जाते हमसे जब शस्त्र, छिन जाते मैदान!

दो हमको फिर झूठे युद्ध
दो हमको फिर झूठे ध्येय
हारेंगे फिर यह है तय
फिर उसको मानेंगे हम प्रभु की हार
अपने को मानेंगे फिर अपराजेय

हम सबके दामन पर दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सब के हाथों में टूटी तलवारों की मूठ!
हम सब सैनिक अपराजेय... ❑

—जनवरी, 1953

यात्रा

भवानीप्रसाद मिश्र

तेजी से चल रहे हैं यात्रीगण,
याने यात्रीगणों के मन!
एक परेशानी से दूसरी परेशानी तक,
एक मनमानी से दूसरी मनमानी तक!

यह जो हमारी तेज यात्रा है
इसका कहां प्रारंभ था या कहां अंत होगा,
यह बात बताने की जो करे कोशिश
सो कोई घोंघा-वसंत होगा।
क्योंकि हम 'फिलहाल' में रहते हैं,
यानी कांपते हुए घूमते हैं हमेशा,
और डरते हैं कि भूतकाल
लौट न आए कहीं
कान बचाते हैं भविष्यत का संदेसा!

पुराने से पुराने चेहरे पर
फिलहाल की छाप है,
जिंदगी में पिछला कुछ बाकी नहीं है
और न अगले का
उस पर उतरा सराप है।
सिर्फ 'फिलहाल' है जो बेखटके
दे रहा है यात्रीगणों के मनों को झटके।
मन
मारे मारे फिर रहे हैं,
किसी छाया के नीचे रुक नहीं सकते
अगरचे सिर पर बादल घिर रहे हैं।

इस चक्कर से उस चक्कर में
फिरकनी है पांव,
पहाड़, जंगल, समुद्र, देश या गांव
सबके चेहरों पर एक-सा है हौल,
वह जोर से पड़ा है—फिलहाल का धौल
कि घिग्घी सबकी
बंधी हुई सी है,
हिम्मत सबकी छुई-मुई-सी है।
बोल लेकिन बहादुराना है,
सोचता हूं कि क्या जमाना है?

तूफान आकाश से पाताल तक,
उखड़ रही हैं जिसमें
बदन से खाल तक।
सबकी खालें
उधड़कर एक हो रही हैं,
मगर बोलियां
एक नहीं!
अनेक हो रही हैं!

हर एक
अलग आवाज निकालता है
अपने चक्कर में घूमने का सबब,
दूसरे पर डालता है।
और कहता है
कि इस हालत को
हम खत्म कर देंगे
जो इसमें हमारा साथ देगा
उसे फिर कभी चक्कर में नहीं पड़ना पड़ेगा
हम उसके स्थायी बने रहने के लिए
(निश्चय ही जेल नहीं) घर देंगे। ❑

—मई, 1953

लेखन

भारतीय लेखकों की स्थिति

बनारसीदास चतुर्वेदी

भारतीय लेखकों की स्थिति पर 27 फरवरी, 1953 को राज्य परिषद में दिया गया भाषण।

इसे मैं एक अत्यंत दुर्भाग्य की बात समझता हूं कि हम लेखकों को और कवियों को किसी भी सरकार के सामने हाथ पसारने का मौका आए। हम लोग बराबर इस देश में शासकों का नियंत्रण करते रहे हैं और उस परंपरा को कायम रखने की जरूरत है। एक युग इस देश में ऐसा आएगा, जब लेखक और कवि अपने हाथ में टोपी लेकर इस प्रकार शासकों के सामने नहीं जाएंगे और यह लज्जाजनक दृश्य हमारे सामने उपस्थित नहीं होगा। लेकिन जो व्यावहारिक रूप आज हमें दीख रहा है, उसमें हम लोगों को लज्जापूर्वक यह दृश्य उपस्थित करना पड़ता है। साहित्यिकों की दुर्दशा के बारे में आज का प्रस्ताव है, लेकिन मुझको यह देखकर खेद होता है कि इसका राजनीतिक दुरुपयोग किया जा रहा है। हमारे साम्यवादी या कम्युनिस्ट भाइयों ने इसका दुरुपयोग किया है और हमारे भाई रामारावजी ने इस बातचीत को दूसरी दिशा ही में कर दिया।

मेरा ख्याल है कि हमें इस समय इस प्रस्ताव पर केवल साहित्यिकों की ही दृष्टि से विचार करना है। मैं हिंदी के बारे में जानता हूं। हमारे बड़े-से-बड़े साहित्यिक जैसे कि श्रीयुत प्रेमचंदजी ने किस दुर्दशा में अपना जीवन बिताया—यह शायद हमारे कितने भाइयों को नहीं मालूम होगा। जब वह अंतिम समय में बिलकुल मरने पर थे, उन्हें खून की उल्टी आ रही थी, वह बराबर उठकर अपनी लेखनी चलाते थे। एक बार सन् 1930 में मैंने उनसे पूछा था कि आपको अपने लेखों से कितनी आमदनी होती है और किताबों से कितनी, तो उन्होंने मुझे लिखा था—'आय की कुछ न पूछिए। पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। 'प्रेम पचीसी', 'सेवा सदन', 'सप्त सरोज', 'प्रेमाश्रम', 'संग्राम' आदि के लिए एक मुश्त तीन हजार रुपए हिंदी पुस्तक एजेंसी ने दिए। 'नवनिधि' के लिए शायद अब तक 200 रुपए मिले हैं। 'रंगभूमि' के लिए 1800 दुलारे लाल जी ने दिए और संग्रहों के लिए सौ दो सौ मिल गए। 'कायाकल्प', 'आजाद कथा', 'प्रेम तीर्थ', 'प्रेम प्रतिमा' और 'प्रतिज्ञा' मैंने खुद छापीं। पर अभी तक मुश्किल से 600 रुपए वसूल हुए हैं और प्रतियां पड़ी हैं। फुटकर आमदनी लेखों से शायद 25 रुपए माहवार हो जाती हो, मगर इतनी भी नहीं होती।'

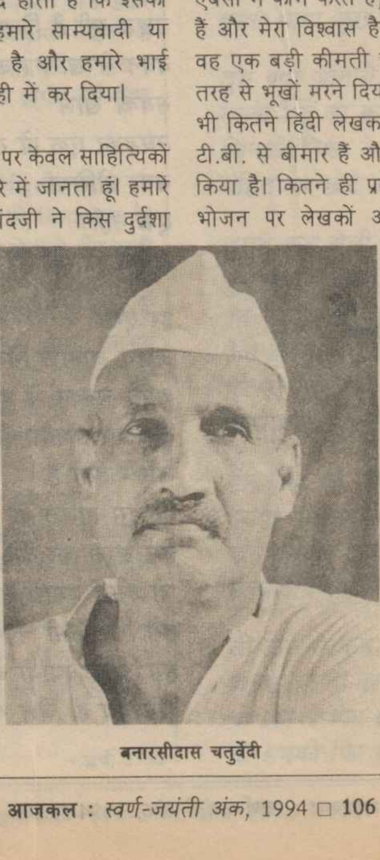

बनारसीदास चतुर्वेदी

जब हमारे बहुत-से शासकों का नाम विलीन हो चुका होगा, प्रेमचंदजी का नाम उस वक्त भी हिंदी जगत में ही नहीं, वरन संसार के साहित्य में चमकता रहेगा। हमारे एक मित्र जो अभी रशियन ऐंबैसी में काम करते हैं, वह प्रेमचंद का एक जीवन चरित्र लिख रहे हैं और मेरा विश्वास है कि यदि उन्होंने अच्छा अध्ययन किया तो वह एक बड़ी कीमती चीज बनेगी। परंतु प्रेमचंदजी को हमने एक तरह से भूखों मरने दिया। उन्हीं की यह स्थिति नहीं है, बल्कि आज भी कितने हिंदी लेखक और अन्य भाषाओं के लेखक क्षय रोग से, टी.बी. से बीमार हैं और मर रहे हैं और प्रकाशकों ने उनका शोषण किया है। कितने ही प्रकाशकों ने पचास-पचास रुपए मासिक और भोजन पर लेखकों और कवियों से किताबें लिखवाई हैं और हजारों नहीं, बल्कि लाखों रुपए का मुनाफा उठाया है। हमारे मित्र हरिशंकर जी शर्मा हैं, जिनकी पुस्तकों के 24-24 संस्करण हुए और उनसे डेढ़ और 2 लाख का फायदा प्रकाशकों ने उठाया, लेकिन उनको कुल आठ हजार रुपए मिले। यह स्थिति आज हिंदी साहित्यिकों की है और मुझे विश्वास है कि उर्दू तथा अन्य भाषाओं के साहित्यिकों की स्थिति भी इससे अच्छी नहीं होगी। ऐसी हालत में क्या किया जाए? कम-से-कम उन आदमियों को जो कि बीमार हैं अथवा कार्य नहीं कर सकते हैं, गवर्नमेंट की तरफ से पेंशन जरूर मिले। लेकिन इसके साथ-ही-साथ हमें ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए जिससे साहित्यिक और लेखक गौरव के साथ अपना जीवन व्यतीत कर सकें। गवर्नमेंट

इस बारे में अनेक कार्य कर सकती है। कापीराइट एक्ट में संशोधन किया जा सकता है और भविष्य में ऐसा प्रबंध किया जा सकता है जिससे कि पुस्तकों का कापीराइट लेखक के पास ही रहे और साथ-ही-साथ जो पुराने अनाचार हुए हैं उनकी जांच की जाए और लेखकों के प्रति न्याय किया जाए।

इसके साथ ही, जैसा हमारी बहन चंद्रावतीजी ने कहा है कि अगर 14 भाषाओं में हमारी अच्छी-अच्छी किताबों का अनुवाद हो जाता है, तो रायल्टी में लेखकों को बहुत रकम मिल सकती है।

इसके साथ ही हमारे योग्य लेखकों को यात्राओं पर भी भेजा जा सकता है ताकि वे उन स्थानों का ज्ञान प्राप्त करके उनको साहित्य में स्थान दे सकें। हमें इस संबंध में उनकी मदद करनी चाहिए।

किंतु मेरा ऐसा विश्वास है कि हमारे प्रकाशन विभाग के जो उच्च अधिकारी हैं या जो मशीनरी है वह दोषपूर्ण है, वह इंफैंटाइल पैरालिसिस से पीड़ित है, बच्चों के लकवे से मारी हुई पड़ी है। कोई भी चीज ढंग से नहीं की जा रही है। हमारा जो सरकारी प्रकाशन है यदि उसका ही संगठन ढंग से किया जाए, तो भी लेखकों को कुछ-न-कुछ उससे मदद मिल सकती है।

इसके सिवा जैसे चैकोस्लोवाकिया वगैरह में राइटर्स होम हैं—पुराने महलों वगैरह को देकर वे स्थान बना दिए हैं—उसी तरह से हमारी गवर्नमेंट कुछ-न-कुछ प्रबंध कर सकती है। मैं लेखकों के लिए कोई यतीमखाना खोलने के पक्ष में नहीं हूं। वहां पर उनसे कुछ-न-कुछ नामिनल पैसा ले लिया जाए और उनको रहने और साहित्य निर्माण करने का अवसर प्रदान किया जाए।

अंत में मैं फिर यही कहूंगा कि हमें सरकार के द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करानी चाहिए जिससे हिंदी के और हिंदी ही नहीं, बल्कि तमाम भाषाओं के जो लेखक और साहित्यिक हैं, वे गौरव अनुभव कर सकें। दिल्ली में मुझे तो कोई स्थान ऐसा नहीं दीखता, जहां कि हम लोग भिन्न-भिन्न भाषाओं के आदमी मिलकर बैठ सकें। इसके लिए गवर्नमेंट से हिंदी भवन के बारे में बातचीत की जा रही है और मुझे विश्वास है कि कुछ दिनों में हिंदी-भवन बन जाएगा और वहां हम भिन्न-भिन्न प्रांतों के आदमी काम कर सकेंगे। इसके साथ ही हमारी साहित्यिक ऐकेडेमी जो बनने वाली है, वह भी इस दिशा में कुछ काम कर सकती है। आज तो यह हालत है कि हिंदी के ही नहीं, बल्कि अन्य भाषाओं के लेखक मानसिक भोजन के लिए तरसते हैं। हमारे पास कितनी ही चिट्ठियां आती हैं कि हमको अमुक डिक्शनरी चाहिए, कहां से प्राप्त हो सकेगी? एक ने मुझे लिखा है कि उनके पास यात्रा के साधन नहीं हैं, वह विदेश यात्रा करना चाहते हैं और हम डाक्टर काटजू से प्रार्थना कर दें कि वह उन्हें किराया दे दें। इस तरह के पत्र मेरे पास प्रायः आते हैं। मुझे पता नहीं कि डाक्टर काटजू के पास कितना रुपया है, क्योंकि मैंने तो ऐसा कोई उनका एकाउंट देखा नहीं। इस प्रकार बहुत-से लेखकों में देश की यात्रा और विदेश की यात्रा की आकांक्षा है।

मैं अधिक इस बारे में नहीं कहना चाहता। हां, इतना अवश्य कहूंगा कि आजकल हिंदी लेखकों के दिमाग में फ्रस्ट्रेशन है, आध्यात्मिक गत्यवरोध हो रहा है। यह हमारी सरकार के लिए अत्यंत विघातक चीज है। उसको दूर करने के लिए सरकार को जल्दी ऐसे उपाए करने चाहिएं, जिससे कि वातावरण ठीक हो और हम लोगों को गौरव के साथ काम करने का अवसर मिले। ❑

—अप्रैल, 1953

गीत

फागुन का गीत

केदारनाथ सिंह

गीतों से भरे दिन फागुग के ये,
गाए जाने को जी करता।
ये बांधे नहीं बंधते, बांहें—
रह जातीं खुली की खुली,
ये तोले नहीं तुलते, इन पर—
ये आंखें तुली की तुली
ये कोयल के बोल, उड़ा करते,
इन्हें थामे हिया रहता।
अनगाए भी ये इतने मीठे,
फिर गाएं तो क्या गाएं,
ये आते, ठहरते, चले जाते,
इन्हें पाएं तो क्या पाएं,
ये टेसू में आग लगा जाते,
इन्हें छूने में डर लगता।
ये तन से परे ही परे रहते,
ये मन में नहीं अंटते,
मन इनसे अलग जब हो जाता,
ये काटे नहीं कटते,
ये आंखों के पाहुन बड़े छलिया,
इन्हें देख न मन भरता।
गीतों से भरे दिन फागुन के ये,
गाए जाने को जी करता। ❑

—मई, 1953

लोक-कथा

लोक-कथाओं का वैज्ञानिक अध्ययन

श्यामाचरण दुबे

मानव के परंपरागत मौखिक साहित्य में लोक-कथाओं का स्थान अत्यंत सम्माननीय है। पिछली शताब्दी में लोक वार्ता के इस महत्त्वपूर्ण अंग के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में अनेक उल्लेखनीय प्रयत्न हुए हैं। संसार के विभिन्न देशों में लोक-कथाओं के अध्येताओं के व्यक्तिगत प्रयत्नों के अतिरिक्त, कतिपय देशों में राष्ट्रीय साहित्य एवं संस्कृति के इस सशक्त अंग को लिपिबद्ध कर उन पर अनुसंधान करने की सुसंगठित योजनाएं भी कार्यान्वित हुई हैं। इन अध्ययनों के परिणामस्वरूप लोक-कथाओं के संकलन तथा अनुशीलन की वैज्ञानिक प्रणालियां विकसित हो गई हैं। आज यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर लोक-कथाओं पर जिस परिमाण में अनुसंधान हुए हैं, उतने लोक-साहित्य के किसी अन्य अंग पर नहीं हुए।

लोक-जीवन और लोक-वार्ता का संबंध बड़ा घनिष्ठ है और इसी कारण पश्चिमी देशों में दोनों विषयों के अध्ययन प्रायः एक साथ होते आए हैं। लोक-जीवन की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बिना लोक-वार्ता का वास्तविक मूल्यांकन कर सकना कठिन है। इसके विपरीत लोक-वार्ता के बिना लोक-जीवन के आदर्शों और मूल्यों की गहराई तक पहुंच सकना प्रायः असंभव है क्योंकि लोक-साहित्य में 'लोक' की आत्मा बड़ी सच्चाई से प्रतिबिंबित होती है। यूरोप के देशों में अनुसंधान संस्थाओं, राष्ट्रीय संग्रहालयों और विश्वविद्यालयों के लोक-जीवन संबंधी अध्यापन कार्य की योजनाओं का अ योजन करते समय लोक-जीवन और लोक-वार्ता के इस अविभाज्य संबंध का सदा स्मरण रखा जाता है। स्वीडन, फिनलैंड, आयरलैंड और इंग्लैंड में इस दिशा में जो महत्वपूर्ण कार्य हुआ है, उसमें लोक-साहित्य और लोक-जीवन की परंपराओं का संबंध स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। इन परंपराओं को समझने और उनका मूल्यांकन करने में लोक-साहित्य बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

लोक-कथाओं के उद्‌गम तथा प्रसार में भारत का बड़ा हाथ रहा है, यह लोक-कथाओं के अनेक पाश्चात्य अध्येताओं ने भी स्वीकार किया है। किंतु भारत में लोक-कथाओं का वैज्ञानिक अनुशीलन बहुत ही कम हुआ है। इस दिशा में नेतृत्व का गौरव पश्चिम के विद्वानों को ही प्राप्त है। उदाहरणार्थ, स्वीडन में लिनाइयस (1707-1778) ने लोक परंपराओं के वैज्ञानिक अध्ययन के महत्त्व को भली भांति समझा था और देश के विभिन्न भागों में उनका समुचित उपयोग भी किया था। इन वर्णनों से प्रेरणा पाकर अनेक व्यक्तियों ने बड़े पैमाने पर मौखिक परंपराओं, विशेषकर लोक-कथाओं के संग्रह का कार्य किया। स्वीडन में इस क्षेत्र में काम करने वालों में हिल्टेन-केवेलियस (1818-1889) का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अपने देश के कृषकों के जीवन का चित्र उपस्थित करने के लिए उसने मौखिक परंपराओं तथा ग्रामीण भौतिक संस्कृति दोनों का विधिवत उपयोग किया था। हिल्टेन-केवेलियस के कार्यों से प्रेरणा पाकर हेजेलियस (1833-1901) ने स्टाकहोम में अपने विशाल संग्रहालय की नींव डाली जो संसार के लोक-जीवन संबंधी संग्रहालयों में आज भी अद्वितीय है। स्वीडन में चार सौ से भी अधिक ऐसे संग्रहालय हैं जहां स्थानीय संस्कृति के प्रतीकों तथा उपकरणों और वहां के मौखिक साहित्य, विशेषकर लोक-कथाओं को सुरक्षित रखने का यत्न किया गया है। लोक-भाषाओं और लोक-संस्कृतियों के अध्ययन के लिए यहां संग्रहीत लोक-कथाएं सुरक्षित रखी जाती हैं। लोक-कथाओं के विशेषज्ञ अध्येता शासन द्वारा अपने कार्य के लिए पुरस्कृत किए जाते हैं। उनके अतिरिक्त वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा यदा-कदा सुविधानुसार संग्रह कार्य करने वाले व्यक्तियों को भी समुचित पारिश्रमिक दिया जाता है। इसी भांति फिनलैंड में लोक-जीवन संबंधी श्रेष्ठ संग्रहालय स्थापित किए गए हैं, जिनमें मौखिक साहित्य के विशद संग्रह उपलब्ध हैं। यहां भी लोक-कथाओं के संकलन को प्राधान्य दिया गया है। यह कार्य यहां अनेक वर्षों से अविराम गति से चल रहा है, और इस विषय में तनिक भी रुचि लेने वाले व्यक्तियों को संकलन के वैज्ञानिक ढंग से अवगत कराने का उत्तरदायित्व इन संग्रहालयों पर है। आयरलैंड की राजधानी डब्लिन में लोक-कथाओं का संसार का संभवतः सबसे बड़ा संग्रहालय है। इस देश में सन् 1825 से मौखिक साहित्य के संग्रह का कार्य पर्याप्त उत्साह से हो रहा है। सुसंगठित एवं योजनाबद्ध ढंग से इस कार्य को करने के लिए सरकार की ओर से सन् 1930 में 'आयरिश फोकलोर इंस्टीट्यूट' की स्थापना हुई, जो सन् 1935 में 'आयरिश फोकलोर कमीशन' के रूप में परिवर्तित हो गई। इस संस्था की ओर से एक समय में नौ वैतनिक संग्रहकर्त्ता देश के विभिन्न भागों में जाकर लोक-कथाओं तथा अन्य प्रकार के

मौखिक साहित्य का संकलन करते थे। ये इस साहित्य को केवल लिपिबद्ध ही नहीं करते थे, उनके ध्वनि रेकार्ड भी बनाते थे। संग्रह कार्य में अपना पूरा समय देने वाले इन नौ विशेषज्ञों के अतिरिक्त, अवकाश के समय इस कार्य में योग देने वाले कार्यकर्त्ताओं की संख्या बहुत अधिक थी। सन् 1937 में ऐसे कार्यकर्त्ता डेढ़-सौ से भी अधिक थे। इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप डब्लिन का यह विशाल संग्रहालय बन सका है जिसमें भली भांति संग्रहीत तथा वर्गीकृत लोक-कथाए लाखों की संख्या में उपलब्ध हैं। इनमें से कई हजार के डिक्टाफोन पर रिकार्ड भी उपलब्ध हैं। इंग्लैंड में लोक वार्ता परिषद् की स्थापना सन् 1878 में हुई। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में इसे टायलर, लेंग और फ्रेजर जैसे विद्वानों का सहयोग तथा समर्थन प्राप्त हुआ। संकलन का कार्य बड़े उत्साह से आरंभ हुआ, परंतु यह उत्साह स्थायी न हुआ। अन्य देशों की भांति इस कार्य में आशातीत प्रगति न हो सकी। डेन्मार्क, नार्वे, जर्मनी और ग्रीस में भी इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हुआ है, तथा मौखिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंश वहां के संग्रहालयों में सुरक्षित रखे गए हैं। संयुक्त राष्ट्र और दक्षिणी अमेरिका में अब इस दिशा में सामूहिक प्रयत्न आरंभ हुए हैं। पहले वहां जो कार्य हुआ था, वह बहुत कुछ व्यक्तिगत प्रयत्नों तक ही सीमित था।

लोक वार्ता विशेषज्ञों के कई 'स्कूल' हैं, जो अपनी मान्यताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न ढंग से लोक-कथाओं का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हैं। इस संबंध में तीन विचारधाराएं तथा अध्ययन प्रणालियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : 1. ऐतिहासिक-भौगोलिक प्रणाली, 2. अमेरिकी, नृतत्व शास्त्रीय प्रणाली, और 3. 'कार्यवादी' प्रणाली।

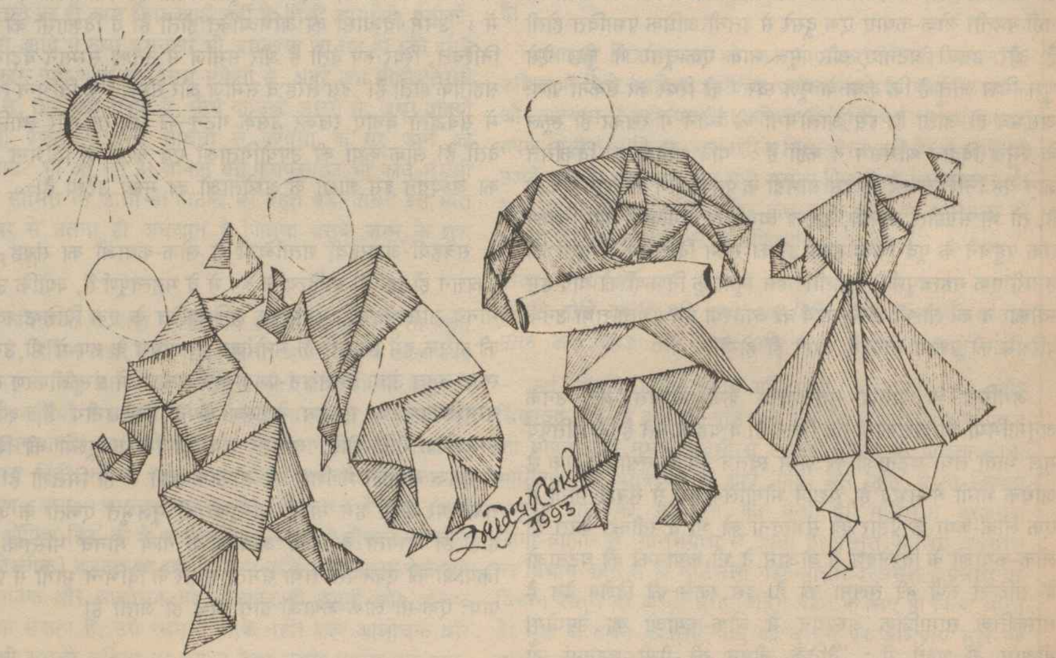

लोक वार्ता विशेषज्ञों में बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की है जो लोक-कथाओं के वर्गीकरण-विश्लेषण की ऐतिहासिक-भौगोलिक प्रणाली को अपनाते हैं। इस स्कूल के अध्येता सारे संसार की लोक-कथाओं का वर्गीकरण एवं तुलनात्मक विश्लेषण करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वे यह चाहते हैं कि विश्व के भौगोलिक मानचित्र पर एक भी ऐसा देश न रह पाए जिसकी प्रतिनिधि लोक-कथाएं उनके संग्रह में न हों। इस क्षेत्र में फ्रांस, इटली, दक्षिण-पूर्व यूरोप, एशिया माइनर, ईरान, तिब्बत और चीन में अभी बहुत काम होना शेष है। संग्रह के अतिरिक्त ये विद्वान लोक-कथाओं के वर्गीकरण में भी बड़ी रुचि लेते हैं। आर्ने ने सन् 1910 में सर्वप्रथम अपनी लोक-कथाओं की 'प्रकार' सूची प्रकाशित की। इसमें लोक-कथाओं को 550 प्रकार की कथाओं में विभाजित किया गया था। यह वर्गीकरण प्रायः समस्त यूरोप के उपलब्ध कथा संग्रहों के अध्ययन पर आधारित था। थामसन ने सन् 1928 में मूल भावों के आधार पर लोक-कथाओं के विश्लेषण की नई प्रणाली प्रकाशित की। आर्ने की अध्ययन शैली का यह अधिक विकसित एवं परिष्कृत रूप था। थामसन द्वारा प्रणीत 'मूल भाव' सूची से लोक-कथाओं के तुलनात्मक अध्ययन में बड़ी सुविधा हो गई है। जर्मनी, स्पेन, आयरलैंड और अमेरिका के इंडियन लोगों की लोक-कथाओं के विश्लेषण में इस प्रणाली का उपयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया जा चुका है। इस संदर्भ में 'प्रकार' से ऐसी परंपरागत लोक-कथा का बोध होता है जिसका पृथक अस्तित्व है और मूल भाव से लोक-कथा के उस लघुतम तत्व का बोध होता है जिसमें परंपरा का अंग बनकर जीवित रह सकने की शक्ति होती है। मूल भावों की उत्पत्ति होती है या तो कथा के प्रधान अभिनेताओं से या उसकी पृष्ठभूमि के कतिपय तत्वों (जैसे जादू या अदृश्य

शक्तियों में विश्वास आदि) से या कथा की विशिष्ट घटनात्मक इकाइयों से। 'प्रकार' तथा 'मूल भाव' की दृष्टि से संसार के अनेक भागों की लोक-कथाओं का वर्गीकरण किया गया है और उनकी विस्तृत सूचियां बनाई गई हैं। संकलन और वर्गीकरण के बाद, इस अध्ययन को अपनाने वाले विद्वान प्रत्येक प्रकार की कथा का मूल स्वरूप प्राप्त करने का यत्न करते हैं। साथ ही वे यह भी जानना चाहते हैं कि कथा की उत्पत्ति संसार के किस भाग में हुई और उसका प्रचार तथा प्रसार किन दिशाओं में हुआ। ऐसा करने के लिए किसी भी लोक-कथा के सब उपलब्ध पाठांतर एकत्रित किए जाते हैं। इन पाठांतरों को भौगोलिक आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। इसके बाद प्रत्येक कथा को उसमें की घटनाओं के आधार पर अलग-अलग हिस्सों में बांटा जाता है। इन घटनाओं के विभिन्न रूपों की गणना की जाती है तथा विभिन्न पाठांतरों में उनकी उपस्थिति के आधार पर घटना का मूल स्वरूप स्थिर करने का यत्न किया जाता है। प्राचीनतम, बहु-कथित, स्वाभाविक प्रतीत होने वाले तथा सर्वाधिक प्रसारित रूप को प्रायः कथा का मूल रूप माना जाता है। इस विश्लेषण से कथा के जन्म-स्थान के संबंध में अनुमान करने में भी सुविधा होती है। इस अध्ययन शैली का अनुसरण कर कतिपय विशिष्ट प्रकार की कथाओं पर विस्तृत निबंध तथा पुस्तकें भी लिखी गई हैं। इस प्रणाली द्वारा किए गए कार्य की आलोचना भी बहुत हुई है। किसी भी कथा के जन्म-काल का निर्णय कर सकना सरल नहीं है। पूरी सावधानी रखने पर भी हमारे निष्कर्ष अनुमान से अधिक नहीं माने जा सकते। विभिन्न पाठांतरों में जिस रूप का प्रचार अधिक हो, उसे ही मूल रूप मानना भी वैज्ञानिक दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। स्वरूप की स्वाभाविकता भी उसकी प्राचीनता को प्रमाणित नहीं करती। लोक-कथाएं एक दूसरे से इतनी अधिक प्रभावित होती हैं और उनकी घटनाएं और मूल-भाव एक-दूसरे में कुछ ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि कथा के मूल स्वरूप को स्थिर कर सकना प्रायः असंभव हो जाता है। इस आलोचना को ध्यान में रखकर ही स्कूल के प्रमुख विद्वान थामसन ने कहा है : "यदि भविष्य का विकसित ज्ञान यह निश्चित करे कि इस सामग्री के पुनर्परीक्षण की आवश्यकता है, तो भी संग्रहीत सामग्री, उसका व्यवस्थित वर्गीकरण और निष्कर्ष तक पहुंचने के पूर्व किया हुआ उसका सूक्ष्म विश्लेषण, विद्वत्ता को हमारी एक महत्वपूर्ण देन होगी।" इस स्कूल के निष्कर्षों को यदि हम स्वीकार न करें तो भी उनके कार्य की व्यवस्था एवं पूर्णता तथा उनके परिश्रम की प्रशंसा तो हमें करनी ही होगी।

अमेरिका के प्रसिद्ध नृतत्ववेत्ता फ्रेंज बोआस और उनके अनुगामियों का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। वे यह मानते हैं कि कतिपय मूल भावों तथा घटनाओं का जन्म स्वतंत्र रूप से संसार के एक से अधिक भागों में संभव है, यद्यपि भौगोलिक रूप से संबद्ध भागों में एक लोक-कथा के प्रसार की संभावना को भी वे स्वीकार करते हैं। लोक-कथाओं के विश्लेषण में बोआस ने भी कथानकों की घटनाओं के संक्षिप्त रूपों की तुलना की है। इस स्कूल की विशेष देन है सांस्कृतिक सामाजिक अध्ययन में लोक-कथाओं का उपयोग। बोआस के शब्दों में : "दैनिक जीवन की ऐसी घटनाएं जो लोक-जीवन में महत्व रखती हैं, लोक-कथाओं में बार-बार आएंगी।" जीवन के यथार्थ की लोक-कथाओं में यह पुनरावृत्ति या तो कथानक के मूल में ही निहित होती है, या कथानक के विकास में अभिव्यक्ति पाती है। बोआस के मतानुसार : "लोक के जीवन-यापन के ढंग संबंधी जो विवरण लोक-कथाओं में आते हैं, उनमें समूह के रीति-रिवाज प्रतिबिंबित दिखाई पड़ते हैं।" इस तरह बोआस लोक-कथाओं को एक प्रकार से समूह की आत्म-कथा मानते हैं। सिमीशयन जाति की लोक-कथाओं के आधार पर उन्होंने उक्त जाति के सामाजिक गठन एवं जीवन पर एक प्रामाणिक ग्रंथ भी प्रकाशित किया था। समाजशास्त्रीय दृष्टि से जहां हम लोक-गीतों को सामाजिक अनुभूतियों का दर्पण मान सकते हैं, वहां लोक-कथाओं को इतना विश्वास योग्य मान सकना कठिन है। विकसित संपर्क वाले देशों और समाजों में लोक-कथाएं 'लोक' की जीवन-दृष्टि, आदर्शों और मूल्यों को समझने में सहायक हो सकती हैं, किंतु उनके आधार पर समाज के संगठन का अध्ययन कर सकना संभव नहीं है। संपर्क के कारण विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों में एक ही कथा का प्रचलन हो सकता है। मानसिक उड़ान, कल्पना, अतिरंजना और अद्‌भुत तत्व का लोक-कथाओं में ऐसा सम्मिश्रण रहता है कि इन सबके बीच से सामाजिक यथार्थ की शोध का कार्य बड़ा कठिन हो जाता है।

कार्यवादी अध्ययन प्रणाली के अंतर्गत लोक-कथाओं की सामाजिक-सांस्कृतिक उपयोगिता का मूल्यांकन किया जाता है। इस स्कूल के अध्येताओं के मतानुसार समाज के गठन और उसके जीवन में लोक-कथाओं का अपना एक विशेष उपयोग है, वे किसी सामाजिक-सांस्कृतिक उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। मेलीनास्की के शब्दों में : "उनमें विश्वासों की अभिव्यक्ति होती है। वे विश्वासों को एक निश्चित, स्थिर रूप देती हैं और समाज में उनका सम्मान बढ़ाने में सहायक होती हैं।" इस तरह वे समाज और संस्कृति के विभिन्न तत्वों में संबद्धता बनाए रखकर उसके गठन को स्थिरता और स्थायित्व देती हैं। लोक-कथा की उपयोगिताओं एवं कार्यों के विभिन्न रूपों का अध्ययन इस शाखा के अध्येताओं का मुख्य उद्देश्य है।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों से लोक-कथाओं का संग्रह और प्रकाशन हो रहा है। साहित्य के रूप में वे महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनमें मानव मस्तिष्क की रचनात्मक अभिव्यक्ति के एक विशिष्ट स्वरूप की झलक हमें मिलती है। मनोरंजन के साधन के रूप में भी उनका स्थान बहुत ऊंचा है। लेखन-पठन-हीन समाजों में संस्कृतीकरण तथा समाजीकरण के माध्यम के रूप में वे उल्लेखनीय हैं, क्योंकि सामाजिक रीति-नीति, आदर्शों तथा जीवन के मूल्यों की शिक्षा प्राथमिक समाजों में शिशु को लोक-कथाओं से ही मिलती है। इन सबसे परे उनमें हमें मानव मस्तिष्क की मूलभूत एकता के दर्शन होते हैं। सभ्यता के बाह्य आवरण के नीचे मानव मस्तिष्क की क्रियाओं की एकरूपता तथा समता संसार के विभिन्न भागों में प्राप्त प्रायः एक-सी लोक-कथाओं द्वारा स्पष्ट हो जाती है। ❑

—मई, 1953

आलोचना

नई कविता की भाषा

नामवर सिंह

नई कविता की भाषा को लेकर दिमाग में दो सवाल अकसर उठते हैं। क्या बात है कि जन-साधारण तक भाषा को पहुंचाने की कोशिश में अनेक कवि एकदम 'साधारण-सी' भाषा में गिरे जा रहे हैं ओर दूसरी ओर 'साधारणीकरण' की सच्ची लगन वाले ईमानदार कवियों की भाषा क्रमशः असाधारणता में सिमटती जा रही है। इन दो छोरों के बीच भाषा की अनेक तहें हैं। ये सभी भाषाएं अभीष्ट पाठक-समाज की सूझ-बूझ तक पहुंचने में आज थक-सी रही हैं। इन कवियों को अपने उद्देश्य में जितनी ही विफलता दिखाई पड़ती है, वे उतनी ही लगन से भाषा को मीठी, मुलायम, आसान, चलती-फिरती बनाने की कोशिश करते जा रहे हैं। नए-से-नए तराने लाए जा रहे हैं। संस्कृत शब्दों को भारी-भरकम समझकर हल्के-फुल्के उर्दू के शब्दों के लिए जगह की जा रही है। यही नहीं, बोलियों के बीच निश्चिंत घूमते-फिरते अनेक शब्दों के उठाए जाने के दृश्य दिखाई पड़ रहे हैं। दूसरे, ज्ञान-विज्ञान और ललित-कलाओं के शब्दों से भी कविता सजाई जा रही है। इस तरह शब्दकोश बढ़ा लेने के बाद शब्दों में नाद-चित्र भरने की भी कोशिश हो रही है क्योंकि उनसे अर्थ बताने का ही काम लेना काफी नहीं है। घिसी उपमाओं, प्रतीकों, विशेषणों आदि में नया चमत्कार भी चमकाया जा रहा है। यदि इतने से भी काम नहीं चला तो विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइपों से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कविता के मर जाने की फुसफुसाहट भी आ रही है। लेकिन यह फुसफुसाहट भी कवि-मंडली तक ही सीमित रह जाती है। पाठकों का बहुत बड़ा दायरा इस मौत की खबर से उतना ही अनजान है जितना उसके जन्म के शुभ समाचार से।

इन कविताओं के भाषा संबंधी ऊंचे प्रयोगों की बुलेटिन तो बहुत बिकती हैं, लेकिन असर कहीं नहीं दीखता। अपने रहनुमा आलोचकों की सलाह से और शायद इन बुलेटिनों की देखा-देखी भी बहुत-से जनवादी कवियों ने अपनी भाषा-संबंधी लापरवाही छोड़कर यही रास्ता अपनाया है। इस रास्ते इन्हें दाद भी मिलने लगी है। गरज कि इस समय हिंदी कविता की रचना और आलोचना का सामान्य वातावरण प्रायः चमत्कार-पसंद है। सिनेमा में जो हवा 'बाक्स-ऑफिस-हिट' की है, वही कविता-जगत में चौंकाने की कला (शॉक टेक्नीक) बनकर छा रही है। नया कवि अच्छी तरह देख रहा है कि पाठक और आलोचक को चौंकाकर ही अपनी ओर आकृष्ट किया जा सकता है, उसे रसमग्न करके नहीं। इधर आलोचक और पाठक भी समूची कविता पर राय न देकर उसके एकाध नए शब्द, नए प्रतीक या और नहीं तो नई धुन पर ही 'वाह-वाह' करते हैं।

आज की ज्यादातर कविताओं को सुखंडी मार गई है और जो रसीली लगती हैं, वे भी दरअसल हमारे ऐंद्रिय संवेदनों को ही झनझना कर रह जाती हैं, रस-ग्राहिणी चेतना को वे छू तक नहीं पातीं, इसीलिए विश्लेषण-शक्ति की कमी के कारण अनेक पाठक उनके पहले प्रभाव को ही 'रस' मान लेते हैं।

तय है कि कविता की भाषा पर इस तरह ऊपरी मुलम्मा करने से काम न चलेगा। ऊपरी साज-श्रृंगार ही नहीं, बल्कि ये तमाम इंजेक्शन और व्यायाम के तरीके भी कविता की भाषा को तंदुरुस्त और खूबसूरत न बना सकेंगे। उपचार के लिए ठीक निदान की जरूरत है और भाषा की इन तमाम कमजोरियों के लिए इन कविताओं के विचारों और भावों की जांच-पड़ताल जरूरी है।

जांच से पता चलता है कि गलती कहीं-न-कहीं विषय की 'पकड़' और 'धारणा' में ही है। इन सबके मूल में है वास्तविकता की अललटप्पू पकड़ और काल्पनिक धारणा। दूसरे शब्दों में यह मूर्तिमत्ता की कमी है। अमल में इस एक कमजोरी के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं।

भाषा की चित्रात्मकता को जरा साफ कर लेने की जरूरत है। कविता में जिसे 'शाब्दिक मूर्ति' या प्रतीक कहते हैं, कहानी, नाटक और उपन्यास में वही 'पात्र' है। कविता में 'मूर्ति' का मतलब उपमा, रूपक, प्रतीक आदि का आलंकारिक विधान भर नहीं है। ये सभी तो ऊपरी बातें हैं। इन सबके मूल में है असली जिंदगी की शाब्दिक इकाई। जहां उपमा, रूपक, प्रतीक वगैरह कुछ न हो, वहां भी मूर्तिमत्ता हो सकती है। जैसे तुलसी की ये पंक्तियां—

निज जननी के एकु कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।
सौंपसि मोहिं तुम्हहिं गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी।।
उतरु काह दैहउं तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई।।

यहां 'सौंपसि मोहिं तुम्हहिं गहि पानी' और 'उठि किन मोहि सिखावहु भाई' में दृश्य की मूर्तिमत्ता देखी जा सकती है। हाथ पकड़ कर सौंपना और मुमूर्षु आदमी से उठकर सिखाने की प्रार्थना करना मार्मिकता की पराकाष्ठा है। यहां 'गहि' और 'उठि' ये दो क्रियाएं समूची बात को मूर्तिमान कर देती हैं। मूर्तिमत्ता दरअसल क्रिया-व्यापार से, गतिमयता से आती है। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का विधान करने से ही मूर्तिमत्ता नहीं आती। दरअसल अप्रस्तुत का विधान प्रस्तुत को अच्छी तरह बिंबित करने के लिए ही किया जाता है। मुख के वर्णन के लिए चांद को बुलाने का अभिप्राय मुख को सचित्र रूप से दिखाना ही है। सचमुच प्रस्तुत को अच्छी तरह मूर्तिमान करने के लिए अप्रस्तुत की कल्पना का सहारा लेना

कवि की लाचारी है। आर्ष कविताओं में यह अप्रस्तुत विधान कम-से-कम मिलेगा। यदि मिलेगा भी, तो इस तरह कि अप्रस्तुत की सत्ता प्रस्तुत से अलग न प्रतीत होगी। जैसे 'सूली ऊपर सेज पिया की/केहि विधि मिलणो होय।' यहां 'सूली की सेज' को अप्रस्तुत मानने की ओर ध्यान ही नहीं जाता।

मुहावरे भी इसीलिए मुहावरे हैं कि उनमें मूर्तिमत्ता है। 'हाथ कंगन को आरसी क्या?', 'नौ मन तेल होगा न राधे नाचेगी', 'टेढ़ी खीर' आदि कहते-कहते रूप खड़ा कर देते हैं। काव्य में नाटकों को श्रेष्ठ मानने का कारण यही मूर्तिमत्ता है।

वैसे तो किसी वस्तु के सहारे अनेक मोहक चित्रों की लड़ी लगाना भी मूर्तिमत्ता ही है, लेकिन असली मूर्तिमत्ता वस्तु के यथार्थ का रूप खड़ा करने में है। इसीलिए छायावादी कल्पनाओं का काव्य सचित्र होते हुए भी सूर, तुलसी की यथार्थता के सामने छोटा पड़ता है। वस्तु किसकी तरह है, बताना आसान है, लेकिन वह क्या है—इसे बिना किसी दूसरी वस्तु के सहारे बता पाना बहुत मुश्किल है।

नई कविता में भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता के द्वारा इस मूर्तिमत्ता को समझा जा सकता है। तारीफ तो उसकी बहुतों ने की है लेकिन ज्यादातर उसके व्यंग्य-विनोद और भाषा में फेरी वाले के लहजे के लिए। लेकिन उसका महत्व और अधिक गहरे जाने पर मालूम होता है। कविता पढ़ते-पढ़ते हमारे सामने फेरी वाले का रूप खड़ा हो जाता है, फिर हम देखते हैं कि यह कोई मामूली फेरी वाला नहीं, बल्कि गीत बेचने वाला है। व्यंग्य की ओर ध्यान सबसे अंत में जाता है। बाजारू समाज के कवि और कविता की बेबसी अपनी पूरी मार्मिकता के साथ ध्वनित हो उठती है। भाषा में यह सादगी, यथातथ्यता और चित्रोपमता विषय की ठोस धारणा से ही आ सकी है। कविता आगे बढ़कर अभिनेयता की मूर्त्त विशेषता को भी प्रगट करती है।

लेकिन किसी वस्तु, घटना, बातचीत या कारनामे को हू-ब-हू उतार लेना मूर्तिमत्ता नहीं है। बात और साफ करने के लिए दो कविताएं ली जा सकती हैं। एक है सैयद मुत्तलबी फरीदाबादी की—

गाटर लेगा कैसे भाई ऐसे भाई हैया-हैया
बोझ उठा लो बोझ उठाया महलसरा का हां-हां भाई
*महलसरा का हां-हां भाई बोझ उठा लो बोझ उठाया....*वगैरह

और दूसरी है धर्मवीर भारती की 'बातचीत का एक टुकड़ा', जिसमें इसी तरह प्रश्नोत्तर है, लेकिन एकतरफा। थोड़ा विचार करने पर मजदूरों के इस गीत में 'बातचीत का एक टुकड़ा' से चित्रात्मकता अधिक मिलेगी। फिर भी दोनों कविताओं में बातचीत को ज्यों का त्यों उतारने की कोशिश कोरे तथ्यवाद में डूबती है। आचार्य शुक्ल जिसे 'व्यापार-शोधन' कहते थे और आज का आलोचक 'चित्र-चयन' कहता है, उसकी इनमें कमी है। मूर्तिमत्ता वास्तविकता में से प्रतिनिधि और सबसे अधिक व्यंजक चित्र के चयन में है।

इसी बात को भूलने के कारण नई कविता में 'स्मृति के टुकड़ों' को ज्यों का त्यों बिखरे रूप में बटोरने की कोशिशें होती हैं। कभी-कभी वाक्य की इस अव्यवस्था को सामाजिक अव्यवस्था का प्रतिबिंब कह कर उचित ठहराया जाता है। लेकिन सच्चाई यह है कि सामाजिक अव्यवस्था को दिमागी उलझन की ढाल नहीं बनाया जा सकता। उलझी बात को समझने और समझाने के लिए हमेशा सुलझी मति की जरुरत पड़ती है और सुलझी मति प्राप्त करने के लिए किसी अच्छी सामाजिक व्यवस्था का इंतजार नहीं किया जाता। उलझी समाज-व्यवस्था में ही कबीर, सूर, तुलसी जैसे महाकवि तथा मार्क्स, डार्विन जैसे सुलझे विचारक हुए हैं। पागलपन का चित्रण पागल के प्रलाप का हू-ब-हू रेकार्ड तैयार करने से नहीं, बल्कि चुने हुए दो-एक चित्रों के द्वारा ही अच्छी तरह हो सकता है। इसलिए उलझी और टूटी हुई वाक्य-श्रृंखला आज की कविता के लिए कोई रियायती अधिकार नहीं है। दरअसल सांगोपांगता या पूर्णता मूर्तिमत्ता का प्रधान गुण है। खंड-चित्रण और विश्रृंखलता कवि की गलत रुझान और उलझी जेहनियत का नतीजा है।

इसी तरह कविता की बौद्धिकता और नीरसता की भी सारी जिम्मेदारी आज की बाजारू जिंदगी पर डाली जाती है। यह आज की जिंदगी का एक हिस्सा है। यदि ऐसी जिंदगी की नीरस ऊब को अज्ञेय 'रोज' कहानी के जरिए बड़े ही सरस ढंग से दिखा सकते हैं तो कोई वजह नहीं कि कविता में वे ख़्वाहम-ख़्वाह बौद्धिक और नीरस भाषा की अनिवार्यता पर जोर दें या उसे इस्तेमाल करने के लिए लाचार हों। कविता की भाषा समाज के किसी एक या अधिक हिस्से की नीरसता से नीरस नहीं होती, बल्कि समाज की उस नीरसता के प्रति कवि की ख्याली और सैद्धांतिक धारणा से नीरस होती है।

भाषा की यह नीरसता इधर-उधर मीठे-मीठे शब्दों के थोपने या रुमानी चित्रों के खपाने से नहीं जाती, बल्कि समाज के साथ लेखक के अगाध प्रेम और गहरी मानवता के दूर होती है। कवि का हृदय ही भाषा को रस से सींच सकता है, दूसरों के शब्द या अधनंगी जांघों की तस्वीर नहीं। भाषा में माधुर्य या उदात्तता शब्दों के संघात से नहीं, बल्कि कवि के भाव के साथ पाठक-समाज के घनिष्ठ संबंध से आती है—ऐसे पाठक समाज के संबंध से, जिसका अपने युग की ऐतिहासिक स्थिति से घनिष्ठ संबंध हो।

इसके लिए मध्यवर्ती कवि के व्यक्तित्व का 'साधारणीकरण' जरूरी है। भाषा के 'साधारणीकरण' की चर्चा तो आज का कवि बहुत करता है, लेकिन अपने व्यक्तित्व के 'साधारणीकरण' का नाम तक नहीं लेना चाहता। सहज भाषा लिखने के लिए अपने जीवन को भी सहज बनाना होता है। सहज मन ही सहज भाषा बोल सकता है। जिन्हें समझाने के लिए भाषा लिखनी है, उन्हीं की भाषा में लिखना चाहिए। लेकिन उनकी भाषा में लिखने के लिए उनकी भाषा बोलना जरूरी है और उनकी भाषा बोलने के लिए उनका होना पड़ेगा, उनसे बाहरी संबंध ही नहीं, भीतरी संबंध भी स्थापित करना होगा। 'साधारणीकरण' अपने भावों के क्रमशः अंदर—और अंदर घुसते जाने से नहीं, बल्कि अपने से क्रमशः बाहर—और बाहर आने से ही संभव है। संस्कृत काव्य शास्त्र में 'साधारणीकरण' व्यक्ति का होना कहा गया है, अभिव्यक्ति का नहीं। सारी गड़बड़ी आज की कविता में इसलिए है कि कवि 'अपने' भावों का साधारणीकरण चाहता है—उन 'अपने भावों' का जो बिल्कुल अपने हैं, जो जनसाधारण के भावों से विशिष्ट और भिन्न हैं। जानना चाहिए कि उन्हीं भावों का 'साधारणीकरण' संभव है, जो मूलतः जनसाधारण के हैं और उस समाज का अंग होने के कारण कवि के 'अपने' हैं। यही न समझने के कारण ये लंबे-लंबे वाक्य, अधूरे वाक्य, बिना क्रिया के लुंज-पुंज की तरह लुढ़कते वाक्य, कोष्ठक, विराम चिह्न आदि हैं। दरअसल भाषा

कविता

हो रहा एक अनुभव नया

जानकी वल्लभ शास्त्री

लाज अनजान को जानकर लग रही!
सप्त स्वर साधकर
तान लय बांधकर
आज तक प्राण के गान गाता रहा,
घोर बरसात में
चांदनी रात में
मैं विजन में जिसे था बुलाता रहा,
राह वह भूलकर
सिंधु के कूल पर
आज औचक मिला, तिलमिला मन गया,
वह सरस दृष्टि ही
वृष्टि की सृष्टि थी!
नेह के मेह से हो गया नभ नया!
प्रकृति जड़तामयी
चेतना से नई–
त्याग तंद्रा, निरख स्वप्न, ज्यों जग रही,
लाज अनजान को जानकर लग रही।
मैं तुम्हें मानता,
जन्म से जानता,
दरस की आस से सांस ढोता रहा,
इस घड़ी के लिए,
हठ बड़ी के लिए–
खर्व-सुख-पर्व–दिन, मास खोता रहा,
दुःख-सुख मिल गए,
तुम मुझे मिल गए,
मोह यह? नींद यह? चित्त-विक्षेप या?
पूर्ण है? शून्य है?
पाप है? पुण्य है?
क्या कहूं, हो रहा एक अनुभव नया,
कल्पना से परे,
जल्पना से परे,
हार या जीत संगीत में पग रही।
लाज अनजान को जानकर लग रही।। ❑

–जून, 1953

विचारों की उलझन से मुश्किल होती है, जिसके लिए गंभीर होना कठिन होता है, क्लिष्ट हो जाना सरल होता है। नए-नए शब्दों के गढ़ने और दूर से ला जुटाने का भी यही रहस्य है। कविता शब्दों की संख्या से धनी नहीं होती, इस्तेमाल में आने वाले शब्दों के 'सार्वजनिक मूल्य' से धनी होती है। अगर शब्दों से ही कविता धनी हो, तो 'शब्दकोश' सबसे धनी काव्य-ग्रंथ होगा।

पुराने घिसे शब्दों में नया अर्थ भरने की कोशिश भी पेड़ काटकर पल्लव सींचने की तरह है। शब्दों में अर्थ जीवन भरता है, जीवन ही वह अर्थ-सत्ता है जिससे शब्द हरे हैं। सुबह और शाम की किरनें बरसे हुए खाली बादल में महज रंगसाजी कर सकती हैं, उन्हें जीवन-दान तो ताल-तलैया, नदी-नद और सागर वाली धरती ही दे सकती है। यही दशा शब्दों की है। शब्द भावों के आवेग से चालित होकर नया अर्थ ध्वनित करते हैं, पहले से ही उनमें नया चमत्कार भरकर उन्हें भावों की धारा में नहीं झोंका जाता।

छंद भी भाषा की ही भंगी है और कविता में यह वाक्य-विन्यास का ही अंग है। विशेष गति में आते ही भाषा छंदमयी हो जाती है। इसीलिए एक भाषा का छंद दूसरी भाषा की जमीन पर उगने से इंकार करता है और जबर्दस्ती उगाने की कोशिश में उस जमीन को भी खराब करता है। लेकिन इधर अंग्रेजी ढंग के स्वर-पात देकर छंद लिखने में भी नए कवियों ने लग्गा लगाया है। संभव है, खड़ी बोली में स्वर-पात की संभावनाएं हों, लेकिन इन स्वर-पातों ने अब तक अजनबी तमाशा ही दिखाया है। बहुतों ने तो अपनी गति-मति संबंधी कमजोरियों को भी छंद की विशेषता कहकर पेश किया है और आतंक से नए आलोचकों ने सिर भी हिलाया है। मुक्त छंदों के चलन ने कविता की भाषा को बिगाड़ने में काफी काम किया है। जन-गीत लिखने की शेखी में हल-जुते बैल के हांकने की किसानी भाषा को भी 'आं-आं बां-बां तां-तां' के साथ कविताया गया है। यह कविता के साथ मजाक करना है।

अंत में आज से कई वर्ष पहले आचार्य शुक्ल की कही हुई बात को बड़े खेद के साथ फिर दोहराना पड़ता है कि खड़ी बोली की कविता उर्दू में जितनी मंजी, उतनी हिंदी में नहीं। छायावाद के बाद बच्चन, नरेंद्र और सुभद्राकुमारी चौहान ने इस दिशा में कुछ आशा जरूर बंधाई, लेकिन नए युग के मुक्त-छंद लिखने वाले प्रयोगवीरों ने अधूरे वाक्यों के ढेले से सारी आशा धूल में मिला दी। आज भी ये कवि उर्दू की ओर हसरत-भरी निगाह से देखते हैं। लेकिन उससे केवल शब्द लेते हैं, वाक्यों के मुहावरे को मांजने का ढंग नहीं।

यह सारा काम तभी होगा जब वेलेंस्की के शब्दों में कवि माता के आदर्श पर गर्भ की तरह कविता को धारण करेगा, झेलेगा और वैसी ही मानसिक वेदना के साथ उसे उचित समय पर जनेगा। सवाल भाषा को आसान या मुश्किल, कोमल या कठोर बनाने का नहीं, उसे सच और वास्तविक बनाने का है–शैलियां तो उसकी बहुत होंगी, लेकिन होगी वह बहुत कुछ ऐसी–

सुगम-अगम मृदु-मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे।
जिमि गुह मुकुर मुकरु निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी।। ❑

–जून, 1953

संस्मरण

प्रेमचंद : घर में

अमृत राय

प्रेमचंद को कभी ऐसा घर मयस्सर न हुआ जिसमें सबसे अलग उनके लिखने का कोई शांत कमरा हो। जहां से कुछ फूल-पत्ती, कुछ हरियाली नजर आती हो और जहां कोई उनके काम में खलल न डाले।

कैसा था यह आदमी देखने-सुनने में? देह दुबली, हड्डियां बहुत चौड़ी—इन हड्डियों पर कभी बहुत काफी मांस था, खासा भरा हुआ, चौड़ा-चकला, रजपूती शरीर था। वह जिसकी एक फोटो मिलती है, मय साफे के और घनी-घनी लंबी मूंछों के। यह देह सदा नहीं रही, चौदह साल की लंबी पेचिश ने उसे चाट डाला। हड्डियों को नहीं चाट सकी, इसलिए हड्डियों का वह कंकाल अंत तक साथ रहा और गवाही देता रहा उस इमारत की, जो किसी जमाने में उस कंकाल पर खड़ी थी, जिसने कभी बड़े बांकपन के साथ बहुत-से थपेड़े झेले थे, बीमारी के, गरीबी के फिक्रों और परेशानियों के, जो सारी जिंदगी उन्हीं थपेड़ो को झेलते-झेलते घुल गई, ढल गई, टूट गई!

दुबली देह, असाधारण गोरा, तपे सोने का-सा रंग, पीली आंखें, चौड़ी झुर्रियोंदार पेशानी, जिस पर समय ने हल चलाया है, सुंदर सौम्य मुखाकृति, थोड़े लंबे बाल अकसर हवा में उड़ते हुए, लंबाई औसत, पहनावा गाढ़े का कुर्ता, मिल की धोती, बंगाली बाबू जैसी नफासत से पहनी हुई नहीं, कुछ उटंगे ढंग से पहनी हुई, जो घुटनों से सात-आठ इंच नीचे तक ही पहुंचती थी और पैरों में बाकायदा बंददार शू, खासा देहकान, पुरानी चाल का आदमी था वह। कपड़े-लत्ते के मामले में नई हवा उसे छूकर भी नहीं गई थी। मुझे नहीं याद है कि मैंनें उनके पैरों में कभी चप्पल या पंप जूता देखा हो। सदा वही फीते-वीते से लैस शू जिसे वह इंतहाई सादगी के साथ, निहायत बेलौस तरीके से धोती-कुर्ते पर पहनते थे। यह बात सुनकर वह शायद ठठाकर बड़ी देर तक हंसते कि कपड़ा तन ढांकने के लिए ही नहीं, अच्छा दीखने के लिए भी पहना जाता है।

और यही सादगी प्रेमचंद के जीवन की कुंजी है। रहन-सहन, तौर-तरीका, विचार-व्यवहार, हंसना-बोलना—सबमें यही सादगी है। प्रेमचंद ने खुद अपनी जिंदगी को एक जगह पर सपाट समतल मैदान कहा है और किसी विषाद के स्वर में नहीं कहा है कि जैसे उन्हें इस बात का अफसोस हो कि उनकी जिंदगी सपाट समतल मैदान न होकर और कुछ क्यों नहीं हुई। नहीं, बिल्कुल नहीं, वहां भी उनकी बात का,अंदाज यही है कि इस 'लैंडस्केप' का भी अपना विराट सौंदर्य है जो कि लहलहाती हुई खेती का सौंदर्य है। मैं संतुष्ट हूं।

और सभी बातों की तरह प्रेमचंद के काम करने के तरीके में भी वही सादगी है। अपने लेखन-कार्य के लिए उन्हें कभी किसी लवाज़मे की ज़रूरत नहीं पड़ी। न खास तरह का कमरा, न खास तरह का परिवेश, न खास तरह का कागज, न खास तरह का कलम, न खास तरह की कोई सुख-सुविधा, न किसी खास 'मूड' का इंतजार और न लिखने का कोई खास समय, जो हो सृजन का समय है। बहुत से, बल्कि अधिकांश लेखक होते हैं जो एक खास वातावरण में, एक खास परिवेश में ही साहित्य-सृष्टि कर सकते हैं, जो अपने कमरे को छोड़कर और कहीं बैठकर लिख ही नहीं सकते, जो कलम से ही लिख सकते हैं, ब्ल्यू ब्लैक या रायल ब्ल्यू या हरी, किसी एक खास रंग की स्याही से ही लिख सकते हैं, बादामी या खुरदुरा कागज देखते ही जिनकी रूह फना हो जाती है, जो चिकने-चिकने 'लिनेन फेस' के कागज पर ही लिख सकते हैं, जिनके लिखने का कोई एक खास समय है, चाहे बहुत सुबह, चाहे रात बहुत भीग जाने पर, निशीथ वेला में और रहा 'मूड', उसके तो सौ में निन्यानवे लोग गुलाम हैं, इसलिए उसका तो जिक्र ही बेकार है। प्रेमचंद के संग ऐसी कोई बात नहीं थी। वह फर्श पर बैठकर, डेस्क सामने रखकर लिखते थे। फाउंटेनपेन से उन्होंने कुछ दस्तखत किये हों तो किए हों, वर्ना वह सदा होल्डर से लिखते थे। सादा फुलस्केप कागज या स्कूल वाली सादी कापियां, किसी से भी उनका काम चल जाता था। सवेरे से लेकर दस ग्यारह बजे रात तक हर समय उनका 'मूड' रहता था और हर समय वह लिखते थे, तमाम खललों के बीच, घर के और मिलने-जुलने वालों के। मगर इन सबसे उनके काम में कोई विघ्न न पड़ता था। मिलने के लिए कोई सज्जन आए तो कलम उठाकर रख दिया गया और फिर उनसे खूब दिल खोलकर, जी लगाकर बातें हो रही हैं, कहकहे लगाए जा रहे हैं, और उधर उनकी पीठ फिरी नहीं कि कलम फिर हाथ में आ गया और चल निकला जैसे कोई बात ही न हुई, न कोई आया न गया, न विचारों का सूत्र टूटा न भावों का प्रवाह खंडित हुआ।

प्रेमचंद को कभी ऐसा घर मयस्सर न हुआ जिसमें सबसे अलग उनके लिखने का कोई एक शांत कमरा हो जहां से कुछ फूल-पत्ती, कुछ हरियाली नज़र आती हो और जहां कोई उनके काम में खलल न डाले। लिहाजा दूसरे सब कमरों जैसा ही और सबसे लगा-लिपटा एक कमरा उनका भी होता था जिसमें घर के शोर-शराबे से,

बच्चों की धमा-चौकड़ी, उठा-पटक से उन्हें कतई राहत नहीं मिल पाती थी। पता नहीं, बाद में उनको उस चीज की तलाश भी रह गई थी या नहीं, शायद नहीं। मगर उस सबसे राहत मिले या न मिले, वे थे कि अबाध रूप से अपना काम करते चले जाते थे, वैसे ही जैसे नदी अपने प्रवाह में न जाने कितने रोड़ों-पत्थरों को बहा ले जाती है। मुझे याद है, हम लोग खास उनके कमरे में उनके सर पर सवार होकर ऊधम करते थे। मगर, मुझे नहीं याद कि उन्होंने एक मर्तबा भी हम लोगों को कमरे से बाहर भगाया हो। जिंदगी की व्यस्तताओं और कठोरताओं में काम करने की यह आदत उनके अंदर जन्मजात थी या खुद जिंदगी ने मार-मारकर सिखा दी थी, कहना मुश्किल है। शायद दोनों ही बातें रही हों, मगर इसमें कोई शक नहीं कि इसमें उनकी जिंदगी का, जिंदगी की हालतों का भी बहुत बड़ा हाथ था। नखरे (और यह लफ्ज मैं किसी बुरे मानी में इस्तेमाल नहीं कर रहा हूं) वहीं चल सकते हैं, जहां कोई उनको उठाए और कोई उनको उठा तभी सकता है जब वह इस हालत में हो कि उठा सके। जाहिर है कि प्रेमचंद कभी इस हालत में नहीं रहे, उनकी जिंदगी की जमीन सपाट और समतल जरूर थी मगर बलुई थी, कंकरीली थी, उसमें झाड़-झंखाड़ों की कमी नहीं थी। अगर कहीं प्रेमचंद इन नाजबरदारियों पर आ जाते तो शायद एक पंक्ति भी न लिख पाते। एक-एक पंक्ति लिखने के लिए, रस की एक-एक पतली धार बहाने के लिए उन्हें फरहाद की तरह मुसीबतों के पहाड़ काटने पड़े हैं, और इसी में उस आदमी की सच्ची महानता है। यह गौर करने की बात है कि प्रेमचंद अपने आपको कलम का मजदूर कहते थे और कहते थे, जिस तरह किसान हाथ में फावड़ा और कुदाल पकड़ता है उसी तरह मैं कलम पकड़ता हूं। कहने में बात अजीब जरूर मालूम होती है मगर है सच है कि प्रेमचंद की ये दर्जनों अमर कलाकृतियां लिखी उसी तरह गई हैं, उन्हीं छोटी-बड़ी दिक्कतों और परेशानियों के बीच और उसी तरह दांत भींचकर जिस तरह कोई गरीब मुंशी अपने सर से कागजात के ढूह को अलग करता है, फर्क बस इतना है कि उस मुंशी के संग प्रेरक शक्ति है रोजी की चिंता और मुंशी प्रेमचंद के संग प्रेरक शक्ति है सृष्टि की, अपने सामाजिक अनुभव को कला का रूप देने की अदम्य चाह जो अपने लिए राह बना ही लेती है। उस मुंशी के कलम से निकलते हैं इस्तगासे, मजिस्ट्रेट साहब के फैसले, कुर्की बेदखली के दस्तावेज और मुंशी प्रेमचंद के कलम से निकलते हैं 'गोदान', 'गबन', 'कफन', 'होरी', 'सूरदास', 'धनिया', 'सुमन' आदि।

बीमारी के दौरान प्रेमचंद, साथ में शिवरानी देवी

प्रेमचंद जल्दी सोने और जल्दी उठने के आदी थे। सुबह उठकर वह घूमने जाया करते थे। दिन भर बैठे-बैठे काम करने वाले के लिए इतनी कसरत जरूरी है और खासकर ऐसे आदमी के लिए जिसका मेदा हमेशा के लिए खराब हो गया हो, यही सोचकर उन्होंने घूमना शुरू किया था। घूमकर लौटते और आकर काम पर बैठ जाते। थोड़ी देर बाद नाश्ता तैयार होता तो उन्हें बुलाया जाता। नाश्ता करके वह काम पर बैठते तो एक तरह से पूरे दिन के लिए बैठ जाते। बारह बजे तक इधर लिखते। फिर खाना खाकर थोड़ा आराम करते, सोते नहीं, लेटते, दो-तीन घंटा कुछ पढ़ते और फिर शाम होने तक लिखते रहते। अकसर शाम को भी उनका कहीं जाने को जी न चाहता और वह चाहते कि लिखने का सिलसिला जारी रखें, मगर उन्हें ठेल-ठाल कर बाहर भगाया जाता। जहां भी जाते, जल्दी ही लौट आते और लिखने बैठ जाते। फिर दस बजे रात तक लिखते रहते और कई बार आवाज देने पर खाना खाने के लिए उठते और शायद हर रोज मेरी मां का पहला उलाहना यही होता—"तुम्हें खाने के लिए दस बार बुलाया जाता है तो आते हो। पेट का रोना रोते हो और बारह बजे रात को खाना खाना चाहते हो।" और प्रेमचंद डांट खाकर हंस देते, बस हंस देते, कभी प्रतिवाद न करते। बड़े समझदार आदमी थे। यह उनकी 'चाइनीज़ विज़डम' की एक मिसाल है।

प्रेमचंद की हंसी बहुत मशहूर है। इतनी खुली हुई, बच्चों की-सी भोली, गले में से नहीं (जैसा कि अकसर तथाकथित सभ्य समाज में होता है) बल्कि पेट में से उठकर आती हुई हंसी, मैंने फिर कभी नहीं सुनी। उनका कहकहा जिसने भी सुना होगा, कभी भूल नहीं सकेगा। बात बहुत पुरानी हो गई, मगर आज भी जब मैं उनकी हंसी को याद करता हूं तो लाजिमी तौर पर मेरे सामने झरने की तसवीर आती है और झरने की वह जगह जहां पानी गिरता है और सूरज जैसा सफेद कमल बन जाता है।

ऐसी हंसी वह हंस सकता है जो अंदर-बाहर से एक-सा सादा, एक-सा निश्छल, एक-सा निष्कलुष हो, जिसने कभी सपने में भी किसी का बुरा न चाहा हो, जिसने सदा सबकी भलाई की हो, जिसका अंतःकरण समुद्र की तरह पवित्र और शांत हो, जिसने जिंदगी में सुखी रहने का राज जान लिया हो।

प्रेमचंद का साहित्यिक जीवन उनके साहित्य में है। प्रेमचंद का घर का जीवन किसी मानी में साहित्यिक का जीवन नहीं है क्योंकि वह किसी भी मध्यम वर्गीय गृहस्थ के जीवन से किसी भी मतलब में भिन्न नहीं है। वह एक अच्छे पड़ोसी, अत्यंत वत्सल पिता और पत्नी को अधिक-से-अधिक प्रेम और आदर देने वाले पति का जीवन है, जिसके चले जाने पर जिंदगियां हमेशा के लिए सूनी हो जाया करती हैं और जिनकी याद सपने में भी आती है तो आदमी आंसुओं से नहाया हुआ उठता है। ❑

—अगस्त, 1953

कविता

विश्व-राज्य

मैथिलीशरण गुप्त

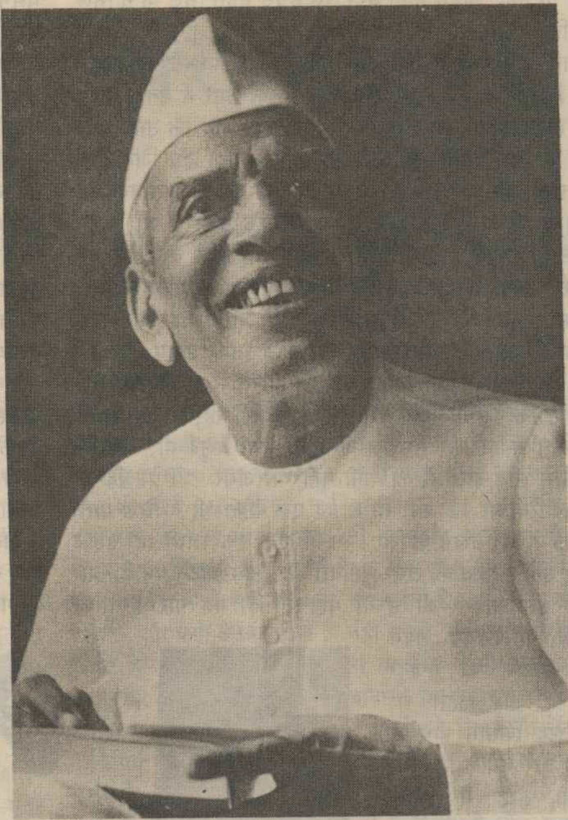

जगती, तेरे जात सभी हम
जननी, तेरी जय है।
विश्व-राज्य के लोकतंत्र में
किससे किसको भय है।

विविध वर्ण मैत्री के द्वारा
मुखरित मानस चित्र हमारा
पाकर प्रेम-धर्म की धारा

मानव-सृष्टि सदय है।
जननी, तेरी जय है।

हैं व्यक्तित्व स्वतंत्र हमारे
पर समष्टिमय मंत्र हमारे
हुए हृदययुत यंत्र हमारे

साधित सर्वोदय है।
जननी, तेरी जय है।

जो थे देश प्रदेश मात्र हैं
तेरे सभी अभिन्न गात्र हैं
विश्व सभा के सभी पात्र हैं

सबके लिए समय है।
जननी, तेरी जय है।

गई विवशता की यह व्रीड़ा
रोषमयी शोषण की पीड़ा
श्रम को मिली कुहुकिनी क्रीड़ा

नित्य नया अभिनय है।
जननी, तेरी जय है।

पाते हैं अब सब आभिक्षा
किसे चाहिए भौतिक भिक्षा?
सबके लिए सुलभ है शिक्षा

दैन्य विहीन विनय है।
जननी, तेरी जय है। □

—जून, 1953

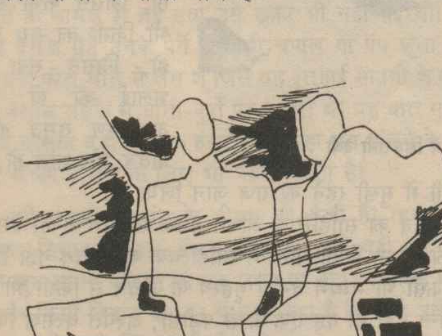

रेखांकन : आलोक उनियाल

अमर ज्योति

हंसकुमार तिवारी

इस समाधि पर मत रक्खो आंसू मुक्ता की माला,
झपकी लेती यहां जिंदगी, सुस्ताती है ज्वाला!
आंसू? ये तो महज भिगो सकते स्नेही का आंचल
धो सकते हैं किसी कमल-नैनी के दृग का काजल
पिघल गई यह तो जहरीली चिनगारी लाचारी
बरस पड़ा छू सर्द आह बन पानी प्रलयी बादल
इस रिमझिम में सिसक रो रही सपनों की मधुबाला,
ज्वाला के इस यज्ञ-कुंड को क्यों पानी से पाला!
किसने रक्खी रजत चांदनी की स्नेहिल सित चादर
कफन मौत का घूंघट, जीवन का यह कैसा आदर?
जला जेठ माथे, अंगारों के पथ विहंस बढ़ा जो
अगिन अग्नि वाणों की शय्या पर जो रहा अकातर
सदा तरुण जो अरुण होंठ से विपदा के पी हाला,
आज चांद मुख का उस पर क्यों न्यौछावर मधु प्याला!
यह आईं दो सर्द उसासें किस छाती से छूटीं
किसके आयु-गगन की ये दो तरल तारिका टूटीं
खेला किया खेल तिनकों का जो उनचास पवन से
उसे भेंट कुछ अश्रु धुली आहों की, खूब! अनूठी!
अगम अभावों की गहराई का जो यह युग-थाला,
वहीं जलन रस की मदिरा पी यह जीवन मतवाला!
बड़ी कृपा तुम इसे सजाओ मत सुरभित फूलों से
यह जीवन का सैनिक इसको नेह रहा शूलों से
फूल और चंदन से होती स्वर्ग सुरों की अर्चा
यह धरती का पूत, लिपट सो गया तनिक धूलों से
बड़े दिनों में तो मुश्किल से मौका एक निकाला,
मां की गोद मिली, उसके दामन का मिला दुशाला!
अभी लगी है आंख चूर है थककर अथक सिपाही
टुक रुक सांस लिए लेती है धमनी क्रांति प्रवाही
हत हो धड़कन देख रही कोई नवयुग का सपना
पौ फटते ही उठकर आगे चल देगा यह राही
कनक किरण का रथ होगा पथ होगा नया निराला,
जय कुंकुम-सी दमक उठेगी माथे जी की ज्वाला!
कहीं पास, चाहो तो दीया लाकर एक जला दो
अपने जले हुए जीवन का उसमें नेह गला दो
जीवन की लौ रहे जुगाती उसकी प्रेमल बाती
लहर लहर को जीने का यह मीठा जहर पिला दो
धीरे धीरे जल जाए निशि का घूंघट घन काला,
प्रात पदुम मुख खोले निखरे बिखरे अरुण उजाला! ❑

—जून, 1953

भोर हुआ, धूप चढ़ी.....

'नीरज'

भोर हुआ,
धूप चढ़ी,
शोर हुआ,
सांझ बढ़ी,
यूं ही यूं ही एक दिन निकल गया!
प्राण तपे,
प्यास जगी,
मेघ घिरे,
झड़ी लगी,
यूं ही यूं ही हिय हिमाद्रि गल गया!
स्नेह चुका,
सांस थकी,
तिमिर झुका,
ज्योति बिकी,
यूं ही यूं ही एक दीप जल गया!
रूप हंसा,
रास रचा,
मिलन सजा,
विरह बचा,
यूं ही यूं ही एक स्वप्न छल गया!
जन्म रोया,
मृत्यु हंसी,
आयु लुटी,
धूल बसी,
यूं ही यूं ही बस मनुष्य ढल गया! ❑

—अक्तूबर, 1953

पुस्तक-चर्चा

नई अभिव्यक्ति का स्वर

देवेंद्र सत्यार्थी

साहित्यकारों के सहकारी प्रकाशन के रूप में 'नई कविता' के अंक वर्ष में दो बार प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई है। हिंदी में नए कवि जिस रफ्तार से आगे आ रहे हैं, नई कविता की रूपरेखा जिस तेजी से पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रही है, उसे देखते हुए इस प्रकार के संकलन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी।

नई कविता के संबंध में सबसे बड़ी शिकायत यही सुनने में आती है कि यह चौंकाने वाली होती है। कुछ लोग नई कविता में छंद और लय के अभाव की खामी निकालते हैं और यहां तक कह डालते हैं कि 'साहब, यह तो निरा गद्य है, खाली पंक्तियां तोड़कर रख दी गई हैं।' एक बार एक पाठक तो यहां तक कहते सुने गए, 'अजी ये नए कवि गद्य से ही आए हैं और गद्य में ही लौट जाएंगे।' इस किस्म की फब्तियों से यह पता अवश्य चलता है कि नई कविता पुरानी कविता से अलग होकर सामने आ रही है और पुरानी कविता के पाठक के लिए अभी तक नई कविता से समझौता कर सकना सहज नहीं हो पाया है।

नई कविता के प्रस्तुत अंक में 'नई कविता' शीर्षक के आमुख में सुमित्रानंदन पंत लिखते हैं: 'नई कविता ने मानव-भावना को छायावादी सौंदर्य के धड़कते हुए पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन-समुद्र की उत्ताल लहरों में पेंग भरने को छोड़ दिया है... नई कविता विश्व वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छंदों के संकेतों की तीव्र-मंद गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।' पंतजी ने जोर देकर कहा है कि नई कविता शैली तथा रूप विधान में जहां 'अधिक मौलिक, वैचित्र्यपूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है, वहां अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानववादी बन गई है।' अंत में पंतजी ने सिफारिश की है: 'नई कविता को प्रेरणा स्रोत क्या है, वह किस लक्ष्य की ओर बढ़ रही है, वह युग की रागात्मिका प्रवृत्ति में किस प्रकार का संतुलन स्थापित करना चाहती है, हिंदी कविता को वह वस्तुविषय तथा शैली की दृष्टि से कौन-सी नवीन दिशा प्रदान कर रही है, युग चेतना को वह किन नए मोड़ों तथा पगडंडियों के आगे ले जा रही है—इस सबका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे तरुण कलाकारों की कृतियों का अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक है—हमारे नवीन कलाकार जो आज अधिक संवेदनशील, ग्रहणशील, युग-प्रबुद्ध तथा काव्य-चेतन हैं।'

'नई कविता' के संपादक जगदीश गुप्त ने 'अभिज्ञान शाकुंतल' के हवाले से इस बात पर जोर दिया है कि साहित्य और कला के क्षेत्र में किया हुआ कोई 'प्रयोग' प्रयोक्ता के शिक्षित तथा आत्मचेता होने पर भी पूर्ण परितोष के लिए एक विशिष्ट भावक-वर्ग की अपेक्षा रखता है।

नई कविता पांच स्तंभों में विभाजित की गई है: 1. परिचय, 2. संचयन, 3. सव्याख्या, 4. अनुवाद, 5. किंचित कविता। इस अंक के 'परिचय' में विजयदेव नारायण साही ने श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की कविता की विवेचना करते हुए उनकी सात कविताएं प्रस्तुत की हैं। 'संचयन' में चौंतीस कवियों की छप्पन रचनाएं दी गई हैं। 'सव्याख्या' में गिरिजाकुमार माथुर ने अपनी दो कविताएं 'देह की आवाज' और 'तेतीसवीं वर्षगांठ' पाठकों के सम्मुख रखी हैं। 'अनुवाद' में मराठी कवि बी.एस. मर्ढेकर, बंगला कवि जीवनानंद दास और पंजाबी कवयित्री अमृता प्रीतम की एक-एक कविता का हिंदी रूपांतर प्रस्तुत किया गया है। 'किंचित कविता' में पांच कवियों की छः रचनाएं हैं।

'अनुवाद' स्तंभ बहुत सीमित है। हिंदी कविता अनेक भारतीय भाषाओं की कविता को सामने रखकर ही आगे बढ़ सकती है। बल्कि हमारे विचार में तो 'अनुवाद' स्तंभ की परिधि में विदेशी कविता को भी स्थान मिलना चाहिए।

अंतिम स्तंभ में हास्य और व्यंग्य को स्थान दिया गया है। पर इसके लिए 'किंचित कविता' शीर्षक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

'नई कविता' में जिन कवियों की रचनाएं प्रस्तुत की गई हैं, उनमें से कुछ नाम हैं: अज्ञेय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, अजित कुमार, नामवर सिंह, शंभूनाथ सिंह, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, शमशेर बहादुर सिंह, विद्यावती कोकिल, हंसकुमार तिवारी, प्रभाकर माचवे, भवानीप्रसाद मिश्र, मनोहर श्याम जोशी इत्यादि।

नई कविता : अंक एक, उन्नीस सौ चौवन; संपादक : डा. जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी; कविता प्रकाशन, मोती महल, दारागंज, इलाहाबाद; वितरक तथा व्यवस्थापक : राजकमल प्रकाशन, 1 फैज बाज़ार, दिल्ली; मूल्यः दो रुपये।

नई कविता में प्रकाशित कविताओं के कुछ उद्धरण यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं:

कांगड़े की छोरियां
कुछ भोरियां सब गोरियां
लाला जी, जेवर बनवा दो
खाली करो तिजोरियां
कांगड़े की छोरियां!

—अज्ञेय: 'कांगड़े की छोरियां'

हरित फौव्वारों सरीखे धान
हाशिए सी विंध्य मालाएं
नम्र कंधों पर झुकीं तुम प्राण,
सप्तपर्णी केश फैलाए
जोत का जल पोंछती सी छांह
छूप में रह-रह उभर आए
स्वप्न के चिथड़े नयन-तल आह
इस तरह क्या पोंछते जाएं?

—नामवर सिंह

मेरी वाणी
गैरिक वसना
भूल गई गोरे अंगों को
फूलों के वसनों में कसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी

—धर्मवीर भारती

टेर रहीं प्रिया तुम कहां?
किसकी यह छांह और किसके ये गीत रे?
बरगद की छांह और चैता के गीत रे!
सिहर रहा जिया, तुम कहां?

—शंभूनाथ सिंह

बढ़ाओ हाथ—उट्ठो—मत करो देरी,
मगर यह क्या—तुम्हारे भर गए लोचन
कमल कोमल उंगलियां मुड़ चलीं बेबस
अंगूठे भिंच गए सहसा
तुम्हारी मुट्ठियां भी बांध दीं आखिर
इन्हीं मजबूरियों ने—बस
मुझे अब कुछ नहीं कहना,
कहूं भी क्या
कि जब मजबूरियों के बीच ही रहना।

—जगदीश गुप्त: 'पहेली'

पीले फूल कनेर के!
पथ अंगोरते
सिंदूरी बडरी अंखियन के
फूले फूल दुपेर के!
दौड़ी हिरना
बन-बन अंगना—
बेंत वनों की चोर मुरलिया
समय-संकेत सुनाएऽऽ
नाम बजाए,
सांझ सकारे
कोयल तोतो के संग हारे
ये रतनारे—

—नरेश मेहता: 'पीले फूल कनेर के'

उधर पिछवाड़े तरफ—
उस पेड़ नें गांठें बिछा दी हैं,
चांद तेरा शुक्रिया!
मैं नहीं हूं पटरियां—
तारीख की गाड़ियां जिनसे चीखती जाएं
नहीं हूं वह दर्द—
जो दो कूक का जीवन किसी की डाल जी आए
दर्द हूं तो
साल के आखिरी दिन की सांझ का,
जो धार से ज्यादा नए की प्रार्थना है,
हर नया शुभ हो!
हर क्षण बनें माथे पर धरा मंगल-तिलक,
अभी तो तोड़ दो, बस,
बाद में हम चांदनी की फसल काटेंगे!

—केदारनाथ सिंह: 'तोड़ दो'

चुप हो गए आखिर आखर किताब के भी
न बोले कुछ वे जिज्ञासु आंखों से भी।
सांध्य बेला ऐसी
देख मुझे अकेला
मृत्यु निकली झुरमुटों से: हंसी
आंखें झांकतीं माथे पर झुक आईं लटों से।
उठी मुस्कान मेरे ओठों के प्रशांत तटों से
हंसकर किया मैंने मृत्यु से साक्षात्कार
हंसकर किया मैंने मृत्यु को
जीवन के अंग के रूप में स्वीकार।

—मनोहरश्याम जोशी: 'मृत्यु'

न लेना नाम भी अब तुम इलम का
लिखो बस गीत हुक्के का, चिलम का
अभी खुल जाएगा रस्ता फिलम का

—भारतभूषण अग्रवाल: 'तीन पंक्तियां'

'नई कविता' की परिधि बढ़ेगी, ऐसा हमारा विश्वास है। नई कविता में एक नया आह्वान है। आवश्यकता इस बात की है कि पूर्वाग्रह छोड़कर इसे पढ़ा जाए।

इस संकलन का महत्व एक पत्रिका से कहीं अधिक स्थायी महत्व का प्रतीत होता है। फिर भी कहीं-कहीं छापे की भूलों के कारण इसका महत्व कम हो गया है। अज्ञेय की 'यह दीप' शीर्षक कविता में छः स्थलों पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर इसके सौंदर्य को मिटा दिया गया है। दूसरी कमी यह है कि कवियों का परिचय नहीं दिया गया। ❑

—अगस्त, 1954

लोकगीत

के संध्या झूली गै छो!

रमेश मटियानी 'शैलेश'*

प्राकृतिक सौंदर्य से संपन्न कुमाऊं के चीड़, देवदारु, बांज और बुरुंश के सदाबहार जंगलों, मंडवा, मादीर और कौंणी के हरे-भरे, लहलहाते हुए खेतों और कल-कल निनाद करती सरिताओं का सारा सौंदर्य, यहां के गीतों में सिमट आया है। जब हुड़के की 'दुं तुकी दुं-दुं' की रस-भरी आवाज में यहां के गायकों के स्वर अंतरिक्ष में गूंज उठते हैं, तो लगता है—जैसे वर्षा-काल में कोई मयूर उन्मत होकर नाच उठा है, जैसे सारी वसंत-श्री को अपनी मधुर कूक में संजोए कोई कोकिला गा उठी है:

जागेश्वर धूरा बुरुंश फुली गै;
कै हूं रि पूं फूला, मेरी हंसा रिसै रै?
हवेलाया कांकड़ी-जसी हंसा खिसै रै!
मंडुवा हर्याली लागी प्रीता भुली गै।

—'जागेश्वर के वन में बुरुंश के फूल खिल गए हैं, लेकिन मैं फूल चुनूं भी, तो किसके लिए? मेरी प्रेयसी तो मुझसे रूठी हुई है। जैसे धूप लगने से कोमल ककड़ी झुलस जाती है, ऐसे ही गुस्से की आंच में झुलसकर, वह खिसियानी-सी हो रही है। और हरा-हरा मंडुवा गोड़ने की धुन में वह मेरे प्यार को भुला बैठी है।'

दूसरी ओर अपनी प्रेयसी के अप्रतिम सौंदर्य की व्याख्या करते हुए नायक अपनी प्रेयसी से कहता है:

कि वांजों की बाली,
पूसा का पालंग-कसी है रै छै हरयाली।
पाकिया दाड़िम-कसी मुख में की लाली।
उठिया जोबन तेरो, हरयालै की थाली।
सौंला-कसी झूली रै छ कान में की बाली!

—'प्रिय, पूस के महीने के कोमल पालंग (साग-सब्जी) की पत्तियों सी रूप-राशि है तेरी और पके हुए दाड़िम के दानों की-सी लालिमा तेरे सुंदर मुख पर छविमान है। तेरा विकसित यौवन ऐसा लगता है, जैसे किसी ने हरियाली की थाली सजाकर रख दी हो। और हरे-हरे पत्तों के गुच्छे-सी तेरे कान में बाली (एक गहना) झूल रही है।'

लेकिन जब उसकी रूठी हुई प्रेयसी अनमनी-सी, रिस-भरी मुंह उदास कर लेती है, तो वह मुस्कुराकर व्यंग्य कसता है:

पाकिया किलमड़-कसी किले गैछै काली?

—'अरे, तू यह पके हुए किलमड़ (एक फल) सी काली क्या हो गई है?'

और अब, उसके व्यंग्य से चुटीली हो, उसकी प्रेयसी उसके गले से लग जाती है, तो वह कहता है:

घराट की ताना,
कै ले पा ली कलड़-कसी,
कै ले करा दाना?

—'घराट (पनचक्की) की तान, किसने ऐसे पुण्य किए थे, जिसे तुम-जैसी सुंदर कन्या को, जो गाय की चंचल बछड़ी-सी अल्हड़ है, पालने का सौभाग्य मिला?'

विशेषकर 'जागर', 'बैसी' और 'मालूशाई' गीतों में प्रकृति चित्रण और भी सुंदर ढंग से हुआ है। 'जागार', 'बैसी' और 'रमौल' या 'मालूशाई' कथात्मक-गीत हैं। यहां तक कि 'जागर' और 'बैसी' में महाभारत, रामायण और पुराणकालीन आख्यानों को भी गाया जाता है। 'जागर', 'बैसी' में यहां के ग्राम-देवताओं—जो 'गोल्ल', 'सैम', 'गंगानाथ' और 'भाना', 'ऐडी' आदि नामों से प्रख्यात हैं—का किन्हीं व्यक्ति-विशेषों के शरीर में अवतार कराया जाता है, जिसे वहां सीधे शब्दों में देवता का आना कहते हैं। इन व्यक्ति विशेषों को, जिनमें इनमें से किसी भी देवता का अवतार कराया जाता है, यहां 'डंगरिया' और 'अवतार' कराने वाले गायक विशेष को 'जगरिया' कहते हैं। 'अवतार' की स्थिति में व्यक्ति कांपता और नाचता है।

यहां यह उल्लेख कर दूं कि 'अवतार' कराने के लिए जिन 'औसानों' (घटना या भाव-छंदों) का 'जगरिया' प्रयोग करता है, उनकी प्रथम पंक्तियां किसी प्राकृतिक प्रतीक के आधार पर ही निर्मित होती हैं। जैसे 'भाना' का अवतार कराते समय 'जगरिया' गाता है:

वो 'भाना' बामुणि ऐगे चूड़ी को—
द्यौणाट, वो 'भाना'.....

—'भाना' आ रही है, और उसकी चूड़ियां ऐसे खनक रही हैं, जैसे भंवरे गुनगुना रहे हों!'

गायक भूमिका बांधते हैं। भूमिका में पहले सांध्य-वर्णन ही होता है। इस सांध्य-वर्णन में राष्ट्रीय एकता का बोध, मिलता है:

के संध्या झूली गै छो भगवाना नीलकंठा हिमाला!
के संध्या झूली रै छो हो, रामा! अकाशा, हे पताला!
के संध्या झूलि गै छो भगवाना, कृष्णा ज्यू की द्वारीका!
हा, के संध्या झूलि रै छो, नंदनों की वैराटा।
के संध्या झूली गैछ हो, रामा! यौ पंचावटी मांजा!
के संध्या झूली रै छा, रामा ज्यू की अजोध्या!
के संध्या झूली रै छा भगवाना यौ हिमाला, है माला!
के संध्या झूली गै छा, कौरवों का बंगाला!
के संध्या झूली गैछा, यो गैली समुंदरा।
के संध्या झूली गैछा, पंचाचूली का धूरा!
बारह खंडा, तीना रे लोका के संध्या झूली रैछा,
के संध्या झूली गैछा, अकाशा, रे पाताला!
के संध्या झूलि गैछा, हो रामा! हरि का हरिद्वारा।
के संध्या झूली रै छा, बद्रीनाथ का द्वारा!

---

* शैलेश मटियानी प्रारंभ में इसी नाम से लिखते थे।

–'ओह! कितनी सुहानी संध्या छा रही है, भगवान नीलकंठ के हिमालय पर्वत में, सारे आकाश, पाताल और भूमि में!

और भगवान श्रीकृष्ण की द्वारिका नगरी, नंद राजाओं की विराट नगरी में भी यह सुहानी संध्या छा गई है!

रम्य स्थली, पुण्य भूमि पंचवटी और श्रीराम की अयोध्या में भी यह नयनाभिराम संध्या छा गई है!

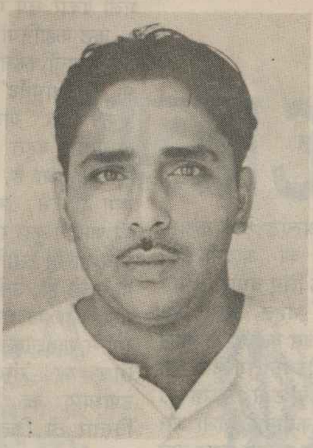

लेखक

माल देश (तराई) और कौरवों के देश बंगाल में भी यह मनहर संध्या छा गई है। गहरे नीले समुद्र और पंचचूली पहाड़ की ऊंची चोटियों पर भी यह सुहानी संध्या छा गई है!

बारहों खंड (यह 'बारह खंड' कितने प्रदेश या लोक के लिए इन गायकों के माप हैं, मुझे ज्ञात नहीं।) और तीनों लोकों—आकाश, पृथ्वी और पाताल—में भी यह सुहानी संध्या छाई है।

भगवान (शिव) के हरिद्वार और पुण्यभूमि बद्रीनाथ के द्वार पर भी यह सलोनी संध्या छा रही है!'

इस प्रकार के गीतों से हमें अपने देश की व्यापकता का परिचय मिलता है।

इसके अतिरिक्त इस संध्या-वर्णन में इन गीतों के गायक ने अपनी भावप्रवणता का परिचय भी दिया है:

घोल की चिड़ी घोल मा भैगे,
के संध्या काली मांजा!
बाटा का बटौ बसेरा ली है,
यो संध्या काली मांजा!

–'इस संध्या-काल में पक्षी अपने नीड़ों में बस गए हैं, पथ के यात्री पड़ावों पर ठहर गए हैं!'

यह संध्या-वर्णन पूर्णतः प्रकृति-चित्रण से ही संबंध रखता है क्योंकि सांध्य-श्री प्रकृति की ही एक विशेष निधि है।

पेड़, कृषि, हरियाली आदि जड़-प्रकृति का ही नहीं, जीवन की हर स्थिति, हर घटना के साथ यहां के गायकों ने प्राकृतिक उपादानों का गठबंधन किया है। ❑

—अक्तूबर, 1954

कविता

उद्जन-बम के युग में

मनोहरश्याम जोशी

इस तोतापंखी कमरे में नीलम-मोती बिखराते हम,
मोरपंख हिलाते हम और श्वेत शंख बजाते हम,
चांद डाल में,
चांद ताल में,
चांद-चांद में मुस्काते हम।
कभी, बहुत पहले कभी,
शायद यही छटा एक कविता बन सकती थी।
इसका वर्णन कर,
इसके कानों में रुपहले रूपकों के झूमर डालकर,
इसकी आंखों में अलंकार का काजर डालकर,
चिपकाकर कल्पना की मद्रासी बिंदिया इसके उन्नत भाल पर,
और आंखों ही आंखों में पूछे कुछ प्रश्नों के मूक उत्तर
इसकी फैली गदोलियों में थैली-झोलियों में भर-भर कर,
मैं कभी,
बहुत पहले कभी, शायद कवि बन सकता था।
मेरी काव्यकृति की प्रेरणा तू
शायद कविप्रिया बन सकती थी।
कभी, बहुत पहले कभी,
शायद यही छटा एक कविता बन सकती थी।
पर अब नहीं, नहीं अब नहीं,
क्योंकि धक धक धक दिल के टेलिप्रिंटर पर अक्षर कर
छप-छप जाती है यह फ्लैश खबर

कि सावधान
लो! अब विराट घृणा के कुंचित ललाट का धीरज छूटता है!
लो! अब उद्जन के परम कण का सूर्य-सा शक्ति-स्रोत फूटता है!
हो सावधान!
ओ आधे-भगवान : इंसान!
अब दूर कहीं बहुत-बहुत दूर
शुरू होती है वह अनंत विध्वंस-प्रक्रिया-लड़ी
जिसमें न रह पाएगी यह अर्ध-चेतना की मीनार खड़ी,
जिसमें हो जाएंगे ये सब के सब कांच के सपने चकनाचूर!

खबरदार!
आ रहा ज्वार!
ये आधे-आधे वादे सब बह जाएंगे!
ये पुंसत्वहीन इरादे सब धरे रह जाएंगे! ❑

—जून, 1954

समीक्षा

'कहानी' का संदर्भ

कहानी (नववर्षांक 1955): पृष्ठ संख्या 400; मूल्यः ढाई रुपये; प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद; संपादक—श्रीपतराय, श्यामू संन्यासी और भैरवप्रसाद गुप्त।

'कहानी' का यह वार्षिक अंक सन् 1954 का एक बहुत महत्वपूर्ण प्रकाशन है। कहानी संबंधी सामयिक पत्रों में इस वार्षिक अंक द्वारा निस्संदेह एक नया रिकार्ड कायम हुआ है। इस अंक की सबसे महत्वपूर्ण खूबी यह है कि इसमें हिंदी के 33 पुराने और नए लेखकों की नई कहानियां सम्मिलित हैं। इतने लेखकों से एक साथ कहानी प्राप्त कर सकना स्वयं अपने में एक बहुत बड़ी बात है। इस अंक की दूसरी विशेषता यह है कि यह अंक सही अर्थों में आज के हिंदी कहानी साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है।

इस वार्षिक अंक में 17 अनूदित कहानियों के अतिरिक्त इन लेखकों की कहानियां हैं—उग्र, यशपाल, विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव, बलदेव प्रसाद, निर्गुण, रामप्रताप, अमृतलाल, अज्ञेय, हरिमोहन, अश्क, चंद्रगुप्त, राजेश्वर प्रसाद, सत्यार्थी, भीष्म साहनी, अमृतराय, मन्मथनाथ, राहुल, बलराज, ओंकारनाथ, रामकुमार, भैरवप्रसाद, भगवतशरण, इलाचंद्र, कल्पना, मार्कंडेय, वृंदावनलाल, कमलेश्वर, रामस्वरूप, कृष्णा सोबती, रहबर, निगम और नवतेज।

किस्म और दर्जे की दृष्टि से भी सभी तरह की कहानियां इस अंक में हैं। कुछ कहानियां बहुत अच्छी हैं। इतनी अच्छी कि उन्हें पढ़कर हिंदी कहानी साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत होने लगता है। दूसरी ओर कुछ कहानियां ऐसी भी हैं, जो किसी साधारण कोटि के कहानी संग्रह में भी स्थान पाने के योग्य नहीं हैं।

इस अंक की एक अत्यंत श्रेष्ठ कहानी कमलेश्वर की 'कस्बे का आदमी' है। कमलेश्वर इस कहानी के लिए बधाई के पात्र हैं। 'कस्बे का आदमी' बहुत उत्तम और प्रभावशाली कहानी है। इस कहानी के पहले भाग को अगर कुछ और निखार दिया जा सकता, तो टैकनीक की दृष्टि से भी यह पूरी तरह बेदाग बन जाती। कथानक, शैली और भाव तीनों दृष्टियों से यह कहानी बहुत ऊंचे दर्जे की है। बहुत दिनों के बाद एक नए लेखक की इतनी अच्छी कहानी मुझे पढ़ने को मिली है।

वार्षिक अंक में और भी कितनी ही श्रेष्ठ कहानियां हैं। उग्र की 'पतिव्रता', भैरवप्रसाद गुप्त की 'चाय का प्याला', अमृतराय की 'सावनी समा' ये तीनों कहानियां भी बहुत अच्छी हैं। न सिर्फ इन कहानियों का दृष्टिकोण उदात्त है अपितु कहानी कला की दृष्टि से भी ये श्रेष्ठ कोटि की रचनाएं हैं। रांगेय राघव की 'गदल' एक बहुत शक्तिशाली रचना है। इस कहानी का कथानक इतना सशक्त है कि वह 11 पात्रों की विद्यमानता का बोझ भी आसानी से सह जाता है। यहां तक कि जरा-सी बात पर पुलिस के गोली चला देने की अशक्य बात भी 'गदल' के शक्तिशाली चरित्र के साथ भली प्रकार खप गई है।

भैरवप्रसाद गुप्त (खड़े) कुलभूषण, राजेंद्र यादव, मार्कण्डेय, अश्क व मोहन राकेश आदि के साथ

कुछ कहानियां बहुत दिलचस्प हैं, यद्यपि उन्हें कहानी कहना कठिन है, जैसे हरिमोहन झा का 'आयुर्वेद' और बलराज साहनी का 'एक मधुर याद'। कुछ कहानियों में वातावरण बहुत अच्छा और सफलतापूर्वक निर्मित हुआ है, पर कथानक कमजोर रह गया है। जैसे, रामप्रताप बहादुर का 'शुकुलों की शादी'। कुछ रचनाएं वास्तव में रेखाचित्र मात्र ही हैं। रेखाचित्र की दृष्टि से वे कितने ही अच्छे हों, उन्हें आज के अर्थों में कहानी नहीं कहा जा सकता। जैसे राहुल का 'मेरी रगों में शाही रक्त बह रहा है', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'संन्यासी' और भगवतशरण उपाध्याय का 'रिद्धी बाबू'। अनावश्यक विस्तार तो कितनी ही कहानियों में भरा हुआ है। ये कहानियां अपने वर्तमान कलेवर से यदि आधी होतीं, तो संभवतः अधिक अच्छी बन जातीं, जैसे—निर्गुण की 'भूखे और प्यासे', सत्यार्थी की 'गुड़िया और लोरी', ओंकारनाथ की 'सर्वहारा', रामकुमार की 'छुट्टियां', कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे' और उपेंद्रनाथ अश्क की 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' शीर्षक 12 पृष्ठ लंबी कहानी।

वार्षिक अंक की सबसे बड़ी कमजोरी उसके कहानी साहित्य संबंधी लेख हैं। कहानी साहित्य का परिचय देने के लिए भारतीय भाषाओं में से केवल मराठी और कश्मीरी को ही क्यों चुना गया, यह समझ नहीं आया। संभवतः अन्य भाषाओं के संबंध में सामग्री न मिल पाई हो। उस दशा में ये दोनों तथा कहानी कला संबंधी लेख इस अंक में न दिए जाते, तभी ठीक था।

जैसा कि मैंने पहले कहा है, यह अंक वर्तमान हिंदी कहानी साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। वर्तमान हिंदी कहानी में से थोथी भावुकता कम हो रही है और उसकी जगह वास्तविकता की दृढ़ चट्टान पर हिंदी कहानी अपनी इमारत बना रही है। इस वार्षिक अंक को देखकर यह भी कहा जा सकता है कि कम से कम हिंदी कहानी में किसी तरह का गत्यवरोध अब नहीं है। □

—चंद्रगुप्त विद्यालंकार

—जनवरी, 1955

कहानी

आत्म अभियोग

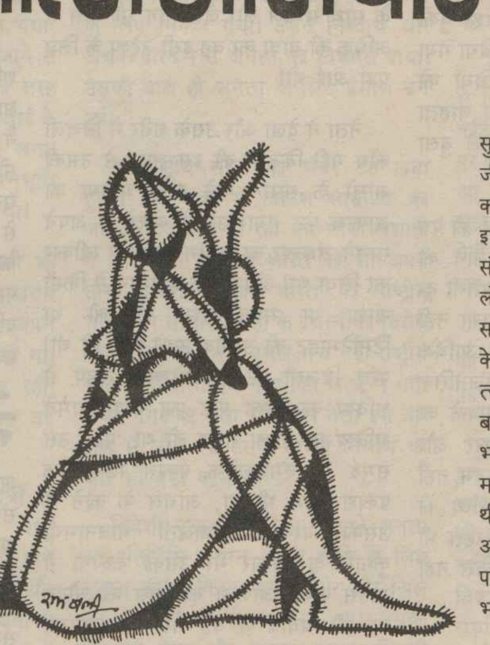

यशपाल

अपने छोटे-से नगर में महत्ता और संकीर्णता का जो विकट संघर्ष मैंने देखा है, उसका प्रकट रूप तो कुछ भी नहीं था। वह घटना इतनी सूक्ष्म थी कि समारोह में एकत्र दूसरे लोग कुछ जान भी न पाए। जानने के कारण ही मेरा मन उस बोझ से इतना छटपटा रहा है। उन आदरणीय लोगों की बाबत कुछ कहा भी नहीं जा सकता।... कम से कम अभी कुछ वर्ष तक। जब वे लोग इतिहास का अंग बन जाएंगे, शायद बन ही जाएं, तो बात दूसरी होगी।

बात को अंत से आरंभ की ओर न कहकर आरंभ से अंत की ओर ही कहना ठीक होगा। दोनों पात्रों के नाम अभी नहीं बताए जा सकते। इसीलिए अभी 'कवयित्री' और 'नेता' इन दो उपनामों से ही संतोष करना पड़ेगा।

घटना के कारणों का आरंभ पुराना है, यानी पूरी एक पीढ़ी पहले की बातें और वातावरण। विदेशी शासन के बंधन के साथ तब रूढ़ि के बंधन भी काफी कड़े थे। परंतु उस संकीर्णता में भी कुछ नवयुवक राष्ट्रीय भावना से अपने आपको न्योछावर करने की विशाल हृदयता का परिचय देते थे। वैसी उदारता आज नवयुवकों में दिखाई नहीं देती। शायद आज परिस्थिति उसकी मांग भी नहीं करती।

जिस 'नेता' की बात कह रहा हूं, वह उस समय का ऐसा ही नवयुवक था। सभी लोग उसे प्रतिभासंपन्न समझकर विश्वास करते थे कि वह अपना भविष्य सफल और उज्ज्वल बना सकेगा। परंतु उसने राष्ट्रीय भावना की पुकार सुनकर सब कुछ-अपना तात्कालिक सुख, सफलता, भविष्य बल्कि जीवन ही न्योछावर कर दिया। हम कई लोगों में उतना साहस नहीं था। इसलिए हमने उसका आदर करके ही संतोष पाया। आदर करने वाले इन लोगों में 'कवयित्री' भी थीं, उस समय स्वयं भी प्रस्फुटित होते यौवन के उद्वेग में, जबकि निस्वार्थ और त्याग भी सीमाओं को तोड़कर ही बहना चाहते हैं। उस समय उनकी भावनाएं कविता की वाणी का माध्यम पाकर जनश्रुत नहीं हो पाई थीं और प्रतिक्रिया में प्रसिद्धि ने उन्हें आदर से ऊंचा नहीं उठा दिया था। परंतु हृदय तो वही था, उद्वेग और भावना की अपरिमित शक्ति से भरा।

जैसे पतंगों को जलती दीपशिखा की ओर जाने के लिए कोई नहीं कहता और उस ओर जाने से रोक भी नहीं सकता, वैसे ही कवयित्री नेता के आदर्श से आकर्षित होकर उसके पथ का अनुसरण करने के लिए व्याकुल थीं, कर्तव्य के पथ पर मृत्यु की खाई में भी उतने ही उत्साह से कूद जाने के लिए। परंतु हुआ यह कि नेता आगे निकल गया और कवयित्री साथ देने के लिए उसका हाथ पकड़ने के लिए बांह फैलाती-फैलाती पिछड़ गईं, जरा पिछड़ गईं।

नेता राष्ट्रीय मुक्ति के लिए अपनी जान पर खेलकर विदेशी शासन पर चोट करने के प्रयत्न में गिरफ्तार हो गया। सभी जानते थे कि इस साहस का मूल्य नेता को फांसी या आजन्म कारावास का दंड भोगकर देना होगा। उस घटना से हम सभी को चोट लगी परंतु विदेशी शासन के आतंक से और इतना साहस न होने पर मौन, आदर और सहानुभूति के सिवा और कर ही क्या

सकते थे! कवयित्री के लिए यह आघात केवल राष्ट्रीय भावना की पीड़ा तक सीमित नहीं रहा। शायद व्यक्तिगत कुछ था ही नहीं। शायद सभी कुछ व्यक्तिगत भी था।

विदेशी शासन के न्यायालय से नेता को आजन्म कारावास के दंड की आज्ञा हो चुकी थी। उसे काले पानी या द्वीपांतरवास के लिए भेजे जाने की भी तारीख निश्चित हो चुकी थी। जेल के कायदे से उसे अवसर दिया गया था कि पत्र लिखकर अपने संबंधियों को सूचना दे दे। वह किसी से मिलना चाहता हो, तो उसे अमुक तारीख से पहले बुला सकता है।

नेता ने अपनी प्रौढ़ मां और भाई को पत्र लिखकर अपने काले पानी भेजे जाने की तारीख की सूचना दे दी थी, परंतु इतनी दूर किसी के मिलने आ सकने की आशा नहीं की थी। वह अपने संबंधियों की आर्थिक बेबसी और अपने मित्रों की राजनैतिक बेबसी जानता था। आशा न कर सकने का दुख भी नहीं था। किसी प्रतिकार और पुरस्कार की आशा से उसने यह कदम नहीं उठाया था। वह अपने आपको कर्त्तव्य की वेदी पर उत्सर्ग कर चुका था। प्राण रहते भी अपने आप को दूसरों के लिए जीवित नहीं समझता था।

परंतु जेल की कोठरी में नेता को सूचना मिली कि उससे मिलने के लिए कुछ लोग आए हैं। उसने साश्चर्य जेल के फाटक पर जाकर देखा कि उसकी मां और छोटे भाई के अतिरिक्त वह कवयित्री कुमारी भी थीं जो उसे एक बार देख पाने के प्रयोजन से ही इतनी दूर की यात्रा करके आई थीं। कवयित्री अपनी बात कह सकने का अंतिम अवसर समझकर जाए बिना न रह सकी थीं। जेल के पहरेदारों की तीक्ष्ण आंखों और संदेह के लिए कारण खोजते कानों की चौकसी में क्या बात होती? पर आंखों की मौन भाषा को कौन रोक सकता था! उन्होंने अपनी बात कही और भावना ने अपनी भूख के अनुसार उसका अर्थ समझा।

जेल में मुलाकात के बीस मिनट गुजरने में कितना समय लगता है? जेल के अधिकारी ने नेता को अपनी कोठरी की ओर लौटने की और उससे मिलने आए मां, भाई और कवयित्री को फाटक के बाहर लौटने की चेतावनी दी। नेता उन लोगों के चलने की और वे लोग नेता के चलने की प्रतीक्षा में क्षण भर ठिठके। नेता को ही पहले कदम उठाने पड़े।

कदम उठाते ही नेता ने देखा कवयित्री झुकी और उसने नेता के चरणों के नीचे की धूल समेटकर अपने आंचल के कोने में यत्न के साथ संभाल ली। जैसे तीन सौ मील से अधिक की यात्रा कर वह इसी उद्देश्य के लिए यहां आई थी।

नेता ने देखा और उसके शरीर में बिजली कौंध गई। बिजली की इस लपट से उसकी आंखों के सामने फैले काले भविष्य का आकाश फट गया। उसकी आंखों ने अपने सामने अंधकार का असीम व्यवधान स्वीकार कर लिया था। अंधकार के व्यवधान में किसी आशा या महत्वाकांक्षा की लौ या टिमटिमाहट की उम्मीद उसने नहीं की थी। परंतु बिजली की इस निश्शब्द तड़प से भविष्य का काला पाट फट गया। सामने भविष्य का काला समुद्र तो था, परंतु उस समुद्र में चमत्कारिक प्रकाश लिए एक प्रकाश स्तंभ भी था, आंचल के कोने में उसकी चरणरज संभालती भावनामयी कुमारी के आकार में। उसकी कल्पना ने साहस पाया। आजन्म कारावास की चौदह वर्ष की अवधि में वह मर नहीं जाएगा। जीवित रहने के लिए कारण उसके पास है।... चौदह वर्ष बाद, जब वह श्वेत केश, विरूप चेहरा और निस्तेज आंखें लिए संसार में लौटेगा, उसे अपना मार्ग पहचानने और ढूंढने में कठिनाई नहीं होगी।... कर्तव्य के पथ पर अपनाए दारिद्र्य और तप में भी स्नेह का प्रकाश उसके थके पांवों को ठोकर से बचाए रहेगा— भावनामयी, प्रतिभामयी इस कुमारी का हाथ उसका हाथ थामे उसे ले चलेगा। काले पानी की सजा में कोसों दूर काला समुद्र लांघकर, काला पानी पीकर जीवित रहते समय यह भव्य आशा उसे सांत्वना देती रही।

हमारे नगर में नेता के चले जाने के बाद से राष्ट्रीय आंदोलन के क्रांतिकारी ढंग की बजाय सविनय अवज्ञा आदि का प्रकट और सार्वजनिक ढंग ही अधिक सबल होता गया। कवयित्री क्रांति के मार्ग में त्याग की भावना का आदर करते हुए भी इसी माध्यम से राष्ट्रीय कर्त्तव्य को पूरा करने का प्रयत्न करती रहीं। और जब क्रांति के मार्ग में अपने आपको न्योछावर कर देने के लिए तत्पर होकर भी वह एक बार अवसर से चूक गईं, तो फिर वैसा अवसर उतनी उत्कटता से आया भी नहीं। जब जीवन था तो जीवन की मांगें और प्रवृत्तियां भी थीं। कवयित्री कविता लिखती हुई जीवन को साधारण रूप से ही सार्थक बना सकने की चाह करने लगीं।

ब्रिटिश साम्राज्य की अपरिमित शस्त्र शक्ति को निःशस्त्र जनता के आग्रह के सामने समझौते के लिए झुकना पड़ा। देश ने अपना शासन करने का अधिकार एक सीमा तक पा लिया। जनता की प्रतिनिधि सरकार ने स्वातंत्र्य संग्राम के वीरों को जेलों से मुक्त कर दिया। नेता भी आजन्म कारावास की जगह सात वर्ष बाद ही काले पानी से लौट आया। जनता ने इन वीरों के प्रति आदर और श्रद्धा से अपनी आंखें और हृदय बिछा दिए।

नेता दोपहर की गाड़ी से नगर मे आने वाला था। उसकी वीरता और त्याग का आदर करने वालों ने उसके सम्मान के लिए संध्या समय एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया था। सभा से पहले एक चाय-पार्टी का प्रबंध था। स्टेशन पर उसका स्वागत करने वालों की भारी भीड़ थी। सबका मन रखते हुए उस भीड़ से बाहर निकल पाने में उसे काफी समय लगा। भीड़ उसके दर्शनों के लिए आतुर थी, परंतु स्वयं उसकी आंखें किसी और को देख पाने के लिए आतुर थीं।

चाय-पार्टी से पूर्व कुछ मिनट के अवकाश में नेता के लिए अपनी आतुरता का दमन कर लेना संभव न रहा। वह रास्ता बताने के लिए मुझे साथ लेकर चल पड़ा।

जिस समय ड्योढ़ी की सांकल बजाकर हम लोग भीतर से किसी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, साथ के कमरे से खिलखिलाकर हंसने और दो आवाजों में विनोद का स्वर सुनाई दे रहा था। इनमें से एक स्वर नेता की अत्यंत असहाय अवस्था में उसकी चरणरज श्रद्धा से ले आने वाली कवयित्री का ही था। उस स्वर का प्रभाव नेता की मुख-मुद्रा पर स्पष्ट दिखाई दिया। वह क्षण भर के लिए रोमांचित हो गया।

सांकल बजाने के उत्तर में एक छोकरा नौकर आया। नेता ने अपना नाम और काले पानी से आने की सूचना साथ के कमरे में देने के लिए कहा। छोकरे ने भीतर से लौटकर उत्तर दिया—"बहनजी अभी बाहर गई हैं। शाम को लौटेंगी।"

इस बार देखा कि नेता के दृढ़ता के प्रतिबिंब चेहरे पर सहसा पसीना आ गया, फिर सूर्य के सामने घना बादल आ जाने से पृथ्वी पर फैल जाने वाली छाया की तरह श्यामलता। इस छोटी-सी घटना या रुखाई के धक्के से स्वयं मुझे भयंकर आघात लगा। जिस पर यह चोट पड़ी थी, उसकी अनुभूति का अनुमान कर लेना आसान नहीं था।

चाय की पार्टी में नेता एक प्याली भी नहीं ले सका। जान पड़ता था कि वह खराब सड़क पर तेज चलती बस में खड़ा अपने पांव पर संभला रहने का यत्न कर रहा था। सभा में उसकी वाक्शक्ति शिथिल रही। नगर छोड़कर चले जाने की व्यग्रता वह छिपा न सका।

कुछ ही दिन बाद सुना कि कवयित्री का विवाह अच्छी आर्थिक स्थिति परंतु संदिग्ध-सी ख्याति के एक व्यक्ति से होने वाला है। कवयित्री को अपने विश्वास और आस्था पर भरोसा था। नगर में कवयित्री से सामना होने पर उन्हें किसी दूसरे ही ढंग में देखा। नेता के साथ बीती घटना के प्रसंग की चर्चा का कोई अवसर या उससे किसी लाभ की आशा नहीं थी। जल्दी ही सुना कि विवाह हो गया। फिर बहुत समय बीत जाने से पहले ही सुना कि विवाह से कवयित्री को संतोष की अपेक्षा पश्चात्ताप और संताप ही मिला। वह भावना के ज्वार में ठगी गई थीं जैसे कि अपनी तैरने की शक्ति में अतिविश्वास से बाढ़ में कूद जाने वाला व्यक्ति ठगा जाता है।

कवयित्री ने अपने आप को संभाला। वह समाज सेवा में लग गई और अपने आप को अपनी कविता में खो दिया।

कवयित्री ने अपने आप को तो खो दिया, परंतु संसार ने उसकी कविता पाई। कवयित्री की जीवन-शक्ति सब ओर से सिमटकर उनकी कविता में वेगवान हो उठी, जैसे पूरे प्रदेश से सिमटा वर्षा का जल एक मार्ग से जाते समय वेगवान हो जाता है। वह नगर का गौरव बन गईं। दूर-दूर तक उनकी ख्याति फैल गई।

नेता तो झोंपड़ा फूंककर ही राष्ट्रीय कार्य के मार्ग पर चला था। लौटने की तो कोई जगह या कोई बात थी नहीं। नगर में मानसिक आघात पाकर नगर से उसे विरक्ति हो गई थी। वह जिले के ग्रामों में काम करने के लिए निकल गया। उसने निस्वार्थ और अथक परिश्रम से जनता का विश्वास पाया। उसकी बात ही जनता के लिए प्रमाण बन गई।

अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का भंवर उठ खड़ा हुआ। इस भंवर में ब्रिटिश साम्राज्य का जहाज डांवाडोल हो रहा था। साम्राज्यशाही ने आत्मरक्षा के लिए भारत को भी अपने साथ बांधना चाहा। भारत की राष्ट्रीय भावना ने साम्राज्यशाही के प्रयत्न का विरोध किया। देश में उथल-पुथल मच गई। राष्ट्रीय भावना के प्रतिनिधि नेता फिर जेलों में गए। हमारे नगर का नेता भी गया। नेता इस बार जेल से लौटा तो उसके सामने निर्माण का और भी बड़ा काम था।

विदेशी गुलामी से मुक्त राष्ट्र ने जनता का प्रतिनिधि शासन आरंभ करने के लिए चुनाव आरंभ किया। हमारे नगर और जिले का एक ही निर्विवाद नेता था। उसकी निस्वार्थ सेवा और उसका त्याग प्रतिद्वंद्वी हीन था। वही हमारे जिले की ओर से निर्विवाद प्रतिनिधि मनोनीत हुआ। इससे नेता को नहीं, जिले और नगर को संतोष था।

नगर अपने इस निर्णय पर स्वयं अपने आप को बधाई देना चाहता था। नगर के अनुरोध से नेता ने उस अवसर पर नगर में आना स्वीकार किया। नगर की इच्छा थी कि इस सभा का नेतृत्व नगर का दूसरा गौरव, कवयित्री ही करें। इस सुझाव और तैयारी का कुछ उत्तरदायित्व मुझ पर भी था। इसीलिए घटना का आघात मेरे लिए असह्य है।

पंडाल में स्वागत के लिए उत्सुक भीड़ जमा थी। वेदी पर सभा-नेत्री की कुर्सी के समीप एक कुर्सी नेता की प्रतीक्षा कर रही थी। मेज पर नगर के आदर और श्रद्धा से संजोया हुआ हार प्रतीक्षा कर रहा था।

पंडाल के द्वार पर नेता की जय का स्वर सुनाई दिया। नेता विनय से सिर झुकाते, सकुचाते हुए भीतर आए। दोनों ओर खड़ी भीड़ की दीवारों के बीच से वे वेदी की ओर बढ़े जा रहे थे। कवयित्री आदर और श्रद्धा से हार लेकर स्वागत में खड़ी हो गईं।

नेता ने वेदी की तीन सीढ़ियों में से पहली सीढ़ी पर कदम रखा। हाथों को जोड़े हुए आंखें उठाईं। कवयित्री हार लिए दो कदम आगे बढ़ आईं। आंखें चार हुईं।

नेता का कृतज्ञता और विनय के उद्वेग से शिथिल और पसीजा हुआ चेहरा सहसा कठिन हो गया। आंखें पथरा गईं। दूसरी सीढ़ी पर कदम ठिठक गए। जुड़े हुए हाथ कमर पर आ गए। चेहरे पर किंकर्तव्यविमूढ़ता की मुद्रा। गले में आए उद्वेग को निगल नेता ने वेदी की ओर पीठ और जनता की ओर मुख कर लिया।

कवयित्री फैली बांहों पर आदर और श्रद्धा का भारी हार लिए दीपशिखा की भांति कांपकर स्तब्ध रह गईं।

अपने आप को संभालने के लिए नेता जरा खांसा। सांसों की स्तब्धता में उनका कांपता-सा स्वर सुनाई दिया—"इस आडंबर की क्या आवश्यकता है? मैं आदर का भूखा नहीं हूं..... यदि आप मेरा आदर और विश्वास करते हैं तो अपना उत्तरदायित्व भी समझिए।"

नेता के पास और शब्द नहीं थे। उन्होंने एक बार और प्रयत्न किया—"आप लोग क्षमा करें..... मुझे यही कहना है..... आपके आदर के लिए धन्यवाद।" नेता वेदी की ओर देखे बिना ही लौट गया।

पंडाल नेता के निरभिमान, विनय और कर्मठता के प्रति आदर के लिए तालियों के शब्द और जय की पुकार से गूंज उठा। कवयित्री माथे पर आया पसीना पोंछना भूलकर होंठ दबाए वेदी से नीचे उतर आईं।

मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या करूं?

जब रह नहीं सका, तो दोपहर बाद नेता के डेरे पर गया। एक बार इतना कहे बिना तो मैं नहीं रह सकता था—"तुमने यह क्या किया?"

मालूम हुआ कि नेता सिरदर्द से चुप अकेले लेटे हैं। एक बार मिल लेना और भी आवश्यक हो गया। नेता के चेहरे पर

कविता

यह रुपहली छांह वाली बेल।

जगदीश गुप्त

यह रुपहली छांह वाली बेल,
कसमसाते पाश में बांधे हुए आकाश।
तिमिर तरु की स्याह शाखों पर पसरकर,
हर नखत की कुसुम कोमल झिलमिलाहट से रही है खेल।
यह रुपहली छांह वाली बेल।
लहराता गगन से भूमि तक जिनके रजत आलोक का विस्तार,
रश्मियों के वे सुकोमल तार,
उलझे रात के हर पात से सुकुमार।
इस धवल आकाश लतिका में,
झूलता सोलह पंखरियों का अमृतमय फूल,
गंध से जिसकी दिशाएं अंध,
खोजती फिरतीं अजाने मूल से संबंध।
वल्लरी निर्मूल—
फिर भी विकसता है फूल
विधि ने की नहीं है भूल।
है रहस्य भरा हृदय से हर हृदय का मेल।
हर जगह छाई हुई है,
यह रुपहली छांह वाली बेल। ❑

—फरवरी, 1954

विदा

शकुंत माथुर

भर आता जी विदा समय
उर में मेघों का भंडार
लिए नयन में धोई बूंदें
फूलों में एकत्रित कर लीं
केसर जैसी
मृदु पल्लव की गोदी में
जो पली कली-सी
तारों भरे पुलिन में
जैसे खिली जुन्हाई
नित प्रति धूपदान से उड़ती रही
ज्यों
स्वच्छंद सरगम पर
बंधन हीन बहार
पद्मा-सी निज चरण बढ़ाती
धीरे-धीरे सखियों के संग
कंपती पीत पताका-सी
मेंहदी रंजित हाथों में ले
सूर्य किरण की माल
आ गई विधुरेखा
दूर मेघ के साथ चली जाने को
भर आता जी विदा समय ❑

—जून, 1954

सचमुच ही वेदना छाई थी। आंखें मिलने पर आंखों से ही पूछा—'क्यों?'

नेता ने कातर आंखें मेरी ओर उठाकर उत्तर दिया—"अहं का दंभ कितना गहरा दबा रहता है?..... बदला लिए बिना रह न सका..... अब लज्जित हूं। मैंने दूसरे को यों ही छोटा मान लिया था।"

इतनी बड़ी सजा देने के लिए तो मैं स्वयं भी तैयार होकर नहीं गया था। अब और क्या कहने को रह गया था!

लेकिन मैं स्वयं अपराधी था, कवयित्री के सामने। घटना के लिए अपने उत्तरदायित्व के प्रति खेद प्रकट करना तो आवश्यक था। संकोच के कारण साहस नहीं हो रहा था, पर जाए बिना रहता कैसे?

दरवाजे पर मेरी दस्तक के उत्तर में कवयित्री ने स्वयं ही किवाड़ खोले। उनके हाथ में कलम देखकर ठिठक गया—"क्षमा कीजिए, आप कविता लिख रही थीं....."

"नहीं नहीं, आइए! आइए!" कवयित्री के चेहरे पर दबी-सी मुस्कान फैलकर निखर गई।

बात करना सरल हो गया। भीतर जा वह सोफे पर बैठ गईं, तो मैंने कहा—"आपके काम में विघ्न नहीं डालूंगा। पंडाल में ऐसी घटना की मुझे आशा नहीं थी..... केवल क्षमा मांगने आया था।"

कवयित्री के चेहरे की मुस्कान संतोष के पुट से गहरी हो गई। उनका हाथ मुझे चुप रखने के संकेत के लिए उठ गया। संगीत भरा संतुष्ट स्वर मुझे सुनाई दिया—

'दंड पाया,
मुक्त हुई,
अपने अभियोग से।'

कवयित्री ने तृप्ति की सांस ले कलम एक ओर रख दी। ❑

—अप्रैल, 1955

पुस्तक-चर्चा

दिनकर की नई रचनाएं

'बच्चन'

प्रस्तुत पुस्तक *रेणुका*[1] का नया संस्करण है। यह सर्वप्रथम 1935 में प्रकाशित हुई थी। बीच में, संभवतः इसके और संस्करण भी निकल चुके हैं; इनकी सूचना भी पुस्तक में दे दी गई होती तो अधिक अच्छा होता। वर्तमान संस्करण 1935 के संस्करण से कई बातों में भिन्न है।

1935 के संस्करण में कुल मिलाकर तीस कविताएं थीं। नवीन संस्करण में, इनमें से तीन कविताएं–'धूलि के हीरे', 'श्रांत गीत', और 'सायं चिता'–निकाल दी गई हैं; परंतु चौदह नई कविताओं को जोड़कर इनकी कुल संख्या 41 कर दी गई है। इन चौदह नई कविताओं में पांच विदेशी कविताओं के अनुवाद हैं, जिनकी तिथि नहीं दी गई। शेष 9 नवीन रचनाएं इस प्रकार हैं–'बागी' (1929), 'याचना' (1934), 'प्रेम का सौदा', 'राजा-रानी' (1935), 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल! बोल' (1940), 'पटना जेल की दीवार से' (1945), 'गीत वासिनी' (1946), 'स्वर्ण धन' और 'संजीवन धन दो' (1951)। इनमें से पहली चार रचनाएं रचना-काल की दृष्टि से *रेणुका* में सम्मिलित होने योग्य थीं। बाद की दो राष्ट्रीयता से संबंध रखती हैं जो 'रेणुका' की प्रमुख धारा थी। 'गीत वासिनी' में कवि ने अपनी कविता का एक नए प्रकार से उद्‌बोधन किया है। 1935 की *रेणुका* में इस प्रकार की एक से अधिक रचनाएं थीं। मेरे विचार में भावनाओं की मार्मिकता जितनी उन गीतों में थी, उतनी इस नवीन उद्‌बोधन में नहीं है। भाषा की सफाई अवश्य ही इसमें अधिक है। अंतिम दो कविताएं 1951 की हैं और इनमें 1935 की कविताओं से, जो कि स्वाभाविक भी था, भाव, भाषा-माधुर्य की दृष्टि से अधिक परिपक्वता आ गई है। *रेणुका* की अन्य कविताओं से ये दोनों कुछ अलग और ऊपर प्रतीत होती हैं। वास्तव में ये दोनों गीत हैं और *रेणुका* की आधी दर्जन कविताओं में, जिन्हें विशुद्ध गीत की संज्ञा दी जा सकती है, ये सर्वोत्तम हैं। गीत दिनकर की वीणा पर कम ही उतरे हैं।

रेणुका दिनकर की प्रथम रचना थी। प्रकृति प्रेम, जीवन की नश्वरता, अतीत की स्मृति, कविता देवी का आह्वान आदि विषयों पर रचना करते हुए भी कवि की वाणी का सर्वोपरि स्वर उसकी राष्ट्रीयता का था। दिनकर की काव्य प्रतिभा 1930 के सत्याग्रह आंदोलन के वातावरण में प्रस्फुटित हुई थी और उससे उन्होंने पर्याप्त रस ग्रहण किया था। हिंदी कविता में राष्ट्रीयता की धारा भारतेंदु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं में मुखरित होती आ रही थी। दिनकर ने उसे भावुकता की तरलता और कल्पना की प्रोज्ज्वलता दी। प्रथम संस्करण की भूमिका में, जो इस नवीन संस्करण से निकाल दी गई है,

रामधारी सिंह दिनकर

श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा था—'दिनकर से इतिहास अपनी संपूर्ण वेदनाओं को लेकर बोलता है।' सच तो यह है कि तब से लेकर आज तक 'युग की कसक' जितनी तीव्रता और व्यापकता से दिनकर की वाणी में अभिव्यक्त हुई है, उतनी किसी अन्य की वाणी में नहीं।

प्रायः बीस वर्ष पुरानी इन रचनाओं में अब भी रस लिया जा सकता है।

यह छोटी-सी पुस्तिका[2] कवि की दिल्ली पर लिखी हुई चार कविताओं का संग्रह है—'नई दिल्ली के प्रति' (1933), 'दिल्ली और मास्को' (1945), 'हक की पुकार' (1952) और 'भारत का यह रेशमी नगर' (1954)।

रचनाओं की तिथियां महत्वपूर्ण हैं। 1933 में एक ओर तो 'ब्रिटेन की दासी' दिल्ली अपना नया रूप-रंग संवार कर बैठी थी, किंतु दूसरी ओर देश के दीवाने स्वतंत्रता देवी को प्राप्त करने के लिए जीवन-मरण के संघर्ष में जुटे हुए थे। यही विरोध इस कविता की प्रेरणा थी—

दिल्ली तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फंसेगा?
बाट जोहती खंडहर में हम कंगालों की रानी।

1945 में सोवियत रूस ने हिटलर की तानाशाही शक्ति पर शानदार विजय प्राप्त की। यह एक प्रकार से रूस की विजय नहीं, उसकी शासन-प्रणाली अर्थात साम्यवाद की विजय समझी गई। उस समय भारत की स्वतंत्रता उतनी ही दूर लगती थी जितनी कि कभी पहले। एक प्रश्न उठा, क्या साम्यावाद के द्वारा ब्रिटिश नौकरशाही के पांव भी नहीं उखाड़े जा सकते। जैसे-जैसे युद्ध में रूस की अपराजेयता सिद्ध होती गई, वैसे-वैसे साहित्य में प्रगतिवाद जोर पकड़ता गया। 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन को दिनकर ने एक नई दृष्टि से देखा—

इस उद्वेलन-बीच साम्य का
था पूरित उल्लास नहीं क्या?
लाल भवानी पहुंच गई है
भरत भूमि के पास नहीं क्या?

'लाल भवानी' भारत आते-आते चीन की ओर मुड़ गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दिनकर को आशा थी, दिल्ली अपने शोषणाश्रित पूर्व वैभव-विलास को त्यागकर दीन-हीन देश की प्रतिनिधि बनेगी। वह आशा तो शायद गांधीजी के साथ ही सदा के लिए स्वर्ग सिधार गई। अंतिम दो कविताओं में दिनकर ने दिल्ली को देश के नंगे-भूखों की याद दिलाई है। याद ही नहीं दिलाई, किसी आगे आने वाली क्रांति की ओर भी संकेत किया है—

तो होश करो, दिल्ली के देवो, होश करो,
सब दिन तो यह मोहिनी न चलने वाली है,
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की सांसें,
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है।

'दिल्ली' को दिनकर ने एक प्रतीक माना है और उसके द्वारा पहली दो कविताओं में स्वतंत्रता और गुलामी तथा बाद की दो कविताओं में अमीरी और गरीबी के संघर्ष को व्यक्त किया है।

इन कविताओं में भाषा की कुछ असावधानियां भी हैं। 'लखनऊ' को 'लखनउ', 'जहांगीर' को जहांगिर' लिखा गया है। पर यह 1933 की कविता में है। 1954 की कविता में 'धूलियां' और 'रेतों' का प्रयोग किया गया है। शायद 'धूलि' और 'रेत' का प्रयोग बहुवचन में करना अशुद्ध है। 'न्' और 'नहीं' के प्रयोग में जो अंतर है दिनकर अक्सर इसकी ओर ध्यान नहीं देते। साथ ही यह भी कहना चाहूंगा कि दिनकर की कल्पनामयी भावना जिस वेग के साथ चलती है उसमें शायद ही किसी का ध्यान इन छोटी-छोटी भूलों की ओर जाता हो।

इस छोटी-सी पुस्तक[3] में दिनकर की 15 कविताएं संग्रहीत हैं। 1945 और '47 की एक-एक कविता है, 1948 की दो, 1949 की सात, 1950 की दो कविताएं हैं, 1952 और '53 की एक-एक कविता है। नीम अपने देश में अपनी कटुता और रक्तशोधक गुणों के लिए प्रसिद्ध है। इस पुस्तक की अधिकांश कविताओं में ऐसी तीखी आलोचनाएं हैं, जिनके द्वारा देश और समाज में फैले हुए रोगों का कुछ उपचार हो सकता है। संग्रह का यह नाम संभवतः इसी ध्येय से दिया गया है। मेरी समझ से पुस्तक का नाम 'नीम की पत्तियां' होना चाहिए था, न कि 'नीम के पत्ते'। पत्ते तो पीपल के होते हैं, केले के होते हैं। नीम की पत्तियां इतनी छोटी और पतली होती हैं कि उन्हें पत्ता कहना असंगत मालूम होता है।

1945 में उत्तरी बिहार में बाढ़, विशूचिका और मलेरिया से लोग मर रहे थे। पत्रों को देखने से लगता था कि सरकार और नेता बहुत कुछ कर रहे हैं, पर जनता के लिए होता बहुत कम था। दिनकर कटु व्यंग करते हैं—

नेता परीशान, परीशान सरकार है,
बोल मरने का तुझे कौन अधिकार है।

1947 की स्वतंत्रता में दिनकर को देश दो टुकड़ों में बंटा हुआ दिखाई पड़ा। उन्होंने चुनौती दी—

मां का अंचल है फटा हुआ, इन दो टुकड़ों को सीना है,
देखें देता है कौन लहू, दे सकता कौन पसीना है?

1948 की आजादी की वर्षगांठ पर कवि का मन अत्यंत ग्लानि और क्षोभ से भरा था। क्या हमने आजादी के प्रथम वर्ष में ही राष्ट्रपिता की हत्या नहीं कर दी थी? उसने कहा—

हां खूब मनाओ आजादी की वर्षगांठ,
पर, नहीं इस खुशी में कि साल भर हुआ उसे!
इसलिए कि वह अब तक भी तुमसे छिनी नहीं।

आजादी के पश्चात जो पद-लोलुपता, अधिकार-प्रियता और चारित्रिक पतन की बाढ़ आई थी, उसके प्रति भी दिनकर ने अपना असंतोष निर्भीक और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया—

आजादी आई नहीं विकट कुहराम मचा,
है मची हुई अच्छे-अच्छों में मारपीट।
कहते हैं जो थे साधु सरीखे पाक-साफ़,
डुब्कियां लगा वे भी अब पानी पीते हैं।
बिक रही आग के मोल आज हर जिंस, मगर,
अफ़सोस आदमीयता की ही कीमत न रही।

1949 की कविताओं पर किसी भारी अवसाद की छाया है। कवि के स्वप्न-चन्दन को यथार्थ ने जला कर ताप लिया है। जिनसे उसे आशा थी वे तहखानों में चले गए हैं। जब सूर्य मानव को खिला नहीं सकता, चांद उसे शीतलता नहीं पहुंचा सकता, तो अच्छा है उन्हें राहु ग्रस ले—

क्या कहा कि मैं घनघोर निराशावादी हूं,
तब तुम्हीं टटोलो हृदय देश का, और कहो,
लोगों के दिल में अश्रु कहीं क्या बाकी हैं?

'हे राम' (गांधी जी के मुख से निकले अंतिम शब्द) शीर्षक कविता करुण रस में डूबी हुई है। दिनकर अवसाद और निराशा में अधिक समय तक निमग्न नहीं रह सकते। 'गांधी' शीर्षक रचना में उनका स्वर फिर सबल हुआ है और 'जनता और जवाहर' में आशा पुनः जाग उठी है—

झूलता तुम्हारी आंखों में जो स्वर्ग, हमारी आशा है,
तुम पाल रहे हो जिसे, वही भारत भर की अभिलाषा है।

1950 और '52 की कविताओं में यही आशा जन-विश्वास और आत्म-विश्वास में परिणत हो जाती है—

जन-समुद्र यह नहीं, सिंधु है यह अमोघ ज्वाला का,
जिसमें पड़ कर बड़े-बड़े कंगूरे पिघल चुके हैं।
लील चुका है यह समुद्र जाने कितने देशों में
राजाओं के मुकुट और सपने नेताओं के भी। (1950)

और,

उठ मंदिर के दरवाजे से
जोर लगा खेतों में अपने,
नेता नहीं, भुजा करती है
सत्य सदा जीवन के सपने। (1952)

1953 की रचना 'रोटी और स्वाधीनता' में दिनकर का स्वर प्रखरतर होकर घोषित करता है—

आजादी केवल नहीं आप अपनी सरकार बनाना ही,
आजादी है उनके विरुद्ध खुलकर विद्रोह मचाना भी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन रचनाओं में दिनकर ने एक दशाब्द की आशा, निराशा और विश्वास को वाणी दी है। ओज दिनकर की कविता का विशेष गुण है और यही उनकी समयबद्ध कविताओं को चिरजीवी बनाएगा।

भाषा की असावधानियां (जैसे 'चाहिए' के स्थान पर 'चहिए') इस संग्रह में भी मिलेंगी। उसके लिए उनकी भावनाओं का आवेश ही उत्तरदायी है जिसमें पड़कर कभी-कभी उनका ध्यान भाषा की ओर से हट जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक[4] दिनकर की 39 स्फुट कविताओं और एक गीत रूपक का संग्रह है। कविताएं पिछले नौ वर्षों की रचनाओं में से चुनी गई हैं—1946 की तीन, '47 की दो, '49 की तीन, '50 की सात, '51 की चार, '52 की छः, '53 की नौ और 1954 की पांच, गीत-रूपक की रचना-तिथि नहीं दी गई। पुस्तक का नामकरण प्रथम रचना के आधार पर किया गया है। आरंभ में 'दो शब्द' शीर्षक से लेखक ने एक छोटी-सी भूमिका भी दी है।

भूमिका में दिनकर ने इन कविताओं में एक विशेष 'अंतर्धारा' और एक नई 'टेकनीक' का दावा किया है, जिसके कारण, उनके अनुसार ये कविताएं उनकी पिछली कविताओं से भिन्न और उन्हीं के शब्दों में 'सर्वथा नवीन हैं'। इस नवीनता के लिए उन्होंने 'तार सप्तक' और प्रयोगवादियों का ऋण स्वीकार किया है और अपने को उनका 'पिछलगुआ कवि' बतलाया है। उनका कहना है कि प्रयोगवादी इस बात का प्रयोग कर रहे हैं कि कितने उपकरण हैं जिन्हें छोड़कर भी कविता कविता रह जाएगी। इस कारण छंद, कोमलकांत पदावली और निर्धारित विषयों को छोड़कर कविगण अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित विषयों पर लिख रहे हैं। आगे चलकर उन्होंने प्रयोगवादियों की रचनाओं को देश-काल के अनुकूल बतलाया है और उन्हीं के हाथों में हिंदी कविता का भविष्य देखा है। अंत में वे विनम्रतापूर्वक कहते हैं कि 'जहां भविष्य के ये पुरोधा बैठेंगे, वहीं किसी कोने में 'नील कुसुम' भी पायंदाज का काम देगा।'

'नील कुसुम' की रचनाओं और भूमिका को पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि दिनकर या तो अपने आपको नहीं समझते या प्रयोगवाद को। प्रयोगवाद उस सामाजिक व्यवस्था की उपज है जिसमें व्यक्तित्व की महत्ता तो स्वीकार की जाती है, पर व्यक्ति की उपेक्षा होती है। यह उपेक्षित प्राणी अंतर्मुखी हो अपने को जानने और समझने में संलग्न होता है। निश्चय ही वह अपने को अनोखा और अद्वितीय पाता है। उसकी सारी चेतना और अवचेतना इसका सबूत देती है। आश्चर्य ही हो यदि यह विचित्र चेतना मुखरित न होना चाहे। प्रयोगवादी कवि किसी का प्रतिनिधि नहीं होता, उसकी धमनियों में दूसरों का राग नहीं बजता, उसके हृदय में दूसरों के अनल का दाह नहीं समाता, वह केवल अपना प्रतिनिधित्व करता है। उसका काम अभिव्यक्ति पर समाप्त हो जाता है। प्रेषणीयता से उसे कोई सरोकार नहीं। उसकी कविता का ध्येय है, कविता लिखना। वह स्वयं अपना श्रोता या पाठक होता है। अपनी कविता का मतलब जितना वह स्वयं समझता है उतना कोई दूसरा नहीं। उसके जीवन और काव्य की सार्थकता ही है असाधारण होने में, अगम्य होने में, अज्ञेय होने में। उसने छंद क्यों छोड़ दिया है, क्योंकि छंद सांचे हैं जिनमें एक खास तरह की भावना ही ढल सकती है। उसने कोमलकांत पदावली क्यों छोड़ दी है, क्योंकि कोमलकांत पदावली एक ही भावना पर बार-बार काव्यारोप करने से बनती है। जैसे बार-बार मांजने से बर्तन चिकना और चमकीला हो जाता है। पर प्रयोगवादी कवि को हर बार एक नई अनुभूति नहीं, खोज की अभिव्यक्ति करनी होती है। उसके विषय अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित क्यों हैं? क्योंकि वे उसकी चेतना की एक ऐसी तह से आए हैं, जहां दूसरों की बात ही क्या, स्वयं उसकी भी पूरी पैठ नहीं है। वह अपने दिल और दिल से अधिक दिमाग की प्रयोगशाला में एक वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से काम करता है। जिनकी वह शोध कर पाता है उन सत्यों के प्रति वह बहुत ईमानदार भी होता है। जो दूसरों को अद्भुत प्रतीत होता है, वह उसे बहुत स्वाभाविक लगता है। यहां तक कि वह और उसकी कला दोनों कौतूहल बन जाते हैं और अंत में वही व्यवस्था जो ऐसे कौतूहलों को जन्म देती है उन्हें यह कहकर अलग कर देती है—'कला कलाकार के लिए'।

यह सैद्धांतिक बात हुई। पश्चिम में बहुत अंशों में यह साकार भी हो चुकी है। एक प्रकार के आत्म-सम्मोहन से अपने को ऐसी अवस्था में मान लेना कठिन नहीं है। हर नई चीज की नकल करने को जी चाहता है। हर नकल बुरी नहीं होती। कला हर आकृति-विकृति से अपनी प्रगति की सामग्री संचित कर लेती है।

'नील कुसुम' की लगभग आधी रचनाएं ऐसी हैं जिनसे दिनकर की कल्पना में कवि अथवा कलाकार का रूप क्या है, इसे समझने में सहायता मिलती है—'चांद और कवि', 'व्याल और विजय', 'स्वप्न और सत्य', 'भावी पीढ़ी से', 'गायक', 'नर्तकी', 'कवि की मृत्यु', 'नई आवाज', 'तुम क्यों लिखते हो', 'सेतु रचना', 'संस्कार', 'शबनम की जंजीर', 'आशा की वंशी' और 'कवि और समाज'। इनमें हमें कवि के दो रूप मिलते हैं—कोमल और क्रांतिकारी। अपने कोमल

रूप में वह नारी का हृदय रखता है। संसार का विष पीकर मधुर प्रीति का दान करता है। उसके गानों में कोई रुलाने वाली चीज छिपी रहती है। वह सुंदरता की छाया के पीछे दौड़ता है। हवा के खेत में स्वप्न बोता है और आसमान की डालों से तारे तोड़ता है। और अपने गीतों की लाली से आदमी के भीतर की दुनिया को रंग देता है। यह रोमांटिक कल्पना का परंपरागत कवि है। अपने क्रांतिकारी रूप में वह अपनी कल्पना पर धार रखता है, अपने स्वप्न के हाथों में तलवार देता है। अपनी शबनम की जंजीरों से उन्हें बांध सकता है, जिन्हें लोहे की जंज़ीरें भी नहीं बांध सकी थीं। उसके गीतों में हथौड़े की ताकत होती है, जिससे वह जनता के मार्ग में खड़ी चट्टानों को तोड़ देता है। अपनी बांसुरी में जागरण का उद्धार लेकर चलता है। मूकों को वाणी देता है, दूसरों की पीड़ा को मुखरित करता है, क्रांति का आह्वान करता है और शोषितों की ओर से शोषकों को चेतावनी देता है। दिनकर का यही सहज स्वरूप है। उसे हम प्रगतिवादी धारणा का कवि कह सकते हैं। परंतु अपने पहले रूप में दिनकर का कवि केवल दूसरों के लिए ही हंसता, बोलता, गाता या रोता है। दिनकर दूसरों के कवि हैं, अपने नहीं; जन समुदाय के कवि हैं, अकेलेपन के नहीं। वे अकेले नहीं खड़े रह सकते। वे भीड़ के साथ चलते हैं, तूफान में अपने पर खोलते हैं। क्रांति हो तो वे उसे अपनी संवेदना देते हैं, स्वर देते हैं; शांति हो तो क्रांति का स्वप्न देखते हैं, उसकी भविष्यवाणी करते हैं। उन्हें वाद का शौक हो तो उन्हें अपने को प्रगतिवादी कहना चाहिए। वैसे मेरा ध्यान है कि दिनकर—'अंतः शाक्तः बहिः शैवः' हैं और ज्ञापित यह करना चाहते हैं कि वह निरीह प्रयोगवादी हैं—

नई बात क्या कहें? नया हमने क्या सीखा?
उलट-पुलट कर शब्द खेल जितने दिखलावें....

'सभा मध्ये च वैष्णवः'!

'नील कुसुम' में एक भी 'अंतर्धारा' मुझे नहीं दिखाई दी। कुछ कविताएं शोषक और शोषित, विज्ञान और कला, युद्ध और शांति, आने वाली क्रांति एवं अन्य राष्ट्रीय विषयों को लेकर लिखी गई हैं। वास्तव में यही कविताएं सर्वोत्तम हैं। दिनकर इनमें अपनी जमीन पर हैं, अपने पूरे ओज के साथ।

तीन कविताओं में ('अमरता', 'अशब्द', 'नासदीय') सनातन दार्शनिक प्रश्न उठाए गए हैं—इस सृष्टि का आरंभ कैसे हुआ, अमरता के अर्थ क्या हैं और इंद्रियों के परे जो सत्य हैं क्या उन्हें जाना जा सकता है। दो में ('संकेत', 'ये गान बहुत रोए') कवि की रहस्यवादी आस्तिकता अभिव्यक्त हुई है।

तीन गीत विशुद्ध सौंदर्योपासना के हैं, जिनमें पलायनवादी स्वर भी सुनाई पड़ता है—

विधु-मंडल में आज डूब जाने का मैं अभिलाषी। ('चंद्राह्वान')
अब इस महा मधु-पूर्ण निद्रा से न जागूंगा। ('आनंदातिरेक')

ये रचनाएं उस समयांतर की हैं जब दिनकर ने कोई तूफान, भूचाल, आंदोलन, हलचल अथवा क्रांति अपनी प्रेरणा के लिए नहीं पाई है। तब उनकी बहिर्मुखी प्रतिभा ने अंतर्मुखी होने का प्रयास किया है। ऐसे अवसरों पर उन्हें केवल सीमित सफलता मिली है।

कुछ कविताएं फुटकल हैं जैसे— 'जीवन', 'सबसे बड़ी आवाज', 'नीरव प्रकाश' और 'गृह-रचना।' पहली तीन में पुराने, बहुत पुराने विरोधाभासी सत्यों को दोहराया गया है—मौत में जिंदगी छिपी है, मौन में संगीत छिपा है। चौथी की सूझ में मौलिकता है। अनंतता के प्रतीक लोमष ऋषि का एक नई भूमि पर उपयोग किया गया है। इस कारण कविता में बहुत ताजगी आ गई है।

अंतिम गीत-रूपक—'हिमालय का संदेश'—युद्ध और शांति के विषय पर है, किंतु उसके भीतर व्यक्ति और समष्टि, शोषक और शोषित, तन के आहार और मन के चिंतन तथा बुद्धि और भावना की समस्याएं भी उठाई गई हैं और उनका समाधान शाश्वत भारतीय मूल्यों के आधार पर किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि यह 'नील कुसुम' की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

इन कविताओं के अंदर कोई ऐसी 'टेकनीक' भी नहीं है, जिसके कारण इनको दिनकर की पिछली कविताओं से भिन्न समझा जाए या इन पर प्रयोगवाद का प्रभाव समझा जाए। प्रसंगवश मुझे 'रेणुका' और 'नील कुसुम' को साथ ही पढ़ने का अवसर मिल रहा है तथा मेरी यह धारणा है कि 'नील कुसुम' की टेकनीक और भाव-विचार धारा में (उन्हें अलग करना असंभव है) कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसकी जड़ें 'रेणुका' में मौजूद नहीं हैं। कविताओं में छंदों को नहीं छोड़ा गया है। कहीं-कहीं तुक अवश्य छोड़ दिए गए हैं, पर लय का कसाव उनके अभाव को खलने नहीं देता। कोमलकांत पदावली दिनकर की ओजस्विनी कविता के लिए कभी आवश्यक नहीं थी। भाषा की प्रखरता और प्रवाह, जो उनकी कविता में पहले भी था, अब और तेज हो गया है। अपरिचित, अनपेक्षित, अप्रत्याशित विषय भी उनकी कविताओं के कहां हैं? कुछ नई उपमाओं का उपयोग अवश्य किया गया है, जैसे वातायन की उपमा संधि-पत्र से, अथवा स्वप्नों के तिरोधान होने की समता आंखों पर से हरे चश्मे के गिर जाने से। पर उनके लिए कवि को किसी प्रयोगवादी की शिष्यता करने की आवश्यकता नहीं थी। यदि इन्हीं के कारण दिनकर ने अपने को प्रयोगवादी समझ लिया है तो उनका प्रयोगवादीपन बहुत छिछला है। दिनकर की टेकनीक का मूल है भावों के आवेश और कल्पना की तेजस्विता में। 'नील कुसुम' को उनकी सर्वोत्तम कविताओं से परखें तो कवि की आशंका के विपरीत मैं उनको 'चढ़ाव की कविताएं' कहूंगा। जहां दिनकर ने भावों की आर्द्रता एवं स्थिरता और कल्पना की मनोरंजकता एवं स्वाभाविकता का आश्रय लिया है वहां अवश्य उनकी रचनाएं 'उतार की कविताएं' हो गई हैं। जिस दिन दिनकर प्रयोगवादी मनोस्थिति और टेकनीक को सचमुच स्वीकार कर कविताएं लिखेंगे मैं उसकी कल्पना से भी भयभीत हो उठता हूं। मेरी निश्चित सम्मति है कि 'नील कुसुम' की सर्वोत्तम कविताओं की विशेषता उनके 'सर्वथा नवीन' होने में नहीं, अपितु उनकी अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं के स्वस्थ, संबद्ध और क्रमागत विकास में है।

भाषा संबंधी भूलें भी 'नील कुसुम' में कहीं-कहीं हैं, जो दिनकर जैसे प्रौढ़ कवि की रचनाओं में शायद ज्यादा ही खटकती हैं, लेकिन उन्हें तेज धारा में बहते हुए खर-पातों से अधिक नहीं समझना चाहिए। ❑

—अगस्त, 1955

---

1. **रेणुका**: उदयाचल, पटना, 1954, पृ. सं.: 139, मूल्यः ढाई रुपए।
2. **दिल्ली**: उदयाचल, पटना, 1954, पृ.सं.: 23, मूल्यः 12 आने।
3. **नीम के पत्ते** : श्री अजंता प्रेस लिमिटेड, पटना, (प्रकाशन तिथि नहीं दी गई); पृष्ठ संख्या : 39; मूल्य : 12 आने।
4. **नील कुसुमः** उदयाचल, पटना, 1954, पृ.सं.: 106, मूल्यः तीन रुपए।

कहानी

रुक्मा

इलाचंद्र जोशी

रुक्मा सोच रही थी कि ऐसा कैसे हुआ। प्रायः दस वर्ष उसे अपना घर छोड़े कलकत्ता आए हो गए थे। जब से कलकत्ता आई तब से बराबर खिदिरपुर के उसी गली वाले पुराने मकान में कभी ऊपर और कभी नीचे के तल्ले के सील-भरे कमरे में उसके दिन बीते और रातें भी। विवाह होने के बाद केवल एक बार—पहले ही वर्ष वह पहाड़ पर कुछ दिनों के लिए अपने मायके वालों से मिली थी। तब वह 16 साल की नई ब्याही बहू थी और उसका पति कमलापति उसके प्रति सदय था। तब उसके बर्ताव में कोमलता थी और आज के-से रंग-ढंग नहीं थे। जब वह वापस गई थी तब पति ने उसके लिए दो-चार नई साड़ियां खरीद दी थीं; जो बहुत भड़कीली थीं। एक नए बक्स के भीतर वह खुशबूदार तेल की बढ़िया तस्वीर वाली रंगीन शीशी, रंगीन कंघी, शीशा, पाउडर, किस्म-किस्म की रंग-बिरंगी चूड़ियां, तरह-तरह की चमकीली बिंदियां, बढ़िया सिंदूर आदि बहुत-सी चीजें बंद करके ले गई थी। लंबी यात्रा के बाद जब वह गांव पहुंची, तब उसकी पोशाक-पहनावा, रंग-ढंग, साज-सजावट, गुलाब-से खिले चेहरे की चमक, सुंदर, प्रसन्न आंखों की दमक देखकर उसकी सहेलियां चकित रह गईं। जैसे वह उनकी बचपन में पहचानी रुक्मा नहीं, स्वर्ग-लोक से उतरी कोई परी हो। अपने मैले-कुचैले, खेत की मिट्टी से सने कपड़ों से उससे लिपटने का साहस किसी को नहीं होता था। वे केवल अपनी भोली, प्रसन्नता-मिश्रित विस्मय भरी आंखों से उसकी ओर टुकुर-टुकुर देखती रह गईं। रुक्मा स्वयं ही आगे बढ़कर एक-एक करके सभी सहेलियों के गले मिली। पर वह देख रही थी और अनुभव कर रही थी कि वे सभी पहले की-सी निश्छलता और स्वच्छंदता से अब उससे नहीं मिल पाती थीं। वह सचमुच उनसे अब बहुत दूर पड़ गई थी। इस अनुभव

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

से उसका भोला हृदय रो पड़ा था। उसने बार-बार कोशिश की कि उसकी सखियां उसे पहले की ही रुक्मा समझकर हिलें-मिलें और पहले की ही तरह बेतकल्लुफी से खेलें-कूदें और बातें करें, पर उसका कोई फल नहीं हो पाता था। ऐसा नहीं कि वे अब उसे प्यार न करती हों। उसे देखकर सभी की आंखें प्यार और प्रसन्नता से भर-भर आती थीं, पर साथ ही संभ्रम भरी ईर्ष्या का जो एक सुस्पष्ट भाव उनकी आंखों में झलकता था और उनके बर्ताव से प्रकट होता था, वह रुक्मा को अपने लिए बड़ा ही घातक और मारक लगा था। उसे लगा कि वह अपनी सखियों से और अपने घर वालों से केवल पहाड़ से कलकत्ता जाकर ही दूर नहीं हुई थी, उनके निकट आने पर भी वह दूरी वैसी की वैसी बनी रह गई है, बल्कि और अधिक बढ़ गई है। एक महीने मायके रहकर जब वह उन सब लोगों से विदा होने लगी, तब उसके पति, चाचा और विधवा फूफी के अतिरिक्त उसकी सखियां और गांव की कुछ बड़ी-बूढ़ियां भी उसे प्रायः दो मील तक पहुंचाने गई थीं। सबको लग रहा था जैसे गांव से कोई बड़ी निधि जा रही हो। वह घर में रंगाई गई बड़ी-बड़ी लाल बुंदकियों वाली पिछौरी के नीचे कत्थई रंग का लहंगा पहने थी। नाक के कुछ ही ऊपर से मांग तक उज्ज्वल लाल रंग का एक लंबा टीका उसके मस्तक की शोभा बढ़ा रहा था। सभी समवयसी और जवान स्त्रियों को उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या हो रही थी और वे सब उसके प्रायः सैंतीस-अड़तीस साल की उम्र वाले पति की ओर ललकती हुई आंखों से देख रही थीं—उसे रुक्मा के इतने बड़े भाग्य का विधायक जानकर दो मील के बाद सभी स्त्रियां वापस जाने लगीं। रुक्मा ने फूफी और बड़ी-बूढ़ियों को प्रणाम करके और सखियों के गले मिलकर गीली आंखों से सबसे विदाई ली। उसके बाद रह गए उसके चाचा, उसका पति, एक कुली और वह स्वयं। मोटर स्टेशन तक पहुंचने के लिए तीन मील और चलना था। कुछ दूर तक चढ़ाई पर चलने के बाद उतार आ गया और वे लोग तेज कदम रखते हुए अंतिम मोटर के छूटने के कुछ ही समय पहले पहुंचे। मोटर पर उन लोगों को चढ़ाकर चाचा भी रुक्मा का प्रणाम लेकर और स्नेह-रस से भरी और बिछोह की व्यथा में डबडबाई आंखों से दोनों को आशीर्वाद देकर विदा हुए। मोटर संध्या को काठगोदाम पहुंची। तब तक गाड़ी नहीं

छूटी थी। जब रुक्मा पति के साथ गाड़ी पर इत्मीनान से बैठ गई, तब चारों ओर के पहाड़ों को उसने एक बार जी भरकर देखा। एक ठंडी आह उसके अंतर से निकल गई। गाड़ी छूटी और उसने मन-ही-मन उन हरे-भरे पहाड़ों को प्रणाम किया।

तब से फिर कभी उन पहाड़ों के दर्शन उसे नहीं हुए। पूरे दस वर्ष बीत चुके थे। तब की स्थिति और आज की स्थिति में कितना बड़ा अंतर आ गया, वह यही सोच रही थी। गर्मी के दिन थे, दोपहर का समय था। भीतर से दरवाजा बंद करके वह फर्श पर लेटी हुई थी। उसका पति दफ्तर में था और वह घर पर अकेली थी। पति कमलापति जहाज की किसी कंपनी के माल के दफ्तर में एक साधारण क्लर्क की हैसियत से काम करता था। लड़ाई के जमाने में उसने दूसरे कर्मचारियों के साथ मिलकर हजारों रुपया कमाया था। तब अंधाधुंध और बेहिसाब का माल सिपाहियों के लिए बाहर जाता था और आता था। उसकी लूट भी बीच में उसी अंधाधुंध तरीके से होती थी। कमलापति मालामाल बन गया था। शराब में, जुए में और दूसरे अपकर्मों में दोनों हाथों से रुपए लुटाता था। उन्हीं दिनों उसके पहले विवाह की स्त्री की मृत्यु हो गई। दूसरा विवाह करने के लिए वह घर गया। उसने अपने आदमियों से कहा कि वे एक अच्छी लड़की ढूंढें और इस बात की तनिक भी परवाह न करें कि लड़की के घर वाले गरीब हैं या धनी, सामाजिक दृष्टि से ऊंचे हैं या नीचे। लड़की सुंदर चाहिए, बस। फलस्वरूप रुक्मा का आविष्कार हुआ। वह वास्तव में बहुत सुंदर थी। रुक्मा स्वयं भी प्रतिदिन सखियों के मुंह से अपने रूप की प्रशंसा सुनते रहने और स्त्री-पुरुषों की ललचाई आंखों को अक्सर अपनी ओर गड़ी हुई देखने से यह जान चुकी थी कि उसके चेहरे में कुछ विशेषता है। जो भी हो, एक दिन कमलापति स्वयं अपनी आंखों से देखने के लिए बढ़िया सूट-बूट और कालर-टाई से सुसज्जित होकर एक छड़ी हाथ में लेकर जब रुक्मा के गांव में पहुंचा तब रुक्मा घास का एक गट्ठर सिर पर लादकर अपनी गाय के लिए ले जा रही थी। उस दिन की याद रुक्मा को अच्छी तरह थी। उसने कमलापति को देखकर समझा था कि कोई बड़ा सरकारी अफसर होगा। वह सहम गई थी और भय से कांपने लगी थी। भय का कारण वह स्वयं नहीं जानती थी। जब उसने देखा कि उस 'अफसर' के साथ आए हुए दो आदमी उसी की ओर उंगली से इशारा कर रहे हैं, तब तो उसके भय का ठिकाना न रहा। धड़कते हुए हृदय से वह प्रायः दौड़ती हुई अपने घर की ओर भागी।

कमलापति को पहली ही दृष्टि में वह पसंद आ गई। वह उसके चाचा से मिला। रुक्मा के माता-पिता दोनों ही बहुत पहले गुजर चुके थे। उसके चाचा और विधवा फूफी ने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया था। वे लोग बहुत ही साधारण किसान थे। उस दिन केवल मिलना ही हुआ। उसके बाद एक दिन कमलापति के आदमियों ने विवाह की बातचीत चलाई, तब चाचा को अपने भाग्य पर पहले विश्वास नहीं हुआ। वर की उम्र लड़की से प्रायः ढाई गुना अधिक जानकर भी उसके उत्साह में कमी नहीं आई। पढ़ा-लिखा, पैसे वाला, उन लोगों की अपेक्षा कई गुना अधिक ऊंचे कुल वाला वर उन लोगों को कहां मिलता! फलतः शादी तत्काल तय हो गई और रुक्मा जल्दी ही एक दिन 'अफसराइन' बन गई। गांव के लोग सचमुच उसे स्नेहपूर्ण परिहास में 'अफसराइन' कहने लगे। वह सुनती, सिर नीचा करके मुस्कुराती और मन-ही-मन गर्व का अनुभव करती।

रुक्मा को कलकत्ता लाने पर प्रारंभ में, प्रायः एक वर्ष तक, कमलापति ने काफी आराम और प्यार से रखा। वह अक्सर उसे टैक्सी पर बिठाकर कभी सिनेमा दिखाने ले जाता, कभी थियेटर। कभी छुट्टी के दिन घुड़दौड़ के मैदान में ले जाता, कभी बोटैनिकल गार्डन की सैर कराता। तरह-तरह की रंग-बिरंगी साड़ियां और गहने भी उसने उसके लिए खरीदे। एक बंगाली नौकरानी उसके साथ के लिए रखी। चूल्हा-चौका करने वाली नौकरानी अलग से आती थी। रुक्मा पहाड़ से बिछोह का अनुभव हर समय करते रहने पर भी एक प्रकार से खुश थी। पति का प्यार पाकर उसे संतोष था, हालांकि तब भी कमलापति अक्सर रात में देर से आता और जब आता तो उसके मुंह से विकट दुर्गंध आती। उस हालत में उसका व्यवहार जंगलियों और उजड्ड लोगों का-सा रहता। फिर भी वह संतुष्ट थी, क्योंकि तब वह जानती थी कि वह उसे प्यार करता है।

पर दूसरे ही वर्ष से स्थिति एकदम बदल गई। लड़ाई खत्म हो गई और सिपाहियों के लिए अंधाधुंध माल का भेजा जाना एकदम बंद हो गया। कमलापति और उसके साथियों की ऊपरी आमदनी प्रायः शून्य के बराबर रह गई। केवल वेतन शेष रह गया, जो डेढ़ सौ से अधिक नहीं था। 'सुकाल' के दिनों में जो हजारों रुपया उसने कमाया था, उसमें से एक पाई भी बचा नहीं पाया था। जितना भी रुपया हाथ में आता गया, उसे वह मुक्तहस्त होकर फूंकता चला गया था।

रुपया चला गया था, पर बिगड़ी हुई आदतें बची रह गई थीं। शराब का चस्का नहीं छूट पाता था और जुए की इल्लत घटने की बजाय और बढ़ गई थी। रुपया न रहने पर किसी भी हताश आदमी के लिए जुआ यों भी एक बहुत बड़ा आकर्षण बन जाता है, फिर जिसे पहले ही से आदत पड़ी हुई हो, उसे तो उस हालत में जुए के पीछे अपना सर्वस्व गंवाकर भी संतोष नहीं हो सकता। फल यह हुआ कि एक-एक करके रुक्मा के गहने गायब होते चले गए। दोनों नौकरानियां अलग कर दी गईं। सिनेमा और थियेटर जाना तो बंद हुआ ही, कमरे से बाहर निकल पाना भी रुक्मा के लिए दुश्वार हो गया। पहले उसी मकान के ऊपर जो दो अच्छे और हवादार कमरे कमलापति ने किराए पर ले रखे थे, उनका किराया ज्यादा होने के कारण सबसे नीचे के तल्ले में सील और बदबू से भरा एक कमरा, जो संयोग से खाली ही पड़ा था, सस्ते किराए पर ले लिया। रुपए-पैसे की तंगी के कारण कमलापति के स्वभाव में भी बहुत बड़ा अंतर आ गया। केवल उसके मिजाज में ही चिड़चिड़ापन नहीं आया, बल्कि वह शक्की भी हो गया। बात-बात में वह रुक्मा के चरित्र के संबंध में संदेह प्रकट करने लगा। दिन में अपने निपट अकेलेपन से उकताकर वह कभी-कभी उसी मकान में ऊपर के तल्ले के अपने पुराने पड़ोसियों के यहां स्त्रियों के साथ बैठने चली जाती थी। दो परिवारों से उसकी विशेष घनिष्ठता थी, जिनमें एक बंगाली था और दूसरा पंजाबी। बंगाली से भी अधिक पंजाबी परिवार से उसका हेलमेल था। वह न तो बंगला ही ठीक से समझ पाती थी न बंगाली हिंदी। पंजाबी परिवार की स्त्रियों को अपने अधिक निकट पाती थी।

एक दिन कमलापति दफ्तर से कुछ जल्दी चला आया। रुक्मा को ढूंढने पर पता चला कि वह ऊपर के तल्ले में पंजाबियों के कमरे में है। जब रुक्मा नीचे आई, तब उसने उसे बुरी तरह डांटना और बुरा-भला कहना आरंभ कर दिया। क्रोध से कांपता हुआ वह बोला– "मैं जानता हूं कि ऊपर जो एक पंजाबी छोकरा रहता है, वह जवान है और मुझसे ज्यादा खूबसूरत है। इसीलिए उस पर तुम्हारी नजर गड़ी हुई है। यह न समझना कि मैं अंधा हूं। तुम दोनों को एक दिन वह मजा चखाऊंगा..." आदि-आदि।

पहले तो रुक्मा कुछ समझ ही न पाई। पर दूसरे ही क्षण उसकी बात के भीतर छिपा हुआ एक अस्पष्ट संकेत उसके आगे धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। वह थरथर कांपती हुई मूढ़ दृष्टि से उसकी ओर देखती रह गई। उसकी ओर देखते हुए पहली बार उसे लगा कि वह इधर सचमुच पहले से अधिक कुरूप हो गया है। कमलापति की हिंस्र आंखों के इर्द-गिर्द, उसके कपाल में और गालों पर जो टेढ़ी-मेढ़ी झुर्रियां इधर कुछ समय में पड़ गई थीं, वे इस समय और अधिक विकट तथा भयंकर दिखाई देने लगीं। देखकर वह इस कद्र डर गई कि उसके मुंह से अपनी सफाई में एक भी शब्द नहीं निकल पाया। उसने चुपचाप उसकी ओर से पीठ फेर ली और अंगीठी में कोयले डालकर चाय का पानी चढ़ाने की तैयारी करने लगी।

आज सुबह जो घटना घट चुकी थी, उसी सिलसिले में रुक्मा को सीमेंट पर लेटे-लेटे वे सब पुरानी बातें एक-एक करके याद आ रही थीं। वह सोच रही थी कि एक ओर वह इस कद्र शक्की बन गया था और दूसरी ओर यह हाल था कि जब कभी कोई आग़ा ब्याज का रुपया वसूल करने के लिए सवेरे ही घर आकर दरवाजा खटखटाता, तब वह स्वयं गुसलखाने में छिप जाता और रुक्मा से कहता कि दरवाजा खोलकर उससे कह दो कि वह घर पर नहीं हैं। दो-एक दिन बाद स्वयं तुम्हारे घर आकर रुपया दे जाएंगे। आग़ा लोगों की आकृति, गुण, स्वभाव, चरित्र और पेशे के संबंध में रुक्मा को कोई जानकारी नहीं थी। जब पहली बार उसने एक भीमकाय आग़ा को लंबी लाठी हाथ में लिए दरवाजे पर खड़ा देखा और विचित्र उच्चारण के साथ उसका गर्जन सुना, तब उसे पता लगा कि मारे भय के वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ेगी। किसी तरह कांपते हुए गले से उसने अपने पति की बात अपनी ओर से दोहराई। आग़ा ने गरजते हुए कहा–"परसों रुपया जरूर मिल जाना चाहिए नहीं, तो नतीजा अच्छा न होगा।" सुनकर रुक्मा ने हड़बड़ाते हुए दरवाजा बंद कर लिया और दुख, क्रोध, लज्जा और भय से वह रो पड़ी थी।

अक्सर शनिवार को रात भर और इतवार को दिन भर कमलापति के यहां उसके जुआरी साथियों की बैठक जमती। कमरे के आर-पार एक काला पर्दा टांग दिया जाता। एक-चौथाई भाग में रुक्मा सिकुड़कर बैठी या लेटी रहती और शेष तीन-चौथाई भाग में जुआ होता और देसी शराब के दौर चलते रहते। बीच-बीच में जुआरी बुरी तरह लड़ते, झगड़ते और एक-दूसरे को बहुत गंदी और अश्रव्य गालियां देने लगते। सुनकर रुक्मा का शरीर और मन लज्जा, घृणा और ग्लानि से कंटकित हो उठता। फिर कुछ ही समय बाद अट्टहास और परस्पर प्रेमालाप चलने लगता। रुक्मा को कई बार उन लोगों को चाय पिलानी पड़ती और कभी-कभी खाना भी खिलाना पड़ता। पता नहीं, जुआ खेलने के दिन कमलापति के पास रुपया कहां से आ जाता और चाय, चीनी और दूसरा सामान कहां से आकर जुट जाता! रात-भर जगे रहने के बाद दूसरे दिन जब वह कमरे की सफाई करती, तब फर्श पर पड़े सिगरेटों और बीड़ियों के जले हुए टुकड़ों का ढेर उसे बटोरना पड़ता। कमलापति जीता या हारा, इसका पता उसे आसानी से लग जाता। जिस दिन वह हारा होता उस दिन रुक्मा पर किसी-न-किसी बहाने बुरी तरह मार पड़ती और बात-बात पर गंदी से गंदी गालियों की बौछार होती और जिस दिन वह जीता होता, उस दिन बड़े ही प्रेम और सांत्वना के स्वर में कमलापति कहता–"तुम घबराती क्यों हो? मैं आज ही तुम्हारे लिए पहले से भी बढ़िया गहने और कपड़े खरीद दूंगा। जल्दी ही हम लोगों के दुख के दिन दूर हो जाएंगे।" पर फिर कभी न गहने खरीदे जाते न कपड़े। दूसरी ही बार उस पर उसी तरह मार पड़ती और गालियां बरसने लगतीं। जीत के दिन कभी-कभी ही आते, अधिकतर हार की ही प्रतिक्रिया का सामना रुक्मा को करना पड़ता।

इस बार भी शनिवार को रात भर जुआ होता रहा, पर दूसरे दिन इतवार को, किसी कारण से जुआरी नहीं जुट पाए। दिन के बदले इस बार इतवार को भी रात में बैठक जम गई। लगातार दो रातों के जागरण का फल यह हुआ कि रुक्मा न चाहने पर भी सुबह चार बजे के करीब बरबस बेखबर होकर पर्दे के उस पार जमीन पर लेट गई। उसके बाल बिखरे हुए थे और साड़ी अस्त-व्यस्त पड़ी थी। साढ़े पांच बजे के करीब जब सभी जुआरी चले गए, तब कमलापति ने पर्दा हटाया। रुक्मा को बेखबर बाईं करवट देखकर उसका पांव खुजलाया और उसने खींचकर एक लात जमाई। अर्द्ध-जागरण की-सी अवस्था में रुक्मा ने करवट बदलते हुए कहा–"क्या बात है?" और फिर उसी क्षण उसकी आंखें बरबस मुंद गईं। कमलापति ने पूरी ताकत से एक दूसरी लात मारी और फिर तीसरी और चौथी.....। आंखें मलती हुई रुक्मा हड़बड़ाती हुई बोली–"यह क्या कर रहे हो?"

"हरामजादी, तुझे शरम नहीं आती इस तरह बेहूदा ढंग से लेटते हुए! उठ, झट से एक प्याला चाय तैयार कर। रात-भर का जगा हूं, इतनी देर तक एक प्याला चाय भी नहीं मिली। ऐसी औरत के साथ गृहस्थी चलाने से तो मर जाना अच्छा है।"

रुक्मा एक शब्द भी न बोली। साड़ी के छोर को सिर के ऊपर सरकाती हुई चुपचाप उठी और अंगीठी जलाने लगी।

दिन में जब कमलापति दफ्तर चला गया, तब आज बहुत दिनों के बाद उसे अपनी सारी स्थिति पर विचार करने की इच्छा हुई। किवाड़ बंद करके वह सीमेंट के ऊपर ही लेट गई। दरी भी उसने नहीं बिछाई। गर्मी बहुत कड़ी थी और भीतर दम घुटा जा रहा था। उसके पास हाथ का पंखा भी नहीं था। एक फटा-पुराना अखबार मोड़कर उसी से कुछ क्षण हवा करती रही, बाद में उसे भी छोड़ दिया। गली में अपेक्षाकृत सन्नाटा था, पर गली के पास ही पूरब की ओर बड़ी सड़क से निरंतर मोटरों और ट्रामों की घर्घर ध्वनि, भोंपू और घंटी की आवाज मन की और बाहर की शांति भंग कर रही थीं।

लेटे-लेटे वह सोचने लगी कि उसके जीवन की गाड़ी कहां से कहां जाकर टकराई और कहां आकर दलदल में फंसकर रह

गई। ठीक इन्हीं शब्दों में सोचने की बुद्धि उसमें नहीं थी। पर उसके बहुत चोटें खाए हुए पीड़ित और तपे हुए अंतर में भाप की तरह निकलने वाले भावों की अस्पष्ट रूप-रेखा कुछ इसी प्रकार थी। उसे उस दिन की याद आ रही थी, जब उसकी सखियां और गांव की दूसरी स्त्रियां ललकती हुई आंखों से उसे और उसके पति की ओर देखती हुई उसके 'सौभाग्य' के प्रति ईर्ष्यालु-सी हो उठी थीं। न जाने कितने युग बीत गए उसे पहाड़ को छोड़े! कलकत्ता के ऊंचे-ऊंचे, पाषाण से भी कठोर धातु के बने भवनों और मनुष्य के अस्तित्व की तनिक भी परवाह न करने वाली बड़ी-बड़ी मोटरों और ट्रामों के बीच दस वर्ष तक रहने से उसका हृदय भी जैसे पथरा गया था और वह अपने अस्तित्व के उस मूल स्रोत को ही भूल गई थी, जिसमें उसका प्रारंभिक जीवन लहलहाया हुआ था। वह स्रोत भरी जवानी के तट पर आते-न-आते न जाने किस भीषण रेगिस्तान के भीतर फंसकर, सूखकर, उससे कटकर रह गया। कलकत्ता में लाखों आदमी रहते हैं पर अपने दस वर्ष के जीवन में कहीं किसी मनुष्य से सहृदय प्राणों का स्पर्श तो क्या, छाया तक नहीं पाई थी। वे सब मनुष्य उसके लिए जैसे किसी निराले ही लोक के विजातीय जीव थे। वे प्रेत, पिशाच, भूत, बेताल, यक्ष, दानव या इसी तरह की किसी और योनि के प्राणी भले ही हों, पर मनुष्य नहीं थे। वह उनसे चारों ओर से घिरी रहने पर भी किसी निर्मम जादूगर के विचित्र अभिशाप से उनके संग-स्पर्श से एकदम परे थी। उनकी सांस भी उसकी सांस से आकर नहीं टकराती थी और जिन लोगों में जिस ऊंची पहाड़ी धरती से उसके प्राण कभी एक रूप में बंधे थे, उन लोगों से कितनी दूर वह पड़ गई थी! न जाने कितने असंख्य योजनों का, कितने अनंत युगों का व्यवधान उनके और उसके बीच में पड़ गया था। उसकी निद्रालु आंखें झपकती चली जा रही थीं और साथ ही उसके अंतर्लोक से उठने वाली भाव-छायाएं विचित्र से विचित्रतर, अस्पष्ट से अस्पष्टतर रूप धारण करके उसके सिर के भीतर चक्कर काटती हुई एक अनोखा, उद्दाम और उच्छृंखल नृत्य-सा करने लगी थीं।

सहसा उसने अनुभव किया कि उसका शरीर हल्का होता चला जा रहा है। दूसरे ही क्षण वह रुई से भी हल्की होकर आकाश में उड़ने लगी और बहुत दूर तक उड़ने के बाद जब नीचे उतरी तो उसने अपने को एकदम बदला हुआ पाया। साड़ी और जंपर की जगह उसका शरीर लहंगा, पिछौरी और अंगिया से ढका हुआ था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि वह चौदह-पंद्रह बरस की लड़की कैसे बन गई! उसके चारों ओर ऊंचे-ऊंचे पहाड़ थे। वह स्वयं एक ऊंचे टीले पर खड़ी थी। बहुत दूर नीचे एक छोटी-सी नदी के किनारे एक गांव था। लगता था जैसे चारों ओर चांदनी छिटकी हुई है। सर्वत्र सन्नाटा छाया था। वह गला फाड़कर किसी को हांक लगाना चाहती थी, पर आवाज निकलती ही नहीं थी। न जाने कहां कोई एक चिड़िया बहुत ही धीरे स्वर में, कुछ क्षणों के अंतर से बोल रही थी। वह बोलना क्या था, लगता था जैसे अपनी दो नन्ही-सी चोंचों से सिसकारी भर रही हो। जैसे वह उस सारे सन्नाटे के हृदय का स्पंदन हो। वह उस सारी पहाड़ी प्रकृति में—सारे विश्व में—अपने अकेलेपन की अनुभूति से घबरा उठी। वह रोना ही चाहती थी कि सहसा उसके कान खड़े हुए। लगा कि उल्लास भरे स्वर में गाने वाली स्त्रियों और पुरुषों की एक टोली नीचे किसी स्थान से ऊपर की ओर चली आ रही है। आनंद राग में मस्त स्त्रियों और पुरुषों का वह दल निकट से निकटतर आता चला गया। कुछ ही समय बाद उसने देखा कि वे लोग उसके बिलकुल पास ही आ पहुंचे। सबके कपड़े होली के विविध रंगों से रंगे हुए थे। उसने अपने कपड़ों की ओर देखा, उनमें भी लाल, हरे और बसंती रंगों के छींटे जाने कहां से पड़ गए थे। वह दौड़ती हुई नीचे उतरी और स्त्रियों की टोली में जा मिली और उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाती हुई पूरी तरह से गला खोलकर गाने लगी। उसे आश्चर्य हुआ कि उसका गला अचानक अपने-आप कैसे खुल गया! टोली एक ऐसी जगह पहुंची जहां मैदान था। वहां पहुंचकर स्त्रियों ने रास-मंडल की तरह एक गोलघेरा बांध लिया और पुरुषों ने भी अलग एक गोल घेरा बना लिया। ये लोग ताल और लय में नाचने और गाने लगे। रुक्मा के आनंद और उल्लास की सीमा नहीं थी। वह मुक्त कंठ से गा रही थी और स्वच्छंद गति से नाच रही थी। अपने अगल-बगल वह जिन दो लड़कियों का—संभवत: अपनी सहेलियों का हाथ पकड़कर कभी बाएं और कभी दाएं झुककर नाच रही थी, उनमें से एक ने कहा—"अरी रुक्मा, यहां कहां आकर नाचने लगी! तेरी तो शादी हो गई है। तू तो 'अफसराइन' बन गई है। तेरा वह अफसर देखेगा तो क्या कहेगा?"

"कहां हुई मेरी शादी!" रुक्मा ने भार-मुक्त हृदय से निकले हुए आराम के उच्छ्वास के साथ कहा—"पगली कहीं की! वह तो सपना था, मैंने ही तो तुझे बताया था।"

फिर सहसा उसका हृदय धड़क उठा, यह सोचकर कि कहीं सचमुच उसकी शादी हो न गई हो और वह भूल रही हो। गोल घेरे से अलग होकर वह शंकित हृदय से एक अधेड़ स्त्री के पास पहुंची, जो एक किनारे खड़ी थी। "तुम्हीं बताओ मौसी, क्या मेरी शादी हो गई है?" उसने पूछा। पर उस औरत ने कोई उत्तर नहीं दिया। इसी तरह तीन-चार औरतों से उसने बड़ी ही चिंता के स्वर में पूछा, पर सब मुस्कुराकर चुप रह जाती थीं, कोई कुछ उत्तर नहीं देती थी। वह पागलों की तरह इधर-उधर दौड़ने लगी। कौन करेगा उसकी शंका का समाधान? क्या सचमुच उसकी शादी हो चुकी है? नहीं, नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। उसके साथ की इतनी लड़कियों में से जब किसी की शादी नहीं हुई तब उसी की क्यों होगी! पर ये लोग पूछने पर भी कुछ जवाब क्यों नहीं देते? वह उसी घबराहट में पुरुषों के गोल में पहुंची। वह एक-एक करके सबको पहचानने की कोशिश करने लगी। जिसे भी देखती, पहली झलक में उसे लगता था कि उसे वह पहचानती है, पर फिर उसका रूप बदलकर कुछ का कुछ हो जाता था। सहसा उसने देखा कि कमलापति भी उसी मंडली में नाचता हुआ गा रहा है। "ये लोग कौन हैं?" उसने अपने आप से पूछा—"यह मैं कहां आ गई हूं! मुझे दूसरी जगह जाना चाहिए।" दूसरे ही क्षण वह मंडली जुए की बैठक में बदल गई। 'नहीं, मैं तो यहां नहीं थी। मुझे भागना चाहिए।' यह सोचती हुई वह दौड़ती हुई नीचे की ओर गई। वहां अठारह साल के एक लड़के को देखकर उसने पूछा—"सुनो जी, तुम कौन हो?" वह लड़का मुस्कुराया और उसकी आकृति स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई। पहचानकर वह उल्लास में उछल पड़ी और उसकी सारी घबराहट जाती रही। वह तिलोकसिंह था, उसका पुराना साथी, दोपहर में गायों और भैंसों को चराता हुआ एक टीले पर पीठ अड़ाकर बड़े ही मीठे स्वर में वंशी बजाने वाला।

गीत

मधुमय गान कभी गाती है

रामानंद 'दोषी'

मधुमय गान कभी गाती है,
नन्ही-सी यह प्यास अधर की, हो तूफान कभी जाती है।
नयनों मे वह झूम कहां है,
अंतर अब निर्धूम कहां है,
मत वीणा के तार टिकोरो,
यह तुमको मालूम कहां है,
आंसू से भी ज्यादा गीली हो मुसकान कभी जाती है।
सुधि का मृग, कंचन की काया,
खोया-खोया-सा, बौराया,
छवि-संकुल उस बन-वीथी में,
खोज न लेकिन तुमको पाया,
अंतस-पीर पिया-प्राणों से हो अनजान कभी जाती है।
कंपित तन घन अवगुंठन में,
लाज निगोड़ी नमित नयन में,
लौट निठुर तुम चले द्वार से
अर्पण के इस मादक क्षण में,
मेरी भक्ति तुम्हारी करुणा हो व्यवधान कभी जाती है।
यान गान के जो तैराए,
ऊब-डूबते-से उतराए,
जितना ही अवगाहा मन को
पीड़ा के सागर गहराए,
मेरी यह अनुभूति तुम्हारा हो अनुमान कभी जाती है।
प्राण, मिलोगे भुज फैलाए,
या, नयनों में प्रश्न जगाए,
इस उलझन में उलझ-सुलझते
बढ़ते जाते पग पगलाए,
मेरी राह इसी दुविधा में हो आसान कभी जाती है। ❑

—सितबर, 1955

"अरे तिलोकिया, तू यहां कहां? तू ही बता, क्या मेरी शादी हो गई है?"

"नहीं पगली, अभी से तेरी शादी कैसे होगी? तू क्या सपना देख रही है? जब मेरी शादी होगी तब तेरी भी होगी। बैठ, मैं वंशी बजाता हूं, तू सुन!"

चैन की सांस लेती हुई रुक्मा बैठ गई। तिलोकसिंह जेब से वंशी निकालकर बजाने लगा, वही पुराना मीठा उदासी से भरा पहाड़ी राग! रुक्मा मग्न मन होकर तिलोकसिंह के सरस, सहृदयता से भरे सुंदर मुख की ओर एकटक देख रही थी। इतने में होली के राग-रंग में मस्त स्त्रियों और पुरुषों की सम्मिलित टोली पहले की ही तरह मस्ती में गाती हुई वहां पहुंच गई। रुक्मा फिर निश्चिंत और भारमुक्त मन से उनके साथ मिल गई और पूरी ताकत से उनके उल्लसित स्वर में स्वर मिलाती हुई, नाचने और कूदने लगी। एक अलौकिक उन्माद, एक स्वर्गीय रोमांच से उसका सारा शरीर, संपूर्ण हृदय और समग्र आत्मा पुलकित हो उठी थी। तिलोकसिंह भी उसके उल्लास से प्रभावित होकर उसी के स्वर का साथ देता हुआ वंशी बजाता जाता था। धीरे-धीरे वह और तिलोकसिंह दोनों आगे बढ़ गए और सारे गायक-दल का नेतृत्व करने लगे।

इतने में सहसा पास ही जैसे कोई पहाड़ फड़फड़ाता हुआ टूटकर गिर पड़ा। रुक्मा चौंक उठी। उसने आंखें खोलीं। बाहर दरवाजे पर बड़े जोरों से 'ठक-ठक-ठक' शब्द हो रहा था।

"कौन है?" हड़बड़ाकर रुक्मा ने पूछा।

"हम हैं आग़ा!" गंभीर गर्जन के साथ बाहर से आवाज आई। सुनकर रुक्मा धक से रह गई। उसे लगा कि उसकी आत्मा उड़कर न जाने कहां, पहाड़ों के भी बहुत ऊपर पहुंच चुकी है। केवल उसका मृत शरीर सीमेंट पर पड़ा हुआ है, जिसे उठाकर ले जाने के लिए बाहर दरवाजे पर यमदूत खड़ा है। ❑

—अक्तूबर, 1955

साहित्य अकादमी

सन् 1956 में साहित्य अकादमी की जनरल काउंसिल की बैठक हुई। प्रस्तुत है **प्रभाकर माचवे** *की लिखी रिपोर्ट का एक अंश।*

साहित्य अकादमी अथवा 'नेशनल एकेडेमी आफ लेटर्स' की स्थापना 12 मार्च 1954 को हुई। इस प्रकार, इस संस्था की आयु अभी दो वर्ष की भी नहीं हुई है। सौभाग्य से संस्था के अध्यक्ष हैं जवाहरलाल नेहरू और उपाध्यक्ष सर्वपल्ली राधाकृष्णन। ये व्यक्ति यहां प्रधानमंत्री अथवा भारत गणतंत्र के उपराष्ट्रपति के नाते नहीं बल्कि साहित्यिक मनीषियों के नाते हैं। इनके अतिरिक्त कार्यकारिणी बोर्ड में बारह और व्यक्ति हैं : मौलाना अबुल कलाम आजाद, सरदार के.एम. पणिक्कर, एम.एम. पांबा-काणे, नामक्कल रामलिंगम पिल्लई, बनारसीदास चतुर्वेदी, पिंगली लक्ष्मी कान्तम, हजारीप्रसाद द्विवेदी, उमाशंकर जोशी, जैनेंद्र कुमार, अन्नदाशंकर राय, हुमायूं कबीर तथा सी.एस. मेनन (कोषाध्यक्ष)। मंत्री कृष्ण कृपलानी हैं। ये बारह सदस्य 72 व्यक्तियों की एक जनरल काउंसिल द्वारा चुने हुए हैं, जिसमें सभी राज्यों के प्रतिनिधि, चौदह भाषाओं के प्रतिनिधि, चौदह विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि, भारत सरकार द्वारा मनोनीत साहित्य के क्षेत्र में विख्यात आठ व्यक्ति, संगीत नाटक अकादमी तथा ललित-कला अकादमी के दो-दो प्रतिनिधि होते हैं। अकादमी के विधान में इस संस्था के उद्देश्य इन शब्दों में दिए गए हैं—'भारतीय साहित्य के विकास के लिए कार्य करने वाली यह एक राष्ट्रीय संस्था है, जिसका उद्देश्य है ऊंचे साहित्यिक मानदंड कायम करना, सभी भारतीय भाषाओं में जो साहित्यिक कार्य हो रहे हैं उन्हें आगे बढ़ाना और उनमें मेल पैदा करना और इस प्रकार देश की सांस्कृतिक एकता को और सुदृढ़ करना।' यद्यपि यह संस्था शिक्षा मंत्रालय की ओर से स्थापित की गई है। फिर भी इस संस्था का कार्य पूर्णतः स्वतंत्र है।

राधाकृष्णन ने इसके उद्घाटन के अवसर पर साहित्य के आदर्श निर्माण की ओर निम्न शब्दों में स्पष्ट संकेत किया था :

"साहित्य अकादमी शीर्षक में दो शब्द हैं : 'साहित्य' संस्कृत है, 'अकादमी' ग्रीक। इस नाम से ही हमारा विश्वात्मक दृष्टिकोण और आकांक्षा सूचित होती है। साहित्य का अर्थ है वाङ्मय या शब्दमय रचना; अकादमी का अर्थ है इस विषय में रस लेने वाले व्यक्तियों का सम्मिलन। इसलिए साहित्य अकादमी उन सब व्यक्तियों की सभा है, जो रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य में रस लेते हैं। मूलतः जहां तक विचार, मनन-चिंतन और बौद्धिक तथा आध्यात्मिक कार्यशीलता का प्रश्न है, व्यक्तियों को एकदम स्वाधीन और स्वतंत्र छोड़ना चाहिए।"

साहित्य अकादमी की स्थापना के दिन जनरल काउंसिल की बैठक हुई जिसमें 43 सदस्य उपस्थित थे। अस्वस्थ होते हुए भी अध्यक्ष ने उस बैठक की सदारत की। बैठक अध्यक्ष के निवास स्थान पर हुई। सवेरे अपनी अनुपस्थिति के लिए क्षमा मांगते हुए अध्यक्ष नेहरूजी ने पहले हिंदी में और बाद में अंग्रेजी में कहा : "मुझे भी, सरकार साहित्य का काम करे, यह बात अच्छी नहीं लगी। जहां तक मेरा संबंध है, यह बात कुछ हद तक ही सही है। मुझे और कोई रास्ता नहीं दिखाई दिया, सिवा इसके कि सरकार यह काम करे। इसलिए इसे करना ही पड़ा।....साहित्य, भाषा वगैरह के मामले में सरकार के भारी हस्तक्षेप से मैं कुछ डरता हूं। इससे साहित्य का विकास रुक सकता है। समझता हूं कि इन सब बातों में सरकार का बड़ा भारी हस्तक्षेप पहले से है। सरकार के हुक्म से कोई चीज जबर्दस्ती लादना ठीक नहीं। मसलन, हिंदी को ले लीजिए। मुझे यह बात जंचती है कि हिंदी को हमारी राष्ट्रभाषा बनाना सही और उचित था। परंतु और भाषाएं भी राष्ट्र की ही हैं। क्योंकि वे सब महत्वपूर्ण हैं, पर अखिल भारतीय काम-काज के लिए हिंदी को अंग्रेजी का स्थान लेना होगा, और किसी भी भाषा को न हटाते हुए।....

साहित्य का अर्थ क्या है? क्या हम उसे विशाल अर्थ में लेते हैं या कोरे शाब्दिक अर्थ में? मुझे लगता है कि दुनिया के और देशों की अकादमियां जिस उदार अर्थ में साहित्य को लेती हैं, वैसे ही हमें भी लेना चाहिए।...."

जनरल काउंसिल की पहली बैठक में दो महत्वपूर्ण निर्णय किए गए। देश की विभिन्न भाषाओं की साहित्यिक संस्थाओं को मान्यता देने या संलग्न कराने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी साहित्य-अकादमी विभिन्न भाषाओं और राज्यों की विभिन्न अधिकृत साहित्य-संस्थाओं के साथ अनौपचारिक संबंध और सहयोग रखती है। साथ ही यह भी निर्देश दिया गया कि प्रत्येक भाषा के लिए सलाहकार बोर्ड स्थापित किए जाएं। उसके अनुसार प्रत्येक भाषा से 4 से 8 प्रसिद्ध लेखक निर्वाचित हुए और उनके सलाहकारी बोर्ड बनाए गए। हिंदी के सलाहकारी बोर्ड के सदस्य हैं सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, जैनेंद्र कुमार, रामधारीसिंह 'दिनकर', डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा तथा डाक्टर 'बच्चन'।

इस डेढ़ वर्ष के भीतर साहित्य अकादमी की चौदह भाषाओं की सलाहकार समितियों की सभाएं हुईं। इनके अलावा ग्रंथ सूचियां बनाने वाले संपादकों की, कालिदास की कृतियों का शुद्ध-पाठ संस्करण बनाने वाले संपादकों की, आदि ग्रंथ के अनुवाद के विषय में तथा यूनेस्को को अनुवाद के लिए भारतीय साहित्य से चुनी हुई पुस्तकें सुझाने के लिए विशेष समितियों की सभाएं बुलाई गईं। और विदेशी भाषाओं से सौ 'क्लासिकल' ग्रंथ चुनने के लिए एक विशेष समिति बुलाई जाने वाली है। ❑

—जनवरी, 1956

साहित्य

काव्य और संगीत

देवीशंकर अवस्थी

इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार की मनुष्य के हृदय पर बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया यह होती है कि वह 'शाश्वत' और 'चिरंतन' के चक्कर में पड़ जाता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वह ऐसे तथ्यों, ऐसे संबंधों की प्यास जगा लेता है जो 'शाश्वत' या सनातन हों। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसके मन में अनेक धारणाएं बद्धमूल हो जाती हैं और उन धारणाओं की कभी-कभार ही वह विवेकपूर्ण समीक्षा करने बैठता है। काव्य और संगीत में कोई अन्योन्याश्रित संबंध है, ऐसा विश्वास हमारे मन में अनजाने ही गहरी जड़ें जमा बैठा है। यों तो कला के सभी प्रकार मूल रूप से एक हैं। उनकी जड़ में एक सहज प्रयोजनातीत आनंदिनी वृत्ति, सृजन के लिए एक उत्कट लालसा, अभिव्यक्ति और प्रकाश की दुर्दम अभिलाषा विद्यमान है। यहां पर बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक छानबीन करने से संभवतः अपने मूल विषय से हम हट जाएंगे, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कला मूल रूप से एक है। लेकिन यदि इसके आगे बढ़कर यह कहा जाए कि कला के विविध प्रकार, उसके विकसित रूप भी एक हैं, अन्योन्याश्रित हैं, तो मैं आपत्ति करूंगा।

काव्य और संगीत दोनों के मूल में, कहते हैं, ध्वनि या नाद है। लयात्मक ध्वनि के आधार पर ही संगीत चलता है और ध्वनियों से ही शब्द बनते हैं, जो काव्य के उपजीव्य हैं तथा अब तक की प्रचलित परिपाटी के अनुसार छंद की लयात्मकता के भीतर होकर गुजरते हैं। यहीं पर प्रश्न उठता है कि क्या संगीत और छंद की लय एक ही है? ऐसे स्थलों पर दार्शनिक विवेचन न कर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए, ऐसा मेरा अनुरोध है। अन्यथा हम कुछ ऐसी भाषा में बातें करने लगेंगे कि सारे विश्व में एक लय व्याप्त है, सारी कलाएं लय पर आधारित हैं, आदि। और यह भाषा, स्पष्ट है कि, विश्लेषण से दूर ले जाने वाली और अवैज्ञानिक है। हम बहुधा देखते हैं कि छंदशास्त्र की दृष्टि से गलत चरणों को संगीत द्वारा ठीक कर लिया जाता है। छंद के दोष संगीत के आरोह-अवरोह मे व्याघात नहीं उपस्थित कर पाते। कवि लोग बहुधा गले द्वारा मात्राएं घटा-बढ़ा लेते हैं, इसका अनुभव कवि सम्मेलनों में कभी भी किया जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में स्वामी हरिदास (तानसेन के गुरु) पर लिखी ये पंक्तियां इस संबंध में उल्लेखनीय हैं, 'इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ-कुछ ऊबड़-खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है.....'

रेखांकन : हरिपाल त्यागी

यदि छंद और संगीत को आप खींच-खांच कर अविभाज्य भी मानें तब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या छंद ही कविता है? यदि छंद के गहरे अर्थ खोदकर न लाए जाएं तो संभवतः यह बात निर्विवाद मानी जाएगी कि छंद, या अधिक स्पष्ट कहें तो तुकबंदी और कविता में अंतर होता है। छंद का कार्य काव्य के अर्थ को और अधिक 'प्वाइंटेड' बनाना है। इस तथ्य से सभी सहमत होंगे कि कविता और गद्य का अंतर केवल छंद का अंतर नहीं है। केवल छंदबद्ध-भाषा को आप कविता नहीं कहेंगे। इस संबंध में मुझे अंग्रेजी के प्रसिद्ध समीक्षक हर्बर्ट रीड की बात याद आ रही है। 'इंगलिश प्रोज़ स्टाइल' की भूमिका में उसने बतलाया है, 'गद्य को पद्य से अलग करने के दो मार्ग हैं, एक तो केवल यांत्रिक और बाह्य है: यह कविता को अभिव्यक्ति का ऐसा प्रकार मानता है जो अनिदार्यतः नियमित छंद से संबंधित है।' उसने आगे बताया है कि यह परिभाषा केवल तुकबंदी की है। अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए रीड का कहना है, 'काव्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति है, गद्य निर्माणात्मक अभिव्यक्ति है।' सृजनात्मक का अर्थ 'मौलिक' है। 'काव्य में विचार-प्रक्रिया के साथ-साथ शब्दों का जन्म और पुनर्जन्म होता है..... विचारों और शब्दों के मध्य कोई समय का अंतरावकाश नहीं रहता। विचार शब्द है और शब्द विचार तथा दोनों शब्द और विचार कविता है।'

'निर्माणात्मक से तात्पर्य बने-बनाए माल से है, स्रष्टा के चतुर्दिक प्रयोग के लिए तैयार राशिभूत शब्द। गद्य बने-बनाए शब्दों के आकार को कहते हैं।' श्री जे. मिडलटन मरी ने बताया है कि गद्य में निश्चित चिंतन और निश्चित वर्णन होता है।[1] इस बात को यों समझा जाए कि यदि कोई कवि कमल के फूल पर लिखेगा तो वह उसके सौंदर्य का प्रभावात्मक पक्ष उपस्थित करेगा। परंतु वह ऐसा वर्णन होगा कि आप उसे पढ़कर

कमल का फूल पहचान सकें। शायद आप कमल और कुमुदिनी के मध्य भटक जाएं। परंतु गद्यकार का पुष्प के संवेगात्मक प्रभावों से कोई तात्पर्य नहीं। उसका 'निश्चित वर्णन' पढ़कर आप उसे देखते ही पहचान लेंगे। कविता के बाद गद्य का विकास 'निश्चित चिंतन' के कारण ही हुआ है। उसने गद्य और पद्य के अंतर को आगे बताया है कि 'यह अंतर संवेग की मात्रा का है।' शेक्सपीयर और मैसिंजर की तुलना करते हुए 'मरी' का कथन है: 'एक आवेग की कविता है और दूसरा गणना (विचार) का गद्य है।' स्पष्ट है कि अंतर आवेग और भावुकता का है न कि छंद की यति, गति, ताल और लय का। क्योंकि छंद तो 'एक प्रकार का गद्य में भी होता है।' संस्कृत-साहित्य के रसज्ञ बाण की लयात्मकता से परिचित हैं। वर्ड्सवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है ".....गद्य लिखते समय इतने सहज और स्वाभाविक रूप में छंद की पंक्तियां और अंश आ जाते हैं कि भले ही उनका आ जाना उचित न हो, परंतु उनसे बच पाना लगभग असंभव हो जाता है।" हर्बर्ट रीड और भी आगे बढ़कर बताते हैं कि यह भले ही विरोधाभास जान पड़े परंतु कविता तो एक ही शब्द में हो सकती है (जैसे जापानी कविता)। परंतु गद्य तो सदैव मुहावरे में होगा और मुहावरे में किसी न किसी प्रकार की लय निश्चित रूप से होगी।[2] जे. डेनिस ने आवेग को संगति (हारमनी) से अधिक आवश्यक माना है। कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि संगति का कार्य केवल इतना है कि वह माध्यम की उस विशिष्टता की ओर संकेत कर दे जो गद्य में नहीं है। तात्पर्य वही जो ऊपर मैं कह चुका हूं कि छंद अर्थ को अधिक 'प्वाइंटेड' बना देता है। कविता इसीलिए कविता है क्योंकि वह गद्य से अधिक आवेगपूर्ण और ऐंद्रिक है। 'संगतिरहित आवेग आनंद दे सकता है, परंतु आवेग-रहित संगति उबा देती है।' बल्कि कहना यों चाहिए कि बहुधा आवेग के कारण संगति टूट जाती है। टी.एस. इलियट ने 'रेफ्लेक्शंस आन वर्स लिब्रि' नामक निबंध में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है—"सबसे घनीभूत और सांद्र क्षणों में वेब्सटर की कविता एक छंदजन्य स्वतंत्रता प्राप्त कर लेती है।"

संगीत और काव्य में ध्वनि या नाद संबंधी मूलभूत एकता का प्रश्न फिर भी शेष रहा। यदि हम तनिक विचार कर देखें तो विदित हो जाता है कि संगीत की आधारभूत ध्वनियां सप्त स्वर हैं जो मात्र कंपनों पर आश्रित हैं। इनका सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं और प्रक्रिया से कोई संपर्क नहीं होता। काव्य-साहित्य में ध्वनि-समूहों द्वारा निर्मित शब्द प्रयुक्त होते हैं तथा शब्द अर्थप्रकाशक होते हैं। उनका संबंध बाह्य जगत से होता है। शब्द और अर्थ पर विचार करने वाले जानते हैं कि ये सामाजिक संबंधों के प्रतीक हैं। इस संबंध में हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन द्रष्टव्य है, "वस्तुतः अर्थहीन छंदप्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत की उस सत्ता से जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम से कम योग होता है।..... काव्य और संगीत द्वारा स्पंदित मानव-चित्त के आवेगों में थोड़ा अंतर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पंदन उत्पन्न होता है वह बाह्य सत्ता से पूर्णतया संबद्ध होता है। हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति होती, जितनी काव्यजनित आवेग के कंपन से होती है।"

वास्तव में संगीत में एक विश्वजनीनता होती है जिसका काव्य में अभाव है। बहुधा जिन भाषाओं का हम एक भी अक्षर नहीं जानते यदि वहां के गीतों की 'ट्यूनिंग' ही हम सुन लेते हैं, तो आत्मविभोर हो उठते हैं। संगीत की स्वर-माधुरी मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी तक को सम्मोहित कर लेती है। पर काव्य के साथ यह बात नहीं है; वह भाषा की सीमाओं से बंधा है (शेक्सपीयर या गेटे कितने ही बड़े कवि क्यों न हों, यदि हम उनकी भाषाएं नहीं जानते तो व्यर्थ है)। परंतु यहां पर मैं आपको उस मनोवैज्ञानिक तथ्य की याद दिलाना चाहूंगा जिसके अनुसार मनुष्य का मन सर्वदा कार्य-कारण की श्रृंखला खोजता रहता है। 'संगीत अवच्छिन्न (एब्सट्रेक्ट) होने के कारण अहैतुकी होता है।' कार्य-कारण की समुचित परंपरा का उसमें निर्वाह नहीं हो पाता। इस कारण संगीत की अनुभूति प्रगाढ़ नहीं हो पाती, जबकि अर्थ का आवेग अत्यंत सांद्र होता है। स्वर और अर्थ नितांत भिन्न वस्तुएं हैं। स्वर शीघ्र आकर्षक, पर क्षणिक होता है। अर्थ बौद्धिकता की अपेक्षा रखता है और अपेक्षाकृत स्थाई होता है। 'निशिदिन बरसत नैन हमारे' किसी शास्त्रीय राग के बोल हो सकते हैं, परंतु जब तक पूरा न पढ़ें तब तक उसमें काव्य की सत्ता ढूंढना व्यर्थ है। पर इतने ही बोल हमें संगीत में पूरा आनंद दे जाते हैं।

काव्य और संगीत का पृथकत्व एक बात से और स्पष्ट है। हम अंग्रेजी से परिचित नहीं, पर शेली का काव्य हमें आनंद देता है। संगीत का विश्वजनीन गुण कहकर आप इस तर्क को निरस्त्र कर सकते हैं। परंतु अपने मौलिक रूप में ही नहीं, अनुवाद में भी वे कविताएं हमें आनंद देती हैं। अनुवाद में उसके संगीत की रक्षा तो होती नहीं पर उसके वक्तव्य का सौंदर्य, उसकी चित्रात्मकता हमें रस प्रदान करती है। बहुत-से अंशों में वह अनुवाद मूल जैसा आनंद नहीं दे पाता उसका कारण मूल भाषा के शब्दों का अपना संयोग और चित्र-विधान है। इस संबंध मे इलियट ने बड़ी सटीक बात कही है: "अपने आगे-पीछे आने वाले शब्दों के संबंध तथा संदर्भ के प्रासंगिक अर्थ और उस शब्द के अन्य संदर्भों में प्रयुक्त अर्थ तथा संयोगों की वृद्धि या ह्रास के द्वारा शब्द के संगीत का उदय होता है।" इस कथन में व्यंजित 'अर्थ' की प्रधानता स्पष्ट है।

कम से कम बीसवीं शताब्दी के युग में काव्य की संगीतात्मकता पर जोर देना वास्तविकता से मुंह मोड़ना है। वर्तमान काल की अधिकांश कविता गाने के लिए नहीं, पढ़ने के लिए होती है। साहित्य की ग्राहिका इंद्रिय बदल गई हैं। प्रसाद जैसे अतीतोन्मुख कवि ने भी इस बात को पहचान श्रव्य काव्य को पाठ्य काव्य की संज्ञा दी थी।छापे की मशीन ने कविता को सुनने नहीं, पढ़ने की सामग्री बना दिया है। यह साधारण बात नहीं है। इसने समस्त उपादानों को परिवर्तित कर दिया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "इस मशीन ने पाठक को भावावेश पर से ढकेलकर बुद्धि प्रवाह में फेंक दिया है।" अब पदझंकारमात्रेण मोहित करने का स्थल एकमात्र कवि-सम्मेलन रह गया है तथा कवि सम्मेलनों की उपयोगिता के बारे में शायद दो मत नहीं हो सकते।

जहां तक संबंध का प्रश्न है—काव्य का जितना संबंध संगीत से है, उतना ही चित्र से भी है। काव्य की सबसे बड़ी विशेषता आवेग के बाद बिंब-विधान या चित्रात्मकता ही है। शुक्लजी ने बताया है, 'विभाववस्तु चित्रमय होता है'[3] अतः संगीत पर विशेष जोर देना अनावश्यक है।

कविता

●

रंगोत्सव

प्रयागनारायण त्रिपाठी

जिस क्षण सविता के हाथों से
छटक गिरी होगी यह धरती

अविच्छिन्न, आत्मा-सी प्रियतम,
बेबस, झरते अग्नि-फूल-सी,
उस क्षण किसने सोचा होगा:
हम सब, पृथ्वी-पुत्र, पुलककर
बरस-बरस बोते जाएंगे
मां वसुंधरा के अंतर में
अनल-बीज, जो उग आएंगे,
फागुन की अरुणाभ सांझ में,
अभिनव उत्सव के ऊर्ध्वोन्मुख
लक्ष-लक्ष पावक-प्रसून बन!

जिस क्षण सातों रंग समेटे
भेद असीम तमस, महदंतर,

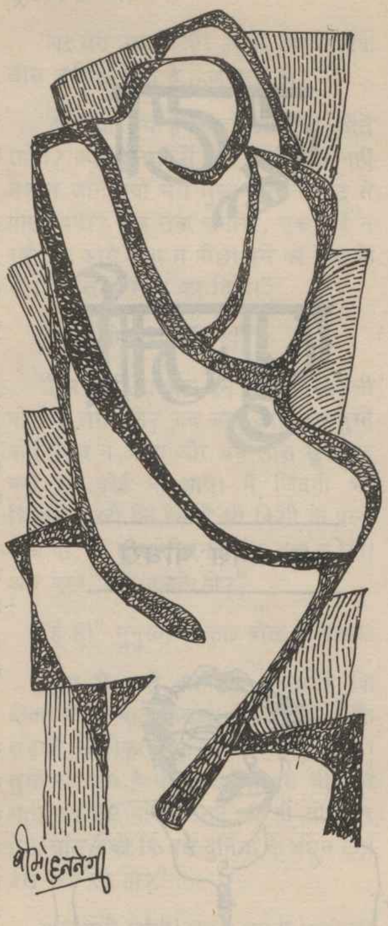

भेंटा होगा प्रथम किरण ने
निज आत्मजा धरा को फिर से,
उस क्षण किसने सोचा होगा:
गोपन सप्तादित्य-वर्ण वे
इतने अधिक हमारे होंगे
जिससे उनको घोल-घोलकर
हम, मनु-वंशज, छितराएंगे
फागुन के स्वर्णाभ प्रात में
वासंती धरती के तन पर
रंगोत्सव के कोटि-कोटि कण!

जिस क्षण मृत उस क्रौंच-युग्म को
देख अचानक फूटी होगी
'मा निषाद्' की, कवि-करुणा की
प्रथम गिरा, नीरव वनांत में,
उस क्षण किसने सोचा होगा:
हम सब जग जन, हम संसारी,
रच देंगे वे गीत मनोहर
करुणा, प्यार, पुलक के, अनगिन,
जो दिशि-दिशि में गूंज उठेंगे
छू लेंगे कण-कण के मन को
झांझ, मृदंग, वेणु, वीणा-स्वर
रंग, उमंग, संग के मधु स्वन! ❑

— मार्च, 1956

आधुनिक युग के महानतम महर्षि श्री अरविंद ने अपने 'द फ्यूचर पोइट्री' नामक ग्रंथ में काव्य की अपील का मूल्यांकन करते हुए तीन अवस्थाएं मानी हैं—ध्वनि मूल्य, विचार मूल्य और आत्मिक मूल्य। उनके अनुसार जब प्रारंभ में मनुष्य काव्य के आनंद की ओर उन्मुख हुआ होगा तब यह आकर्षण शब्द की आह्लादक संगीत-ध्वनि के माध्यम से आया होगा। संभवतः श्री अरविंद की इस प्रथम अवस्था के लिए ही 'पोइट्री इज द बेस्ट आर्डर'—कालरिज़ की यह परिभाषा उपयुक्त है। कुछ और विकसित अवस्था में विचार पाठकों को आकर्षित करता है। पद्मसिंह बिहारी की 'बात की करामात' स्पष्ट करते थे परंतु आज हम तुलसी या प्रसाद का जीवन दर्शन जानने का प्रयत्न करते हैं। काव्य के आत्मिक मूल्यों को हम और ऊंची अवस्था में जाकर अनुभव कर पाते हैं। श्री अरविंद के अनुसार 'भविष्यत काव्य वह काव्य है, जिसमें यह आध्यात्मिक मूल्य अधिक घोषित रूप में रहेगा।'

यदि काव्य के इतिहास की यह अरविंदी अवस्थाएं स्वीकार न भी की जाएं, तब भी व्यक्ति के जीवन में आप कुछ ऐसी बात अवश्य पा सकते हैं। गीता में इस प्रकार की अवस्थाओं की ओर बड़ा सुंदर संकेत किया गया है—

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः।।

आज की कविता इसी बुद्धि (जो केवल आत्मा के नीचे है) की कविता है तथा बौद्धिक अवस्था मनुष्य की विकसित आयु में ही संभव है। लड़कपन में तो वह रंगों और ध्वनियों की ओर ही दौड़ता है। काव्य और संगीत के संबंध में इलियट की यह बात मुझे बहुत अच्छी लगी कि 'कवि और संगीत का निकटतम संपर्क बस लय और आकारबोध के साथ ही होता है।' पर यह लय और आकारबोध बाहरी वस्तुएं हैं—यह हम पहले ही देख चुके हैं। ❑

—फरवरी, 1956

---

1. प्राब्लम आफ स्टाइलः अध्याय 3; जे. मिडलटन मरी

1. इंगलिश प्रोज़ स्टाइल—भूमिका, पृष्ठ 11

2. काव्य में प्राकृतिक दृश्यः पृष्ठ 10

कहानी

टूटा पुर्जा

ए. रमेश चौधरी

जब मुनुस्वामी न आया तो उसकी पत्नी कोंडालम्मा ने मुहल्ले में पांच-दस से कहा, लड़की को सड़क पर भेजा, किसी पड़ोसी को ट्राम शेड के पास पूछताछ के लिए रवाना किया। पर जब उसका कुछ पता न लगा तो परिवार पहले की तरह चलने लगा, जैसे उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति से कोई फर्क न पड़ता हो।

कोंडालम्मा ने दो चार-दिन रसोई जरूर नहीं की, शायद वह भी इसलिए नहीं कि मुनुस्वामी घर में न था, पर इसलिए कि घर में पकाने के लिए भी कुछ न था। थोड़ी-बहुत वह रोई-पीटी भी। पर चूंकि रोना-पीटना रोजमर्रा का काम था, इसलिए किसी पर कोई विशेष असर न हुआ। मानो तालाब में किसी ने पत्थर फेंका हो, लहरें उठीं और किनारे में समा गई हों और तालाब का पानी फिर निश्चल हो गया हो।

मुनुस्वामी का परिवार एक बेकाम मशीन की तरह था और वह स्वयं एक टूटा-फूटा, ढीला-ढाला पुरजा था।

मुनुस्वामी की उम्र बावन-तरेपन की थी। मोटा शरीर, काला तपा रंग, सरकंडे के फूल-से बाल। झुर्रियों वाला चेहरा।

जब तक वह ट्राम की कंपनी में काम करता रहा तब उसका जीवन भी ट्राम की तरह था—पटरियों पर सीधा चलता जाता था—आगे-पीछे खट-खट करता, धीमे-धीमे। सवेरे घर से काम पर जाता और शाम को वापस चला आता। पिछले पच्चीस सालों से वह यही करता आया था। जैसे ट्राम को कभी-कभी कारखाने में मरम्मत व रंग के लिए भेज दिया जाता था, उसको भी कभी-कभी आराम के लिए बहुत कुछ मिन्नत के बाद छुट्टी मिल जाती थी।

परंतु अब उसकी हालत उस टूटी-फूटी ट्राम की तरह थी, जो पटरी पर से गिर पड़ी हो या जिसके पहियों के नीचे से पटरी गायब हो गई हो।

वह ख्वाब देख रहा था कि एक-दो साल में वह रिटायर हो जाएगा, प्रोविडेंट फंड मिलेगा, लड़की की शादी कर देगा और राम-नाम जपता वक्त काट देगा। ज्यों-ज्यों रिटायरमेंट के दिन नजदीक आते जाते थे

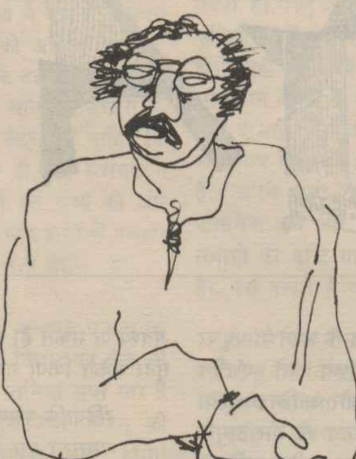

रेखांकन: राजेंद्र गायकवाड़

उसमें भी एक अजीब चुस्ती-सी आती जाती थी। उसके पोपले मुंह पर रह-रह कर हंसी दौड़ जाती थी।

पर यकायक मद्रास की ट्रांबे कंपनी बंद कर दी गई। बताया गया—घाटे के कारण। अदालतों में मुकदमेबाजी हुई। सरकार ने भी हाथ-पैर हिलाए। अखबारों में शोर-शराबा हुआ। लोगों में खलबली मची, बस।

मुनुस्वामी पर तो बिजली ही गिर पड़ी। उसकी ट्राम पटरी पर से फिसल चुकी थी। आशाओं की बांबी यकायक दह गई। उसको ऐसा लगा कि गाड़ी तो वह चला रहा हो, पर गाड़ी न चल रही हो।

लड़की की शक्ल देखते ही वह जल-सा उठता। दीवार पर टंगे देवी-देवताओं को मन-ही-मन हाथ जोड़ता। भाग्य को कोसता और झक मारकर बैठ जाता। थोड़ा-बहुत पैसा मिला था, जैसे-तैसे गुजारा कर रहा था।

वे हाथ-पैर जो सिवाय नींद के कभी खाली न रहे थे, ऐसे लगते थे, जैसे खुद-ब-खुद हिल रहे हों। घर में बैठा क्या करता? बीड़ी सुलगाता और साथ के ड्राइवरों के पास जा अपना दुखड़ा रोता। सबका रोना एक जैसा ही था। कौन किसको सुनाता और किसकी सुनता?

घर उसको काटता-सा लगता। एक लड़की थी—उम्र बीस-बाईस की। पच्चीस वर्ष खून-पसीना एक किया पर वह लड़की के हाथ भी पीले न कर पाया। किस्मत की बात है। पेरुमाल ने दस साल ही नौकरी की और तीन लड़कियों की शादी करवा दी।

मुनुस्वामी जो कुछ कमाता, खाने-पीने में खर्च हो जाता। इकलौती लड़की थी, लाडली। जो कुछ मांगती, पाती। बाप ने कभी न नहीं की। मां ने कभी उसे आंख न दिखाई। और अब वही लड़की नागिन की तरह लग रही थी।

उनके बारे में मुहल्ले वाले बे सिर-पैर की कहते थे। कइयों का तो यह भी कहना था कि मुनुस्वामी को लड़की प्यारी है वह उसके बगैर एक दिन भी न रह सकेगा, इसलिए उसको वह क्वारी रखे हुए है। हो सकता है कि यह कुछ हद तक ठीक हो, पर सच

तो अब यह है कि वह लड़की से दूर भागता रहता है।

एक महीना बीता, दो महीने बीते। मुनुस्वामी ने दौड़-धूप की। पर जब नौकरी थी तभी किसी ने न पूछा, भला अब उसको कौन पहचानता? रिश्तेदारों में बात छेड़ी पर सब ने इधर-उधर की कही और असली बात टाल दी। घर में पत्नी आग उगलती रही।

पत्नी की तो आग उगलने की आदत थी। उसने अपनी जिंदगी उस आग को झेलते ही काटी थी। वह अपनी जलन को काम में भूलने की कोशिश करता। न जाने भगवान ने उन दोनों की क्या जोड़ी बनाई थी। पत्नी और उसकी कभी न पटी। उसकी हर बात में मुनुस्वामी को जहर का डंक दिखाई देता।

जैसे-जैसे दिन बीतते गए, वैसे-वैसे तंगी अधिक होने लगी। घर में फाके पड़ने लगे। पत्नी भी लाचार थी। वह पति को काम की खोज में जाने के लिए बुरा-भला कहकर हांकती।

बावन वर्ष की उम्र! कहां जाए मुनुस्वामी? जिंदगी भर ट्राम चलाई थी। कभी और कोई काम किया न था, न शायद और कोई काम ही आता था। फिर भी वह कोशिश करता रहा। उसी की तरह सैकड़ों ड्राइवर काम की खोज में जमीन-आसमान एक कर रहे थे। मुनुस्वामी ने कई किवाड़ खटखटाए पर उनको बंद पाया।

भटक-भटक कर घर वापस आता, कुछ कहीं से उधार मिलता तो दो-चार कौर खा लेता, वरना भूखा सो जाता। वह शरीर जिस पर कभी मोटी मांस की परत थी अब ढीला होकर लटक-सा गया था।

"भगवान ने दो हाथ क्या इसीलिए दिए हैं कि बेकार बैठे रहो?" पत्नी ने जहर उगला।

"कौन बैठा है?"....मुनुस्वामी ने कुछ कहना चाहा कि पत्नी गरज उठी, "नहीं तो बड़े काम पर लगे हुए हो? तभी तो यहां सवेरे-शाम चूल्हा चढ़ता है।"

"खोज तो रहा हूं काम।"

"अगर ठीक तरह खोजो तो क्या काम नहीं मिलेगा? कृष्णन को बस वालों ने ले लिया है। वह भी तो आखिर तुम जैसा ड्राइवर ही था।"

"पर मेरी उम्र में और उसकी उम्र में ठीक बीस वर्ष का फर्क है....जानती हो?"

"तो क्या तुम हमेशा ड्राइवरी ही करते रहोगे? क्या दुनिया में और कोई काम नहीं है? न जाने क्यों मेरा तुम जैसे निखट्टू से पाला पड़ा? जब तक कमाया, एक पाई न रखी, न आगे देखा न पीछे। पैसे को हाथ के मैल की तरह साफ कर दिया।"

"काम खोज तो रहा हूं।"

"फिर वही.....अब इस अपनी लाडली को कैसे तराओगे? जब लोग आए तब तुम्हें कोई पसंद न आया और अब लाख खुशामद करो तो कोई न आए। मैं जिंदगी भर चिल्लाती रही कि इसको भी किसी के पल्ले बांध दो, पर तुम्हारे कान पर जूं तक न रेंगी। अब कहो, क्या कहते हो?"

"हूं हूं।" मुनुस्वामी कुछ बोल न सका।

"तुम से बातें करने से अच्छा है कि दीवार से ही बातें कर लूं। मर्जी होती है कि लड़की को लेकर कूम नदी में जा डूब मरूं। तुम्हें तो शर्म है नहीं, क्या हमारी भी शर्म मारी गई है? पांच मिनट की ही तो बात है....सांस रोकी कि इस दुनिया के बंधन टूटे। देख क्या रहे हो?"

मुनुस्वामी खांसा। उसने अपनी पत्नी की ओर देखा, कुछ कहना चाहा पर उसको

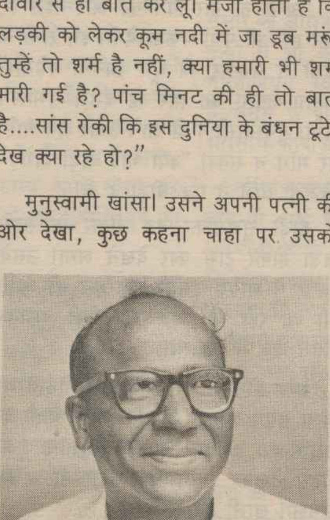

लेखक ए. रमेश चौधरी बाद में 'आरिगपूडि' उपनाम से लिखते थे।

गरजता देख सहम-सा गया। आंखें नीची कर लीं। शायद उसको जवानी के वे दिन याद आए, जब शराब के नशे में वह पत्नी की पीठ पर अच्छी-खासी बेंत तोड़ देता था। बिना बेंत के उसकी जबान काबू में न आती थी। उम्र के साथ पत्नी की जबान और भी तेजाबी हो गई थी।

"अगर मैं ही मर्द होती तो भीख मांग कर अपनी लड़की की शादी करती। भले ही फाके करने पड़ जाते पर बड़ी लड़की को घर में नहीं रखती। और यहां नौबत यह आई है कि फाके भी हो रहे हैं और लड़की भी घर में पड़ी है। चूड़ियां क्यों नहीं पहन लेते? किसान की लड़की हूं, कोई कहारिन नहीं हूं कि दिन-रात दूसरों के बर्तन मांजूं। घर में खाना हो या न हो, मैं दूसरों के घर काम करने नहीं जाऊंगी। सुनते क्यों नहीं हो? कान खोल कर सुनो। घरवाली को खिलाना-पिलाना मर्द का काम है, न कि घरवाली का काम है मर्द को खिलाना! कब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहोगे?"

मुनुस्वामी वहां बैठा न रह सका। उसने अपनी अधजली बीड़ी सुलगाई और बाहर जा बैठा। पत्नी आग होती जाती थी।

"घर में दो पैसे भी नहीं, नहीं तो मैं कहीं एक छोटी-मोटी दोसे (दक्षिण भारत का एक पकवान) की दुकान ही खोल लेती। मेरे बस की बात नहीं कि तुम्हें मैं चावल परोसती रहूं। बेशर्म तो हो ही, भीख ही क्यों नहीं मांग लेते हो?"

मुनुस्वामी को बेहद गुस्सा आया। वह उठा और पत्नी के बाल पकड़कर खींचने लगा, पीठ पर दबादब मारने लगा।

"अगर इतने मर्द हो तो काम क्यों नहीं करते हो? औरतों पर ही यह मर्दानगी दिखानी आती है।" वह बकती जाती थी और मुनुस्वामी मारता जाता था। वह आखिर थक-थकाकर बाहर आकर बैठ गया। पत्नी भी सिसकती-सिसकती सो गई। जब मुनुस्वामी सवेरे उठा तो उसका तकिया भी गीला था।

मुनुस्वामी कर ही क्या सकता था? काम मिलने की कोई उम्मीद न थी। घर बैठ न पाता था। भीख भी न मांगी जाती थी। आदतन वह सवेरे उठ, ट्राम शेड की ओर चला।

संयोगवश उसी की ट्राम शेड में सबसे आगे खड़ी थी....125 नंबर। उसके हाथ खुजलाने लगे। एड़ियां ऊपर उठीं, फिर यकायक मुख से आह निकली और सिर एक तरफ झुक गया। वह वहीं दीवार के सहारे खड़ा रह गया।

वहां पुलिस का पहरा था। पहरे वाले ने कहा, "जाओ यहां से! यहां आना मना है।"

"कब से?"

"जाओ यहां से!"

"अरे जिंदगी यहां काटी है और तुम यहां आने के लिए मना कर रहे हो!"

"तो क्या तुम ट्राम वर्कर हो?"

"हां, हां।"

"क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारा यहां आना खतरनाक है?"

"हूं, हूं।"

"जाओ, यहां काम-वाम कुछ न मिलेगा।"

"हूं....तो....क्या....भी....ख...." मुनुस्वामी ने हाथ पसारने चाहे, पर पसार न सका। हाथ फटी जेब में रख लिए। नजर फेर ली। पास वाले मकान की चारदीवारी पकड़ कर दूर देखने लगा।

आने-जाने वाले आ-जा रहे थे। मुनुस्वामी उनकी तरफ दीन दृष्टि से देखता, कुछ कहना चाहता, पर चुप हो इधर-उधर देखने लगता। आठ-दस घंटे बीड़ी पीता-पीता वह उसी हालत में इधर-उधर फिरता रहा। अंधेरा होते-होते वह घर पहुंच गया। न पत्नी बोली, न ही वह बोला। भूखा ही सो गया।

अगले दिन सवेरे वह फिर ट्राम शेड के पास जा पहुंचा। उसने भीख मांगने का निश्चय कर लिया था। और ट्राम वर्कर शायद ट्राम शेड के पास ही भीख मांग सकता था।

उसके कपड़े चीथड़े हो चुके थे। दाढ़ी बढ़ी हुई थी। सूखे बाल धूल-धूसरित थे। चेहरे पर मिट्टी की मोटी परत थी, आंखें लाल, पीली मूंछें। वह वही मुनुस्वामी था जो कभी शान से वर्दी पहने, बटनों को चमका कर काम पर आता था। पर अब वह ड्राइवर मुनुस्वामी न था, भिखारी था। और न जाने तब भी क्यों उसको 125 नंबर ट्राम देखकर मन में गुदगुदी होती थी।

वह सवेरे से शाम तक वहीं खड़ा रहा। अच्छे कपड़े पहने हुए एक भद्र पुरुष के पास भीख मांगने गया पर न जाने क्यों उसकी शक्ल देखते ही वह भीख न मांग सका और उसके मुख से निकल पड़ा, "कोई काम मिल सकेगा?" भद्र पुरुष अपने रास्ते पर चलता गया।

ज्यों ही वह ट्राम शेड की ओर मुड़ा तो ट्राम के पास बिजली वाला बीड़ी पीता हुआ जा रहा था। वह उसका परिचित था। उसने सोचा कि पास जाकर उससे दो आने मांगे।

"क्यों, क्या हो रहा है, भाई?" मुनुस्वामी ने उससे पूछा।

"ट्राम कार की मरम्मत हो रही है।"

"क्या फिर से चलेगी?"

"वह तो भगवान जाने, हम तो हुक्म बजा रहे हैं।"

"आखिर मरम्मत क्यों हो रही है?"

"सुना है, कंपनी ट्राम कारें बेचना चाहती है। बेचने से पहले रंग-वंग चढ़वाकर, मरम्मत करवाकर अच्छे दाम बनाना चाहती है।"

"हूं।"

"अभी दो-चार दिन का और काम है, फिर हमें भी पर्चा पकड़ा देगी। इन तंगी के दिनों में घर-घर की धूल छाननी पड़ेगी।" कहता-कहता वह तार का बंडल संभालने लगा। मुनुस्वामी ने दो आने उधार लेने चाहे। पर मांग न सका। "क्यों भाई बीड़ी दोगे?" बिजली वाले ने एक बीड़ी दे दी।

बीड़ी सुलगाकर वह दीवार के सहारे खड़ा होकर ट्राम कार देखने लगा। उसके कानों में शायद उसकी खट-खट की ध्वनि भी आ रही थी। अधजली बीड़ी बुझाकर उसने जेब में रख ली।

सांझ होने पर पैर घसीटता-घसीटता घर चला गया। लड़की से बात करनी चाही पर उससे क्या कहता? उसका कुम्हलाया हुआ चेहरा देखकर उसने चुप रहना ही अच्छा समझा। खाली पेट सो रहा।

चार-पांच दिन लगातार वह ट्राम शेड जाता। वहीं घंटों खड़ा रहता पर भीख न मांग पाता। एक दिन वहीं खड़ा-खड़ा बेहोश होकर गिर गया। पुलिस वाले ने देखा और बंदूक कंधे पर रखे लेफ्ट-राइट करता इधर-उधर चलता रहा। आने-जाने वाले भी उसकी तरफ देखते और चले जाते। शहरों में तो परिचित होने पर ही परोपकार जागता है।

वह थोड़ी देर वैसे ही पड़ा रहा। कोई मैली-कुचैली औरत एक हंडिया में मांड लिए पास के रिक्शा स्टैंड की ओर जा रही थी। उसने अपने पति को आवाज लगाई और पानी लाने के लिए कहा। पानी मुनुस्वामी के मुंह पर छिड़का। उसको होश आया। उसने कहा कि भूख लग रही है। उस औरत ने उसको मांड खिला दिया। इतने में तमाशबीन भी इकट्ठे हो गए।

अगले दिन भी वह ट्राम शेड के पास यथापूर्व खड़ा हो गया। थोड़ी देर में कंपनी का इंसेक्टर डांटता-डपटता शेड से बाहर निकला। मुनुस्वामी को देखते ही उसकी आंखें अंगारे हो गईं।

वह पुलिस वाले से कह रहा था— "पुलिस केस चलाओ। पांच-छः कारों से बिजली के लट्टू गायब हैं। कई मशीनों से तो पीतल के हैंडिल चुरा लिए गए हैं। पकड़ो इन चोरों को...." वह कह ही रहा था कि मुनुस्वामी दूसरी तरफ देखने लगा।

"हो न हो इसी ने चुराए हैं।" पुलिस वाला मुनुस्वामी की ओर इशारा कर रहा था। सात-आठ दिन से यह यहां मटरगश्ती कर रहा है।" पुलिस वाले मुनुस्वामी को थाने ले गए।

मुनुस्वामी जानता था कि यह उन बिजली वालों की करतूत थी। उनको नौकरी से तो हाथ धोना ही पड़ रहा था। जाते-जाते वे लट्टू वगैरह बेचकर दो-चार पैसे बना लेना चाहते होंगे।

सब-इंस्पेक्टर ने उससे जवाब तलब किया, पर वह कुछ न बोला। डराया-धमकाया, पर उसके मुख से एक शब्द न निकला। ललचाया, फिर भी वह न बोला। शायद वह जानता था कि घर से जेल ही अच्छी थी। कम-से-कम बिना भीख मांगे वहां खाना तो मिलेगा।

मुनुस्वामी पर केस चलाया गया। अदालत ने पूछा,—"क्या तुमने चोरी की है?"

"हूं!" मुनुस्वामी ने अदालत की तरफ एक बार देखा, फिर चिथड़ों के नीचे चिपके हुए पेट को निहारा। सहसा उसके ओंठ चपटे हो गए।

महीने की सजा मिली। वह मुस्कुरा दिया। □

—मार्च, 1956

भाषा

शब्द और शब्दकोश

हेमचंद्र जोशी

कोश-शास्त्र ऐसा विषय है कि शायद ही कोई शिक्षित मिले जिसे इसमें रस न मिले। हिंदी भाषा को ही लीजिए घर-पड़ोस, हाट-बाजार, अदालत-कचहरी, दुकान-दफ्तर आदि में हम हिंदी बोलते हैं और यह कोशिश करते हैं कि ऐसा बोलें कि सुनने वालों पर हमारे शब्द-चयन या बोली के ढंग का अधिक-से-अधिक प्रभाव पड़े। एक व्यक्ति का प्रभाव सर्वत्र अधिक पड़ता है और दूसरे का बहुत कम। यह क्यों होता है? एक का शब्द-चयन और बोलने का ढंग शास्त्र-सम्मत है, दूसरे का नहीं। ऋग्वेद में प्रसंग है:

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरद्दजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्।।

'अच्छा विज्ञान लोगों बताने के लिए सब जाते हैं पर इसमें सत् और असत् वाणी का संघर्ष होता है, इसमें जो वचन सत्य और सीधा-सादा है उसकी सोम रक्षा करता है और झूठ का नाश करता है।' ऐसे विचार भारतीय आर्यों के वैदिक काल से रहे हैं, जो वास्तव में शब्द-शास्त्र के मूल सिद्धांत हैं। यही कारण है, भारत ने शब्द की महिमा सदा समझी। 'शब्दं ब्रह्म' इसी का परिणाम है। निघंटु और निरुक्त इसी का प्रमाण हैं और पाणिनि ने शब्द-शास्त्र की जड़ जमा दी। यूरोपियन पंडित यह स्वीकार करते हैं कि भाषा-शास्त्र, शब्द-शास्त्र, व्युत्पत्ति शास्त्र, शब्द-तुलना शास्त्र आदि संसार को भारत की देन हैं। हां, इन शास्त्रों की यूरोप में वह उन्नति हुई कि उसे देख दांतों-तले अंगुली दबानी पड़ती है।

शब्द की महिमा में मनु महाराज ने एक बात बहुत पते की कही है। उन्होंने बताया है कि संसार का सारा काम वाच से चलता है। इसलिए जो वाच की चोरी करता है, अर्थात शब्दों में इधर का उधर हेरफेर करता है, वह हर तरह की चोरी का अपराधी है। महात्मा गांधी ने बताया कि वकालत का पेशा बुरा है, यह केवल इसलिए कि वकीलों का काम शब्दों के अर्थ का अनर्थ करके अपने मुवक्किल को जिताना या अदालत को धोखा देना और सत्य को असत्य करना है।

एक उदाहरण और लीजिए–स्वधा, खुदा (वास्तव में ख्वदा) और गॉड की व्युत्पत्ति एक है या प्रायः एक है, पर हिंदू, मुसलमान और ईसाई प्रचारक इसका इतना दुरुपयोग करते हैं, मानो ये तीन शब्द परस्पर शत्रु हैं। शब्द का उचित उपयोग देखिए कि भारतीय वाणी ने अंग्रेजों के प्रखर शस्त्रों और बेजोड़ संगठन को हराया। निदान यह निकला कि शब्द के ठीक और सच्चे अर्थ की महान महिमा है। राष्ट्रों को बनाने-बिगाड़ने में शब्द अथवा कोश बहुत काम करते हैं। इस कारण ब्रिटिश सरकार ने 1924 ई. में सर माइकेल सैडलर की अध्यक्षता में एक कमीशन बिठाया, जिसने पता चलाया कि ब्रिटिश स्कूलों में कैसी अंग्रेजी पढ़ाई जा रही है? पता चला कि पाठ्य-पुस्तकों की अंग्रेजी भ्रमात्मक है। कमीशन की रिपोर्ट में लिखा गया–'भ्रमात्मक अंग्रेजी ब्रिटेन के स्कूलों में पढ़ाई जा रही है। इसका परिणाम स्पष्ट ही यह होगा कि छात्रों के दिमागों में भ्रम या अर्थ का धुंधलापन छा जाएगा। फिर वे देश का चाहे कोई काम करेंगे उसमें अवश्य धुंधलापन रहेगा, स्पष्टता नहीं होगी। इस प्रकार भ्रमात्मक अंग्रेजी भाषा का छुटपन का अभ्यास ब्रिटिश राष्ट्र और जाति की जड़ खोद देगा। अतः हमें समय पर सावधान हो जाना चाहिए।' ब्रिटिश जाति वक्त पर खबरदार हो गई।

ब्रिटेन में प्रायः आदर्श कोश हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी प्रायः आदर्श है। बीसियों वर्ष इसे तैयार करने में लगे और उसके निर्माण के समय में जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज भाषाशास्त्रियों ने शब्दों की जड़ का भी पूरा पता लगा लिया था। इसलिए उन्होंने बताया कि 'विडो' आदि आर्य-भाषा के विधवा का रूप है। 'लव' का मूल उन्होंने लुभ में पाया। इसके अतिरिक्त ऑक्सफोर्ड कोश में एक शब्द ऐसा नहीं है, जिसकी जन्म-तिथि न दी गई हो और सब शब्दों के आधार रूप उदाहरण भी उद्धृत किए गए हैं। उच्चारण भी सबका दिया हुआ है। फ्रांस में लित्रे ने यह काम सौ वर्ष पहले ही आरंभ कर दिया था। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने लित्रे का ढंग अपनाया और उसका आभार माना है। जर्मनी में एक-से-एक बढ़िया कोश हैं। कुछ कोश जैसे 'मेअर्स लेक्सिकन' और ब्रौकहौस के कोश दो-दो, तीन-तीन खंडों की एनसाइक्लोपीडिया हैं। ये वास्तव में ज्ञान-कोश हैं। लोगनशाइत्त ने संसार की अधिकांश भाषाओं के कोश छापे हैं। इन सबका थोड़ा वर्णन करने में भी कम-से-कम सौ-दो सौ पेज चाहिए। डच, डैनिश, नौरवेजियन, स्वीडिश तथा आइसलैंडिक के कोश इनसे टक्कर लेते हैं, इनमें से प्रायः चालीस कोश मेरे पास हैं। जब इनकी तुलना भारतीय भाषाओं के कोशों से करता हूं तो सिर धुनता हूं।

नवीन भारतीय भाषाओं के कोशों की, स्वराज मिलने के बाद, बाढ़-सी आई है। हिंदी में तो छोटे-मोटे प्रकाशक भी कोशों से मनमानी चांदी काट रहे हैं, पर किसी के रचयिता को पता नहीं है कि कोश-रचना के सामान्य सिद्धांत क्या हैं? मैंने तो सब कोशों को मिलाया है, जिससे यह निदान निकला है कि 'हिंदी-शब्द-सागर' की ही सबने हजामत की है। नकल को अकल क्या चाहिए? इस मुहावरे को ही सब चरितार्थ कर रहे हैं। जिन्हें अपने कोश में कुछ नवीनता लाने की सूझी है, उन्होंने जो हेर-फेर की है वह नाम मात्र को। यह दशा उत्साहवर्धक नहीं है। यदि हम पीटर्सबुर्गर संस्कृत-जर्मन कोश ही देख लेते या कम-से-कम मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोश का ही अनुसरण कर लेते, तो कुछ ऊंचा उठ जाते। पीटर्सबुर्गर कोश अभी तक संस्कृत कोशों में आदर्श है। यह कोश 1852-1875 तक निकला। स्मरण रखिए, अच्छे कोश दो-चार साल में नहीं बन सकते। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी को पचास-साठ वर्ष लग गए। अस्तु, पीटर्सबुर्गर कोश के संपादक-द्वय हर रोट और बोएटलिंक ने उस समय प्राप्य सभी हस्तलिखित और छपे संस्कृत ग्रंथों से सब शब्द ले लिए और प्रत्येक शब्द के अर्थ को वैदिक काल से लेकर नवीनतम ग्रंथों के उद्धरण देकर साधार बनाया तथा उनके अर्थों में कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं, इसके प्रमाण दिए। इस कोष की महिमा यह है कि इसके बल पर वाकरनागल ने अपना अपूर्व और महान ग्रंथ

'ऑल्ट इंडिशे ग्रामाटिक' कई खंडों में लिखा और स्वयं पाणिनि को मात दी। यह है एक प्रामाणिक कोश का काम।

हिंदी के वर्तमान कोशों को सवा-डेढ़ सौ वर्ष पुराने और उससे कुछ नए टौमस, टेलर, शेक्सपीयर, फोर्बस फैल्लन और प्लैट्स के हिंदुस्तानी कोशों ने बहुत पीछे फेंक रखा है। हमारे वर्तमान कोशों से उनके अर्थ, उदाहरण, मुहावरे, व्युत्पत्ति आदि शुद्ध और सटीक हैं। दोनों को सामने रखिए, आप तुरंत ताड़ जाएंगे, यह सब क्यों? क्या अंग्रेजों, जर्मनों या और जातियों के हिस्से में ही अक्ल आई है, हमारे भाग में नहीं। बात दूसरी है। यदि कोई इस विषय में ज्ञान-प्राप्ति और उसके परिश्रम-पूर्वक उचित उपयोग का प्रयत्न न करेगा तो किसके माथे दोष मढ़ा जाएगा? कोश-निर्माण के कुछ सिद्धांत हैं। उनका अनुसरण करना ही पड़ेगा। ये सिद्धांत हैं—

1. आपका अवश्य ही उन भाषाओं से परिचय होना चाहिए जिनके शब्द आपकी भाषा में आए हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हिंदी भाषा का कोश बनाने के लिए आपको पुरानी फारसी, पहलवी, नई फारसी, कुछ अरबी, ग्रीक, लैटिन, गॉथिक, केल्टिक, पुरानी ऑयरिश, आइसलैंड की भाषा, पुरानी जर्मन, पुरानी अंग्रेजी आदि की कुछ जानकारी होनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त खोतान, निप आदि की प्राकृतों का ज्ञान भी जरूरी है। लोमड़ी का मूल रूप 'लोमटि' खोतान की प्राकृत में मिलता है। बनियों के लिए बहुवचन में 'बनिये' का प्रयोग भी इसी प्राकृत में पाया जाता है। यद्यपि बुखार की प्राकृत यूरोप की भाषाओं से अधिक मिलती है, तो भी उसमें 'आंख' के लिए 'आंक' है। और लीजिए—हिंदी में भुवन 'जगत' और भवन 'घर' है और ये दोनों भू के विकार हैं। इस पर धातुपाठ बताता है 'भू सत्तायाम।' हम भू का अर्थ करते हैं 'होना'। इससे हमारा दिल ठुकता नहीं कि ठीक व्युत्पत्ति मिल गई। इसकी व्युत्पत्ति के लिए हमें जर्मनी पहुंचना होगा। जर्मनी में बाउएन धातु है और इसका अर्थ 'गृह, प्रासाद आदि बनाना' है। यह धातु गॉथिक में बउअ और आइसलैंडिक में बूअ है और इसका अर्थ है 'घर में बसना और घर बनाना', यह संस्कृत भू का यूरोप रूप है। ग्रीक में 'फुओ' और लैटिन में 'फइ' है। इसका अर्थ वही 'घर में रहना या घर बनाना' है। आदि आर्य भाषा में भी इसका रूप भू है। अब आप इसकी व्युत्पत्ति समझ गए होंगे। इसी के रूप हैं—भू-मि, भू-ति आदि। अवेस्ता की भाषा में यह बू है जिसके रूप बूद, बूदन आदि हैं। एक ऐसा दूसरा शब्द विधवा है, जिसका व्युत्पत्ति संस्कृत में वि-धव अर्थात पति से रहित है। किंतु यह अशुद्ध है, क्योंकि विधवा शब्द वैदिक है और धव बहुत बाद का है। यह शब्द भी आर्य भाषा की समान संपत्ति है। इसके विडो, विटवे, वेव, बेवा, वे, वेदुओ रूप अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, नई फारसी, अलबानियन और इटालियन में चलते हैं, रूसी में विदोविं कहते हैं। यह लैटिन में 'विदु-अ' है। धातु विद है जिसके अर्थ लूटना, एकांत करना, अलग करना हैं। संस्कृत में विध, व्यध का ऐसा ही अर्थ होना चाहिए और विधवा तथा विधुर इनके ही रूप हैं। यदि ऐसा न होता तो विधुर में जो धुर है उसका अर्थ पति होता जो कहीं नहीं मिलता। जर्मन में विधुर को विट्वर कहते हैं। अवेस्ता में विद-वा है और दव का अर्थ पति नहीं है। यह शब्द आदि आर्य भाषा में 'उइधेउआ' है। ग्रीक में 'ए-इएधौस्'। इसी प्रकार के बहुत-से शब्दों की व्युत्पत्ति आदि-आर्य भाषा में मिलती है।

2. शब्द का अर्थ अस्पष्ट कभी न होना चाहिए। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के एक संपादक आर.डब्ल्यू. चैपमैन ने कहा है—'अर्थ स्पष्ट लिखो। अस्पष्ट लिखना भाषा के लिए महान संकट है।' हमारे वर्तमान कोशों में अस्पष्टता बहुत है। एक शब्द लीजिए—आटा, इसका अर्थ दिया हुआ है—'अन्न का चूर्ण।' अब देखिए कि यदि इसका अर्थ गेहूं का चूर्ण दिया जाता, तो वह भी भ्रामक होता। 'गेहूं का चूर्ण' मैदा, सूजी और दलिया भी हैं। इन्हें आटा नहीं कहा जाता। इस पर चने का आटा नहीं बोला जाता, वह बेसन है। उड़द और मूंग पीसकर पिट्ठी बनती है। ऐसे अर्थ हिंदी भाषा और उनके बोलने वालों को रसातल पहुंचाएंगे। इधर अंग्रेजी में बार्नार्ड और थौर्नडाइक का एक कोश निकला है। इसमें जो अर्थ दिए गए हैं उनकी भाषा सरल और बहुत स्पष्ट है तथा अर्थ देते समय यह उचित विचार भी रखा गया है कि अधिकांश जनता में कौन अर्थ अधिक प्रचलित है। कोश लिखते समय यह विचार प्रधान मानना चाहिए।

3. भाषा का कोई शब्द जो जनता बोलती हो, छूटना न चाहिए। ऋग्वेद में कैलडियन शब्द 'मना' आया है। यह मन का आदि-रूप है। पाली में ईरानी शब्द नमदे के लिए 'नमतक' है, और अरबी किताब का कैटभ रूप है। अशोक ने मनशेरा के शिलालेख में लिपि का आदि-रूप 'दिपि' दिया है। यह फारसी का शब्द है। फा दबीर इससे ही बना है। हिंदी में ऐतिहासिक तथा सामाजिक कारणों से अरबी, फारसी, अंग्रेजी, डच, पोर्तुगीज, फ्रेंच और जर्मन शब्द आ गए हैं। हिंदी का संत और सूफी साहित्य अरबी तथा फारसी शब्दों से भरा पड़ा है। उन सबको कोश में लेना ही चाहिए। इसके अलावा इन शब्दों में वह व्यंजना-शक्ति और जोर आ गया है कि इनके स्थान पर दूसरा नया संस्कृतमय शब्द मौजूं नहीं होता। हिंदी में साहिब का अर्थ ईश्वर हो गया था। इस कारण इस शब्द का व्यवहार संत-साहित्य और तुलसी ने किया है। उससे उनकी प्रतिभामयी लेखनी का जोर बढ़ा है, घटा नहीं। हमारा डोल फारसी है और बालटी पोर्तुगीज। भले ही ये शब्द कहीं से आए हों, अब हमारी शब्द-संपत्ति हैं। इसका भी ध्यान रखना पड़ेगा।

4. अर्थ वह ठीक होता है जो व्युत्पत्ति-संगत हो और साथ ही उस भाषा के भाषियों में घिसते-मंजते उसने जो विस्तृत या थोड़ा-बहुत परिवर्तित रूप ग्रहण कर लिया हो। एक शब्द 'सोच-विचार' लीजिए। विचार तो अच्छी बातों का होता है, पर सोच के भीतर दुख की भावना भी है। यह इसलिए कि वैदिक शुच का अर्थ 'आग लगाना, जलाना' है और उसी के प्रेरणार्थक रूप शोचय का अर्थ 'आग की तेज आंच में तपाना' है। अधिकांश हिंदी भाषी यह नहीं जानते, पर परंपरा से इसके भी दुःख या संताप का भाव उन्होंने सुरक्षित रखा है। यह अर्थ व्युत्पत्ति-संगत है और इसका जनता में भी प्रचार है। व्युत्पत्ति अर्थ को स्पष्ट करती है और शब्द का इतिहास बताती है। इससे विद्वान और अ-विद्वान सभी लाभ उठा सकते हैं। इससे ही पता चलता है कि हरिन, मृग, एण के अर्थों में क्या-क्या विशेषताएं हैं। हिरण्य, स्वर्ण, कांचन, कनक आदि नाम सोने की किस-किस विशेषता के द्योतक हैं। व्युत्पत्ति यह भी सबके सामने रख देती है कि वैदिक संस्कृत, पाली, अर्धमागधी आदि प्राकृत भाषाओं में टक्कर खाते और चक्कर लगाते हुए एक शब्द अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी आदि के भाषा प्रवाह में घिसकर आजकल के नए रूप में, शालिग्राम बनकर, हमारे पास आकर हमें क्यों बहुत प्यारा लगने लगा है?

कोश में चित्र देना भी अपना महत्व रखता है। पर अब इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं क्योंकि 'अनंत पारं किल शब्द शास्त्रम्' कहा गया है। ❑

—मई, 1956

कहानी

अपरिचित

मोहन राकेश

कुहरे की वजह से खिड़कियों के शीशे धुंधले पड़ गए थे। गाड़ी चालीस मील की रफ्तार से सुनसान अंधेरे को चीरती चली जा रही थी। खिड़की से सिर सटाकर भी बाहर कुछ दिखाई नहीं देता था, फिर भी मैं आंखें गड़ाकर देखने का प्रयत्न कर रहा था। कभी किसी पेड़ की हल्की गहरी रेखा ही पास से गुजर जाती तो कुछ देख लेने का संतोष होता। मन को उलझाए रखने के लिए इतना ही काफी था। पलकों में जरा नींद नहीं थी। गाड़ी को जाने कितनी देर बाद जाकर कहीं ठहरना था। जब और कुछ दिखाई नहीं देता था तब अपना प्रतिबिंब तो कम-से-कम देखा ही जा सकता था। अपने प्रतिबिंब के अतिरिक्त और भी कई प्रतिबिंब थे। ऊपर की बर्थ पर सोए हुए व्यक्ति का प्रतिबिंब अजब बेबसी के साथ हिल रहा था। नीचे सामने की बर्थ पर बैठी हुई महिला का प्रतिबिंब बहुत उदास था। उसकी भारी-भारी पलकें पल भर के लिए ऊपर उठतीं और फिर नीचे झुक जातीं। आकृतियों के अतिरिक्त कई बार नई-नई ध्वनियां ध्यान बंटा लेती थीं, जिनसे भान होता था कि गाड़ी पुल पर से जा रही है या मकानों की पंक्ति के आगे से गुजर रही है। बीच-बीच में सहसा इंजन की सीटी चीख जाती, जिससे अंधेरा और एकांत और भी गहरे प्रतीत होने लगते।

मैंने खिड़की से सिर हटाकर घड़ी की ओर देखा। सवा ग्यारह बजे थे। सामने बैठी हुई महिला की आंखें बहुत सुनसान थीं। बीच-बीचं में उनमें एक लहर-सी आ जाती और विलीन हो जाती। वह जैसे आंखों से देख नहीं रही थी, सोच रही थी। उसकी बच्ची, जो फर के कंबल में लिपटकर सोई थी, जरा-जरा कुनमुनाने लगी। उसकी गुलाबी ऊन की टोपी सिर से उतर गई थी। उसने दो-एक बार पैर पटके, अपनी बंधी हुई मुट्ठियां ऊपर उठाईं और सहसा रोने लगी। महिला की सुनसान आंखें उमड़ आईं। उसने बच्ची के सिर पर टोपी ठीक कर दी और उसे कंबल समेत उठाकर छाती से लगा लिया।

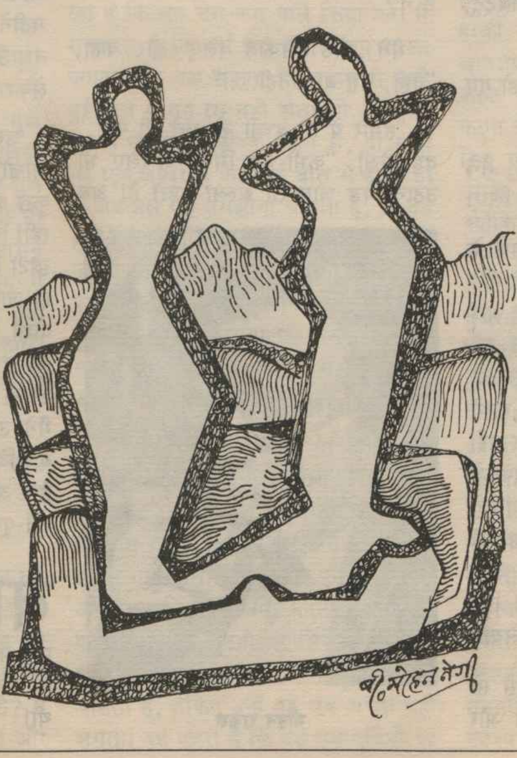

मगर इससे बच्ची का रोना बंद नहीं हुआ। उसने बच्ची को हिलाकर और दुलार कर चुप करना चाहा, पर फिर भी वह रोती रही तो उसने कंबल थोड़ा ऊपर उठाकर उसके मुंह में दूध दे दिया और उसे अपने साथ सटा लिया।

मैंने फिर खिड़की के साथ सिर टिका लिया। दूर तक बत्तियों की कतार नजर आ रही थी। शायद वह कोई आबादी थी या केवल सड़क ही थी। गाड़ी बहुत तेज चल रही थी और इंजन पास होने के कारण कुहरे के साथ धुआं भी खिड़की के शीशों पर जमता जा रहा था। आबादी या सड़क, जो भी थी, अब धीरे-धीरे पीछे जा रही थी। शीशे में दिखाई देते हुए प्रतिबिंब पहले से गहरे हो गए थे। महिला की आंखें बंद थीं और ऊपर लेटे हुए व्यक्ति की बांह जोर-जोर से हिल रही थी। शीशे पर मेरी सांस के फैलने से प्रतिबिंब और धुंधले हुए जा रहे थे, यहां तक कि एक बार सब आकृतियां अदृश्य हो गईं। मैंने जेब से रूमाल निकालकर शीशे को पोंछ दिया।

महिला ने आंखें खोल ली थीं और एकटक सामने की ओर देख रही थी। उसके ओंठों पर हल्की-सी मधुर रेखा फैली थी जो ठीक मुस्कुराहट नहीं थी। मुस्कुराहट से बहुत कम व्यक्त, उस रेखा में गंभीरता भी थी और अवसाद भी—वह जैसे अनायास उभर आई किसी स्मृति की रेखा मात्र थी। उसके माथे पर भी हल्की-सी सिकुड़न पड़ गई थी।

बच्ची जल्दी ही दूध से हट गई। उसने सिर उठाकर अपना बिना दांत का मुंह खोल दिया और किलकारी मारती हुई मां की छाती पर मुट्ठियों से प्रहार करने लगी। दूसरी ओर से आती हुई एक गाड़ी तेजी से गुजरी तो वह जरा सहम गई, मगर गाड़ी के गुजरते ही

और भी मुंह खोलकर किलकारी मारने लगी। बच्ची का चेहरा गदराया हुआ था और उसकी टोपी के नीचे से भूरे रंग के हल्के-हल्के बाल नजर आ रहे थे। उसकी नाक जरा छोटी थी पर आंखें मां की ही तरह गहरी और फैली हुई थीं। मां के गाल और कपड़े नोंचकर उसकी आंखें मेरी ओर घूम गईं और वह बाहें हवा में झटकती हुई मेरी ओर देखकर किलकारियां मारने लगी।

महिला की पुतलियां उठीं और उसकी उदास आंखें पल भर मेरी आंखों से मिली रहीं। मुझे क्षण भर के लिए लगा कि मैं एक ऐसे क्षितिज को देख रहा हूं, जिसमें गोधूलि के सभी हल्के-हरे रंग झिलमिला रहे हैं और जिसका दृश्य-पट क्षण के हर शतांश में बदलता जा रहा है.....

बच्ची मेरी ओर देखकर बहुत हाथ पटक रही थी, इसलिए मैंने बच्ची की ओर हाथ बढ़ा दिए और कहा, "आ बेटे, आ....."

मेरे हाथ पास आ जाने पर बच्ची के हाथों का हिलना बंद हो गया और उसके ओंठ रुआंसे-से हो आए।

महिला ने बच्ची के ओंठों को अपने ओंठों से छुआ और कहा, "जा बिट्टू, जाएगी?"

लेकिन बिट्टू के ओंठ और रुआंसे हो गए और वह मां के साथ सट गई।

"पराए आदमी से डरती है", मैंने खिसियाने स्वर में कहा और हाथ हटा लिए।

महिला के ओंठ भिंच गए और माथे के मांस में खिंचाव आ गया। उसकी आंखें जैसे अतीत में चली गईं। फिर सहसा वे लौट आईं और वह बोली, "नहीं, डरती नहीं। इसे असल में आदत नहीं है। यह आज तक या मेरे हाथों में रही है या नौकरानी के हाथों में....." और वह उसके सिर पर झुक गई। बच्ची उसके साथ सटकर आंखें झपकने लगी। महिला उसे हिलाती हुई थपकियां देने लगी। बच्ची ने आंखें मूंद लीं। महिला उसकी ओर देखती हुई, जैसे चूमने के लिए ओंठ बढ़ाए हुए, उसे थपकियां देती रही। फिर उसने अनायास मुस्कुराकर उसे चूम लिया।

"बड़ी अच्छी है मेरी बिट्टू, झट से सो जाती है," उसने जैसे अपने से कहा और मेरी ओर देखा। उसकी आंखों में उल्लास भर रहा था।

"कितनी बड़ी है यह बच्ची?" मैंने पूछा, "सात-आठ महीने की होगी?"

"महीना भर बाद यह पूरे एक साल की हो जाएगी।" वह बोली, "पर यह देखने में अभी छोटी लगती है। लगती है न?"

मैंने आंखों से उसकी बात का समर्थन किया। उसके चेहरे से अजब विश्वास और भोलापन झलकता था। मैंने उचककर सोई हुई बच्ची के गाल को जरा सहला दिया। महिला का चेहरा और वत्सल हो गया।

"लगता है आपको बच्चों से बहुत प्यार है," वह बोली, "आपके कितने बच्चे हैं?"

मेरी आंखें उसके चेहरे से हट गईं। बिजली की बत्ती के पास एक कीड़ा उड़ रहा था।

"मेरे!" मैंने मुस्कुराने की कोशिश करते हुए कहा, "अभी तो कोई नहीं, मगर....."

"मतलब ब्याह हुआ है, अभी बच्चे-अच्चे नहीं हुए," वह मुस्कुराई, "आप मर्द लोग तो बच्चों से बचे रहना चाहते हैं, हैं न?"

मैंने ओंठ सिकोड़ लिए और कहा, "नहीं, यह बात नहीं....."

"हमारे ये तो बच्ची को छूते भी नहीं," वह बोली, "कभी दस मिनट के लिए भी उठाना पड़ जाए तो झल्ला पड़ते हैं। अब

मोहन राकेश

तो खैर वे इस मुसीबत से छूटकर बाहर ही चले गए हैं," और सहसा उसकी आंखें छलछला आईं। रुलाई की वजह से उसके ओंठ बिल्कुल उसकी बच्ची जैसे हो गए। फिर उसके ओंठों पर मुस्कुराहट आ गई, जैसा अक्सर सोए हुए बच्चों के साथ होता है। उसने आंखें झपका कर ठीक कर लीं और बोली, "वे डाक्टरेट के लिए इंग्लैंड गए हैं। मैं उन्हें बंबई में जहाज पर चढ़ाकर आ रही हूं... वैसे छः या आठ महीने की ही बात है। फिर मैं भी उनके पास चली जाऊंगी।"

फिर उसने ऐसी नजर से मुझे देखा जैसे उसे शिकायत हो कि मैंने उसकी रहस्य की बात क्यों जान ली?

"आप बाद में अकेली जाएंगी?" मैंने पूछा, "इससे तो आप अभी साथ चली जातीं..."

उसके ओंठ सिकुड़ गए और आंखें फिर अंतर्मुख हो गईं। वह कई क्षण अपने में डूबी रही और उसी तरह बोली, "साथ तो नहीं जा सकती थी, क्योंकि अकेले उनके जाने की भी सुविधा नहीं थी। लेकिन उनको मैंने भेज दिया है। मैं चाहती थी कि उनकी कोई चाह तो मुझसे पूरी हो जाए। दीशी को बाहर जाने की बहुत साध थी। अब छः या आठ महीने में अपनी तनखाह में से कुछ बचाऊंगी और थोड़ा-बहुत कहीं से उधार लेकर अपने जाने का बंदोबस्त भी करूंगी।"

उसने अपनी कल्पना में डूबती-उतरती आंखों को सहसा सचेत कर लिया और फिर कुछ क्षण शिकायत की नजर से मुझे देखती रही। फिर बोली, "अभी यह बिट्टू भी बहुत छोटी है न? छः या आठ महीने में यह बड़ी हो जाएगी। मैं भी तब तक और पढ़ लूंगी। दीशी की बहुत चाह है कि मैं एम.ए. कर लूं। मगर मैं ऐसी जड़ और नाकारा हूं कि उनकी कोई चाह पूरी नहीं कर पाती। इसलिए मैंने उन्हें भेजने के लिए अपने सब गहने बेच दिए हैं। अब मेरे पास मेरी बिट्टू रह गई है।" और वह उसके सिर पर हाथ फेरती हुई गर्व-पूर्ण दृष्टि से उसे देखती रही।

बाहर वही सुनसान अंधेरा था, वही निरंतर सुनाई देती हुई इंजन की फक्-फक्। शीशे से आंख गड़ा लेने पर दूर तक वीरानगी-वीरानगी ही नजर आती थी।

परंतु उस महिला की आंखों में जैसे संसार भर की वत्सलता सिमटकर आ गई थी। वह फिर कई क्षण अपने में डूबी रही। फिर उसने एक सांस ली और बच्ची को अच्छी तरह कंबल में लपेटकर सीट पर लिटा दिया।

ऊपर की सीट पर लेटा हुआ व्यक्ति खर्राटे भरने लगा था। एक बार वह नीचे गिरने को हुआ, पर सहसा हड़बड़ाकर संभल गया। कुछ ही देर बाद वह और जोर से खर्राटे भरने लगा।

"लोगों को जाने सफर में कैसे इतनी गहरी नींद आ जाती है?" वह बोली, "मुझे दो-दो रातें सफर करना हो तो भी मैं सो नहीं पाती। अपनी-अपनी आदत होती है। क्यों?"

"हां, आदत की ही बात है," मैंने कहा, "कुछ लोग बहुत निश्चिंत होकर जीते हैं और कुछ होते हैं कि....."

"बगैर चिंता के जी ही नहीं सकते!" और वह जरा हंस दी। उसकी हंसी का स्वर भी बच्चों जैसा ही था। उसके दांत बहुत छोटे-छोटे और चमकीले थे। मैंने भी उसकी हंसी में योग दिया।

"मेरी बहुत खराब आदत है," वह बोली, "मैं बात-बेबात के सोचती रहती हूं। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मैं सोच-सोचकर पागल हो जाऊंगी। ये मुझे कहते हैं कि मुझे लोगों से मिलना-जुलना चाहिए, मगर इनके सामने मैं ऐसी गुम-सुम हो जाती हूं कि क्या कहूं? वैसे अकेले में भी मैं ज्यादा नहीं बोलती, लेकिन इनके सामने तो ऐसी चुप्पी छा जाती है जैसे मुंह में जबान ही न हो।..... अब देखिए, यहां कैसे लतर-लतर बोल रही हूं!" और वह मुस्कुराई। उसके चेहरे पर हल्की-सी संकोच की रेखा भी आ गई।

"रास्ता काटने के लिए बात करना जरूरी हो जाता है," मैंने कहा, "खास तौर पर जब नींद न आ रही हो।"

उसकी आंखें पल भर फैली रहीं। फिर वह गरदन जरा झुकाकर बोली, "ये कहते हैं कि जिसके मुंह में जबान न हो, उसके साथ पूरी जिंदगी कैसे काटी जा सकती है? ऐसे इंसान में और एक पालतू पशु में क्या फर्क है? मैं हजार चाहती हूं कि इन्हें खुश दिखाई दूं और इनके सामने कोई-न-कोई बात करती रहूं, लेकिन मेरी सारी कोशिश बेकार चली जाती है। इन्हें फिर गुस्सा हो आता है और मैं रो देती हूं। इन्हें मेरा रोना बहुत बुरा लगता है।" कहते-कहते उसकी आंखों में दो आंसू झलक आए, जिन्हें उसने अपनी साड़ी के पल्ले से पोंछ दिया।

"मैं बहुत पागल हूं," वह फिर बोली, "वह जितना मुझे रोकते हैं, मैं उतना ही ज्यादा रोती हूं। दरअसल वह मुझे समझ नहीं पाते। मुझे बात करना अच्छा नहीं लगता, फिर जाने क्यों वह मुझे बात करने के लिए मजबूर करते हैं?" और फिर माथे को हाथ से दबाए हुए बोली, "आप भी अपनी पत्नी से कभी जबर्दस्ती बात करने के लिए कहते हैं?"

मैंने पीछे टेक लगाकर कंधे जरा सिकोड़े और हाथ बगलों में दबाए हुए बत्ती के पास उड़ते हुए कीड़े को देखा। फिर मैंने सिर को जरा झटककर उसकी ओर देखा। वह उत्सुक आंखों से मेरी ओर देख रही थी।

"मैं?" मैंने मुस्कुराने की चेष्टा करते हुए कहा, "मुझे यह कहने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मैं बल्कि पांच साल से यह चाह रहा हूं कि वह जरा कम बातें किया करे। मैं समझता हूं कि कई बार इंसान चुप रहकर ज्यादा बात कह सकता है। जबान से कही हुई बात में वह रस नहीं होता जो आंख की चमक से, या ओंठों के कंपन से, या माथे की एक लकीर से कही हुई बात में होता है। मैं जब उसे यह समझाना चाहता हूं, तो वह मुझसे पहले विस्तारपूर्वक बता देती है कि ज्यादा बात करना इंसान की निश्छलता का प्रमाण है, और कि मैं इतने बरसों में अपने प्रति उसकी सद्भावना को समझ ही नहीं सका। वह दरअसल कॉलेज में लेक्चरार है और उसे घर में लेक्चर देने की आदत है।"

"ओह!" और वह थोड़ी देर दोनों हाथों में मुंह छिपाए रही। फिर बोली, "ऐसा क्यों होता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे दीशी से यही शिकायत है कि वह मेरी बात समझ नहीं पाते। मैं कई बार उनके बालों से अपनी उंगलियों से बात करना चाहती हूं, कई बार उनके घुटनों पर सिर रखकर मुंदी हुई आंखों से उनसे कितना कुछ कहना चाहती हूं, लेकिन उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता। वह कहते हैं कि यह सब गुड़ियों का खेल है, उनकी पत्नी को जीता-जागता इंसान होना चाहिए। और मैं इंसान बनने की बहुत कोशिश करती हूं, लेकिन नहीं बन पाती, कभी नहीं बन पाती। इन्हें मेरी कोई आदत अच्छी नहीं लगती। मेरा मन होता है कि चांदनी रात में खेतों में घूमूं, या नदी में पैर डालकर घंटों बैठी रहूं, मगर वह कहते हैं कि ये सब आइडिल मन की वृत्तियां हैं। इन्हें क्लब, संगीत-सभाएं और डिनर पार्टियां अच्छी लगती हैं। मैं इनके साथ वहां जाती हूं तो मेरा दम घुटने लगता है। मुझे वहां जरा आत्मीयता प्रतीत नहीं होती। वह कहते हैं कि तू पिछले जन्म में मेंढकी थी, जो तुझे क्लब में बैठने की बजाय खेतों में मेंढकों की आवाजें सुनना ज्यादा अच्छा लगता है। मैं कहती हूं कि मैं इस जन्म में भी मेंढकी हूं। मुझे बरसात में भीगना बहुत अच्छा लगता है और भीगकर मेरा मन गुनगुनाने को होने लगता है, हालांकि मुझे गाना नहीं आता। मुझे क्लब में सिगरेट के धुएं में घुटकर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता वहां मेरे प्राण गले को आने लगते हैं।"

उस थोड़े-से समय में ही उसके चेहरे का उतार-चढ़ाव मुझे परिचित लगने लगा था। उसकी बात सुनते हुए मेरे हृदय पर हल्की उदासी छाने लगी थी, हालांकि मैं जानता था कि वह कोई भी बात मुझे लक्ष्य करके नहीं कह रही—वह अपने से बात करना चाह रही है और मेरी उपस्थिति उसके लिए एक बहाना मात्र है। मेरी उदासी भी उसके लिए न होकर अपने लिए ही थी, क्योंकि बात उससे करते हुए भी मैं सोच अपने विषय में ही रहा था। मैं पांच साल से मंजिल-दर-मंजिल विवाहित जीवन में से गुजरता आ रहा था, रोज यही सोचते हुए कि शायद आने वाला कल जिंदगी के इस ढांचे को बदल दे। सतही तौर पर हर चीज ठीक थी, कहीं कुछ गलत नहीं था, मगर आंतरिक तौर पर जीवन कितना संकुल और विषमता की रेखाओं से भरा था! मैंने विवाह के पहले दिनों में ही जान लिया था कि नलिनी मुझसे विवाह करके सुखी नहीं हो सकती, क्योंकि मैं जीवन में उसकी कोई भी महत्वाकांक्षा पूरी करने में सहायक नहीं हो सकता। वह एक भरा-पूरा घर चाहती थी, जिसकी वह शासिका हो और ऐसा सामाजिक जीवन चाहती थी, जिसमें उसे महत्व का दर्जा प्राप्त हो। वह अपने से

स्वतंत्र अपने पति के मानसिक जीवन की कल्पना नहीं करती थी। उसे मेरी भटकने की वृत्ति और साधारण का मोह मानसिक विकृतियां प्रतीत होती थीं, जिन्हें वह अपने अधिक स्वस्थ जीवन-दर्शन के बल से दूर करना चाहती थी। उसने उस विश्वास के साथ जीवन आरंभ किया था कि वह मेरी त्रुटियों की क्षति-पूर्ति करती हुई बहुत शीघ्र मुझे सामाजिक दृष्टि से एक सफल व्यक्ति बनने की दिशा में प्रेरित करेगी।

उसकी दृष्टि में यह मेरे वंशगत संस्कारों का दोष था, जो मैं इतना अंतर्मुख हो रहता था और इधर-उधर मिल-जुलकर आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करता था। वह इस परिस्थिति को सुधारना चाहती थी, पर परिस्थिति सुधरने की बजाय और बिगड़ती ही गई थी। वह जो कुछ चाहती थी, वह मैं नहीं कर पाता था और जो कुछ मैं चाहता था, वह उससे नहीं होता था। हम दोनों में अक्सर बहस-मुबाहिसा हो जाता था और कई बार दीवारों से सिर टकराने की नौबत आ पहुंचती थी। परंतु यह सब हो चुकने पर नलिनी बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाती थी और उसे फिर मुझसे यह शिकायत होती कि मैं दो-दो दिन क्या, कभी भी उन घटनाओं के प्रभाव से मुक्त नहीं होता था और रात को जब वह सो जाती थी तो घंटों तकिये में मुंह छिपाकर कराहता रहता था। नलिनी आपसी झगड़े को उतना अस्वाभाविक नहीं समझती थी, जितना मेरे रात भर जागने को और उसके लिए मुझे 'नर्व' टानिक लेने की सलाह दिया करती थी। विवाह के पहले दो वर्ष इसी तरह कटे थे और उसके बाद हम लोग अलग-अलग जगह काम करने लगे थे। हालांकि समस्या ज्यों-की-त्यों वर्तमान थी और जब कभी हम इकट्ठे होते, वही पुरानी जिंदगी लौट आती थी। फिर भी नलिनी का यह विश्वास अभी कम नहीं हुआ था कि कभी-न-कभी मेरे सामाजिक संस्कारों का उद्‌बोध अवश्य होगा और तब हम साथ रहकर सुखी दांपत्य-जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

"आप कुछ सोच रहे हैं?" उस महिला ने अपनी बच्ची के सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा।

मैं सहसा सचेत हुआ और मैंने कहा, "हां, मैं आप ही की बात को लेकर सोच रहा था। कुछ लोग होते हैं, जिनसे दिखावटी शिष्टाचार के संस्कार आसानी से नहीं ओढ़े जाते। आप भी शायद उन्हीं लोगों में से हैं।"

"मैं नहीं जानती," वह आंखें मूंदकर बोली, "मगर मैं इतना जानती हूं कि मैं बहुत-से परिचित लोगों के बीच अपने को अपरिचित, बेगाना और विजातीय अनुभव करती हूं। मुझे लगता है कि मुझमें ही कुछ कमी है। मैं इतनी बड़ी होकर भी वह कुछ नहीं जान-समझ पाई जो लोग छुटपन में ही सीख जाते हैं। दीशी का कहना है कि मैं सामाजिक दृष्टि से बिल्कुल मिसफिट हूं।'

"आप भी यही समझती हैं?" मैंने पूछा।

"कभी समझती हूं, कभी नहीं समझती", वह बोली, "एक खास तरह के समाज में जरूर अपने को मिसफिट अनुभव करती हूं। परंतु..... कुछ ऐसे लोग हैं, जिनके बीच जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। ब्याह से पहले मैं दो-एक बार कालेज की पार्टी के साथ पहाड़ों पर घूमने के लिए गई थी। वहां सब लोगों को मुझसे यही शिकायत रहती थी कि मैं जहां बैठ जाती हूं, वहीं की हो रहती हूं। मुझे पहाड़ी बच्चे बहुत अच्छे लगते थे। मैं उनके घर के लोगों से भी बहुत जल्दी दोस्ती कर लेती थी। एक पहाड़ी परिवार की मुझे आज याद आती है। उस परिवार के बच्चे मुझसे इतना घुल-मिल गए थे कि मैं बड़ी मुश्किल से उन्हें छोड़कर उनके घर से चल पाई। मैं दो घंटे उन लोगों के पास रही थी। मैंने दो घंटे में उन्हें नहलाया-धुलाया भी, और उनके साथ खेलती भी रही। बहुत ही अच्छे बच्चे थे वे। हाय, उनके चेहरे इतने लाल थे कि क्या कहूं? मैंने उनकी मां से कहा कि वह अपने छोटे लड़के किशनू को मेरे साथ भेज दे। वह हंसकर बोली कि तुम सभी को ले जाओ, यहां कौन उनके लिए तोशे रखे हैं। यहां तो दो बरस में इनकी हड्डियां निकल आएंगी, वहां खा-पीकर अच्छे तो रहेंगे। मुझे उसकी बात सुनकर रुलाई आने को हो गई। मैं अकेली होती तो शायद कई दिनों के लिए उन लोगों के पास रह जाती। ऐसे लोगों में जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। अब तो आपको भी लग रहा होगा कि कितनी अजीब हूं मैं। वह कहा करते हैं कि मुझे किसी अच्छे मनोविद से अपना विश्लेषण कराना चाहिए, नहीं तो किसी दिन मैं पागल होकर पहाड़ों पर भटकती फिरूंगी।"

"यह तो अपने-अपने निर्माण की बात है," मैंने कहा, "मुझे खुद आदिम संस्कारों के लोगों के बीच रहना बहुत अच्छा लगता है। मैं आज तक एक जगह घर बनाकर नहीं रह सका और न ही आशा है कि कभी रह सकूंगा। मुझे अपनी जिंदगी की जो रात सबसे ज्यादा याद आती है, वह रात मैंने पहाड़ी गूजरों की एक बस्ती में बिताई थी। उस रात उस बस्ती में एक ब्याह था, इसलिए सारी रात वे लोग शराब पीते रहे और नाचते रहे। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ जब मुझे बाद में बताया गया कि वे गूजर दस-दस रुपए के लिए इंसान का खून भी कर देते हैं।"

"आपको सचमुच इस तरह की जिंदगी अच्छी लगती है?" उसने आश्चर्य और अविश्वास के साथ पूछा।

"आपको शायद खुशी हो रही है, कि पागल होने की उम्मीदवार अकेली आप ही नहीं हैं," मैंने मुस्कुराकर कहा। वह भी मुस्कुराई। उसकी आंखें सहसा भावनापूर्ण हो उठीं। उस एक क्षण में मुझे उन आंखों में न जाने कितना कुछ दिखाई दिया—करुणा, क्षोभ, ममता, आर्द्रता, ग्लानि, भय, असमंजस और सौहार्द! उसके ओंठ कुछ कहने के लिए कांपे, लेकिन कांप कर ही रह गए। मैं भी चुपचाप उसे देखता रहा। कुछ क्षणों के लिए मुझे पता नहीं कि मैं क्या कह रहा था और आगे क्या कहना चाहता था। उसकी आंखों में सहसा सूनापन भरने लगा और आधे क्षण में वह इतना बढ़ गया कि मैंने उसकी ओर से आंखें हटा लीं।

बत्ती के आस-पास उड़ता हुआ कीड़ा उसके साथ सटकर झुलस गया था।

बच्ची नींद में मुस्कुरा रही थी।

खिड़की के शीशे पर इतनी धुंध जमा हो गई थी कि उसमें अपना चेहरा भी नहीं दिखाई देता था।

गाड़ी की रफ्तार धीमी हो रही थी। कोई स्टेशन आ रहा था। दो-एक बत्तियां तेजी से निकल गईं तो मैंने खिड़की का शीशा थोड़ा उठा दिया। बाहर से आती हुई बर्फानी हवा के स्पर्श ने जैसे स्नायुओं को सहला दिया। गाड़ी एक बहुत नीचे प्लेटफार्म के बराबर खड़ी हो रही थी।

"यहां थोड़ा पानी मिल जाएगा?"

मैंने चौंककर देखा कि वह अपनी टोकरी में से कांच का गिलास निकालकर अनिश्चित भाव से अपने हाथ में लिए हुए है। उसके चेहरे की रेखाएं पहले से गहरी हो रही थीं।

"आपको पानी पीने के लिए चाहिए?" मैंने पूछा।

"हां, कुल्ला करूंगी या पिऊंगी। न जाने क्यों ओंठ कुछ चिपक-से रहे हैं। बाहर इतनी ठंड है, फिर भी....."

"मैं देखता हूं यदि मिल जाए तो....."

कहकर मैंने गिलास उसके हाथ से ले लिया और जल्दी से प्लेटफार्म पर उतर गया। न जाने कैसा सुनसान स्टेशन था कि कहीं भी कोई आकृति दिखाई नहीं दे रही थी। प्लेटफार्म पर आते ही हवा के झोंकों से हाथ-पैर सुन्न होने लगे। मैंने कोट के कालर खड़े कर लिए। प्लेटफार्म के जंगले के बाहर से फैलकर ऊपर आए हुए दो-एक वृक्ष हवा में सरसरा रहे थे। इंजन के भाप छोड़ने से लंबी शूं-शूं की आवाज सुनाई दे रही थी। शायद वहां गाड़ी सिग्नल न मिलने की वजह से ही रुक गई थी।

दूर कई डिब्बे पीछे मुझे एक नल दिखाई दिया और मैं तेजी से उसकी ओर चला। ईंटों के प्लेटफार्म पर अपने जूते की एड़ियों का शब्द मुझे बहुत अपरिचित-सा लग रहा था। मैंने चलते-चलते गाड़ी की ओर देखा। किसी खिड़की से कोई चेहरा नहीं झांक रहा था। मैं नल के पास जाकर गिलास में पानी भरने लगा। तभी एक हल्की-सी सीटी देकर गाड़ी एक झटके के साथ चल पड़ी। मैं भरा हुआ पानी का गिलास लेकर अपने डिब्बे की ओर दौड़ा। मुझे दौड़ते हुए लगा कि मैं डिब्बे तक नहीं पहुंच पाऊंगा और बिना सामान के सर्दी में उस अंधेरे और सुनसान प्लेटफार्म पर मुझे रात बितानी पड़ेगी। मैं और भी तेज दौड़ने लगा। किसी तरह मैं अपने डिब्बे के दरवाजे के बराबर पहुंच गया तो मैंने देखा कि दरवाजा खुला है और वह दरवाजे के पास खड़ी है। उसने हाथ बढ़ाकर गिलास मुझसे ले लिया। फुटबोर्ड पर चढ़ते हुए एक बार मेरा पैर जरा-सा फिसला पर दूसरे ही क्षण मैं स्थिर होकर खड़ा हो गया। इंजन तेज होने की चेष्टा में हल्के-हल्के झटके दे रहा था और ईंटों के प्लेटफार्म के स्थान पर अब नीचे अस्पष्ट गहराई दिखाई देने लगी थी।

"अंदर आ जाइए," उसके ये शब्द सुनकर मुझे महसूस हुआ कि फुटबोर्ड से आगे भी कुछ गंतव्य है। डिब्बे के अंदर कदम रखते हुए मेरे घुटने जरा-जरा कांप रहे थे।

अपनी जगह पर आकर मैंने टांगें सीधी करके पीछे को टेक लगा ली। कुछ क्षण बाद मैंने आंखें खोलीं, तो मुझे लगा कि वह शायद हाथ-मुंह धोकर आई है। फिर भी उसके चेहरे पर मुर्दनी छा रही थी। मेरे भी ओंठ सूख रहे थे, तो भी मैं थोड़ा मुस्कुराया।

"क्या हुआ है, आपका चेहरा ऐसा क्यों हो रहा है?" मैंने पूछा।

"मैं कितनी मनहूस हूं....." कहकर उसने अपना निचला ओंठ जरा-सा काट लिया।

"क्यों?"

"अभी मेरी वजह से आपको कुछ हो जाता....."

"वाह! यह खूब सोचा आपने!"

"नहीं। मैं हूं ही ऐसी....." वह बोली, "जिंदगी में हर एक को दुख ही दिया है। अगर कहीं आप न चढ़ पाते....."

"तो?"

"तो?" उसने ओंठ जरा सिकोड़े, "तो मुझे पता नहीं... पर..." उसने खामोश रहकर आंखें झुका लीं। मैंने लक्ष्य किया कि उसकी सांस जल्दी-जल्दी चल रही है। उस क्षण मैंने अनुभव किया कि वास्तविक संकट की अपेक्षा कल्पना का संकट कितना बड़ा और खतरनाक होता है! शीशा थोड़ा उठा रहने से खिड़की से हवा आ रही थी। मैंने खींच कर शीशा नीचे कर दिया।

"आप क्यों गए थे पानी लाने के लिए? आपने मना क्यों नहीं कर दिया?" उसने पूछा।

उसके पूछने के लहजे से मुझे हंसी आ गई।

"आप ही ने तो कहा था..." मैंने कहा।

"मैं तो मूर्ख हूं, कुछ भी कह देती हूं। आपको तो सोचना चाहिए था।"

"अच्छा, मैं अपनी गलती माने लेता हूं!"

यह सुनकर उसके मुरझाए हुए ओठों पर भी मुस्कुराहट फैल गई।

"आप भी कहेंगे कैसी लड़की है," उसने कहा, "सच कहती हूं मुझे जरा अक्ल नहीं है। इतनी बड़ी हो गई हूं पर अक्ल अभी बालिश्त भर भी नहीं है—सच!"

मैं फिर हंस दिया।

"आप हंसते क्यों हैं?" उसने शिकायत के स्वर में पूछा।

"मुझे हंसने की आदत है!" मैंने कहा।

"हंसना अच्छी आदत नहीं है।"

मुझे इस बात पर फिर हंसी आ गई।

वह शिकायत भरी दृष्टि से मुझे देखती रही।

गाड़ी की रफ्तार फिर बहुत तेज हो गई थी। ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ व्यक्ति सहसा हड़बड़ाकर उठ बैठा और जोर-जोर से खांसने लगा। खांसी का दौरा शांत होने पर उसने कुछ क्षण छाती को हाथ से दबाए रखा और फिर भारी आवाज में पूछा, "क्या बजा है?"

"पौने बारह," मैंने उसकी ओर देखकर उत्तर दिया।

"कुल पौने बारह?" उसने निराश स्वर में कहा और फिर लेट गया। कुछ ही देर में वह फिर खर्राटे भरने लगा।

"आप भी थोड़ी देर सो जाइए।" वह पीछे टेक लगाए शायद कुछ सोच रही थी या केवल देख ही रही थी। उसने उसी मुद्रा में यह अनुरोध किया।

"आपको नींद आ रही है, आप सो जाइए," मैंने कहा।

"मैंने आपसे कहा था न, मुझे गाड़ी में नींद नहीं आती। आप सो जाइए।"

"अच्छी बात है!" और मैंने बिस्तर पर लेटकर कंबल ऊपर ले लिया। मेरी आंखें

कविता

अकेला पथिक

रामावतार त्यागी

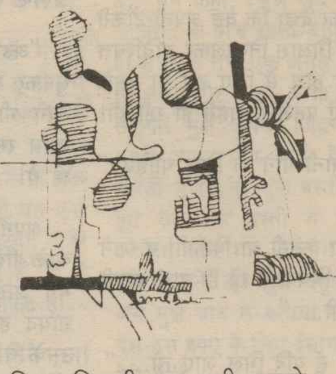

रेखांकन : रामबली

चल रहा है, गगन का अकेला पथिक,
कोर में डालियों की हवा सो रही।
सो रहे सब, निशा गा रही लोरियां—
डालियों की अलस सांस सहमी हुई।
देह चंचल पवन की शिथिल हो गई—
पांव उखड़े हुए चाल धीमी हुई।
पल्लवों पर धरे सिर विहग सो रहे,
थक गया जागरण, नींद की जीत है।
हूं विरोधी बड़ा स्वप्न का इस समय—
स्वप्न ही तो अकेला मगर मीत है।
यह अजब बात है इन सुखों के प्रहर,
अंक में ले पुलिन को लहर सो रही।
दीप ने जो तड़प आखिरी सांस ली—
है सुबह के जनम का इशारा यही।
जो लहर लौटकर जा रही वेग से,
वह पता दे रही है किनारा यही।
डूबते ज्योति-कण, कह रहे व्योम में—
'हम चले' दिन उगेगा न अब देर है।
वह किरण किन्नरी जब लगी नाचने,
शेष जग में कहीं भी न अंधेर है।
पर अजब बात है प्रातः के वक्त भी,
इस गगन की शकल सांवली हो रही।
इन अचल पर्वतों के नगन शीश, हिम—
गिर स्वयं और ऊंचा उठाती रही।
इस उदधि की चढ़ेगी नदी की उमर,
हिम स्वयं हो गलाकर बढ़ाती रही।
इन तृणों को मिलन-संगठन देखिए।
जब मिले बेघरों के लिए घर बना।
इस हरी दूब का मेघ ने भूमि पर,
पंथियों के लिए है बिछौना बुना।
पर अजब बात बरसात के राज में,
यह नदी निज मलिनता नहीं धो रही।

—दिसंबर, 1953

देर तक शून्य भाव से बत्ती को देखती रहीं, जिसके साथ झुलसा हुआ कीड़ा चिपककर रह गया था।

"रजाई भी ले लीजिए, काफी ठंड है," उसने कहा।

"नहीं, अभी जरूरत नहीं है। मैं बहुत-से गर्म कपड़े पहने हूं," मैंने कहा।

"ले लीजिए, नहीं तो बाद में ठिठुरते रहिएगा।"

नहीं, ठिठरूंगा नहीं," मैंने कंबल गले तक लपेटते हुए कहा, "और थोड़ी-थोड़ी ठंड लगती रहे तो अच्छा रहता है।"

"बत्ती बुझा दूं?" कुछ क्षण बाद उसने पूछा।

"नहीं रहने दीजिए।"

"नहीं, बुझा देती हूं, ठीक से सो जाइए।" और उसने उठकर बत्ती बुझा दी। मैं काफी देर अंधेरे में छत की ओर देखता रहा। फिर मुझे नींद आने लगी।

शायद रात आधी से अधिक बीत चुकी थी, जब इंजन के भोंपू की आवाज से मेरी नींद खुली। वह आवाज कुछ ऐसी भारी थी कि मेरे सारे शरीर में एक सिहरन-सी भर गई। पिछले किसी स्टेशन पर इंजन बदल गया था।

गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी तो मैंने सिर थोड़ा ऊंचा उठाया। सामने की सीट उस समय खाली थी। वह महिला न जाने किस स्टेशन पर उतर गई थी। वह इसी स्टेशन पर न उतरी हो, यह सोचकर मैंने खिड़की का शीशा उठाकर बाहर देखा। प्लेटफार्म बहुत पीछे रह गया था और एक बत्तियों की कतार के अतिरिक्त कुछ स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था। मैंने शीशा फिर खींच लिया। अंदर की बत्ती अब भी बुझी हुई थी। बिस्तर में नीचे को सरकते हुए मैंने लक्ष्य किया कि मैं कंबल के अतिरिक्त रजाई भी ओढ़े हुए हूं, जिसे अच्छी तरह कंबल के साथ मिला दिया गया है। उष्णता की अनेक सिहरनें एक साथ मेरे शरीर में भर गईं।

ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ व्यक्ति उसी तरह जोर-जोर से खर्राटे भर रहा था। ☐

—जून, 1956

नई कविता—नया साहित्य

भगवतीचरण वर्मा

'नई कविता, नया साहित्य!' इस नारे के साथ जिस कविता और साहित्य का प्रचुरता के साथ सृजन हो रहा है, उससे वर्तमान हिन्दी साहित्य की गतिविधि पर जो प्रभाव पड़ा है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। और इसलिए इस नई कविता तथा साहित्य पर अपने विचार व्यक्त करना मेरे लिए अप्रासंगिक न होगा, ऐसा मेरा मत है। बहुत संभव है, मेरे विचार विवाद का रूप धारण कर लें, पर मुझे इसमें भी संतोष होगा, क्योंकि इस विवाद से उन नवीन मान्यताओं का स्पष्टीकरण हो जाएगा जिनसे यह नवीन कविता और साहित्य प्रेरित है।

अपने विचार प्रकट करने के पहले मुझे नई कविता की परिभाषा कर देनी पड़ेगी, क्योंकि 'नई कविता' शब्द का व्यवहार एक विशेष अर्थ में ही किया जा रहा है और वह भी कुछ इने-गिने व्यक्तियों द्वारा। वैसे आज के दिन लिखी जाने वाली हरेक कविता नई कहला सकती है, पर नई कविता से प्रयोजन उस कविता से है, जो नए युग का प्रतिनिधित्व करती है।

यह नया युग क्या है? इसका रूप कैसा है? इसमें कितना स्थायित्व है? नई कविता की समीक्षा करने से पहले इन प्रश्नों का सामने आ जाना स्वाभाविक है।

आज का युग संघर्षों का युग है, आज का युग अनास्था का युग है, आज का युग मानसिक असंतुलन का युग है। पिछले दो महायुद्धों में जिस विनाश का तांडव हुआ है; हत्या, झूठ, विनाश और क्रूरता का जो सार्वजनिक प्रदर्शन दुनिया को देखने को मिला है, उसके फलस्वरूप आज का युग अविश्वास का युग कहला सकता है। जितनी पुरानी आस्थाएं और मान्यताएं थीं, वे एकबारगी ही नष्ट हो गईं; नितांत नवीन मान्यताओं और आस्थाओं की स्थापना और विकास में समय लगेगा। और इसलिए आज मानव की विचारधारा में रचनात्मक प्रवृत्ति न रहकर एक प्रकार की विनाशात्मक प्रवृत्ति आ गई है। जो प्राचीन है वह सब झूठा है, अकल्याणकारी है, त्याज्य है—विनाश और विध्वंस से त्रस्त मानव-मनोविज्ञान ने गौण रूप से अथवा स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर लिया है। किस नवीन का सृजन हो और किस नवीन की स्थापना संभव है, यह विवादग्रस्त है, तथा इस पर अभी दुनिया में बहुत अधिक मतभेद है। इस नवीन का सृजन और इसकी स्थापना वैयक्तिक विकास पर न निर्भर होकर राजनीतिक विचारधारा द्वारा संचालित विभिन्न राज्यों की शासन-व्यवस्था के हाथ में आ पड़े हैं।

नई कविता, जैसा मैं निवेदन कर चुका हूं, आज के उस युग की प्रतिनिधि कविता है जिसमें चेतन मानव राजनीतिक आधिपत्य से कुंठित होकर व्यक्तित्व की स्थापना का प्रयत्न तो कर रहा है, पर उसका यह व्यक्तिवाद संघर्षरत, अनास्था और अविश्वास से भरा हुआ है। वैसे अधिकांश में जो कविताएं लिखी जा रही हैं या जिस साहित्य का सृजन हो रहा है, वे या तो प्रचलित मान्यताओं और आस्थाओं को लेकर लिखी जा रही हैं या फिर राजनीति द्वारा आरोपित नवीन मान्यताओं और आस्थाओं को लेकर लिखी जा रही हैं, पर वे नए युग की मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इसलिए वे नई कविताएं नहीं कहला सकतीं—ऐसा नई कविता के प्रवर्तकों एवं आचार्यों का मत है और कम-से-कम मुझे तो इस मत से असहमत होने का कोई कारण नहीं दीखता, क्योंकि जो सत्य है उससे इंकार नहीं किया जा सकता।

प्राचीन के प्रति विद्रोह और उस प्राचीन के विनाश की प्रवृत्ति आधुनिक कविता के शिल्प तथा उसकी विषयवस्तु दोनों ही स्थानों में मिलती है। सबसे पहले हमें नई कविता के शिल्प को ही देखना पड़ेगा।

कविता का माध्यम अनादि काल से पद्य रहा है, गद्य नहीं—हमें सबसे पहले यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा। यहां हमें पद्य और गद्य में जो अंतर है, उसे समझ लेना पड़ेगा।

पद्य को गद्य से पृथक करने वाला उसका रूप होता है। जहां पद्य में लय और छंद को प्रधानता मिलती है वहां गद्य केवल व्याकरण के सहारे चलता है, लय और छंद से उसका कोई प्रयोजन नहीं। जितनी प्राचीन कविता है वह पद्य में ही मिलती है, गद्य के माध्यम द्वारा अन्य साहित्यिक कलाएं विकसित हुई हैं—उपन्यास, नाटक, कहानी आदि-आदि। पर कविता हमेशा से ही पद्य में ही लिखी गई है। लय और छंद के साथ अनुप्रास, अलंकार आदि न जाने कितनी अन्य चीजें, कविता के आवश्यक अंग समझे गए हैं।

पर नई कविता में लय और छंद को निरर्थक समझा गया है, क्योंकि लय और छंद की मान्यता प्राचीन है और जो प्राचीन है, वह सड़ा-गला है, उसे नष्ट होना ही चाहिए। नई कविता का आधार केवल भावना को माना गया है, रूप को नहीं माना गया है। यह कहना गलत नहीं होगा कि जिसे अब तक कविता का शिल्प समझा गया है उस शिल्प का अभाव ही नई कविता का सबसे बड़ा शिल्प है। छंदों और तुकों वाली कविता को नई कविता के प्रवर्तक केवल तुकबंदी कह सकते हैं, उसी प्रकार की तुकबंदी जैसी चूरन के लटके कहने वाले, खयालबाज़ या गांवों के बिना पढ़े लोग कर दिया करते हैं। संभवतः छंद और अनुप्रास के प्रति इसी वितृष्णा के कारण वे कवि लोग जो छंद लिख सकते हैं, अंत्यानुप्रास लाना जिनके लिए कठिन काम नहीं है, नई कविता लिखते समय सतर्कता के साथ और चेष्टापूर्वक छंदों और अनुप्रासों की उपेक्षा करते हैं।

यहां कुछ लोग, जो नई कविता से परिचित नहीं हैं, यह प्रश्न कर सकते हैं कि फिर नई कविता में और गद्य में रूप का भेद क्या रह जाता है? उत्तर में मैं केवल इतना ही कहूंगा कि वे नई कविता का कुछ थोड़ा-सा ध्यानपूर्वक अध्ययन करें और उन्हें भेद स्पष्ट हो जाएगा। जहां गद्य में व्याकरण होता है वहां नई कविता में व्याकरण के अनुसार, बिना विचारों के तारतम्य के नई कविता की पंक्तियां छोटी-बड़ी, पूर्ण-अपूर्ण, विराम-कॉमा-डैश आदि से युक्त मिलेंगी। नई कविता केवल भावना का प्रतिनिधित्व करती है, तर्क और विचार शुद्ध भावना के क्षेत्र से अलग हैं और इसलिए नई कविता में इनका कोई स्थान नहीं। गूढ़ से गूढ़ विचार भी भावना की विशृंखल अनुभूति के रूप में ही नई कविता में आ सकते हैं। महाकाव्य और खंडकाव्य तो नहीं, नाटक प्रचुरता के साथ इस नई कविता में लिखे गए हैं—यद्यपि नाटकों में विचारों की विशृंखलता को दूर रखा गया है, क्योंकि ये नाटक अभिनय के लिए लिखे गए हैं और अभिनय की कसौटी पर विचारों की विशृंखलता नितांत हास्यास्पद साबित होती।

कुछ दिनों तक लय के शिल्प को नई कविता में स्वीकार किया गया, पर लय के शिल्प को स्वीकार करने पर छंद के शिल्प को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि शिल्प में पूर्णता प्राप्त करने के सिद्धांत को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता और मात्र लय के शिल्प को स्वीकार करने से कलाकार में शिल्प की कमजोरी नहीं समझी जाती। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए नई कविता के प्रवर्तकों को लय के शिल्प को भी छोड़ ही देना पड़ा।

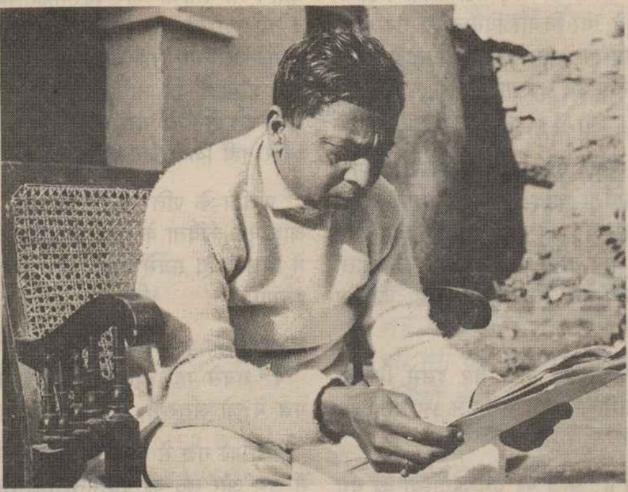

भगवतीचरण वर्मा

इस लय और छंद के शिल्प को छोड़ने का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है जिसकी ओर दुर्भाग्यवश अभी लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हो पाया।

प्रत्येक मनुष्य में कविता लिखने की क्षमता है, लेकिन प्रत्येक मनुष्य छंद नहीं लिख सकता और न लय का ठीक तरह से निर्वाह कर सकता है। ऐसी हालत में लय और छंद के बंधनों से कविता को बांधकर कोटि-कोटि जनों को कवि बनने से वंचित रखना—यह सामाजिक न्याय नहीं है। नई कविता में उस शिल्प का परित्याग कर दिया गया है, जो कुछ इने-गिने लोगों की बपौती है जिनके कान संगीतमय हैं, जो लय, छंद एवं अनुप्रास में पारंगत हैं।

हम सब भावना से प्रेरित होते हैं, भावना के वेग में बिना व्याकरण के सोचते हैं, अस्पष्ट और धुंधले विचार हमारे सामने आते हैं। इन भावनाओं और विचारों को शब्दों में लिख देना—व्याकरण सही न हो और जो लिखा है उसमें उलझाव स्पष्ट रूप से दिखे—हरेक पढ़े-लिखे आदमी के लिए आसान काम है। कविता कुछ इने-गिने लोगों की विशेष संपत्ति न रह जाए, वह प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्ति की मुट्ठी में आ जाए—नई कविता के शिल्प में इस बात का ध्यान रखा गया है।

मुझे व्यक्तिगत रूप से तो इस पर कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से अगर मैं इस दृष्टिकोण की निस्सारता पर कुछ कहूं, तो अनुचित न होगा। कविता का ध्येय आत्म-संतुष्टि ही नहीं है, कविता मुख्यतः दूसरों के मनोरंजन के लिए लिखी जाती है। वही कविता समाज द्वारा स्वीकृत होगी जो दूसरों का मनोरंजन कर सके। छंद और अनुप्रास दूसरों के मनोरंजन में कविता के सहायक रहे हैं। आज भी जो कविताएं जनता द्वारा पढ़ी जाती हैं और प्रशंसित हैं, वे छंद और अनुप्रास के सहारे ही मनोरंजन करती हैं। हरेक आदमी भावनामय प्राणी है, लेकिन हरेक आदमी कवि नहीं है। कविता कला है और 'कला' शब्द में ही कृत्रिमता का बोध है। यह कृत्रिमता परिष्कार और सजावट की है। इस कृत्रिमता को दूर करने से कविता व्यक्तिगत चीज रह जाती है, वह सामाजिक संपत्ति नहीं बन सकती—जिस तरह कालिदास, तुलसीदास आदि कवियों की कृतियां समाज एवं लोक की निधियां बन चुकी हैं।

आज का युग अनास्था, अविश्वास तथा इस अनास्था और अविश्वास द्वारा जनित अराजकता और असंयम का युग है—मैंने माना। पर यह अराजकता और असंयम नियम नहीं है, केवल अपवाद हैं।

कुछ लोग कहेंगे कि नई कविता पिछले दो महायुद्धों की उपज नहीं है, वह उन महायुद्धों के पहले ही आ गई थी। और उनका कहना ठीक है। वह असंयम और अनास्था जो 1914-18 वाले महायुद्ध के पहले यूरोप तथा अमेरिका की कला में दीखती है, वह उन्हीं मानसिक विकृतियों को प्रतिबिंबित करती है, जिनके कारण पिछले महायुद्ध हुए। केवल इस बात को कह कर कि नई कविता पिछले महायुद्धों द्वारा जनित अविश्वास और अनास्था की उपज नहीं है, वरन उसके पहले आ गई थी, नई कविता के अंदर वाले अविश्वास और अनास्था से इंकार नहीं किया जा सकता।

अविश्वास और अनास्था की इस कविता को नई कविता का नाम अभी हाल में ही दिया गया है क्योंकि इधर इस कविता के शिल्प की शिथिलता के कारण इस कविता के लिखने वालों की संख्या

बेतहाशा बढ़ गई है और चूंकि इस कविता का लिखने से विशेष संबंध है इसलिए इस कविता के कवि पढ़े-लिखे लोग हैं और उनमें संगठन तथा प्रचार की उपादेयता का ज्ञान है। तो इस कविता के लिखने वालों ने इस कविता को नई कविता मान लिया है।

आज के वैज्ञानिक और वस्तुवादी जगत में भावना को अधिक महत्व न देने की प्रथा चल पड़ी है। वैज्ञानिक एवं श्रमिक वर्ग की बात अलग है, स्वयं साहित्यकार विचारक माने जाने में गौरव समझने लगे हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जनता में कविताओं के प्रति प्रेम कम होने लगा है। आज का युग गद्य का युग कहलाता है, कविता का युग नहीं। कविता के प्रति जनता की उदासीनता ने नई कविता के विकास में और भी सहायता की। इस वस्तुवादी जगत में जहां हर चीज का मूल्य सोना-चांदी से आंका जाता है, साहित्यकारों ने कविता को छोड़कर गद्य का आश्रय लिया। भारतवर्ष में ही नहीं, दुनिया के किसी भी देश में कविता की पुस्तकों की रायल्टी पर कोई भी साहित्यकार जीवन-यापन नहीं कर सकता। ऐसी हालत में साधना और संयम के साथ कविता पर अथक परिश्रम करने वालों की संख्या धीरे-धीरे कम होती गई। और जब परिश्रम, संयम, एवं साधना कविता के मामले में नियम न रहकर अपवाद ही बन चुके हों, तब नई कविता को आज के युग की प्रतिनिधि कविता के रूप में स्वीकार कर लेने से भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है?

नई कविता के शिल्प पक्ष पर इतना कह लेने के बाद नई कविता के भावना पक्ष पर भी कुछ थोड़ा-बहुत कह देना मैं उचित समझूंगा।

नई कविता में जो कुछ लिखा जाता है, वह भी प्रचलित परिपाटी के विरुद्ध! प्रकृति-वर्णन, मनोविज्ञान, दर्शन, प्रेम, शृंगार—सभी कुछ तो नई कविता में है, पर इन सबका रूप बदला हुआ है। स्वप्न और कल्पना पर नई कविता को विश्वास नहीं, वह तो आज की वास्तविकता से प्रेरित है, वह आज की कुरूपता को चित्रित करने में विश्वास करती है। सौंदर्य सृजन प्राचीन की परंपरा रही है, इस परंपरा को कुरूपता के सृजन से ही नष्ट किया जा सकता है।

कुरूपता जीवन का उतना ही बड़ा सत्य है जितना सौंदर्य है, पर अनास्था और विश्वास की जिस मान्यता को लेकर नई कविता आगे बढ़ रही है वह सौंदर्य के विनाश को प्रेरित करती है—कुरूपता की सृष्टि द्वारा। और यहां मुझ पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि मैं इस नए युग को ही रोग-ग्रस्त समझता हूं। जैसा मैं पहले कह चुका हूं, यह युग अनास्था और अविश्वास का युग है और मैं यह भी मानता हूं कि यह अविश्वास और अनास्था स्वाभाविक है। समय के साथ मान्यताओं और आस्थाओं का रूप बदला करता है; इन आस्थाओं और मान्यताओं के प्राचीन रूप मिट जाते हैं और उनके नवीन रूप हमारे सामने प्रकट हो जाते हैं। प्रत्येक आस्था और विश्वास के दो पहलू हैं, एक वैयक्तिक पहलू जो अमिट और अक्षय है, दूसरा सामाजिक पहलू जो निरंतर परिवर्तनशील है। वह जो मिटा है, आस्था और विश्वास का सामाजिक पहलू है, आस्था और विश्वास का वैयक्तिक पहलू कभी नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि वह शाश्वत और चिरंतन है।

साहित्य में उसी भावना का स्थान है जो मानव की बुद्धि और बुद्धि द्वारा जनित संतुलन के आधार पर स्थित है। बिना बौद्धिक संतुलन के भावना, भावना न रह कर प्रलाप का रूप धारण कर लेती है। यह जो कविता का शिल्प है, या यह कहना उचित होगा कि यह जो कला का शिल्प है, इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? इस शिल्प के निखार के बिना कोई भी भावना या तो प्रलाप के रूप में सामने आएगी, या फिर भद्दे और निर्जीव नारे के रूप में सामने आएगी। भावना को सजीव, प्राणवान और संयत बनाने का एकमात्र माध्यम है—कला का शिल्प।

नई कविता का कला-शिल्प स्पष्ट रूप से निर्बल ही नहीं, बल्कि विकृत है और इसीलिए नई कविता जनता को आकर्षित करने की बजाय उसमें वितृष्णा और ग्लानि उत्पन्न करती है। आज जो अनास्था और अविश्वास युग में प्रतिबिंबित है, क्या वह मानव के निर्माण-प्रयत्नों को रोक सकता है? जो शाश्वत सत्य है, वह किसी विशेष युग की क्रिया-प्रतिक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। आधुनिक कविता युग की क्रिया का ही प्रतिनिधित्व करती है, वह सर्वदेशीय और सर्वकालिक सत्य से बहुत दूर है।

वह जो प्राचीन है, क्या उसे एकदम नष्ट कर देना संभव है? मानव आस्था और विश्वास पर ही स्थित है। और मैं तो यहां तक कह सकता हूं कि कविता स्वयं किन्हीं आस्थाओं और विश्वासों को लेकर आगे बढ़ी है, ये आस्थाएं और विश्वास रचनात्मक न होकर विनाशात्मक भले ही हों।

नई कविता का विश्लेषण करते हुए मुझे एक कुरूप और कटु सत्य भी कहना पड़ रहा है, पर यदि मैं उसे न कहूं तो मेरी बात अधूरी ही रह जाएगी।

भौतिक सभ्यता के इस युग में जहां जीवन अत्यधिक व्यस्त है और मनुष्य सुख-सुविधा को जीवन में प्रधानता देने लगा है—नई कविता के पीछे जल्दी-जल्दी ख्याति पाने की प्रवृत्ति है, यश-लिप्सा है। यह युग महत्वाकांक्षा का है, लेकिन महत्वाकांक्षा के पीछे जिस लगन और अथक परिश्रम की आवश्यकता है, वह इस युग में बहुत कम मिलती है। संभवतः लोगों के पास न इतनी लगन है और न इतना समय है कि वह साधना करें, परिश्रम करें।

साधना और परिश्रम के अभाव की पूर्ति नवीन विचारों से और नवीन शैली से करने की प्रवृत्ति ही इस युग का गुण हो गया है। पर यह नवीनता भ्रामक है—यह केवल अप्रचलित का ग्रहण ही है। समाज में अप्रचलित वही है जो विकृत है और इसलिए यह नवीनता अंततोगत्वा विकार का ग्रहण ही है।

कला का क्षेत्र विचार है भी नहीं, कला का क्षेत्र भावना है। और भावना का उदात्तीकरण ही उच्च कला का ध्येय है। भावना को सजीवता प्रदान करना—इसमें साधना की आवश्यकता है, शिल्प के साथ परिश्रम की आवश्यकता है।

नई कविता में बिना परिश्रम यश और ख्याति प्राप्त करने की जो प्रवृत्ति है, उससे जो वास्तविक कलाकार हैं उन्हें बचने की नितांत आवश्यकता है। युग बदलता रहता है; आज का अनास्था और अविश्वास वाला युग बदल जाएगा और इस युग के साथ आज जिसे नई कविता कहा जा रहा है, वह नष्ट हो जाएगी। जीवित वही कविता रहेगी जो भावना और शिल्प दोनों के आधारभूत सत्य पर अवलंबित है। ❑

—जुलाई, 1956

समीक्षा

तीन कवि चार संग्रह

रामधारी सिंह दिनकर

बच्चन, गिरिजाकुमार माथुर और शिवमंगल सिंह सुमन के संग्रहों की समीक्षा।

इधर हाल में हिंदी में कई अच्छे काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से मैंने निम्नलिखित चार संग्रह छांटे हैं:

प्रणय पत्रिका : हरिवंश राय बच्चन; सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद; पृ. सं. 133; मूल्य ढाई रु.।

धूप के धान : गिरिजाकुमार माथुर; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृ. सं. 152; मूल्य तीन रु.।

विश्वास बढ़ता ही गया : शिवमंगल सिंह 'सुमन'; सरस्वती प्रेस, बनारस; पृ. सं. 104; मूल्य तीन रु.।

पर, आंखें नहीं भरीं : शिवमंगल सिंह 'सुमन'; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पृ. सं. 114; मूल्य : साढ़े तीन रु.।

सुमनजी की गिनती प्रगतिवादी संप्रदाय के प्रतिनिधि कवियों में की जाती है और गिरिजाकुमार उस धारा के कवि समझे जाते हैं जिसका प्रचलित नाम प्रयोगवाद पड़ गया है। हमारे ये दो कवि कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं और इस महत्त्व का सबसे बड़ा कारण यह है कि ये दोनों कवि वादी कम, कवि अधिक हैं।

प्रगतिवादी कविता जिन लक्षणों के कारण निंदित हुई, वे लक्षण सुमन की कविता में कम रहे हैं और इन दो संग्रहों में भी वे अल्प मात्रा में ही मिलते हैं। नाम तो उनका 'एशिया की आग' जैसी रचनाओं को लेकर चमका, किंतु वर्तमान दोनों संग्रहों को मिलाकर यह अनलतत्त्व कम, प्रेम और विरह का जलतत्त्व ही अधिक है। *'विश्वास बढ़ता ही गया'* में ऐसी रचनाएं कुछ अधिक अवश्य हैं जिनसे कवि के प्रगतिवादी रूप पर प्रकाश पड़ता है, किंतु, *'पर, आंखें नहीं भरीं'* की तुलना में *'विश्वास बढ़ता ही गया'* का पलड़ा कुछ ऊपर उठा हुआ है, यद्यपि 'युगांतरकारी कवि निराला के प्रति' नामक कविता, जिसे मैं सुमनजी की सर्वश्रेष्ठ कृति मानता हूं, इसी संग्रह में सम्मिलित है।

अनेक मनोदशाओं से होकर गुजरने के कारण एक ही कवि अनेक प्रकार की कविताएं रच सकता है। किंतु, इस विविधता से उसका वह रूप नहीं छिप सकता जो उसका असली रूप है और जो उसकी प्रत्येक भावदशा के भीतर से झलक मारता है। इस दृष्टि से विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि सुमनजी संदेशवाही कवि किसी झकोर में पड़कर बन जाते हैं, अन्यथा उनका वास्तविक रूप सौंदर्यवादी कवि का ही है और इसीलिए वे काव्यरसिकों के प्यारे भी हैं। उनके भीतर छायावाद का वह रोमांटिक तत्त्व जीवित है जिसने एक समय बच्चनजी की कविताओं में रस भरा था तथा जो प्रत्येक उदीयमान कवि की रचनाओं पर मोहकता का रंग छिड़क देता है। उनकी यह रसिकता, उनका यह स्निग्ध भाव इस बात का प्रमाण है कि कुछ अन्य कवियों की भांति उनकी सरसता दोपहर होते-होते न सूखेगी। 'तुम को सूरज ने कभी छुआ तो होगा', 'क्या किसी सांस की रगड़ ज्वाल में बदली?' इन पंक्तियों में जो लाक्षणिकता है, वह भी इस बात का संकेत देती है कि सुमनजी की प्रतिभा परिचित क्षितिजों के पास धूनी रमाकर बैठ सकती है। *'पर, आंखें नहीं भरीं'* की गणना हिंदी के अच्छे काव्य-संग्रहों में की जा सकती है।

बच्चनजी की अच्छी-अच्छी इतनी कविताएं हम पढ़ चुके हैं कि उनकी *प्रणय-पत्रिका* कुछ सूनी-सूनी-सी लगती है। टेकों में तो रस अब भी विद्यमान है, किंतु, अंतराएं अधिकतर रची-रचाई दीखती हैं। बच्चनजी की भाषा में लाक्षणिकता की मात्रा पहले भी न्यून थी। उनकी कविताओं में जो रस था, वह अनुभूतियों से आता था। *प्रणय-पत्रिका* में अनुभूति की वेधकता पाठकों को प्रभावित नहीं करती। अधिकांश में *प्रणय-पत्रिका* के गीत बच्चनजी के पहले के गीतों की छायामात्र हैं। ऐसा दीखता है, मानो, कवि नए उन्मेष के अभाव में अपने पूर्व रूप का अनुकरण कर रहा हो। किंतु, जब रससिद्ध कवि अपना अनुकरण आप करता है तब भी कुछ रस तो वह दे ही जाता है। वह रस *प्रणय-पत्रिका* में भी है। किंतु, जिस भावधारा में *'निशा-निमंत्रण'* और *'आकुल अंतर'* के गीत अपना चमत्कार दिखा चुके हैं उसमें *प्रणय-पत्रिका* कागज की नाव के समान लगती है। कविता की सारी शक्ति उसकी भाषा में होती है और *प्रणय-पत्रिका* की भाषा स्वच्छ और परिमार्जित होने पर भी प्रकाशहीन है। इस पुस्तक को पढ़कर ऐसा भासित होता है कि बच्चनजी के सामने प्रेम और विरह की जो भूमि थी, कवि उसके चप्पे-चप्पे को छान चुका है और उसमें कवि को अब कोई नवीनता नहीं मिलती।

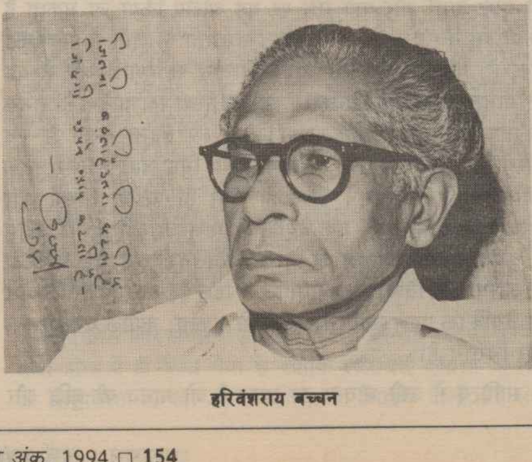

हरिवंशराय बच्चन

कवित्त्वमयी भाषा से मेरा क्या तात्पर्य है, इसे स्पष्ट करने के लिए मैं कहना चाहता हूं कि गिरिजाकुमार के *धूप के धान* की भाषा कवित्त्वपूर्ण है। कोमल शब्दों की योजनामात्र से कविता की भाषा नहीं बनती। रवि बाबू ने ठीक ही ऐसी भाषा को कवित्त्वमयी न कह कर, ललितलवंगी कहा है। एक समय ललितलवंगी भाषा से भी कविता आदरणीय हो जाती थी। किंतु, वह समय चला गया और इसलिए चला गया कि सहृदयों की रुचि अब अधिक परिमार्जित और गहरी हो गई है। अब वह अनुप्रासों की सजीवता और छंदों की संगीतमयता से तृप्त नहीं होती, प्रत्युत कवित्व का प्रमाण वह प्रत्येक शब्द में खोजती है। कविता की भाषा रूखी होने पर भी कलरवपूर्ण और रंगीन हो सकती है। छंद पूरा करने के लिए जब ऐसे शब्द चुने जाते हैं जो संकेत नहीं देते, चिनगारियां नहीं फेंकते, तब ऐसे शब्दों को भरती के ही शब्द कहना चाहिए। कवि की जो सबसे बड़ी शक्ति है वह न तो छंद-रचना में परखी जा सकती है, न ऊंचे-ऊंचे विचारों को बांधने में। उसकी जांच विशेषणों के प्रयोग में होती है या फिर ऐसे शब्दों के प्रयोग में, जिनके बैठने की अदा से ही कविता चमक उठती है। अंग्रेजी कवियों में यह गुण सबसे अधिक कीट्स में है। हिंदी कवियों में से इस गुण का सबसे अधिक प्रमाण पंतजी ने दिया है। 'दूर उन खेतों के उस पार, जहां तक गई नील झंकार' तथा 'सर सर सर सर रेशमी वायु' में सारी कविता नील झंकार और रेशमी वायु में सिमटकर बैठी हुई है। शब्दों से जब ज्योति छिटकती हो, संकेत ध्वनित होता हो अर्थात शब्द जब इस प्रकार बैठते हों, मानो, उनके पंख निकल आए हों और वे उड़ने को तैयार हों, तभी यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा सचमुच कवित्वपूर्ण है। किंतु, यह गुण जितना ही अनुपम है, उतना ही दुर्लभ और दुष्प्राप्य भी। जब तक भीतर के तार चढ़े हुए न हों और प्रतिभा के उन्मेष से रोम-रोम न थिरक रहा हो, तब तक ऐसी भाषा सत्कवि भी नहीं लिख सकता। और जो कवि ऐसी भाषा लिख सकता है, उसे सत्कवि न मानना, कविता के सबसे ऊंचे गुण से अपना अपरिचय घोषित करना है।

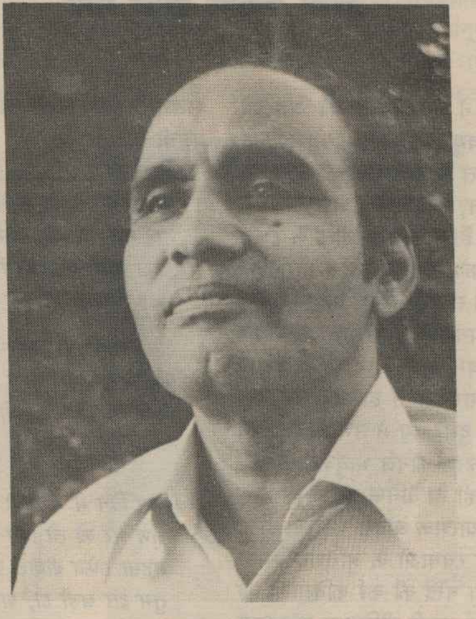

गिरिजाकुमार माथुर

धूप के धान में कवित्त्वमयी भाषा के विलक्षण प्रयोगों के इतने अधिक उदाहरण वर्तमान हैं कि मैं तो उन्हें देखकर चकित रह गया। इस संग्रह की कविताओं में कुछ दोष भी हैं, किंतु, वह अलग बात है। किंतु, जहां तक काव्य की भाषा का संबंध है, मैं नूतन काव्य-साहित्य में किसी भी ऐसी पुस्तक का नाम नहीं ले सकता जिसमें लक्षण और सम्यक् विशेषणों का इतना अधिक प्रयोग हुआ हो और ऐसी सफलता के साथ। 'यह कपूरी लौ उठी', 'सभ्यता का रंग-केतन', 'अब ब्राह्म घड़ी का ठंडा-सा आलोक जगा', 'हल्की हो गई हवा की तिमिर-दबी सांसें', 'कच्ची मिट्टी का ठंडापन', 'इस धूसर सांवर धरती की सोंधी उसांस', 'या कालांतर में पथराये भाव हमारे', 'उजली बांहों-सी दीवारें', 'सोंधे तन-गंध-भरे आंचल', 'और ब्लाउज महीन चटकीले, जिनमें थे पड़ गए पहनने से, चिन्ह रंगीन गठे अंगों के, सभी कोमल कठोर उतार-चढ़ाव', 'दूर पर छै की गजर डूब रही', 'यह दो हजार वर्षों की छांह हवाओं में', 'हैं कसे धनुष के वक्र ओंठ', 'सर्दियों की धूप उजले ऊन की मृदु शाल पहने', उद्धरण कहां तक दिए जाएं, सारी पुस्तक ही ऐसे उदाहरणों से भरी पड़ी है। मुझे तो इस संग्रह की अधिकांश पंक्तियां अपने भीतरी प्रकाश से जगमगाती दीखती हैं और कवि की उस तन्मयता पर श्रद्धा होती है जिसमें रह कर उसने इतनी ज्योतिर्मयी भाषा का निर्माण किया है। *धूप के धान* की कविताओं को देखकर इस बात का आभास मिलता है कि प्रयोगवादी कवि कविता में किस सौंदर्य को उतारने के प्रयास में हैं।

आलोचक अभी भी प्रयोगवादी कवियों पर अलग-अलग विचार न करके उन्हें गुच्छ-रूप में ही देखते हैं। किंतु, मेरा ख्याल है, गिरिजा कुमार गुच्छ से ऊपर आ गए हैं और उनकी रचनाओं का विधिवत अध्ययन करने से नई कविता के कितने ही सुंदर रूप प्रत्यक्ष हो जाएंगे।

धूप के धान की दूसरी विशेषता यह है कि वह नए प्रयोग की रचना होने पर भी परंपरा से बहुत दूर नहीं हैं। इसकी प्रायः सभी कविताएं छंद में हैं, यद्यपि, वे छंद कहीं तो नपे-तुले और तुकों के साथ हैं और कहीं मुक्त प्रवाह का अनुकरण करते हैं।

शायद, हापकिंस ने कहा था कि कविता का सारा सौंदर्य ऐसा होता है जिसे हम चर्म-चक्षुओं से देख सकते हैं। गिरिजाकुमार की कविताएं इस सुक्ति का समीचीन उदाहरण हैं। कल्पना में उन्होंने स्वयं जो कुछ देखा है, चित्र बनाकर उसके दर्शन उन्होंने अपने पाठकों को भी करा दिए हैं। वे, सचमुच ही, लैंडस्केप के कवि हैं अर्थात उनकी कविता में अंकित छवि दृश्य रूपों की छवि है जो आंखों से देखी जा सकती है। इसके सिवा, कविता में उनकी स्पर्श और घ्राण इंद्रियां भी अत्यंत जागरूक रहती हैं। स्पर्श, घ्राण और दृष्टि—गिरिजाकुमार की कविताएं इन तीन इंद्रियों की कविताएं हैं। किंतु यही बात उनकी श्रुतिचेतना के बारे में नहीं कही जा सकती।

विचित्र बात है कि गिरिजाकुमार की सबसे बड़ी शक्ति यदि भाषा के काव्यात्मक प्रयोग में है तो भाषा के क्षेत्र में ही उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी छिपी हुई है। कलाकारिता और सुदृढ़ प्रेरणा के कारण वे ऐसी पंक्तियों पर पंक्तियां लिखते चले जाते हैं जिनमें आने वाले शब्द अपनी लाक्षणिकता से सहृदयों का मन मोहित कर लेते हैं। किंतु, कदाचित, असावधानी के कारण वे ऐसे शब्द भी ले आते हैं जो बेमेल हैं। यह उदारता गलत किस्म की उदारता है। उदाहरण के लिए, 'गतिवान मंजिलें पार हुईं' में या तो मंजिल को नहीं लाना चाहिए था या फिर 'गतिवान' के बदले किसी ऐसे शब्द को लाना था जो मंजिल से मेल खाता। 'शक्तिवान मेहनत की बांहों', 'दीगर मुल्क' और 'कातिक का रसवान महीना' में भी मुझे कुछ ऐसे ही बेमेल प्रयोग की झलक दीखती है। **[आकाशवाणी के सौजन्य से]**

—अक्तूबर, 1956

साहित्य

प्रगतिशील कविता में प्रेम की अभिव्यक्ति

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

निराला, पंत और दिनकर आदि ने हिंदी कविता को 'अहं' और 'स्व' के सीमांत से उबारकर नवयुग के सृजन में प्रवृत्त किया, इस बात से प्रायः सभी समीक्षक सहमत हैं। नवोत्थान की इस परंपरा को नई दिशाओं तक खींचने में बच्चन, नरेंद्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा 'अंचल' का भारी हाथ है। बच्चन ने गीत के टुकड़ों पर पारिवारिक परिवेश को कुछ इस कदर उठाया है कि सामाजिक संबंधों के उद्वेग स्वतः बेकाबू हो उठे हैं। सच तो यह है कि छायावादी आध्यात्मिकता तथा सर्वात्मवादी कल्पनाशीलता से उत्तर छायावाद की प्रेम भावना को मुक्त करने में बच्चन सबसे आगे रहे हैं। उन्होंने ऐंद्रिक उल्लास और विषाद को बड़ी सरलता से ढालकर रख दिया है। किंतु नरेंद्र के गीतात्मक बोल कुछ दूसरे ढंग से उभरते हैं। उनमें अनुभूति की तीव्रता अधिक होने के कारण फेनिल भावुकता अथवा प्रतिक्रियाजन्य शिथिलता ढलती ही नहीं है। दैनिक संबंधों की बहर पर आगे बढ़ने की वजह से नरेंद्र का लयात्मक आवेश कहीं भी ढीला नहीं पड़ता। यह सच है कि छायावादी रचनाओं के अतिशय प्रभाव के कारण पस्ती और अनास्था की फिजा नरेंद्र की कई कविताओं को अपने में समोकर झींख उठती है। किंतु उनकी गीतिधारा परंपरागत रूपक-प्रतीकों का मोह छोड़कर सामान्य जीवन के उपमानों का सधे हाथों गढ़ाव ले लेती है।[1] 'नवीन' की रचनाओं में लोकोन्मुख सामाजिक यथार्थ पिछली परिपाटी से आगे रेंगकर, मानवीय संवेदना गहरी कर सकने वाली तीखी पकड़ और विद्रोह ग्रहण कर सका है। उनकी तत्कालीन रचनाओं में ध्वंस के प्रति तीव्र मोह देखने को मिलता है। आगे चलकर उनकी विद्रोहात्मक भाव-स्थिति निराशा और अनास्था संवारकर युग के वजन को अपलक निहारती रही।

आज खड्ग की धार कुंठित, है खाली तूणीर हुआ।
विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।।

इन पंक्तियों में इस बात के स्पष्ट चिन्ह मिल जाते हैं। लेकिन 'अंचल' इन सबसे भिन्न कोटि के रचयिता हैं। उन्होंने साफ तौर पर अपनी प्रेयसी को नेह की गरिमा से प्रेरित कर उसे उदात्त प्रेरणाओं के अखंड स्रोत के रूप में उतार दिया है। उनके गीतों में प्रेम जिजीविषा की भावमय प्रक्रिया और तद्गत तन्मय उन्मेष के रूप में अभिव्यक्ति पाता है।[2] अंचल ने न तो वैष्णवी भावनाओं का आधार हेरा है और न प्लेटोनिक आवरण की टोह लगाई है। गीतों में प्रणय का विह्वल रस उतार देना उनके रचना कौशल और लोकमन की गहरी पहचान का द्योतक है। रसमय संयोग और उल्लास का जब कभी वह अंकन करते हैं, उनके छंदों के ठप्पे पर बिसरी यादों की छुअन निस्तरंग चेतना को गति और आस्था देकर तरसती-सी लख पड़ती है।[3]

---

1. *गृहिणियों के हेतु ले धन-धान्य आती*
हो नगर की ओर जब गोधूलि वेला
देख पाओ यदि कदाचित क्षितिज-तट पर
कहीं मिटता धूल का बादल अकेला।

फिर धधक बुझ जाए जब दिन की चिता भी
अस्थि फूलों से खिलें जब शून्य नभ में कुंद तारक
व्यर्थ भर लाना न लोचन।।

—**नरेंद्र शर्मा**

कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सम्मुख
क्षण-भर को तो दिन-भर के सब था भूल गया, श्रम-सुख-दुख,
सहसा सफेद दीवारों पर आई हल्की-सी छाया
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण, तड़ित-सा ध्यान तुरत यह आया,
पर मुड़कर जब देखा बाहर फिर धूप विहंसकर निकली
मेरे मन में सुधि आई थी, छाई थी रवि पर बदली।

—**नरेंद्र शर्मा**

2. *भरे तुम्हारी याद तृषित मन मेरा*
है खग का कितना सुनसान बसेरा!
बाहर बरस रही सपनों की शोभा नभ से झरकर
जैसे सुषमा के मुकुलों का लूट पड़ा रस भू पर,
भरा विरह का सिंधु, बीच में,
चंद्र ज्वाल-सी दीप रही तुम उस तट,
मेरे प्राणों का कोकी तुम्हें पुकारे
यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मनमारे।

—**अंचल**

3. *अब तक प्रिय, मैं रही तुम्हारी, अब हो गई पराई*
मेरे आंचल में तेरी सांसों का स्वर भर आता
सोच रही मैं जली आग से या हूं गई बुझाई
शेष हो गया प्राणों का सुख स्रोत, हृदय की बातें
मधुर जागरण मादक निद्रा की वे क्वारी रातें
आज शिथिल बांहों के बंधन चुंबन मंत्र न गाते
लगता यों प्राणेश मुझे, मैं उमड़ी बरस न पाई।

—**अंचल**

छायावादोत्तर काल के इन गीतकारों के साथ कई बातें सामान्य रूप से सच हैं। इन गीतकारों ने हिंदी गीति कविता में लयात्मक प्रस्फुटन और बातचीत के लहजे पर बल देकर नए उत्थान की दिशाएं स्पष्ट कर दी हैं। यौवन और सेक्स, इन रचयिताओं की भावात्मक हस्ती के रूप में ग्रहण किए गए हैं। इस प्रकार, छायावादी खेमे के परवर्ती गीतकारों ने प्यार की मस्ती और अनजान घड़ियों के अवसाद को बोलचाल की भाषा में उतारकर कविता को जन-जीवन के अति समीप लाने का भरपूर यत्न किया है।

किंतु निराला की सामाजिक भावधारा, पंत की जनपदीय शोभाश्री और स्वाधीनता-आंदोलन की भूमि से उपजते हुए व्यापक जन-जागरण को नई भाव-दिशाओं की मंजिल तक मोड़ने वाले कवियों में गिरिजाकुमार माथुर, शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, महेंद्र भटनागर तथा वीरेंद्र कुमार जैन के नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। कविता को सामाजिक धरातल पर धरकर इन रचयिताओं ने जन-जीवन से अपना सीधा संबंध स्थापित किया और दड़बों की रेत पर तरसती जिंदगी से भावों का आवेग और तीखापन ग्रहण किया। हिंदी कविता के रोमांटिक उत्थान का व्यक्तिपरक विद्रोह अब सामाजिक रूप में प्रकट हुआ। लोकमंगल की युग प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर उत्तर-छायावाद की कविता धारा स्थितिशीलता तथा उसके दमघोंटू वातावरण से छूटकर तत्कालीन जीवन मूल्यों और जन भविष्य के अंकन में सफल साबित हुई। नई सामाजिक चेतना से युक्त होने के कारण यह कविता धारा 'प्रगतिवाद' या 'प्रगतिशील कविता' के नाम से पुकारी गई। कुछ समीक्षकों के लेखे प्रगतिशील कविता मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्र की साहित्यिक परिणति है और उसमें नारों की शुष्कता के सिवा कुछ है ही नहीं। किंतु ऐसा कहना प्रगतिशील कविता के पूरे दौर को नजरअंदाज कर जाना है, सच तो यह है कि कविता के भीतर ठेठ दैनिकी तथा जन समाज की रस-मग्न तन्मयता देखकर वे विरोधी कवि और आलोचक भीतर ही भीतर अपनी हीन भावना महसूस करते हैं और हिंदी कविता की सामाजिक धारा के पथावरोध की खातिर नए-नए शगूफे रचते हैं। हिंदी की प्रगतिशील काव्यधारा न तो कम्युनिस्ट आंदोलन से प्रेरित है और न किसी स्थिर राजनीतिक मतवाद पर आधारित। वह पिछली काव्य-परंपरा के सबल और चेतन जीवन तत्वों की कोख से जन्मी है। उसकी भाव-दिशाओं के विकास में व्यापक लोक जागरण और मुक्तिकामी जन समुदाय की गतिमय आस्था का महत्वपूर्ण 'रोल' है।

भवानीप्रसाद मिश्र

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

जन समाज की संघर्षशील चेतना को पौरुष-दृप्त तेज तथा नवनिर्माण की आस्था से अनुप्राणित कर प्रगतिशील रचयिताओं ने लोकोमोटिव को जगाया है तथा राष्ट्र के जीवन रथ को पूरे वेग से मोड़ दिया है। यह बात एकदम सही है कि प्रगतिशील कविता में जन समाज की देह को विद्रूप ओठों से चूमकर रक्ताक्त कर देने वाले आदमखोर वर्ग-समाज के प्रति ध्वंस का स्वर है, इस ध्वंसात्मक तीव्रता के पीछे अनटूटे सपनों की विलंबित आस्था है, इस मांगलिक विश्वास के पीछे स्वस्थ निर्माण की भूख है।[4] मानना होगा कि इन रचनाकारों के प्रयत्न से हिंदी कविता में सामाजिक संबंधों का निश्छल अपनाव छंदों के टांके खोलकर एकाकार हो गया है। उसी प्रगतिशील काव्यांदोलन का यह प्रतिफल है कि आज के नवीन हिंदी साहित्य में भावों के प्रति आस्था और विश्वास का स्वर बड़ी तीव्रता से उठ रहा है।[5] नवीन हिंदी कविता में भावधाराओं की गति निश्चित मंजिल की ओर बढ़ रही है। छांदसिक विवर्त-वत्स के चरमराते ही, भावों की प्रधानता प्रायः सब कहीं देखी जा सकती है।

---

4. *एक नहीं सौ-सौ गंगा को राह धराकर*
   यह जन-बल का संघ-भगीरथ आगे आकर
   नगपति की अतिरिक्त कृपा पर अंकुश देगा
   स्वेच्छाचारी महामेघ को कैद करेगा। —नागार्जुन

   हरा-भरा संसार है आंखों के आगे/ताल भरे हैं खेत भरे हैं
   नई-नई बालें लहराएं/झूम रहे ये धान हरे हैं
   झरती हैं झीनी मंजरियां/खेल रही हैं खेल लहरियां
   जीवन का विस्तार है आंखों के आगे। —त्रिलोचन

5. *'किसी युग में कविता रीति, छंद, अनुप्रास आदि के कठोर बंधनों में बंधी हुई थी। आज के युग में कविता के वे बंधन टूट गए हैं और उस क्षेत्र में भी भाव ही सर्वाधिक प्रधान बन गया है।'*

   —चंद्रगुप्त विद्यालंकार (*'कहानी'—'हिंदी कथा साहित्य की समस्याएं —जनवरी, 1956)*

सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रगतिशील कविता में संघर्ष और सृजन के साथ सौंदर्य और प्रेम की भी बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। प्रकृति की विभिन्न मुद्राओं के चित्र उरेहकर प्रगतिशील रचनाकारों ने अपनी तीव्रतम सौंदर्यनुभूतियों को साकार कर दिया है। छायावादी रचयिताओं के माफिक इन लोगों ने मानवेतर प्रकृति को मन की मूर्ति के रूप में न उतारकर उसे कर्म-मुखर वास्तविकता के रूप में अभिव्यक्त किया है। 'पूस मास की धूप सुहावन, घिसे हुए पीतल-सी पांडुर' में नई प्रगतिशील कविता की अकूत संभावनाएं भरी पड़ी हैं। 'हवा हूं, हवा, मैं बसंती हवा हूं,' 'केसर रंग रंगे वन', 'सतपुड़ा के घने जंगल' तथा 'पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री' आदि कविताएं हमारी इस धारणा को बल देती हैं कि प्रगतिशील कवियों ने केवल मछुआ के नंग-धड़ंग छोकरों एवं बदसूरती के बेनूर चेहरों को ही चित्रित न कर प्राकृतिक सुषमा को भी सधे हाथों मूर्त्त कर दिया है।

ग्राम प्रकृति की चित्रात्मक अभिव्यक्ति के लिहाज से प्रगतिशील कवियों की पहुंच यथार्थवादी है। देखे-अनदेखे जनपदों का स्थानिक अनुषंग जब हमारी आंखों के आगे उभरने लगता है, तब यह अहसास होता है कि प्रगतिशील कविता में जनपदीय विशेषताओं की सफल अभिव्यक्ति हो सकती है। आम, लीची, पीपल, बांस, तालमखान, कटहल और लहटोरे से लेकर मिट्टी की खुशबू में डूबकर लहराने वाले स्वर्णिम अन्नसिंधु तक छंद की लकीरों पर इस कदर रच उठते हैं कि ग्राटेस्क की पगडंडी में ग्राम प्रकृति अपनी विशिष्ट गंध के आंचल फैला देती है और 'चिल्ला जाड़ा' तथा 'झांय-झांय करती दुपहरिया' में स्वेद से लथपथ धरती के बेटों की आत्माएं मिट्टी के मद में घुलकर मुखरित हो उठती हैं।

इसके अलावा स्वस्थ पारिवारिक प्रेम को अभिव्यंजित कर इन रचयिताओं ने अपनी अपूर्व प्रतिभाओं के छंद खोल दिए हैं। दैनिक संबंध भावना से प्रेरित होकर ऐसी ढेर-सी रचनाएं गढ़ी गई हैं जिनमें प्रेम के पारिवारिक पक्षों के नक्श-नक्श निखार दिए गए हैं। प्रेयसी को सामंती बंधन से मुक्त करने के साथ-साथ प्रगतिशील कवियों ने उसे सामाजिक एवं आर्थिक बंधनों से भी मुक्त करने का अथक प्रयास किया है, नारी को सपाट सामाजिक धरातल पर रखकर उससे निर्माणोन्मुख गति और आस्था का दान मांगा है। प्रयोगवादी रचनाकारों की तरह ये लोग दमित वासना या फ्रायडीयन सेक्स के शिकार नहीं हैं, वरन् निहायत स्वाभाविक ढंग से पारिवारिक संबंध भावना को उभारकर रख देना, इन लोगों की विशेषता है।

नागार्जुन

गिरिजाकुमार माथुर ने स्वस्थ पारिवारिक प्रेम को कुछ इस अंदाज से टेर दिया है कि प्रेम मध्यवर्गीय समाज की ठेठ दैनिकी की पूरी शक्ल लेकर उभर आया है। 'सफल रूपवाद और अनिश्चित विचार-प्रणाली के बावजूद गिरिजाकुमार की 'थकान' और 'रूप-रस-रंग' की ऐंद्रिय तृप्ति के पीछे संक्रांति युग के मध्यवर्गीय कवि की निश्चित मनोवृत्ति का पता चलता है।'[6] उन्होंने प्रेयसी को अपनी प्रेरणाओं का अविरल स्रोत माना है। प्रेयसी की याद उनमें कर्त्तव्य भावना जगाती है। यह सच है कि उनकी दृष्टि रूमानी है किंतु उससे यथार्थ सौंदर्य की अभिव्यक्ति में खलल नहीं पड़ता। उनमें मानवता, आशावादिता, इंसानी जीवन और भविष्य में विश्वास का स्वर ज्यादा उभरकर रंग-रोमान के समन्वय के साथ आया है।[7] उनके कृतित्व में एक बात अपने ढर्रे की है कि जब कभी उनके मन में सांझ उदास हो जाती है, मुक्ति की संघर्षमूलक चाप और मंजिल की याद धरकर वह निर्माणोन्मुख आलोक-भुजा प्रेयसी से ही पा लेते हैं, अपना निदान खोज लेते हैं।[8]

शिवमंगलसिंह 'सुमन' की कविता में सामाजिक सत्यों का फैलाव अधिक व्यापकता से उभर आया है। उनके कई गीतों में प्यार की लय तन्मय सपनों के बोल रचाती है तथा जन पथ पर मुक्ति के सुप्रभात ढालकर मौलसिरी की डालों में सिहक-सिहक भिद जाती है। सावन की बदरी जब क्षितिज-से-क्षितिज छूकर बरसती रहती है, तब प्रेयसी की याद उनके मन-प्राणों में निहायत स्वाभाविक गति से श्रृंगार पूरित रूप-बोध ढुलका जाती है।[9] पावस की तृष्णाकुल घड़ियों में प्रतीक्षा और आस और विश्वास की व्यापक मधुरिमा ढुलका देने में उनके छांदसिक टप्पे जापानी हाकू की तरह चंद रेखाओं पर ही सब कुछ

---

6. **नामवर सिंह** (आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां—*'प्रयोगवाद'* से)।
7. **गिरिजाकुमार माथुर** (*'नई कविता का भविष्य'*—**आलोचना**—अंक 92)।
8. *मिट्टी से संयोग आग का*
तन पर जैसे परस तुम्हारा
दीपक को आलोक मिल गया
मन ने फिर मन पर छवि डाली
बाहर दीपक जले किंतु
भीतर का मंदिर अभी अंधेरा
दीप नयन नयनों में डालो
मिट जाए छाया का घेरा।
—गिरिजाकुमार माथुर
9. *कांस-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक*
बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार
मेघ भादो के झमाझम झर रहे जो
शरद-सी तुम कर रही होगी वहीं श्रृंगार
—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

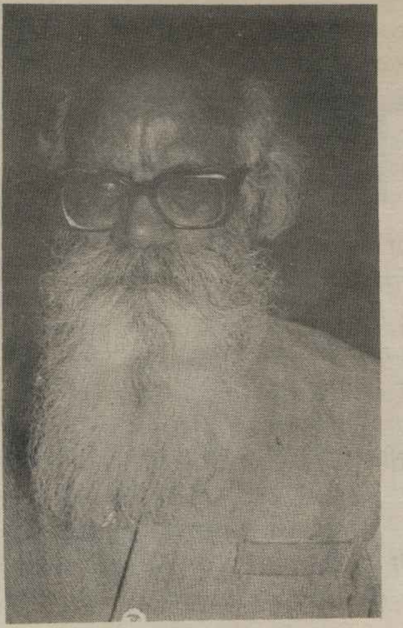

त्रिलोचन

कह देते हैं।[10] शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने ब्रजभाषा की सुमधुर रौ पर सब कुछ कह देने का अलग अंदाज पाया है। 'सई सांझ लगी अनटूटी झरी' जैसी पंक्ति लिखकर उन्होंने अजीब जादू उत्पन्न किया है। मिलन और मोद के क्षणों की अभिव्यक्ति भी बड़ी सशक्त हो सकती है और होती रही है, इस बात के प्रमाण हैं: 'किस तरह हम तुम मिल गए आज भी कहना कठिन है' तथा उनके अन्य प्रेमालाप। सुमन की कविता की फूटकर फैली हुई जटाओं के भीतर से स्नेह की गरिमा अंकुरित होती है।

नागार्जुन में तीव्रतम संबंध भावना को समोकर रख देने की अद्भुत क्षमता है। रोज की सच्चाइयों के अति सरलीकरण में उनका स्थान निश्चय ही उच्च है। 'पाषाणी' की भावात्मक सहजता ने उनके कवि को नई दिशाओं की ओर मोड़ा। उनके कृतित्व में न तो रिक्त मन की खंडितावस्था यौन प्रतीकों की भूमि पर चलती है न शारीरिक मांसलता तथा रूपोपासना की चाह में उठी हुई ऐंद्रिय अनुभूति का चित्रण ही लख पड़ता है। प्रेयसी के अभाव में कवि के मन के भीतर अतृप्त छांदसिक आकुलता कंठों का स्फुट नाद-सौंदर्य पकड़ कर एक लयात्मक बिंब ग्रहण करती हैं और उनके मूल में प्रेयसी की याद है, परितृप्तियों की लालसा है।[11] 'घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल, याद आता तुम्हारा सिंदूर तिलकित भाल' उनकी स्वस्थ प्रेम भावना तथा सामाजिक संगीत को गजब की खूबियों से अंकित करने वाली रचना है।

केवल मानवीय प्रेम की अभिव्यक्ति में ही नागार्जुन कविता की रसप्राण आत्मा ढुलकाते हों, सो बात नहीं है, बल्कि मानवेतर प्राणियों की रसमग्न तन्मयता को भी सधे हाथों उरेहकर साकार कर देना उन्होंने अपना कवि-कर्म माना है। चातकी स्वाती के बादलों की रसमसाती बूंद के लिए किस प्रकार तरसती है, इसका चित्र हमें 'चातकी' शीर्षक कविता में मिलता है। 'प्रतीक्षा थी, आस थी, विश्वास था' की तर्ज पर मन के भीतर निहित लय को पकड़कर यह कविता आगे बढ़ती है।[12]

केदारनाथ अग्रवाल ने हिंदी कविता में छंदमुक्त गीतों की संभावना अकूत कर दी है। 'दीन की न बीन बजी, हीन की न बांसुरी, बीन बजी, बीन बजी, बीन बजी आसुरी' से उनकी स्वस्थ गीतात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। 'नींद के बादल' में उनके ढेर से प्रेम-गीत मिलते हैं, जिनमें मानव-मन की परुष-कोमल वृत्तियों के रेशे-रेशे निखार दिए गए हैं। उनकी कई कविताओं के भावस्रोत लोक-मन के चौमुख बोल पकड़कर आवाज लगाते हैं। व्यक्ति मन की प्रेमाकुल स्थितियों के चित्रांकन में भी उनकी संयत यथार्थ-दृष्टि की सूचना मिलती है। लैंडस्केप तथा ग्राम-गीतों के माध्यम से देखे-अनदेखे दृश्यों और नजारों और उनकी उन्मद रस-दशाओं की अभिव्यक्ति मिलती है।

जनपदीय शोभाश्री और ग्रामीण वातावरण को सानेट जैसे काव्य रूप में उतार देने के लिहाज से त्रिलोचन का स्थान नई पीढ़ी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में है। उन्होंने ढेर-से सानेट लिख दिए हैं। सानेट के सिवा अन्य काव्य-रूपों में भी त्रिलोचन की अभिव्यक्ति बड़ी सशक्त एवं स्फूर्तिप्रद सिद्ध हुई है। नई प्रगतिशील कविता की प्रेम-धारा उनकी रचनाओं में सहज ही परिस्फुट है। स्मृति-चित्रों को दरसाकर उनके बोल स्वैराचार, यौन-भावना या मार्बिड मनस्थितियों का आश्रय नहीं लेते, वरन यथार्थोन्मुख सामाजिकता का रस-पिच्छिल प्रवाह पकड़ते हैं। स्वछंद प्रेम की अभिव्यक्ति में भी प्रगतिशील कवि स्वस्थ पारिवारिकता की झलक दे सकते हैं, समाजोन्मुख धौली स्निग्धता ढुलका सकते हैं, इस बात के प्रमाण हैं त्रिलोचन के सानेट और छंद गीत।[13] प्रेयसी के रूप और उसके मोहक सौंदर्य की रेखा

---

10. *आज की सांझ सलोनी बड़ी मनभावनी री!*
भीजि गयी देहरी पै खड़ी, बौछार की मार जाए न सही
पीपर पात की घात लगी, कछु बात उठै पै जाए न कही
साज री साज सिंगार को दीपक, आज पिया की है आवनी री!
आज की सांझ सलोनी बड़ी मनभावनी री!
—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

11. *तुम नहीं हो पास*
मैं तो तरसता हूं
प्यार के दो बोल सुनने के लिए!
एक की ही दस उंगलियां
नहीं हैं काफी कदाचित
रेशमी परितृप्तियों का जाल बुनने के लिए! **—नागार्जुन**

12. *धन्य स्वाती के जलद तुम धन्य हो*
विकल थी चिर प्यास से यह चातकी
किया दर्शन, नयन शीतल हो गए
उपालंभक भाव थे, सब सो गए
आ गई है जान में अब जान रे
कर लिया मैंने अमृत का पान रे **—नागार्जुन**

13. *यों ही कुछ मुस्काकर तुमने/परिचय की वह गांठ लगा दी*
था पर मैं कुछ भूला-भूला/फूल उपेक्षित कोई फूला
जाने कौन लहर थी उस दिन/तुमने अपनी याद जगा दी
कभी-कभी यों हो जाता है/गीत कहीं कोई गाता है
गूंज किसी उर में उठती है/तुमने वही धार उमगा दी
—त्रिलोचन

बनाने में त्रिलोचन ने अपनी संयत मनोवृत्ति का पता दिया है।[14]

भवानीप्रसाद मिश्र को प्रेम-संबंधों पर गहरी आस्था है। उनके प्रेमिल विश्वासों का स्वर गहराई तक पहुंचा है। यह विश्वास स्वस्थ सामाजिक परिवृत्ति के गढ़ाव के लिए निश्चय ही आवश्यक तत्व है। अनास्थामूलक प्रवृत्तियां मानसिक फ्रस्ट्रेशन और शैथिल्य को उकसाकर सामाजिक गतिरोध और ठहराव का सृजन करती हैं। मिश्रजी ने इस बात पर बल दिया है कि प्यार मानवीय संवेदना को जागृत कर युग-संबंधों के पाट को विस्तृत और गहरा करने का सफल साधन है।[15]

महेंद्र भटनागर के काव्य-कृतित्व में युग की आवाज प्रेममिश्रित रसमयता में डूबकर उभरती है। वह आज की संघर्षमूलक नव-चेतना की गहरी और गहरी नींव में नए युग की नारी और उसकी जागृत चेतना के दर्शन करते हैं। अनुभूति और कल्पना के उदात्तीकरण के माध्यम से महेंद्र ने अपनी प्रेयसी की इस प्राण आत्मा को बिसराया नहीं है, वरन जन-समाज के निश्चित भविष्य के लिए उसकी विकासोन्मुख टोह के लिए प्रेयसी से प्रेरणाएं ली हैं।

वीरेंद्रकुमार जैन काफी दिनों से लिखते आ रहे हैं और उनका स्वर बहुत हद तक स्वस्थ सामाजिक जीवन-दृष्टि पर आधारित है। उनकी प्रेम-भावना में न तो न्यूरोसिस है और न वैयक्तिकता का अतिशय प्रक्षेप। जन-भविष्य की खातिर वह 'लहरों की सेजों सोया', 'दुल्हिन का मन' हेरते हैं। जीवनी-शक्ति से अनुप्राणित होने के कारण उनकी कविता मुग्ध-सरल आत्मा की संघर्षपरक शक्ति बिछा देती है।

प्रगतिशील कविता के स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण और यथार्थोन्मुख 'एप्रोच' के संस्कार में हिंदी की नई प्रगतिशील कविता पनप रही है। यह नई कविता मानव-आत्मा के जड़ संस्कार, बदल कर, उसके नील मौन को मुखरित कर वक्त की धड़कन टटोल रही रही है। सभी प्रकार के नारों की संकीर्णता से बरी होकर नए कवि आगे बढ़ रहे हैं, यह हिंदी के लिए सौभाग्य की बात है। कविता की भाव-दिशाओं में युग का चेतन आलोड़न परिवर्तन के आसारों को उद्भुत कर हिंदी के नए कवियों को सही दिशा की ओर ले जा रहा है। नए कवियों में स्वस्थ सामाजिक भूमि पर कविता सृजन करने वाले हैं—बालकृष्ण राव, केदारनाथ सिंह, हरिनारायण मिश्र, रामदरश मिश्र, नीरज तथा विद्यावती कोकिल आदि। स्थानाभाव से इन सब कवि-कवियों की कविताओं के उदाहरण हम यहां नहीं दे रहे हैं। ❑

—मार्च, 1957

---

14. *पहले-पहल तुम्हें जब देखा*
क्या सोचा
सोचा था
इससे पहले ही
सबसे पहले
क्यों न तुम्हीं को देखा?
—त्रिलोचन

15. *कितने भी गहरे रहें गर्त,*
हर जगह प्यार जा सकता है
कितना भी भ्रष्ट जमाना हो,
हर समय प्यार पा सकता है
—भवानीप्रसाद मिश्र

कविता

●

मेरी स्मृति में

परमानंद श्रीवास्तव

आज मेरी स्मृति में
तमाम दृश्य हैं
और वस्तुएं—
एक-दूसरे से असंबद्ध
और अपने से
अनभिज्ञ।
बहती हुई नदी है—
और
तैरता हुआ आकाश—
खुली हुई खिड़की है,
और धीमे-धीमे बजती हुई
पूरिया की धुन—
और ऐसे ही
तमाम दृश्य हैं
और
वस्तुएं
एक-दूसरे से असंबद्ध—
और
अपने से अनभिज्ञ।
नदी वह नहीं
जो तुम्हारे मकान की छत से
दिखती है—
आकाश वह नहीं
जो तुम्हारे आंगन के छोर पर
तैरता रहता है—
खिड़की वह नहीं
जो तुम्हारे कमरे में
खुलती है—
और पूरिया की धुन भी नहीं
जो तुम्हारी अंगुलियों में बजती है—
फिर भी पता नहीं क्यों
मैं क्यों उत्सुक हूं
इन तमाम दृश्यों और वस्तुओं को
तुम्हारी संज्ञा से जोड़ने के लिए
जो एक-दूसरे से असंबद्ध हैं
और, अपने से अनभिज्ञ। ❑

—नवंबर, 1961

कहानी

स्पर्धा

गोविंद बल्लभ पंत

इस पार रहते थे चतुरा और चन्नन—दोनों एक ही मुहल्ले के निवासी, बचपन से साथी-मित्र थे। खेल-कूद में दोनों की बड़ी प्रीति थी। स्कूल बिना कुछ पढ़े-लिखे ही छोड़ दिया। दिन-भर इधर-उधर कर ही दिन बिता देते थे। दोनों के सिर पर माता-पिता मौजूद थे, भोजन, वस्त्र और निवास की कोई चिंता थी नहीं उन्हें।

कभी गुल्ली-डंडा खेलते, दौड़ लगाते, कभी कबड्डी, कभी पतंग उड़ाते। अखाड़े में कुश्ती लड़ते, डंड-बैठक लगाते। भंग घोटते, तेल की मालिश करते, नहा-धो, धुले कपड़े पहन जब छाती बाहर निकाल, माथा ऊंचा कर बाजार में निकलते, सब लोग उनके स्वास्थ्य की प्रशंसा करते थे।

उन दोनों के पिता दो सेठों की कोठी में प्रधान दरबान थे। जब अपने लड़कों को देखते तो आपस में बातचीत करते—"क्या करना है पढ़ाकर हमें। तंदुरुस्ती उस विद्या से हजार गुनी अच्छी है, जो समय से पहले नौजवानों की रीढ़ तोड़कर उनकी आंखों पर चश्मा रख देती है।"

बीच में थी घोरा नदी। गर्मियों में बिल्कुल दुबली-पतली, छोटे-छोटे बच्चे भी जिस पर पैर रखकर पार हो जाते थे। लेकिन बरसात में जब धीरे-धीरे घोरा नदी का विस्तार बढ़ जाता, तब दोनों तटों पर की काफी भूमि गर्भस्थ कर वह ऊपर चढ़ जाती। बड़ी-बड़ी दीवालों को ध्वस्त कर देती, पेड़ों को जड़ से उखाड़कर अपने साथ बहा ले जाती और ऊंचे-ऊंचे मकानों को अपनी लहरों के वेग से कंपायमान कर देती।

घोरा के इस पार थी नगर की नई आबादी और उस पार था प्राचीन शहर। नए और पुराने का अटूट संबंध है। घोरा नदी जब दुबली-पतली रेखा-सी बहती है, तब वह संबंध हजारों मार्गों से होता रहता है, पर जब, वह अगाध-सलिला हो जाती है तो उसके ऊपर के तीन पक्के पुल ही नए और पुराने की एकमात्र कड़ियां हो जाते हैं।

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

उन तीनों पुलों के नीचे से नई वर्षा के द्वंद्व से मटियाला बना हुआ अथाह जल—उसका वेग मनुष्य के बल को चुनौती देता है। वह मनुष्य के सहज प्रवेश का अवरोध कर उसकी हंसी उड़ाता है।

घोरा के इस पार रहते हैं चतुरा और चन्नन और उस पार रहती है गुलाबी। गुलाबी का पिता नदी के किनारे पर स्थित मुरलीमनोहर के मंदिर का आंगन धोता है और चारों तरफ की फूलों की क्यारियों को सींचता है। गुलाबी मंदिर की सीढ़ियों से उतरकर चाहे जहां चली जाती है, पर वर्षा ऋतु में जब घोरा पानी एक-एक सीढ़ी कर मंदिर के आंगन तक चला आता है तो वह मंदिर की वंदिनी हो जाती है और उसका दम घुटने लगता है।

चतुरा और चन्नन हर वर्षा ऋतु में घोरा की चुनौती की उपेक्षा करने के लिए उसमें कूद पड़ते हैं कमर बांधकर। वे उसमें तैरते-तैरते मुरलीमनोहर के मंदिर की दीवाल पर चढ़ जाते हैं और गुलाबी अपने नवीन वय की संधि पर खड़ी हुई, बड़ी विचित्र मुस्कान से उन दोनों के साहस की अभ्यर्थना करती है।

हां गुलाबी ने ही उन दोनों मित्रों के बीच में एक गहरी खाई खोद दी थी। चतुरा बोला, "चन्नन, गुलाबी ने मेरे तैरने के कौशल की प्रशंसा की है।" चन्नन ने मुट्ठी बांधकर जवाब दिया, "नहीं, मेरे कौशल को सराहा है।"

और उन दोनों के बीच में विग्रह बढ़ चला। उनके आपस की फूट का कोई निराकरण नहीं कर सका। अंत में दोनों ने गुलाबी के पास आकर ही इस बात का फैसला कराना चाहा। इस बार वे थल की राह से बहुत घूम खाकर रेल के पुल से मुरलीमनोहर के मंदिर में गए। उन्होंने पूजा का बहाना बनाया और दोनों ने धीरे-धीरे गुलाबी से अपने मर्म की कथा कह डाली।

गुलाबी जरा हंसकर बोली, "हां, मैंने किसी के तैरने की प्रशंसा तो जरूर की है।"

"तुमने मेरी प्रशंसा की है!" चन्नन बोला।

गुलाबी बोली, "हो सकता है।"

चतुरा रुष्ट होकर कहने लगा, "नहीं, तुमने मेरी ओर देखकर कहा था।"

गुलाबी बोली गालों पर हाथ रखकर, "मुझे तो कुछ भी याद नहीं है। लेकिन मेरी तारीफ को लेकर तुम्हें क्या करना है?"

चतुरा ने जवाब दिया—"वाह, करना कैसे नहीं है! उससे मेरा उत्साह बढ़ता है!"

गुलाबी को कुछ याद आया, बोली, "क्या हानि है? तब एक बात हो सकती है। तुम दोनों काठ के पुल पर से एक साथ नदी में कूदो—जब मैं यहां से अपना दुपट्टा हिलाकर इशारा करूं।"

दोनों बड़े जोश में भरकर बोले, "स्वीकार है।"

"और जो सबसे पहले तैरकर मुझे छू लेगा, वही तुम दोनों में से श्रेष्ठ होगा। फिर क्यों कोई संशय रह जाए तुम्हारे? है न ठीक?"

"हां स्वीकार है", दोनों बोल उठे।

चन्नन ने मोह में पड़कर कहा, "लेकिन इसके बदले में पहले आने वाले को मिलेगा क्या?"

"मैं उसे श्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा करूंगी, यह कह तो रही हूं।"

"कोरी प्रशंसा से क्या होगा?" चन्नन ने पूछा, "प्राणों की बाजी लगानी पड़ेगी हमें।"

चतुरा ने बड़े विस्मय से चन्नन की ओर देखा। चन्नन कहने लगा, "क्या होगा चतुरा, कोरी प्रशंसा से क्या होगा?"

"फिर क्या यह जो सोने का लाकेट मैं अपने गले में पहनती हूं, यह उतारकर दे दूं तुम्हें?" गुलाबी ने कहा, "बड़े होशियार हो तुम!"

"तो क्या दूसरों के नौजवान बेटे, इस मद में भरी घोरा के पानी में डूब मरें, उनकी किसी हड्डी का भी पता न चले? नहीं, होशियार तुम हो।"

"क्या चाहते हो फिर?" गुलाबी ने पूछा।

"जीवन का दांव लगाने वाले को उसके योग्य वस्तु का दान।" चतुरा ने थोड़ी-सी यति देकर कहा, "बस, तुम समझ लो।"

गुलाबी हंसने लगी—"पिताजी से पूछना पड़ेगा।"

"हमने तो अपने माता-पिता किसी से भी नहीं पूछा है।" चन्नन ने जवाब दिया।

गुलाबी ने कुछ सोचा-विचारा और कहा, "अच्छी बात है।"

"कहो भी तो क्या है वह अच्छी बात?"

गुलाबी ने पैर का अंगूठा मोड़कर धरती पर दबाया। चतुरा बोला, "कहती क्यों

"उसी दिन संध्या समय गुलाबी के पिता ने अपनी लड़की की शादी चन्नन के साथ कर देने के लिए उसके पिता को वचन दे दिया। जब उसने घर आकर यह खबर चन्नन को दी तो वह उसी समय दौड़कर चतुरा के पास गया और बोला, "भाई, मुझे तो अब कल तैरने की कोई जरूरत नहीं रही।""

नहीं, तैरने में जो सबसे पहले होगा, तुम उससे विवाह कर लोगी।"

गुलाबी हंसने लगी और सबने उसकी सम्मति मान ली।

दूसरा दिन इस दौड़ के लिए रखा गया। चतुरा और चन्नन की यह बात सारे मुहल्ले में और फिर सारे शहर में प्रसिद्ध हो गई। और भी अनेक नवयुवक उस दौड़ में भाग लेने के लिए तैयार होने लगे।

उसी दिन संध्या समय गुलाबी के पिता ने अपनी लड़की की शादी चन्नन के साथ कर देने के लिए उसके पिता को वचन दे दिया। जब उसने घर आकर यह खबर चन्नन को दी तो वह उसी समय दौड़कर चतुरा के पास गया और बोला, "भाई, मुझे तो अब कल तैरने की कोई जरूरत नहीं रही।"

"क्यों?"

"वह बिना प्रतियोगिता के ही मुझे प्राप्त हो गई", विजय की भारी खुशी के साथ उसने कहा।

"क्या मतलब है तुम्हारा?"

"उसकी मंगनी हो गई मेरे साथ।"

"यह नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता", चतुरा चिल्लाया।

"क्यों नहीं हो सकता? उसके पिता ने वचन दे दिया है।"

"उनसे पहले उनकी लड़की जबान हार चुकी है। कल कह नहीं चुकी वह?—जो तैरने में पहला होगा मैं उसी से अपना विवाह करूंगी", चतुरा ने प्रतिरोध किया।

"उसके कहने से क्या होता है?"

"विवाह उसका है, उसके कहने से होगा क्यों नहीं कुछ?"

"यह चोरी का रास्ता है। अगर ऐसे ही गुलाबी तुम्हारे मन में गड़ गई है तो क्यों घोरा की गहराई से डरते हो?"

"डरता कौन है?" चन्नन ने ऊंचे स्वर में कहा।

"तुम्हीं तो। नहीं तो उसके पिता से वचन ले लेने की क्या जरूरत थी? चन्नन, मैंने तुम्हें ऐसा डरपोक नहीं समझा था।"

"मैं ऐसा डरपोक नहीं हूं।"

"तो कल तैरने के लिए तैयार रहो, अभी जाकर अपने पिताजी से कह दो, गुलाबी की मंगनी नहीं हो सकती। उसने खुद अपना स्वयंवर रचा है।"

चन्नन ने कुछ सोच-विचारकर कहा, "अच्छी बात है।"

"शाबाश! जाओ फिर देर न करो। मैं भी अभी सारे मुहल्ले में इस बात को मशहूर करता हूं। हम दो ही क्यों? जिस क्वारे नवयुवक की इच्छा होगी गुलाबी के लिए, वह भी तैर सकता है।"

चन्नन ने जाकर अपने पिता से यह बात कह दी। उसने जवाब दिया, "गुलाबी का पिता चाहे जिससे उसका विवाह कर सकता है।"

"पिताजी! वे लोग बड़ा हंगामा मचा देने पर उतारू हैं। कहते हैं, गुलाबी का स्वयंवर होगा। अगर उनकी बात न मानी जाएगी तो पिताजी, क्या बताऊं, वे बड़े शरारती लड़के हैं।"

"मैं कहता हूं, तुम बड़े डरपोक हो!"

"नहीं पिताजी, मैं जरा भी डरपोक नहीं हूं। धरती पर क्या, पानी के भीतर भी मैं अपना साहस दिखा सकता हूं। मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता। आपको इस मामले में जरा भी चिंता नहीं करनी चाहिए।" चन्नन ने कहा, "पिता जी, घोरा नदी के भीतर की इस दौड़ में पहला निकलने वाला एक ही दिन में सारे शहर में प्रसिद्ध हो जाएगा।"

"अगर तुम पीछे रह गए तो?"

"ऐसा सोचना ही क्यों चाहिए आपको?

नहीं आया, तो भी क्या हानि है? दौड़ में एक ही तो पहला आता है।"

"लेकिन वह बहू जो हाथ से चली जाएगी।"

चन्नन ने अपने पिता के सामने फिर किसी अभिमान की बात नहीं कही। वह अपने बाहु-बल का भरोसा रखता हुआ चला गया।

दूसरे दिन शहर और मुहल्ले के बहुत-से क्वारे नवयुवक सुबह से ही आकर पुल पर जमा हो गए। उन्होंने उस पार गुलाबी के पास संदेश भेजा, "हम लोग यहां पानी की दौड़ के लिए तैयार हैं और तुम्हारे संकेत की प्रतीक्षा में हैं।"

गुलाबी ने मंदिर की दीवाल पर चढ़कर दूर पुल की ओर नजर की। प्रायः एक फर्लांग की दूरी पर होगा वह। लगभग दो दर्जन नवयुवक नंग-धड़ंग एक-एक लंगोट पहने पुल की परिधि पर खड़े थे और उनके पीछे क्षण-क्षण बढ़ते हुए हजारों दर्शकों का समूह था।

एक तरफ एक दर्शक बोला, "क्या होगा यहां?"

दूसरे ने जवाब दिया, "तैराकी का दंगल। कौन करा रहा है जाने?"

एक तीसरे ने उनके भोलेपन पर अपनी चतुराई की कील ठोंक दी, "गांव से आए जान पड़ते हो। राज्यपाल के कप की दौड़ है।"

दूसरी तरफ एक मनुष्य कह रहा था, "लेकिन इनमें से कुछ तो यूं ही शौकिया चले आए हैं। कोई हिम्मत नहीं जान पड़ती इनमें। शीघ्र ही बिना पानी में कूदे कोई बहाना कर लौट जाएंगे ये।"

दूसरे ने कहा, "मुकट्टू जरूर तैरने की कला में होशियार तो है। सौ-पचास गज तक तो गनीमत है, पानी को चीर सकता है वह। उससे ज्यादा दम साथ नहीं दे सकता उसका, वह टैं बोल जाता है।"

"मंदिर के माली की लौंडिया—गुलाबी। उसी के लिए हो रही है यह दौड़।"

"दौड़ क्या? स्वयंवर रचा जा रहा है।"

"बड़ा उस्ताद है उसका बाप। वैसे तो कोई तैयार नहीं हुआ इस लड़की को ले जाने के लिए। लेकिन भई वाह! यह नुस्खा बड़ा बढ़िया रहा!"

"चन्नन मार ले जाएगा बाजी। वह तो तीर-सा चला जाता है पानी में।" एक ने कहा।

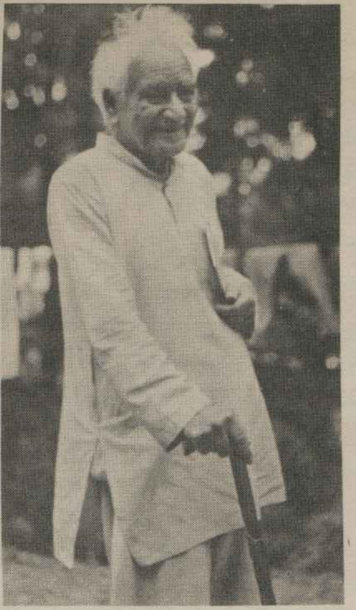

लेखक

दूसरे ने जवाब दिया—"चतुरा भी कुछ कम नहीं है।"

"चन्नन के सामने कौन ठहर सकता है?" पहले ने फिर अपनी बात पर जोर दिया।

दूसरे ने हाथ बढ़ाकर कहा, "बाजी रखते हो?"

"दस-दस रुपया?"

"मंजूर है।"

"दिखाओ भी तो रुपये।" पहले ने अपनी जेब से एक नोट निकालकर कहा।

"रुपये दिखाकर क्या होता है? बात का धन क्या छोटा है? मैं क्या कोई लुच्चा-लफंगा हूं?"

इतने ही में दर्शकों की भीड़ में एक उतावली फैल गई और तैराकों के बीच में एक तत्परता। वे सबके-सब पुल की मेढ़ पर से पानी में कूदने के लिए तैयार हो गए। उन सबकी आंखें दूर मंदिर की दीवार पर खड़ी गुलाबी पर गड़ी हुई थीं।

उसी समय गुलाबी ने अपनी साड़ी का छोर अपने हाथ से उठाकर नीचे कर दिया। सब के सब प्रतिस्पर्धी कूद पड़े पानी में एक ही साथ।

कूदते ही चन्नन सबके आगे हो गया और एक ही मिनट में वह सबसे आगे के तैराक से भी कोई तीस गज आगे हो गया था। वह आगे का तैराक था चतुरा।

चतुरा की प्रगति देख चन्नन ने नाक पकड़कर डुबकी ली और वह पानी के नीचे छिप गया। प्रतियोगियों को भ्रम में डाल देने के लिए ऐसा वह अक्सर किया करता था। भीतर-ही-भीतर पानी को काटता हुआ जब वह विजय के स्थल पर सबसे आगे खड़ा हो जाता तो सभी चकित रह जाते थे।

चतुरा ने साहस नहीं छोड़ा, वह तेजी से पानी को चीरता हुआ आगे बढ़ रहा था और प्रत्येक क्षण में चन्नन को पानी से ऊपर निकल का हाथ पकड़ते हुए देख रहा था।

पर चन्नन नहीं दिखाई दिया। चतुरा मंदिर की दीवार के निकट पहुंच गया। गुलाबी उसकी ओर अपने हाथों को हिलाती हुई कहने लगी, "चतुरा! चतुरा!"

लेकिन चतुरा नहीं बढ़ा उसकी तरफ। एक गहरी छाया उसके मन में फैल गई। भारी अनिष्ट की आशंका में लौट गया वह फिर पुल की ओर। वह अपनी आर्त पुकार से घोरा के दोनों तटों में प्रतिध्वनि उपजाने लगा, "चन्नन! चन्नन!" अन्य सब प्रतियोगी, उसकी मूढ़ता पर आश्चर्य कर रहे थे।

दौड़ में तीसरा आने वाला महिपाल था। वह मंदिर की दीवार पर चढ़कर गुलाबी के हाथ पकड़ने को दौड़ गया। गुलाबी भागती हुई बोली, "ठहरो! ठहरो! नदी में कोई भयानक घटना हो गई है, उसको भुलाकर तुम्हारा मेरा हाथ पकड़ना—यह मनुष्यता नहीं है।"

"घटनाएं होती ही रहती हैं। बड़े-बड़े नामधारी तैराकों को हराकर मैं दौड़ में पहला आया हूं, क्यों यह कोई घटना नहीं? अपने प्रण से भागो नहीं, मुझे अपना हाथ पकड़ लेने दो, फिर मैं अपने प्राणों के विसर्जन पर भी देख लूंगा घटना कहां पर हुई है।" महिपाल ने कहा।

"पहले चतुरा आया है।"

"पहले मैं आया हूं, जिसने तुम्हें पकड़ लिया।" महिपाल ने गुलाबी का हाथ पकड़ लिया। अब तक अधिकांश तैराक और बहुत-से दर्शक मंदिर के आंगन में घुस आए थे। सबने उन दोनों के चारों ओर घेरा बांधकर कहा—"महिपाल की जय!"

चतुरा को एक स्थान पर घोरा के जल में पानी के बबूले उठते दिखाई दिए। चतुरा ने वहां पर तुरंत ही नाक पकड़कर डुबकी लगाई।

पानी के भीतर उसने चन्नन को एक काठ के खंभे में फंसा हुआ पाया। उसमें जड़े एक तार के कांटे में चन्नन का लंगोट का एक डोरा अटक गया था। डोरा बहुत मजबूत था और खंभा धरती में गड़ा हुआ। चन्नन बड़ी देर से अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रहा था।

चतुरा को निकट पाकर चन्नन बड़े उत्साह में भर गया। उसकी मदद से वह तुरंत ही उस कांटे से निकल गया। दोनों क्षण भर में पानी की सतह पर आ गए।

चन्नन बोला, "चतुरा, अगर तुम जरा भी देर में आते तो मेरी दम घुटकर मृत्यु हो गई होती। विजय का पुरस्कार छोड़कर भी तुम चले आए? और गुलाबी का मोह भी?"

"भगवान तुम्हें बचाना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने मुझे ऐसी मति दी।"

"नहीं करते तुम गुलाबी से प्रेम?"

"नारी का प्रेम फिर-फिर मिल सकता है, लेकिन एक मित्र का प्रेम—मित्र को इस तरह मृत्यु के चक्कर से बचा लेने का आनंद! दोस्त, वह कितनी बड़ी चीज है? मैंने उसे प्राप्त किया!" चतुरा ने चन्नन का हाथ पकड़कर कहा।

"लेकिन—", चन्नन ने सहसा मंदिर के आंगन की तरफ देखा। वे दोनों मंदिर के करीब पहुंच गए थे। दोनों ने भीड़ को पुकारते हुए सुना, "महिपाल की जय!"

दोनों ने एक-दूसरे को देखा। एक-दूसरे की बात समझ गए। दोनों धीरे-धीरे मंदिर के आंगन में पहुंच गए। गुलाबी ने महिपाल का हाथ छुड़ाकर चतुरा का हाथ पकड़ लिया।

"न्यायत: दौड़ में पहला चन्नन है।" चतुरा ने हाथ पकड़कर चन्नन को खींच लिया।

"नहीं गुलाबी, तुम्हारे बदले इस दौड़ में पुनर्जन्म मिल गया और यह मित्र, यह सबसे बड़ा पुरस्कार है।"

महिपाल ने फिर गुलाबी का हाथ पकड़ लिया, "मार्ग की बाधाएं मैंने नहीं बनाईं। दौड़ में मैं ही पहले आया हूं।"

चतुरा और चन्नन दोनों ने भीड़ से बाहर निकलते हुए पुकारा, "महिपाल की जय!" ❑

—दिसंबर, 1957

कविता

किनारा और लहरें

राजेंद्र यादव

लहरें—ओ, तट!
यह सब क्या है?—क्या कमजोरी?
क्यों रह-रहकर,
तिल-तिलकर टूट रहे यों?
यदि अभिशप्त तुम्हारा जीवन यों ही गल-गलकर बहने को है
तो डूबो, गल-गलकर बहो
मगर यह सब मिट्टी सिकता
(अपने खंडित-व्यक्तित्वों की छायाएं)
हम पर तो मत फेंको अपना यह स्खलन!
इन तारों, आकाश, चांद के आगे
अपनी इन काली बांहों से क्वांरे सपनों को मत छूना!
—हम यह सब पाने यहां नहीं आई थीं!

किनारा—मैं खुद लज्जित हूं!
पर जाने क्यों, मेरी काया का हर कोना-कोना
बरसों के आतप में—तम में जल-जलकर
ऐंठा हुआ हरेक कंगूरा
धसक रहा है, टूट रहा है!
ये सूखी नस जैसी मोथे की जड़ें न मुझको बांध रख पातीं अब!
लहरो,
दोनों बांहें खोल, मुक्त फैलाए अलक
ललककर मुझ तक आने वाली लहरो,
ठहरो,
पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, ठहरो!
ये प्रश्न मुझे ही काट रहे हैं!
धीर, शांत, गंभीर, अचल, सम-
तुमको जाने मैं कैसा-कैसा लगता होऊंगा।
जाने तुमने मेरी इस छाई छाया को अपने में कैसे-कैसे प्रतिबिंबित पाया होगा!
सोने की गोटों
चांदी के सलमों
मूंगे की झालर से लहराया होगा!
ज्योत्स्ना के झूलों में बैठे-बैठे,
जाने कैसा पाया होगा!
पर अपनी तो मैं कहता हूं
—मैं केवल मिट्टी का तट हूं,
तुम हो चंचल तरल—
उसी की मैं रेतीली करवट हूं।
मैं तट हूं। ❑

[लंबी कविता का एक अंश]
—जून, 1957

चिट्ठी-पत्री

चीन से एक पत्र

थियोसाफिकल कालोनी
जुहू, बंबई

प्रिय चंद्रगुप्तजी,

मैं बेहद शर्मिंदा हूं कि दिल्ली में आपसे न मिल सका। अब फैसला किया है कि साल में सिर्फ तीन फिल्मों में काम किया करूंगा, ताकि अन्य दिशाओं में मेरा व्यक्तित्व बिल्कुल खत्म ही न हो जाए। ज्यादा क्या कहूं–इन वर्षों में जो जर-परस्ती की है, वह भी एक तरह आवश्यक ही थी। इस दुनिया में इंसान उसी हालत में अपने आप को आजाद कह सकता है, जब वह अपने रोटी-कपड़े के लिए दूसरों का मुहताज न हो।

अच्छा, अब एक काम की बात सुनिए। एक चीनी लड़की का खत मेरे पास आया है, जो मैं आपके पास भेज रहा हूं। इस लड़की से हमारी मुलाकात पेकिंग में हुई थी। किस प्रेम और परिश्रम से इस छात्रा ने हिंदी भाषा और व्याकरण का अध्ययन किया है, वह इस खत के पढ़ने से ज्ञात हो जाएगा।

इसके अतिरिक्त, और इससे ज्यादा जरूरी बात यह है कि चीनी विद्यार्थियों की हिंदी पुस्तकों की मांग को, जिसका इस खत में जिक्र किया गया है, बाकायदगी से और यथोचित रूप से पूरा किया जाए। कुछेक पुस्तकें मैं यहां से भिजवा दूंगा। पर यह काफी नहीं है। आप अथवा सत्यवतीजी मलिक (मंत्री हिंदी भवन, नई दिल्ली) विविध प्रकाशकों अथवा संस्थाओं द्वारा यह काम करवा सकते हैं। दिल्ली का हिंदी भवन, और काशी की नागरी प्रचारिणी सभा, ऐसी सभी संस्थाओं का सहयोग इस काम में चाहिए। बनारसीदास चतुर्वेदीजी से भी आप राय ले सकते हैं।

पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में–

विनीत,
ह. बलराज साहनी

पेकिंग विश्वविद्यालय, पेकिंग

आदरणीय मेरे भाई बलराजजी,

सुदूर तथा सुंदर देश भारत में रहने वाले मेरे भाई, आपको सलाम करती हूं। जिस तरह हवा, पानी और सूरज की रोशनी सब लोगों के लिए बहुमूल्य है, उसी प्रकार हमारी गहरी दोस्ती और आपकी मदद हमारे लिए बेहद महत्वपूर्ण है।

आपको यह चिट्ठी मिलकर जरूर आश्चर्य होगा कि यह किसकी चिट्ठी है। अब मैं अपने बारे में थोड़ा जिक्र करना चाहती हूं। मैं पेकिंग विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ रही हूं, यानी बाद में भारत और चीन के बीच पुल का काम करने वाली हूं। शायद आपको याद होगा कि जब आप चीन आए तो हमारे यहां भी आए थे और आपने छोटी सभा में मुझसे भाषण देने को कहा था। मुझे अपने भाई की आज्ञा का पालन करने के लिए कुछ बोलना पड़ा (हिंदी में), लेकिन शर्म के मारे मेरा मुंह बिल्कुल लाल हो गया था। सभा के बाद आपने मुझसे कहा था कि तुम मुझे अपना भाई समझो और जरूर चिट्ठी लिखो। मुझे यह सब कुछ याद है। उसी समय की हमारी प्यार भरी मुलाकात, बिदाई के समय आंसुओं का टपकना–जिस तरह अंधेरे मैदान में मशाल की रोशनी अंधेरे को और भी अथाह कर देती है, उसी तरह बिदाई के समय हमारी मुस्कुराहट हमारे मन के अथाह दुःख को और भी प्रकट कर रही थी–यह सब कभी भुलाया नहीं जा सकता। इन चीजों की याद कभी फीकी नहीं पड़ सकती।

आदरणीय भाईजी! मुझे इस बात की बड़ी खुशी है कि आपकी और हमारी जनता की दोस्ती कम से कम दो हजार बरस का इतिहास है और इन लंबे दिनों के बीच हमारे बीच कोई युद्ध या झगड़ा नहीं हुआ, बल्कि हमेशा एक-दूसरे को प्रेम की आंखों से देखते हुए मिल-जुलकर रहते थे। अब भी हमारी और आपकी जनता की दोस्ती दिन दुगुनी रात चौगुनी बढ़ रही है। इस बढ़ती हुई दोस्ती को और ज्यादा बढ़ाने के लिए हम हिंदी विभाग के सब विद्यार्थी तन-मन-धन से आपकी भाषा सीखते हैं और असीम आनंद से आपके देश की हर विजय की खबर रखते हैं। इन दोनों देशों की जनताओं को पास-पास लाने में पुल का काम करने वाले हम हिंदी विद्यार्थियों को इस महत्वपूर्ण काम पर बहुत गर्व है।

आदरणीय भाईजी! मैं हालांकि सिर्फ एक बार आपसे मिली हूं, लेकिन आपको दिल से अपना सगा भाई मानती हूं और जब 'दो बीघा जमीन' सिनेमा देख रही थी तो आपकी याद और तेजी से आ रही थी और आपका हंसमुख चेहरा मेरी आंखों के सामने नृत्य करने लगा था। आपका भेजा हुआ फोटो अभी मेरी मेज के सामने टंगा हुआ है और जब आपकी याद आती है तो फोटो देखती हूं और सोचती हूं कि मैं भारत-चीन की पक्की दोस्ती के लिए, विश्वशांति के लिए, जरूर अच्छी तरह हिंदी पढूं लेकिन बहुत अफसोस की बात है कि यहां से भारत की किताबें मंगवाना बहुत मुश्किल है और बहुत लंबा समय भी लगता है। इसलिए आशा है कि अगर हो सके तो आप मुझे किसी न किसी तरह या तो यात्रियों के द्वारा या किसी दूसरे तरीके से हिंदी-किताबें (हिंदी भाषा का व्याकरण, हिंदी भाषा का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य की नई अच्छी किताबें आदि) भेज देंगे। इसके बदले मैं भी चीन से आपको जिस चीज की जरूरत हो, जरूर किसी न किसी तरह भेज दूंगी। फिर से मैं आशा करती हूं कि मेरे आदरणीय भाईजी, आप अपनी चीनी बहन की यह जबर्दस्त मांग जरूर पूरी कर देंगे, इंकार नहीं करेंगे। मैं खुशी से इंतजार करूंगी। गुस्ताखी माफ कीजिएगा।

आदरणीय भाईजी! आशा है कि आपकी जनता, खास तौर से आपके देश के नौजवानों को यह संदेश पहुंचा दीजिएगा कि हम अपने देश के उज्ज्वल भविष्य के लिए, दुनिया की स्थायी शांति के लिए खूब संघर्ष करें। और मेरी आदरणीय भाभीजी से मेरा सादर नमस्ते कहिएगा। उनको भी शायद मुझे याद होगा।

आपकी चीनी बहन
द्वे यंग शुन

❑

–अप्रैल, 1958

पुस्तक-चर्चा

हिंदी में शेक्सपीयर

नेमिचंद्र जैन

आजकल हिंदी में अनुवादों की धूम है। संसार के नवीन और प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य के अनुवाद आए दिन प्रकाशित हो रहे हैं। एक प्रकार से हिंदी साहित्य के विकास के लिए यह बहुत शुभ ही है। हिंदी के माध्यम से विश्व का श्रेष्ठ साहित्य उपलब्ध हो सके, यह संभावना न केवल साहित्य की भावी समृद्धि की सूचक है बल्कि हिंदी के पाठकों में एक नई जागृति, उत्सुकता और जिज्ञासा का संकेत भी देती है। किंतु अनुवादों की इस बाढ़ का केवल यही कारण नहीं है। प्रकाशकीय दृष्टि से उसके पीछे मूल प्रेरणा यह है कि एक तो अनुवाद के लिए प्रकाशक को साधारणतः कोई रायल्टी नहीं देनी पड़ती और दूसरी ओर बहुत ही कम पैसे पर अनुवाद करने वाले विद्यार्थियों की भी कोई कमी नहीं। इसी से आजकल प्रकाशित अधिकांश अनुवाद साहित्यिक प्रवृत्ति वाले विद्यार्थियों अथवा साहित्योपजीवी पत्रकारों के जीवन-यापन के साधन अधिक हैं, उनके पीछे परिश्रम और मूल कृति के प्रति श्रद्धा और उसे हृदयंगम करने की क्षमता और प्रवृत्ति का भाव नहीं दिखाई पड़ता। फलस्वरूप ऐसे अनुवादों से हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि के बजाय न केवल उसका स्तर नीचा होता है बल्कि मूल कृति का गौरव और कलात्मक सौंदर्य विकृत होकर हिंदी पाठकों को प्राप्त हो, ऐसी आशंका उत्पन्न हो रही है।

इस दुर्दशा का एक विशेष प्रदर्शन हाल ही में दिखाई पड़ा। हिंदी के साहित्यकार श्री रांगेय राघव ने शेक्सपीयर के नाटकों का करना प्रारंभ किया है और वह बड़े उद्योग के स्तर पर इस कार्य में जुट गए हैं। उनमें से 'ओथेलो', 'मैकबैथ', 'जूलियस सीजर', 'वेनिस का सौदागर' और 'जैसा तुम चाहो' आदि पांच नाटक मुझे देखने को मिले। श्री रांगेय राघव का नाम अनुवादक के रूप में देखकर मन में बड़ा आश्वासन हुआ था। यह आशा स्वाभाविक ही थी कि उनके द्वारा हिंदी को विश्व के उस अमर कवि, नाटककार और मानव हृदय के गहन अंतराल के चित्रकार का प्रामाणिक और सक्षम रूप उपलब्ध होगा। किंतु इन अनुवादों में से प्रत्येक के कुछेक पृष्ठ पढ़ने से ही कुछ ऐसा अनुभव हुआ मानो किसी सुंदर निरपराध प्राणी के वध का दृश्य आंखों के सम्मुख हो। स्वयं कवि और साहित्यकार होकर भी श्री रांगेय राघव संसार के इस महानतम रस-स्रष्टा के साथ ऐसा अकल्पनीय अत्याचार कर सकते हैं, यह इन अनुवादों पर दृष्टि डाले बिना सोचना अथवा विश्वास करना संभव नहीं। अभी तक हिंदी में केवल शरच्चंद्र के भ्रष्ट से भ्रष्ट अनुवाद हुए थे। अधिक मुनाफे के लिए सस्ता अनुवाद करने की प्रवृत्ति प्रकाशक के लिए कोई नई अथवा अस्वाभाविक बात नहीं, किंतु अनुवादकों की इस पंक्ति में डाक्टर रांगेय राघव जैसे साहित्यकार भी शामिल हो गए हैं, यह अवश्य हिंदी के लिए दुर्भाग्य का विषय ही माना जा सकता है।

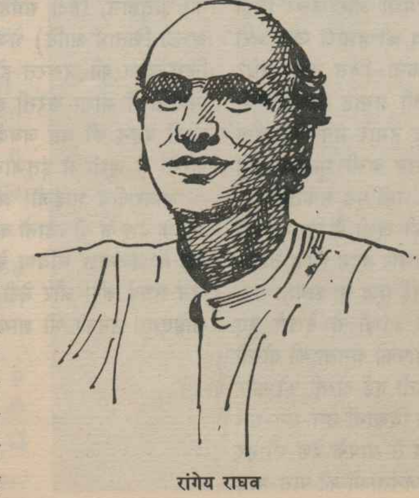

रांगेय राघव

इन अनुवादों पर सरसरी नजर डालने से भी यह तुरंत स्पष्ट हो जाता है कि ये अनुवाद किसी साहित्यिक प्रेरणा से अथवा शेक्सपीयर की महान रचनाओं से अभिभूत होकर और अपनी उस अनुभूति को हिंदी पाठकों तक पहुंचाने की भावना से प्रेरित होकर नहीं किए गए हैं। ऐसा कहीं भी नहीं लगता कि अनुवादक ने पल भर के लिए थमकर मूल रचना की आत्मा को, उसके शिल्प की अपूर्ण प्रौढ़ता को, शेक्सपीयर की भाषा की सबलता को और संवादों के विन्यास की उपयुक्तता और नाटकीयता को समझने का यत्न किया है। इन अनुवादों में न केवल अनगिनत स्थलों पर भाषा को न समझकर केवल यांत्रिक रूप में शब्दार्थ प्रस्तुत किया गया है, वरन् बहुत-से स्थलों में अर्थ का अनर्थ हो गया है। यथा *ओथेलो* में :

'अगर तुम राडरीगो हो, उसी प्रकार यदि मैं मूर हूं तो कभी इयागो न रहूं।' [पृष्ठ 11]

'इयागो—आप जरूर हैं, सिनेटर जो हैं।'
(यू आर ए सिनेटर) [पृष्ठ 14]

'इयागो—आदमी को वही होना चाहिए जो कि वह दिखाई दे। यदि वे ऐसे नहीं दिखाई देते तो अवश्य ही वे मानवता को धोखा दे सकते हैं।' (मैन शुड बी ह्वाट दे सीम : आर दोज दैट बी नाट वुड दे माइट सीम नन!) मूल नाटक का मौलिक और अनुपम काव्य सौंदर्य प्रायः सर्वत्र नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है, संवादों की नाटकीयता, उनका भाषागत चमत्कार तथा सौंदर्य अदृश्य हो गए हैं। संक्षेप में, पिछली चार-पांच शताब्दियों से प्रत्येक देश के साहित्य रसिक से लेकर साधारण

पाठक तक को अभिभूत करती रहने वाली विश्व साहित्य की इन निधियों में से आत्मा का गला घोंटकर निर्जीव शब्द कंकाल को उनके नाम से हिंदी में प्रस्तुत कर दिया गया है। इसके बाद यह कहना आवश्यक ही नहीं रह जाता कि इन अनुवादों की भाषा हिन्दी की दृष्टि से भी बहुत ही घटिया और प्राणहीन है।

[पृष्ठ 81]

सबसे पहले मैंने *ओथेलो* पढ़ना प्रारंभ किया था। प्रारंभ में मैंने अनुवाद को मूल नाटक से मिलाकर देखने का प्रयत्न किया, पर उसमें पंक्ति-पंक्ति में इतनी भिन्नता मुझे दीखी कि वह प्रयत्न ही मैंने छोड़ दिया। वास्तव में ये अनुवाद, अनुवाद नहीं हैं। बाजार में मिलने वाली पाठ्य-पुस्तक के सहायक ग्रंथों, नोट्स आदि में जिस प्रकार मूल पुस्तकों के अर्थ दिए रहते हैं, उसी कोटि के घटिया दर्जे के भावार्थ मात्र हैं। क्योंकि इन अनुवादों में लेखक ने इच्छानुसार अपनी ओर से बात बढ़ाने अथवा शब्दों को जोड़ देने अथवा बदल देने में भी कोई कृपणता नहीं दिखाई है। शेक्सपीयर की भाषा में उसके विचार और अभिव्यक्ति के अनुरूप गहनता है। साथ ही उसमें श्रेष्ठ काव्य की-सी भाव-गहनता और श्रेष्ठ नाटक की-सी अद्वितीयता भी है। शेक्सपीयर ने जिस संवाद को और जिस बात को जहां कहा है उसको नए रूप में, बदलकर कहने से उसका प्रभाव सर्वथा नष्ट हो जाने की स्वाभाविक आशंका है। वास्तव में श्रेष्ठ नाटकीय संवाद का यह एक मौलिक गुण ही है, जिसमें शेक्सपीयर की कोई तुलना नहीं हो सकती। रांगेय राघव शेक्सपीयर की रचनाओं के इनमें से किसी भी गुण को न केवल इन अनुवादों में प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, बल्कि उन्होंने उनमें से प्रत्येक के प्रति ऐसी उपेक्षा और हृदयहीनता दिखलाई है जो एक साहित्यिक के लिए सचमुच आश्चर्य की वस्तु है।

शेक्सपीयर के नाटकों में ऐसे अनगिनत स्थल हैं, जो संसार के सभी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बारंबार मनन, अध्ययन और रसानुभूति के आधार-स्रोत बन गए हैं। रांगेय राघव के अनुवादों में ऐसे स्थलों का कोई पता नहीं चलता। इसके बुहत-से उदाहरण दिए जा सकते हैं किंतु ये सारे के सारे अनुवाद ही इसके उदाहरण हैं। किसी भी पुस्तक को कहीं से खोल लीजिए। यदि आप शेक्सपीयर से परिचित हैं तो आप इन अनुवादों को पढ़कर निराश और दुखी हुए बिना न रहेंगे।

इन अनुवादों से एक बात बहुत स्पष्ट प्रगट है कि अनुवाद-कार्य चाहे प्रकाशक के लिए आसानी से पैसा कमाने का साधन भले ही हो, किंतु मूलतः वह बहुत ही कष्ट-साध्य और विशेष योग्यता का कार्य है। साथ ही, यह भी स्पष्ट प्रगट है कि अच्छे मौलिक लेखक अच्छे अनुवादक हों ही, यह आवश्यक नहीं। बल्कि प्रायः यही देखा गया है कि बहुत अच्छे लेखक सफल अनुवादक नहीं होते। निस्संदेह शेक्सपीयर के ये अनुवाद न केवल हिंदी के लिए कोई गौरव की वस्तु नहीं है, बल्कि श्री रांगेय राघव के लिए भी लज्जा के कारण हैं। ❑

—जून, 1958

ओथेलो, मैकबैथ, जूलियस सीजर, वेनिस का सौदागर, जैसा तुम चाहो : शेक्सपीयर; अनुवादक : रांगेय राघव ; राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ; पृ. स. (क्रमशः)—160,132,128,128 तथा 144 ; मूल्य : (प्रत्येक का एक रु. 12 आना अजिल्द)।

कविता

तिरस्कृत पथ

अशोक वाजपेयी

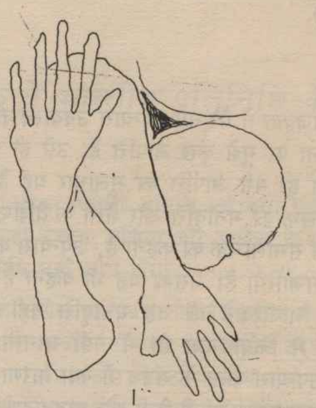

रेखांकन : वीरेंद्र

हम तिरस्कृत पथ
निश्चिन्ह, अभिशाप-वक्र,
हम पर से नहीं गया कोई
अपनी अपहृत शक्ति का कुशल-क्षेम पूछता,
हम पर से नहीं गया कोई
किसी आसन्नमृत्यु निष्ठा को देने अंतिम स्पर्श।
हम तिरस्कृत पथ
सर्प हैं मानो
त्यक्तविष, मणिहीन
वायु पीकर जी रहे हैं।
मरती परछाइयों से लिपट
बिलखकर अगोरते हैं
उस दिन का सिंदूरी श्रीमुख
ऊबकर संघर्ष से जब
अपरिचित ओ,
आओगे हम पर ही
अपनी अंतिम हिमयात्रा पर,
गलेंगे सहयात्री निश्शब्द सब,
सीमांत तक
जोड़ता दुर्वह एकांत,
हमारा ही धर्म जाएगा तुम्हारे साथ।
मणिभूषित,
फिर हमें भी मिलेगा
रक्तपुषित चरणों का सुरभित स्पर्श।
तब तक हम तिरस्कृत
हम तिरस्कृत पथ।

—जुलाई, 1958

प्रत्यालोचना

"मैं अपने उपन्यासों को विचारों पर आधारित करता हूं"

(उदयास्त: आचार्य चतुरसेन शास्त्री; सितंबर 1958 के 'आजकल' में प्रकाशित श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा कृत आलोचना की प्रत्यालोचना)

प्रिय संपादक जी,

सितंबर के *आजकल* में मेरे नए उपन्यास *उदयास्त* की आलोचना छपी है। आलोचना पर मुझे कुछ आपत्ति है, उसे ही इन पंक्तियों में व्यक्त कर रहा हूं। मेरी आपत्ति का मूलाधार यह है कि विद्वान समालोचक ने लेखक की मनोवृत्ति और शैली के वैशिष्ट्य पर ध्यान नहीं दिया। विद्वान समालोचक का कहना है, 'उपन्यास कला की दृष्टि से उसमें कुछ कमजोरियां हैं।' उसका यह भी कहना है कि सन् 52 में राजाओं और जागीरदारों की वह मनोवृत्ति नहीं थी—जिसका चित्रण उपन्यास में किया गया है। मैं नहीं जानता कि विद्वान समालोचक की उपन्यास कला के संबंध में क्या धारणा है। मेरा यह दृढ़ मत है कि उपन्यासकार अपनी शैली और भाव प्रदर्शन की सामर्थ्य से उपन्यास तत्व में जो मोड़ दे—वही उपन्यास कला का स्वरूप बन जाता है। विद्वान समालोचक की दृष्टि उपन्यास के कथानक पर है, विचार प्रवाह पर नहीं। मैं अपने उपन्यासों को कथानक पर आधारित नहीं रखता, विचारों पर आधारित करता हूं। विचार भी मैं परिस्थितियों से उत्पन्न मानता हूं—इसलिए अपने उपन्यास में मैं जब किसी नए विचार की स्थापना करना और उसे पाठकों के समक्ष पेश करना चाहता हूं, तो उसके प्रथम परिस्थितियों का रेखा-चित्रण करना आवश्यक समझता हूं। इसके लिए मुझे पात्रों ही में से कुछ को चुन लेना पड़ता है। इस शैली में यह स्वाभाविक है कि कथानक उपन्यास का मूलाधार न होकर आलंबन मात्र ही बनकर रह जाए। आप इसे खुशी से मेरी अपनी नई परिपाटी कह सकते हैं। परंतु इसके लिए मुझे दोष नहीं दे सकते। मैं प्रेमचंद और देवकीनंदन खत्री के काल का उपन्यासकार नहीं हूं कि समस्या कथानक और मनोरंजन पर आधारित रह जाए। मैं तो शत-प्रतिशत विचारों पर आधारित हूं। इसलिए मेरे उपन्यास की आलोचना करने से पूर्व विद्वान आलोचक को मेरी शैली का अध्ययन करना आवश्यक है। तब ऐसा भी हो सकता है कि उपन्यास कला के संबंध में अपनी पुरानी धारणा के कारण समालोचक महोदय मेरे उपन्यास में जिसे त्रुटि या कमजोरी कहते हैं, वही उन्हें खूबी या उपन्यास कला मे नए मोड़ के रूप में दीख पड़े।

समालोचक महोदय मेरे होटल के चित्रण को यथार्थ नहीं समझते। उनकी बात सच हो सकती है। मैं न कभी होटल जाता हूं, न किसी ड्रिंक पार्टी में शरीक होता हूं। परंतु अपने उपन्यास में मैंने जो चित्रण किया है, वह मेरा आंखों देखा है, कल्पना प्रसूत नहीं है। केवल होटल का नाम ही काल्पनिक है। दुर्भाग्य है कि मेरी कल्पना प्रसिद्ध अशोक होटल पर जा टकराई, वस्तुतः जिसकी डयोढ़ियां मैंने अभी तक नहीं लांघी हैं। परंतु विद्वान समालोचक की इस मान्यता को मैं दृढ़तापूर्वक अमान्य करता हूं कि वह इस युग का वास्तविक चित्र नहीं है। निश्चय ही यह मेरा आंखों देखा चित्र है तथा राजाओं और जमींदारों की जिस मनोवृत्ति का मैंने उपन्यास में वर्णन किया है, वह शत प्रतिशत सही है। मैंने वही लिखा है, जिसे मैं आंखों से देख चुका हूं। हां, जरा औपन्यासिक रंग तो देना ही पड़ता है।

विद्वान समालोचक का कहना है कि उपन्यास के कथानक में पैबंदियां हैं। वह राजाओं के वर्णन में शरणार्थियों की आपबीती को पैबंद मानते हैं। उसका कारण भी विद्वान समालोचक की पुरातन कथानक संबंधी उपन्यास कला की धारणा है। वास्तविक कथा प्रवाह तो यह है कि सात पर्दों में परंपरा से रहने वाली एक रानी को पर्दे के बाहर लाकर खुले नागरिक जीवन की एक झांकी देखनी पड़ती है। वह ऐयाश, रईसों, श्रीमंतों, एडवांस्ड महिलाओं और फाकेकश मजदूरों तथा शरणार्थियों के भी संपर्क मे आती है। लेखक का दृष्टिकोण भी नागरिक जीवन की एक झलक दिखाना मात्र है। इसे कथानक का पैबंद तो किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता। अपनी-अपनी शैली है। और लेखक अपनी शैली में विविध चित्र चित्रित करने में स्वतंत्र है। संक्षेप में उपन्यास एक वृक्ष है जिसमें अनेक शाखाएं हैं, और उस पर भांति-भांति के पक्षी बसेरा लेते हैं। उसके विरुद्ध कहानी एक लता है, जो एक ही डाल पर लंबी बढ़ती चली जाती है। अतः कथानक की एकांतसूत्रता कहानी में तो अवश्य अनिवार्य है, पर उपन्यास में आनुषंगिक चित्र परिस्थितियों और वातावरणों को चित्रित करने के लिए लाने ही पड़ते हैं—जिनके आधार पर लेखक को अपने विचार प्रभावशाली ढंग से पाठकों के समक्ष पेश करने होते हैं।

विद्वान समालोचक ने सुझाव दिया है कि 'यदि उपन्यास स्वाधीनता के उपरांत बड़े जमींदारों के मानसिक तथा सांसारिक संघर्षों तक सीमित रखा जा सकता और नई परिस्थितियों का सजीव वर्णन किया जा सकता, तो रचना का सौंदर्य और महत्व बढ़ जाता।'

मैं अत्यंत नम्रता किंतु दृढ़तापूर्वक यह कहना चाहता हूं कि विद्वान समालोचक को मुद्रित पुस्तक पर अपने नए सुझाव देने का कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि यह मान भी लिया जाए कि लेखक की अपेक्षा विद्वान समालोचक को विचार सत्ता, विश्वदर्शन, समाज और आचार शास्त्र का ज्ञान बहुत अधिक है—तो भी वह लेखक को यह सलाह नहीं दे सकता कि उपन्यास में वह ऐसा करता—ऐसा न करता। विद्वान समालोचक स्वयं चाहें तो अपनी मर्जी के मुताबिक स्वयं एक निर्दोष उपन्यास लिख सकते हैं और उसमें वे सब उत्तम भाव प्रदर्शित कर सकते हैं जिनकी मेरे उपन्यास में उनकी दृष्टि में कमी है, जिसे मैं अस्वीकार करता हूं, क्योंकि मेरा उपन्यास न समस्या उपन्यास है, न आदर्शों पर आधारित है। मैंने तो परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न विचारों को उपन्यास का मूर्त रूप दिया है। ये परिस्थितियां और उनसे उत्पन्न विचार मेरे उपन्यास में प्रथम हैं, और पात्रों के कथानक उसके बाद।

—चतुरसेन

❑

—जनवरी, 1959

रपट

एशियाई-अफ्रीकी लेखक कांग्रेस

यशपाल

सन् '58 में ताशकंद में आयोजित कांग्रेस में लेखक ने भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था।

ताशकंद में आयोजित 'एशियाई-अफ्रीकी लेखक कांग्रेस' के लिए भारतीय लेखकों का प्रतिनिधि-मंडल दिल्ली से 4 अक्तूबर, 1958 को प्रातःकाल चला था। दोपहर में हम लोग काबुल पहुंचे। ताशकंद जाने वाला हवाई जहाज तैयार था। मैं उस दिन के लिए काबुल में रह गया। शेष साथी चले गए। दूसरे दिन दोपहर बाद जिस हवाई जहाज से ताशकंद के लिए रवाना हुआ, उसमें प्रायः सभी यात्री अफगानिस्तान से शिक्षा के लिए सोवियत जाने वाले विद्यार्थी थे। उस दल से भिन्न मैं अकेला ही था। इसलिए जहाज की सबसे पिछली कुर्सी पर बैठा था। जहाज ताशकंद पहुंच जाने पर सामने के यात्रियों के उतर जाने की प्रतीक्षा में था। जहाज की परिचारिका अंग्रेजी बोलती थी। जहाज के द्वार से मेरी ओर लपकती हुई आई—"आप भारतीय लेखक हैं न? आइए कुछ लोग आपकी अगवानी के लिए खड़े हैं।" समझ में आया, पिछले दिन पहुंच चुके साथियों ने मेरे आज पहुंचने की सूचना दे दी होगी।

वायुयान की सीढ़ी से धरती पर कदम रखते ही हिंदी में सुना—"नमस्ते यशपालजी! आपके दर्शन से बहुत प्रसन्नता हुई। आपका सफर आराम से हुआ?"

आंख उठाकर देखा—एक उजबेग युवती नमस्कार की मुद्रा में हाथ उठाए थी। तीन-चार उजबेग और रूसी युवक भी थे।

विस्मय हुआ और प्रसन्नता भी हुई? विस्मय इसलिए कि इससे पूर्व के अनुभव से अपना देश क्या, उत्तर भारत की सीमा पार करते ही जिह्वा पर स्वयं ही अंग्रेजी आने लगती थी।

संध्या का अंधेरा हो चुका था। हम यानों के अड्डे से नगर की ओर जा रहे थे। सड़क पर रंग-बिरंगी बिजलियों के बंदनवार देखकर सजावट की ओर ध्यान गया। याद आया, यानों के अड्डे पर भी प्रकाश की सजावट थी। बाजारों में प्रवेश करने पर सजावट और भी अधिक दिखाई दी। स्थान-स्थान पर 'स्वागत', 'शांति', 'साहित्य-संस्कृति फूले-फले', 'विश्व-शांति की जय!' अनेक भाषाओं की लिपियों में दिखाई दे रहा था—हिंदी, उर्दू और बंगला लिपियों में भी।

'ताशकंद होटल' ताशकंद का सबसे बड़ा होटल है। लेखक कांग्रेस के अवसर के लिए शायद उसे समय पर तैयार कर दिया गया होगा। छह मंजिल की काफी बड़ी इमारत है। सबसे नीचे प्रबंध तथा आहार-विहार के लिए बड़े-बड़े हाल हैं। सवा या डेढ़ सौ सूट तो होंगे ही। पूरा होटल लेखक कांग्रेस के अतिथियों के लिए सुरक्षित था। इसके अतिरिक्त विदेशी अतिथि कई दूसरे स्थानों पर भी ठहरे हुए थे। कह नहीं सकता, एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों के किस देश से प्रतिनिधि नहीं आए होंगे।

लेखक कांग्रेस का प्रबंध नोबोई थियेटर में था। ताशकंद होटल की ही भांति नोबोई रंग-भवन का उपयोग उद्घाटन कांग्रेस के लिए ही हुआ था। होटल और थियेटर के बीच प्रायः फर्लांग भर का मैदान है। मैदान में बहुत बड़ा फव्वारा और फूल-फुलवाड़ी है। अतिथियों के कांग्रेस भवन तक आते-जाते समय चलने भर का मार्ग छोड़कर दोनों ओर खूब भीड़ जमा हो जाती थी। भीड़ में मध्य एशिया की परंपरागत पोशाक पहने प्रौढ़ों से लेकर नवयुवक-युवतियां और स्कूल जाते बच्चे भी रहते थे। हस्ताक्षरों की बहुत मांग थी। युवक और विद्यार्थी अपनी संस्था का बैज स्मृति के लिए अतिथियों के कोट पर लगा देना चाहते थे। इन बैजों में प्रायः ही शांतिदूत कपोत का चिन्ह रहता था।

यह भ्रम हो सकने के लिए काफी अवसर था कि यह लेखकों की कांग्रेस है अथवा विश्व-शांति आंदोलन का समारोह है। शांति राजनीतिक प्रश्न है। लेखकों की कांग्रेस के समय वातावरण में इस प्रश्न की गूंज भर देने का क्या प्रयोजन था? इस प्रश्न के दो उत्तर सोचे जा सकते हैं। यह नागरिकों द्वारा स्वागत और उत्साह का प्रदर्शन था। नागरिकों की भावना उसमें प्रकट हो रही थी। दूसरा यह कि संसार को युद्ध के ध्वंस से बचाने की मांग न केवल राजनीतिक है बल्कि धार्मिक और सांस्कृतिक भी है। वह मानवता की मूल मांग है। साहित्य और कला मानवता की भावना की उपेक्षा नहीं कर सकते। लेखक राजनीति से भागता है क्योंकि राजनीति का उपयोग स्पर्धा, कलह के दांव-पेंचों में किया जाता है। राजनीति को दूसरों पर दबाव डालने के लिए उन्हें अपने अधीन करने के लिए बरता जाता है। लेखक को यह अन्याय जान पड़ता है और वह राजनीति से विरक्ति अनुभव करता है, परंतु शांति की मांग से लेखक की विरक्ति अनुभव करने का कोई कारण नहीं हो सकता।

एशिया के लेखकों की कांग्रेस नई दिल्ली में हुई थी। तब कांग्रेस का प्रभाव विज्ञान भवन के और दिल्ली में कुछ पत्रों के अतिरिक्त प्रायः दिखाई नहीं देता था। यहां पूरा नगर कांग्रेस से स्पंदित था। समारोह राजकीय परिमाण पर दिखाई दे रहा था इसलिए कांग्रेस के आधार और पृष्ठभूमि को राजकीय या राजनीतिक समझ लिया जा सकता था, परंतु इस व्यवहार में उस देश की व्यवस्था का भी

प्रभाव समझना चाहिए। उस देश की शासन व्यवस्था ने देश में आयोजित सांस्कृतिक या साहित्यक प्रयत्न के प्रति अपना दायित्व समझा।

इस कांग्रेस की पृष्ठभूमि में राजनीतिक प्रयोजन और प्रेरणा की गंध कांग्रेस की चर्चा आरंभ होने पर कुछ लोगों को इस देश में ही अनुभव होने लगी थी। ऐसी शंका की मनोभूमि बनाने में सबसे मुख्य कारण कांग्रेस का सोवियत के एक भाग ताशकंद में आयोजित होना था। कुछ लोग सोवियत की किसी भी बात को राजनीतिक प्रयोजन के बिना मान लेने के लिए तैयार नहीं। उदाहरणतः सोवियत में अन्न की उपज बढ़ाने में भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति रहती है। सोवियत अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि अपनी पद्धति की सफलता के प्रचार के लिए अन्न की उपज बढ़ाता है।

इस प्रकार की शंकाओं का उत्तर देना कठिन है। प्रश्न यह भी हो सकता है कि 1956 में एशियाई लेखक कांग्रेस दिल्ली में आरंभ और संगठित हुई थी। क्या उस समय सोवियत या उस पक्ष के अंतर्राष्ट्रीय समर्थन करने वालों ने लेखक कांग्रेस में, भारत के राजनीतिक प्रयोजनों के बारे में संदेह किया था? कांग्रेस के लिए कोई स्थान तो चाहिए था। ताशकंद ने निमंत्रण दिया था। एशिया में भारत के अतिरिक्त और कौन भूभाग है जो निष्पक्ष मान लिया जा सकता है? सभी लोग तो भारत को भी निष्पक्ष मान लेने के लिए तैयार नहीं होंगे।

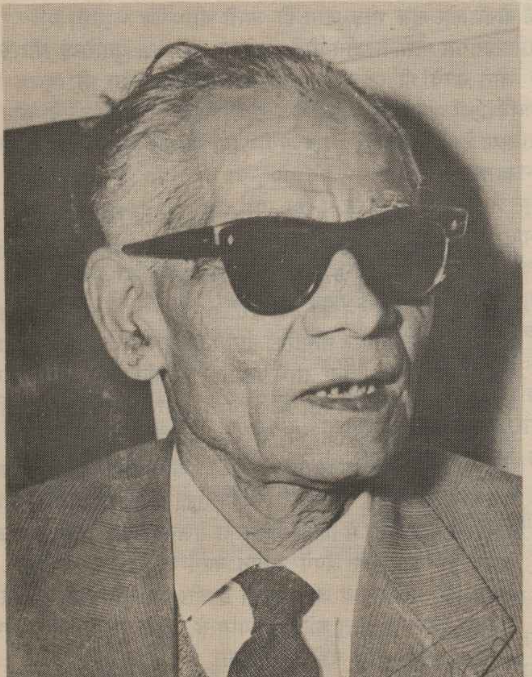

यशपाल

राजनीतिक प्रयोजन की आशंका का दूसरा कारण था—इस बार कांग्रेस को एशिया के लेखकों की कांग्रेस की बजाय एशिया-अफ्रीका के लेखकों की कांग्रेस का नाम दे देना। इसका मतलब एक प्रकार से हो गया—पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया और अफ्रीका के देशों का संयुक्त मोर्चा तैयार करना। कुछ लोग एशिया और अफ्रीका में कोई सांस्कृतिक अथवा परंपरा का संबंध नहीं देख पाते। एशिया और अफ्रीका में यदि एकता की कोई भावना संभव है तो यही कि दोनों गोरे अथवा पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार रहे हैं। उनका कोई भी सहयोग उस साम्राज्यवाद के विरोध के लिए ही संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। उपयुक्त विचार में वे मिस्र को विकल्प समझते हैं। दिल्ली में संयोजित एशियाई कांग्रेस में भी मिस्र को सम्मिलित किया गया था।

इस तथ्य पर विवाद नहीं किया जा सकता कि मिस्र अफ्रीका महाद्वीप का भाग है। अफ्रीका महाद्वीप के एक भाग को सम्मिलित कर शेष भाग को त्याज्य समझ लेने की कसौटी क्या हो सकती है? क्या यह कि वे अनेक कारणों से सांस्कृतिक विकास में पिछड़े रहे हैं या यह कि उनकी त्वचा का रंग हमारी अपेक्षा अधिक काला है? गोरे और पश्चिमी साम्राज्यवाद से सहानुभूति का यह प्रभाव क्या एशिया की संस्कृति और परंपरा के अनुकूल है? एशियाई देशों के लेखकों को सम्मिलित कर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के विचार या पारस्परिक सहयोग से सांस्कृतिक विकास की संभावनाओं को बढ़ाने की इच्छा का प्रयोजन भिन्न राष्ट्रों की भावनाओं में साझे सूत्रों को पिरोने का प्रयत्न है। इसमें प्रवृत्ति संकोच की ओर नहीं, विस्तार की ओर होनी चाहिए। हजार वर्ष पूर्व हमारा चीन से क्या संबंध था, इसका तो महत्व है परंतु इस पूरी आधी शताब्दी में हमारी समस्याएं अंतर्राष्ट्रीय जगत में जिनके साथ एक रही हैं, उनकी उपेक्षा कर दी जाए, यह व्यावहारिक नहीं जान पड़ता। इस नाते यह उपालंभ देना कि इस विचार से दक्षिण अमेरिका को भी ऐसी कांग्रेस में सम्मिलित कर लिया जा सकता है, बहुत बड़ा तर्क नहीं है। दक्षिण अमेरिका क्यों, उत्तरी अमेरिका और सभी राष्ट्रों के लेखक एक साथ बैठकर मानवीय मूल्यों के आधार पर साहित्य और संस्कृति के विकास की चर्चा करें तो वह दिन और भी शुभ होगा।

किसी भी बात को राजनीतिक बता देने से उसे त्याज्य नहीं बना दिया जा सकता। ताशकंद में हुई कांग्रेस का दृष्टिकोण या प्रयोजन राजनीतिक था या नहीं और कैसा राजनीतिक था, यह तो उस कांग्रेस में हुई चर्चाओं के आधार पर ही निर्णय करना होगा। परंतु यदि कला और साहित्य द्वारा मानव समाज के लिए आत्म-निर्णय की भावना को प्रश्रय देना और मानवता की मुक्ति के लिए भावना को प्रबल करना राजनीति है तो नैतिकता और मानवता क्या है? यदि साहित्य और संस्कृति के नाम पर दमन और घृणा की भावना को प्रश्रय दिया जाए तो उससे आशंका उचित है। मुक्ति और आत्म-निर्णय की भावना से आशंका का कोई कारण नहीं होना चाहिए।

लेखकों के मन में कुछ धारणाएं हैं और राजनीति में लपेट लिए जाने की विचित्र आशंका भी है। राजनीति से बचने की सतर्कता में वे और भी गहरी राजनीति में फंस जाते हैं। इसका उदाहरण

ताशकंद कांग्रेस के समय भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के व्यवहार में भी मिला। कांग्रेस के संयुक्त मंतव्य में साहित्य और कला द्वारा मानव के विकास, राष्ट्रों की पूर्ण स्वतंत्रता और औपनिवेशिक दमन से मुक्ति की भावना को प्रश्रय देने की बात थी। विभिन्न देशों के प्रतिनिधि-मंडलों के नेताओं की बैठक विषय निर्धारिणी समिति के रूप में हुई थी। इस समिति में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के नेता तारा शंकर बाबू ने राजनीति में न फंस जाने की सतर्कता में 'औपनिवेशिक दमन से मुक्ति' शब्दों पर आपत्ति कर इन्हें हटा देने का अनुरोध किया था। एशिया और अफ्रीका देशों के सभी प्रतिनिधियों ने उनके संशोधन को अस्वीकार कर दिया।

तारा शंकर बाबू ने समस्या भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के सम्मुख इस रूप में रखी कि भारत का संशोधन अस्वीकार होना भारत का और उनका अपमान है। तारा शंकर बाबू ने अपने भाषण में बार-बार अपनी दयनीय स्थिति का उल्लेख किया कि वह बेशक सफल उपन्यासकार और कथाकार हैं परंतु कूट राजनीति उनके बस की बात नहीं है, उन्हें उससे मुक्ति दी जाए। बात डाक्टर मुल्कराज आनंद और कृष्णलाल श्रीधराणी ने स्पष्ट की। इन दोनों ने 'साम्राज्यवादी दमन से मुक्ति' शब्दों की व्याख्या की कि यह अमेरिका अथवा पश्चिमी शक्तियों पर छींटाकशी है। भारत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निष्पक्ष है। इस मंतव्य में सहयोग देना अपने देश की अंतर्राष्ट्रीय नीति के विरुद्ध होगा। इस बात से विह्वल होकर तारा शंकर बाबू ने दुहाई दी—ऐसे मंतव्य में सहयोग देकर हम भारत लौटकर पं. जवाहरलाल को क्या मुख दिखाएंगे?

इस आपन्न अवस्था में कृष्णलाल श्रीधराणी का प्रस्ताव था कि यदि भारत का संशोधन स्वीकार नहीं किया जाता तो भारतीय प्रतिनिधि-मंडल को इस मंतव्य के विरुद्ध अपना विरोध दर्ज करवा देना चाहिए और खुले अधिवेशन में यह मंतव्य प्रस्तुत होने पर भारतीय प्रतिनिधि-मंडल को वाक आउट कर जाना चाहिए। यह सुझाव शेष भारतीय प्रतिनिधियों ने स्वीकार नहीं किया, कर भी नहीं सकते थे क्योंकि इसे जनवादी या समझौते का तरीका नहीं कहा जा सकता था। परंतु यह इस बात का बहुत अच्छा उदाहरण है कि लेखक के सामने नैतिकता और राजनीति में विश्लेषण की कैसी समस्याएं आ जाती हैं। कैसे लेखक राजनीतिक छूत से घबराकर राजनीति के भंवर में फंस सकता है।

मंतव्य में किसी भी राष्ट्र का नाम होने से 'औपनिवेशिक दमन से मुक्ति' एक नैतिक और सैद्धांतिक बात थी। कोई भी लेखक किसी भी राष्ट्र के दमन का अथवा मानवता के किसी भी भाग के दमन का समर्थन नहीं कर सकता, परंतु औपनिवेशिक दमन से मुक्ति की भावना पर आपत्ति स्पष्ट ही उपनिवेशों की मुक्ति-कामी जनता की भावना का विरोध और कट्टु राजनीति हो जाती है। इस प्रश्न को नैतिक या सैद्धांतिक धरातल पर न विचार कर इस या उस देश की अंतर्राष्ट्रीय नीति को बीच में ले आना राजनीति नहीं तो क्या था? और यह भारत की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को भी गलत पेश करना था। भारत की अंतर्राष्ट्रीय नीति निष्पक्ष है। इसका अर्थ है कि भारत किसी भी सामरिक संधि में अथवा शीतयुद्ध के गुट में भाग नहीं लेता। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के प्रश्न पर या औपनिवेशिक दमन से मुक्ति का नैतिक प्रश्न आने पर भी नहीं बोलता है। बांदुंग में, स्वेज, अल्जीरिया और इराक के प्रश्नों पर अथवा जहां कहीं भी ऐसा अवसर आया, भारत ने मानवीय न्याय को कसौटी मानकर अपना मंतव्य प्रकट किया है।

यह भी एक विचित्र धारणा है कि लेखक अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा और दमन के विरोध के लिए तो सतर्क रहे, परंतु राजनीति से अलग-अलग बना रहे। मानो लेखक का व्यक्तित्व समाज, शासन और व्यवस्था के प्रभावों से अप्रभावित रह सकता है या व्यक्तिगत स्वतंत्रता सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से विच्छिन्न वस्तु है या यह कि लेखक नागरिक के रूप में अपने सामाजिक और राजनीतिक दायित्वों को चाहे जैसे निबाहे उसकी कला इन समस्याओं से अछूती रहनी चाहिए। इन समस्याओं के लिए लेखकों का सामूहिक रूप में एकत्र होकर विचार करना शोभा नहीं देता। स्थिति इसके विपरीत जान पड़ती है। अपने सीमित क्षेत्र में बैठा लेखक अपनी मान्यताओं को या अपने विचार के निष्कर्षों को पूर्ण सत्य माने रहता है और अपनी कला द्वारा उसी की अभिव्यक्ति करता रहता है। अन्य लेखकों अर्थात भिन्न परिस्थितियों के प्रभाव में निष्कर्ष निकाल सकने वालों के संपर्क में आकर ही वह किसी भी मान्यता के दूसरे पहलुओं को भी देख सकता है।

यह ठीक है कि ताशकंद में कांग्रेस के अधिवेशनों में कला के विधान और तत्वों के विषय में उस प्रकार विचार-विमर्श नहीं हो सका जैसा कि कला के प्रयोजनों के संबंध में हुआ। इसका कारण भाषाओं की सीमाएं थीं। साहित्य के विधान और तत्वों का विवेचन बिना उदाहरणों के नहीं हो सकता। परंतु कांग्रेस की परिधि में ही इन प्रसंगों पर बातचीत होते जरूर सुनी जाती थी। जहां भी हिंदी-उर्दू जानने वाले उजबेग या रूसी मिले, उन्होंने हमारे साहित्य के विषय में अपने विचार प्रकट किए और हमारे विचार जानने चाहे। इसी प्रकार रूसी साहित्य के विषय में भी।

ताशकंद लेखक कांग्रेस में विचार के परिणामस्वरूप पांच सुझावों को स्वीकार किया गया था और उनके लिए भिन्न-भिन्न देशों के प्रतिनिधि-मंडलों से समितियां नियोजित की गई थीं। यह सुझाव संक्षेप में इस प्रकार थे : (1) बालकों और किशोरों के भावी विकास को दृष्टि में रखकर उनके लिए उपयुक्त साहित्य सृजन में विभिन्न राष्ट्रों से कलात्मक और सांस्कृतिक सहयोग प्राप्त किया जाए। (2) आधुनिक साहित्य में महिलाओं के योगदान का मूल्यांकन करके भविष्य में उनके सहयोग के अवसर को बढ़ाया जाए। (3) सिनेमा-रंगमंच पर साहित्य के प्रभाव को समझकर साहित्य द्वारा उनके विकास में सहयोग की संभावनाओं पर विचार किया जाए। (4) नाटक के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय प्रभावों को समझकर उसके विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के उपायों पर विचार किया जाए। (5) सभी भाषाओं से उत्कृष्ट साहित्य का संचय कर उसे अन्य भाषाओं में अनुवाद कराकर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाए।

इन सुझावों में लेखकों को राजनीतिक गुटबंदी में समेट लेने की अपेक्षा साहित्यिक और सांस्कृतिक संपर्कों को बढ़ाने और सहयोग उत्पन्न करने की भावना जान पड़ती है। परंतु ताशकंद सम्मेलन की सार्थकता उपर्युक्त सुझावों को प्रस्तुत कर देने में ही नहीं समझी जा सकती, वह तो सुझावों को कार्य रूप में परिणत कर सकने पर ही आंकी जानी चाहिए। ❑

—मार्च, 1959

कहानी

परिक्रमा

शेखर जोशी

घर में चारों ओर जैसे एक गुप्त मंत्रणा चलती रहती। हर एक के मन में जैसे कोई रहस्य पल रहा था। कहने भर को ही संयुक्त परिवार था। घर के ही नहीं, बाहर के लोग भी जानते थे कि इस संयुक्त परिवार के आधार कितने खोखले हो चुके हैं। हमेशा यही आशंका लगी रहती कि न जाने कब विस्फोट हो जाए। कब कौन-सी बात बारूद के ढेर में चिनगारी का काम कर दे।

घर के आंगन में, दाड़िम की छाया में बैठे-बैठे दिन भर हरिदत्तजी बुड़बुड़ाते रहते। बुढ़ापे की धुंधली दृष्टि से भी उन्हें परिवार के प्रत्येक सदस्य के मुख पर छाई हुई विषाद की छाया दिखाई दे जाती।

ऐसे कब तक चलेगा? इसका समाधान तो करना ही होगा। समाधान का अर्थ है विभाजन! विभाजन की कल्पना करते-करते हरिदत्तजी का शरीर सिहर उठता। आज तक नवागंतुकों के सम्मुख अपने संयुक्त परिवार की घोषणा करते हुए उन्हें कितना गर्व अनुभव होता रहा था! पर अब अधिक दिन तक ऐसे नहीं चलेगा। एक दिन बड़ी बहू ने आकर श्वसुर के पैर पकड़ लिए थे। एक शब्द भी नहीं बोली, केवल आंसू! आंसू! जैसे आज अपने आंसुओं से वह पूरी धरती को जलमग्न कर देगी। अभागिनी विधवा के आंसुओं से बड़े घर की ईंट-ईंट भीग गई थी। आंसू थम चुकने पर रुंधे कंठ से बार-बार वह दुहराती "मेरा क्या कसूर है, आप ही बताइए!" बाबा की उम्र के वृद्ध श्वसुर के आगे ऐसे क्षणों में भी उसका घूंघट नहीं उठा था।

हरिदत्तजी ने कोई उत्तर नहीं दिया था। उत्तर देने के लिए बचा ही क्या था? 'बड़ी' का कोई दोष भी तो नहीं। दोष तो उन्हीं का था कि इतनी दीर्घायु का वरदान पाकर उन्होंने जन्म लिया। चार लड़कों में से एक के बाद एक, दो जवान लड़कों की मृत्यु का दुख ही जैसे पर्याप्त न हो, हर दिन, हर घड़ी घर में कलह मची रहती। जो बीत गया, उसे भुला भी दिया जा सकता था। पर उस व्यतीत की स्मृति में दोनों विधवाओं के सूने हाथ जब तब उनकी पूजा-सामग्री जुटा पाते, तो वह घाव फिर हरा हो जाता। दूसरी बहू ने कभी रो-धोकर कोई शिकायत की हो, हरिदत्तजी को याद नहीं पड़ता। उसका वैधव्य जैसे उसे गूंगी बना गया था। अपने हरीश का हाथ थामकर, दरवाजे की आड़ में खड़ी हो, वह कह देती, "जा! बाबा के पास जाकर बैठ!"

हरिदत्तजी एक बार आंखें उठाकर देख लेते, परंतु मैली धोती में लिपटी बहू की आकृति न जाने कब द्वारा की ओट से ओझल हो गई होती। तब नन्हे हरीश को बुलाकर वह पास में बैठा लेते थे। हरीश की ओर देख कर उन्हें लगता, जैसे उसका पिता गोपाल एक बार फिर अपने शैशव में लौट आया हो। पर वह आकृति भी धीरे-धीरे अस्पष्ट हो जाती। सावन-भादों के बादल उन दोनों के बीच पहरा देने लगते।

रामदत्त की पत्नी का तीखा, असंतुष्ट स्वर कभी-कभी कानों में आ टकराता। प्रतिदिन दूध को लेकर, बच्चों की बातों को लेकर, घरेलू कामकाज को लेकर एक-न-एक झगड़ा उठ खड़ा होता। सबसे छोटी, कैलाश की बहू का ऐसा तीखा, असंतुष्ट स्वर उन्हें नहीं सुनाई देता था, पर वह इतनी सीधी-सादी नहीं है, यह भी हरिदत्तजी जानते थे। दोनों विधवाओं के सम्मुख दोनों सुहागिनों को अपने आप पर समान गर्व है। दोनों बहुएं इस बात का प्रदर्शन करना नहीं भूलतीं कि उनके कमाऊ पतियों के कारण ही घर-संसार पल रहा है। दोनों सुहागिनों में परस्पर विशेष प्रीति है। रामदत्त की बहू कहेगी, "छोटी, मुन्नी को दूध पिला दे तो।"

छोटी दांतों के बीच निचला होंठ दबाकर उत्तर देगी, "दीदी, दूध तो बहुत कम दिखाई दे रहा है। कोई दो पैरों वाली बिल्ली तो नहीं पी गई?" और दोनों सुहागिनों के मुख पर रहस्यभरी मुस्कान फैल जाएगी!

बड़ी बहू और हरीश की मां, दोनों विधवाओं के कलेजे में तीर की तरह यह बात चुभ जाती। दिन भर में कई बार ऐसे ही विष भरे शब्द घर के वातावरण में गूंज उठते। इन विषाक्त शब्दों से कभी भी मुक्ति नहीं थी। जब सब कुछ असह्य हो उठता, तो पानी की गागर उठाकर बड़ी बहू डिग्गी की ओर चल देती। हरीश की मां का बड़ा मन होता कि कहीं एकांत में वह उससे बातें करे और मौका मिलने पर अन्य दोनों बहुओं की दृष्टि बचाकर वह भी उसके पीछे-पीछे चली आती।

बड़ी बहू धीरज बंधाने के स्वर में कहती, "बहन, दिल छोटा नहीं करते। दुख-सुख तो रात-दिन की तरह ही रहते हैं। भगवान करे, भुवन चार पैसे कमाने लायक हो जाए। मैं तुझे उसके साथ भेज दूंगी। हरीश भी पढ़-लिख कर आदमी बन जाएगा।"

भुवन बड़ी बहू का इकलौता बेटा है—स्वर्गीय पति की एकमात्र विरासत। वह अपने बड़े चाचा के साथ रहकर शहर में पढ़ रहा था।

दोनों बहुएं मन का बोझ हल्का कर पानी की गागर लिए घर लौट आतीं।

नौकरी से छुट्टियों में कुछ दिन के लिए रामदत्त घर आया हुआ था। एक दिन अचानक किसी बात को लेकर घर में कलह हो गई। सदा के शिष्ट, सभ्य रामदत्त ने उस दिन तमककर पिता से कह दिया, "बाबूजी, आप कहें तो मैं कैलाश को भी चिट्ठी भेजकर बुला लूं और इस बात का फैसला हो जाए कि अगर इन लोगों से मिल-जुलकर नहीं रहा जाता तो

अलग-अलग क्यों नहीं हो जाते हैं! भुवन को मैं पढ़ा ही रहा हूं। अपनी ओर से जितना हो सकेगा, मैं भाभी को मदद कर दूंगा और हरीश की मां की जिम्मेवारी कैलाश ले ले।"

हरिदत्त को आज तक जिस बात की आशंका थी, अंत में वही सामने आ खड़ी हुई। परंतु रामदत्त के मुंह से यह सुनने को मिलेगा, ऐसी आशा उन्हें नहीं थी। असंयत स्वर में वह बोले, "रामी! जिस दिन मैं मर जाऊंगा, उस दिन तुम पहले बंटवारा करना फिर मेरी अर्थी उठाना। जब तक मैं जिंदा हूं, कभी ऐसी बात इस घर में नहीं उठेगी। हमारे खानदान में आज तक ऐसा नहीं हुआ है।" क्रोध और दुख के कारण उनका शरीर कांपने लगा था और आंखें भर आई थीं।

वास्तव में जब तक हरिदत्तजी जीवित रहे, फिर ऐसी बात घर में नहीं उठी, पर एक दिन अचानक जब उनकी मृत्यु हो गई, तो परिवार धीरे-धीरे छंटने लगा। पिता की मृत्यु के पश्चात कामकाज पर लौटते समय रामदत्त अपने बाल्-बच्चों को अपने साथ ले गया। कैलाश ने भी कुछ दिनों के बाद छोटी को बुलवा लिया। एक मात्र नन्हे हरीश को लेकर दोनों विधवाएं उस कोलाहलहीन घर में शेष रह गईं। प्रतिमास कैलाश अथवा रामदत्त की ओर से जो थोड़ी-बहुत सहायता मिल जाती, उसके अलावा घर की खेती-बाड़ी ही उनके जीवन-यापन का साधन थी। कभी-कभी भुवन का पत्र आ जाता। हर प्रकार से मां को धीरज बंधाने के बाद वह लिखता कि उसे जल्दी ही कहीं नौकरी मिल जाएगी। कई महीनों तक यह क्रम चलता रहा।

एक दिन भुवन का पत्र पहुंचा कि वह वायु सेना में भर्ती हो गया है, अवसर मिलने पर मां-चाची दोनों को अपने साथ ले जाएगा। सैनिक जीवन की बातें सोचते हुए बड़ी बहू का मन चिंतित हो उठा। देवर के प्रति आक्रोश हो आया कि भुवन के लिए उन्होंने कहीं और कोशिश न कर उसे सेना में भेज दिया है। परंतु दूसरे ही दिन रामदत्त का पत्र आ पहुंचा। उन्होंने लिखा था, "भुवन की इस विभाग में जाने की बड़ी इच्छा थी। चिंता करने की कोई बात नहीं है। अच्छी और सुरक्षित जगह उसे मिली है।" इससे बड़ी बहू का मन कुछ हल्का हो गया।

किन्हीं कारणों से भुवन मां-चाची को अपने साथ नहीं ले जा पाया। पर अब प्रतिमास वह उन्हें खर्च भेज देता था। रामदत्त और कैलाश की ओर से सहायता मिलनी बंद हो गई थी। धीरे-धीरे पत्र-व्यवहार भी कम हो गया। बड़ी बहू चार पत्र लिखती, तो उनकी ओर से दो-तीन महीने बाद एक पत्र आता। समय अपनी गति से चलता रहा।

पारिवारिक जीवन की इस शिथिल गति में सहसा एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। भुवन का पत्र आया कि उसे पाइलट आफीसर के पद के लिए चुन लिया गया है। बड़े उत्साह से उसने पत्र लिखा था। पत्र के शब्द-शब्द से उसकी प्रसन्नता झलकी पड़ती थी। बड़े विस्तार से उसने लिखा था कि कुछ ही महीनों की ट्रेनिंग के बाद उसे पांच सौ रुपए से भी अधिक वेतन मिलने लगेगा। अपने उज्ज्वल भविष्य का जैसा चित्रण भुवन ने किया था, वह अद्भुत था। बड़ी बहू को लगा, जैसे वह कोई स्वप्न देख रही हो। इतने बड़े सुख की उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, इसी कारण आज उसका भार उन्हें असह्य प्रतीत होने लगा। बार-बार उनकी आंखें भर आतीं। नन्हे हरीश और उसकी मां की प्रसन्नता की कोई सीमा ही नहीं थी। कुछ ही क्षणों में गांव भर में यह खबर फैल गई कि भुवन बड़ा अफसर बन गया है। जिसने भी सुना, वही बड़ी बहू को बधाई देने के लिए चला आया।

दो दिन बाद दो अलग-अलग स्थानों से रामदत्त और कैलाश की बहू के पत्र आ

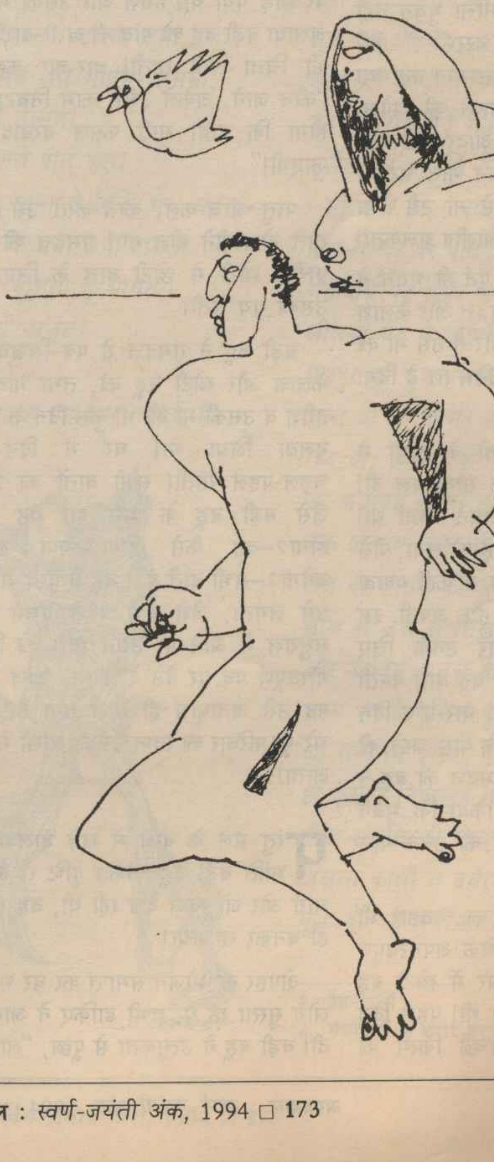

रेखांकन: राजेंद्र गायकवाड़

पहुंचे। छोटी बहू की ओर से उन्हें इससे पूर्व कभी पत्र नहीं मिला था। दो-चार पत्रों के उत्तर में कभी एक-आध पत्र आ भी जाता, तो वह कैलाश की ओर से लिखा हुआ होता था। दोनों ही पत्रों में भुवन की पदोन्नति पर असीम प्रसन्नता प्रकट की गई थी।

बड़ी बहू मेले के बीच में खड़े हुए बच्चे की भांति चकित दृष्टि से सब कुछ देखती-सुनती रही। अब भी जैसे उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि भुवन उनके समाज का एक असामान्य व्यक्ति बन गया है।

कुछ दिनों बाद छुट्टियों में भुवन गांव लौटा। वह भरा-पूरा जवान हो गया था। उसकी बातें सुनकर मां को लगता कि वह कल का शर्मीला भुवन नहीं कोई और है! भुवन के कारण ही जैसे गांव-पड़ोस में बड़ी बहू का सम्मान बढ़ गया था। लोग उसके सम्मुख पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विनम्रता और आदर दिखलाते। हरीश की अंगुली थामे भुवन गांव भर का चक्कर लगा आता। स्नेह से मां उसे देखा करती, चाची की आंखों से आशीष झलकता।

छुट्टियां समाप्त होने से पूर्व ही भुवन ने जाने की तैयारी कर ली। रामदत्त और कैलाश दोनों ने ही अपनी-अपनी ओर से उसे मां को लेकर अपने पास आने का निमंत्रण दे दिया था।

घर का कारबार देवरानी के हाथों में सौंपकर बड़ी बहू भुवन के साथ चल दी। रामदत्त स्टेशन पर उन्हें लिवाने आया था। देवर के घर पहुंचकर बड़ी बहू को लगा, जैसे रामदत्त की पत्नी को भुवन से कहीं ज्यादा स्वयं उनकी प्रतीक्षा रही हो। अपनी इस देवरानी का ऐसा व्यवहार उनके लिए आश्चर्य की वस्तु बन गया। वह बातें करती तो जैसे मुंह से फूल झड़ते। चार-पांच दिन वहां रुककर भुवन कैलाश के पास जाने की तैयारियां करने लगा, तो रामदत्त की बहू ने इस बात का बड़ा आग्रह किया कि भुवन नौकरी पर जाने से पूर्व मां को उनके पास छोड़ जाए।

कैलाश और छोटी बहू का व्यवहार भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अपनत्वपूर्ण था। जेठानी के सेवा-सत्कार में छोटी बहू दिल खोलकर खर्च कर रही थी। पहले दिन ही बाजार से दो-चार अच्छी किस्म की साड़ियां लाकर 'छोटी' ने कहा, "जीजी, अब तो आप बड़े अफसर की मां हो गई हैं। ऐसी मोटी धोतियां ही पहनी रहेंगी, तो लोग हंसी नहीं करेंगे?"

बड़ी बहू ने स्नेह से छोटी की ओर देखा और कहा, "तुम्हारा ही बेटा है, बहू! तुम लोग अपना शौक पूरा करो! अब क्या मेरे पहनने-ओढ़ने के दिन हैं।" कहते हुए उसकी आंखें भर आई थीं।

भुवन की छुट्टियां समाप्त होने को आ गई थीं। छोटी बहू का आग्रह भी जेठानी को अपने पास रोक लेने का था। परंतु शीघ्र ही दुबारा आने का वचन देकर वह भुवन के साथ लौट गई।

लौटती बार भुवन मां को रामदत्त के घर पर छोड़ गया था। हरीश और उसकी मां के अलावा बड़ी बहू को गांव की खेती-बाड़ी की भी चिंता लगी रहती। बार-बार कहती, "कौन जाने, अकेले उससे काम निबटा भी होगा कि नहीं। सारी फसल बरबाद हो जाएगी।"

परंतु आज-कल, करते-करते उसे वहां रहते दो महीने बीत गए। रामदत्त की बहू प्रत्येक छोटी से छोटी बात के लिए भी उसकी राय लेती।

बड़ी बहू ने रामदत्त से पत्र लिखवाकर कैलाश और छोटी बहू को, तथा गांव से हरीश व उसकी मां को भी कुछ दिन के लिए बुलवा लिया था। घर में दिन-रात चहल-पहल रहती। सभी बातों का उत्तर जैसे बड़ी बहू के पास हो। यह कैसे होगा?—वह कैसे होगा?—क्या खाना बनेगा?—सभी बातें बड़ी बहू से पूछी जातीं। उसे लगता, जैसे वर्षों पहले प्रथम बार ससुराल में आने पर उसने सास को जिस गौरवपूर्ण पद पर बैठे देखा था, आज वही पद उसे अनायास ही मिल गया है। एक भरे-पूरे परिवार का स्वप्न उसकी आंखों में तैर जाता।

परंतु मेले के बीच में खड़े बालक की भांति बड़ी बहू चकित दृष्टि से अपने चारों ओर जो स्वप्न देख रही थी, वह स्वप्न ही बनकर रह गया!

दोपहर का भोजन समाप्त कर घर भर के लोग सुस्ता रहे थे, तभी डाकिए ने आवाज दी। बड़ी बहू ने उत्सुकता से पूछा, "लाला! देखो तो भुवन की तो कोई चिट्ठी नहीं आई। कितने दिनों से अपनी कुशल उसने नहीं भेजी।"

"ट्रेनिंग के काम में फंसा होगा, जीजी! वरना वह ऐसा नहीं। हमें तो हर हफ्ते एक चिट्ठी भेज देता है", छोटी बहू ने उसे खुश करने की नीयत से कहा।

भुवन की ही चिट्ठी थी। पर रामदत्त ऊंचे स्वर में पढ़कर नहीं सुना पाए।

"कुछ समझ में नहीं आता!" केवल इतना ही उनके कंठ से निकला और वह फिर चिंता में डूब गए।

सभी का हृदय किसी भयंकर घटना की आशंका से धड़कने लगा। पर कब तक मौन रहा जा सकता था। भुवन ने लिखा था—"छुट्टियों से लौटने के कुछ दिन बाद ही मैं एक कार एक्सीडेंट से घायल हो गया था। हाथ में चोट अधिक आ गई थी। कल प्लास्टर खुला है। अब ठीक हूं। लेकिन हाथ की कमजोरी के कारण शायद सेना के योग्य नहीं रहूंगा।"

बड़ी बहू ने आंखें पोंछ, आंचल का कोर माथे से लगाकर, धीमे स्वर में कहा, "मेरे भुवन की जान बच गई। यह बहुत है, भगवान!" और दोनों हाथ जोड़कर जैसे उसने मन ही मन भगवान को नमस्कार किया।

पर बड़ी बहू का-सा ही मन लेकर तो सभी पैदा नहीं हुए हैं। तभी तो न जाने कैसे स्वर में रामदत्त की बहू ने पूछा था, "अस्पताल से छूटकर कहां जाने की बात उसने लिखी है?"

इसके बाद से फिर घरेलू काम-काज की बातों में बड़ी बहू से किसी ने कोई राय नहीं ली। कैलाश और छोटी बहू का आग्रह हमेशा उन्हें अपने साथ ले जाने का रहता था। परंतु इस बार जब बड़ी बहू ने वापस गांव जाने की बात कही, तो किसी ने उनकी बात पर आपत्ति नहीं की।

अपना सामान सम्हालते हुए, बड़ी बहू को हरीश की मां को साथ चलने की तैयारी करने के लिए नहीं कहना पड़ा। वह स्वयं जैसे जानती हो कि उन दोनों का पथ एक ही है। ❑

—मार्च, 1959

कविता

●

शाम के पिघलते मेघ

मदन वात्स्यायन

फूटता है गगन का ज्वालामुखी;
गलीं, जमतीं, धातुएं हैं फूटतीं।
विपुल धूमिल श्वास, रोहित, पित्त, स्वर—
वमन करता....वमन करता आग।
लहरों पर लहर
काटता उन धातुओं के वक्ष पर
सूर्य-पोत गया। वृहत्तर पृथुलतर
मध्य नभ तक उठ रहीं ढेहें[1]
'तरल' ढेहों से भरे नभ भर कहीं
पृथुल सीताएं सु-वर्ण सटीं सटीं।
धंस रहे हैं गर्म पिघली धातु में
खंड लोहों के तमिस्र बड़े-बड़े।
भोजनों पर रजत के सेंवार में
ललचते हैं प्लैटिनम के चोंइटे[2]।
किसी बर्बर चित्र-कर ने क्रोध से
वेग में उन्माद के, दुर्बोध से—
विकट रूपों से दिया भर आसमां
उलट तीखे रंग टेस यहां-वहां,
औ दिए धधका प्रखर अंगार-से
अग्निमय हुंकार से।
घासजाल-प्रवाल-मय फास्फोरस—
हेलती हैं भीम ह्वेलें रंग-नभ।
रक्त-रोहित शार्क।
पीली है घटा,
ज्यों बुभुक्षित बाघ की स्फारित जटा
रोर-मय। हरिताक्त-पीत तरल
मेघ के दो वृत्त उट्ठे जल।
उधड़ जिनके गए सौ-सौ तार खर,
ताजियाने हट रहे नभ-कोर पर।
तड़ित और प्रदाह से लड़कर मरे
मरुत् औ' मार्त्तंड रोहित-भूमि में।
खुबानी से अश्व, गज-शव तामड़े
भूनते हैं भूत।....भूरे भेड़िए
लपकते हैं।.....स्रवित शोणित लाल हैं
शत सहज खिड़कियां क्या हैं, ज्वाल हैं,
—आंख दुखती है।
घन-पटल पर खंड-घन उत्कट प्रभा
—रात पर ठिठकी हुई विद्युल्लता।
मंजे लोहे, दीप्त पीतल-से, बड़े—
ड्रैगनों के रूप से चित्रित हरे,
तहों पर तहें मखमली पर्दे बंधे
व्योम के विस्तार पर हैं लटकते;
रंगमंच विराटतम का-सा समां,
बल रहा सब ओर भीषण आसमां,
—सबल है ऐलान।
जलते पोत शत।
भयावह दुःस्वप्न में निशि भर, महत्—
वह्नि-गह्वर में अनंत, न जागता
भागता हूं भागता हूं भागता।
क्रुद्ध दुर्वासे गरजते।
यम-भुजा—
सी स्लेटी छांह यह नभ नापती है।

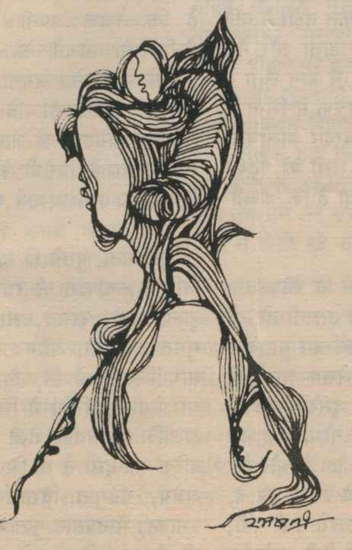

चीखते सब ओर खग बिखरे हुए,
आशियाने लाख वन में जल रहे।
गेह पर गिरते पड़े-से आ रहे,
लीलने को भूमि को नियरा रहे,
'क्लोज अप' में वदन को विस्तारते
खून झरते सतालू-से गिद्ध।
सांवली-पीताभ-लाल प्रभा
ज्वाल-जिह्वाएं क्षितिज से आ
चाटती हैं शशि और शुक्र के कोने।
क्षितिज पर है जमा 'काला' खून।
राख में शोले यहां-वां बुझ रहे।
बैंगनी-नीलाभ लंबा एक घन,
धौत स्लेटी गगन पर रुचिराभ-तन—
झुक गए थे श्वेत, झड़ की पगड़ी से लगे,
श्मश्रु लौ से दीप्त, मौन नमाज में;
उठ गया था पूर्व मीलित-नयन
धूर्जटी का समाधि-स्थिर वदन;—
—सो गया है।....चांद जलता है।
हिम-शिखर पर पांव धरती हो!
महोदधि का स्फार भरती हो!
लीलया मरु में विहारी हो!
यंत्रपुर को मुक्त करती हो!
जला दो ओ शाम! जग की श्वेतिमा!
रांज दो, आबाद कर दो शून्यिमा!
जो भयावह कुशलता से बढ़ रहे
फूंक दो उन क्रिस्टलों में प्राणिमा!
तेज दो संताप को अपना जरा,
लील ले जल से शिखर तक सब धरा,
और आदिम अनल के संघात से
भस्म कर दे गलित पृथ्वी की जरा!
ओ सनातन प्रलय, पावक! निर्जरा!
हो कुमारी निष्कलुष फिर यह धरा!—
दीप्त संतति की विचंचल पीठिका।
अक्षता काली व बर्बर उर्वरा!
फूंक दो यह सूर्य खर ओ ज्वाल! ❑

1. **ढेह—ऊर्मि**
2. **मछलियों के शरीर पर के 'स्केल्स'** (Scales)

—जनवरी, *1962*

लेख

अच्छी कहानी या नई कहानी?

उपेंद्रनाथ अश्क

पिछले कुछ वर्षों से पत्र-पत्रिकाओं में नई और अच्छी कहानी के संबंध में इतनी परस्पर विरोधी चर्चाएं छपी हैं कि साधारण पाठक तो दूर, साधारण लेखक का भी कनफ्यूज हो जाना सहज है। इन चर्चाओं को पढ़कर अच्छी या नई कहानी के संबंध में कोई निश्चित मत बना लेना असंभव ही है। किसी जमाने में डा. रामविलास शर्मा ने साहित्य की उपादेयता को लेकर बड़े धुआंधार लेख लिखे थे। मैं उन दिनों पंचगनी के सेनिटोरियम में था। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन लेखों का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा था कि नाटक या कहानी के जो भी आधारभूत विचार मेरे दिमाग में आते थे, वे एकदम पोच, असामाजिक और अनुपादेय लगते थे। यदि मैं निरंतर सोच-विचार के बाद, बरबस उन लेखों के कुप्रभाव से अपने आप को मुक्त न कर लेता तो शायद कुछ भी न लिख पाता। यदि कोई आलोचक कनफ्यूज्ड है, बददयानत है, पक्षपात रखता है, लेकिन उन सबके साथ उसकी शैली सशक्त है (जैसे कि डा. रामविलास शर्मा या डा. नामवर सिंह की है) तो उसके लिए पाठकों को ही नहीं, लेखकों और आलोचकों (विशेषकर नए तथा कच्चे लेखकों और आलोचकों) को उलझा देना मुश्किल नहीं। मैं यदि गत पैंतीस-छत्तीस वर्ष से साहित्य का पाठक न होता और मैंने देश-विदेश की उत्कृष्ट कहानियां न पढ़ी होतीं तो मैं मान लेता हूं कि मेरा हश्र भी साधारण पाठक, लेखक या आलोचक से भिन्न न होता। नए कहानीकारों के इस या उस ग्रुप के झंडाबरदार आलोचकों के परस्पर विरोधी ही नहीं, कई बार आत्मविरोधी लेखों को पढ़कर इस बात का निश्चय तक कर पाना कठिन हो जाता है कि 'अच्छी' या 'नई' कहानी कौन-सी है?

कई बार ऐसा होता है कि लेखक अपनी सोचने की लीक बना लेता है और यदि कोई रचना उस लीक पर पूरी नहीं उतरती तो उसे वह अच्छी नहीं लगती (लेखक के साथ ही नहीं, कई बार यह बात आलोचक और पाठक के साथ भी होती है)। ऐसा लेखक अपनी ही शैली को सर्वोत्कृष्ट समझता है, उसके लिए किसी दूसरे लेखक की रचना को सराह पाना प्रायः कठिन-सा हो जाता है। सौभाग्य से मेरा संबंध आज के पुराने और नए कथाकारों से घनिष्ठ रहा है और मैंने देखा कि पत्रिकाओं में चाहे एक कथाकार दूसरे की प्रशंसा कर दे, पर व्यक्तिगत रूप से वह कम ही करता है। नए कथाकारों में ही नहीं, मैंने पुराने कथाकारों में भी ऐसा होते देखा है। मैं ऐसी मनोवृत्ति को कभी नहीं समझ सका। किसी लेखक की एक रचना पसंद न आए, यह बात समझ में आती है, लेकिन उसकी सभी रचनाएं 'कूड़ा' लगें या वह लेखक एकदम 'चिरकुट' लगे (ये दो शब्द मैं प्रायः अच्छे कथाकारों के बारे में अच्छे कथाकारों के मुंह से सुनता रहता हूं) यह बात समझ में नहीं आती। इस मनोवृत्ति का कारण यही लगता है कि लेखक अपनी शैली तथा सोचने के ढंग को अपने मित्र अथवा विरोधी में पाना चाहता है, और न पाकर असंतुष्ट हो जाता है। यदि लेखक अपने पक्ष का है तो पत्र-पत्रिकाओं में उसकी सराहना की जाती है, पर अंतरंग गोष्ठिया में उसे बराबर खींचा जाता है। विरोधी लेखक के संबंध में, चूंकि कोई ऐसा संकोच नहीं होता, इसलिए उसे खुलकर लताड़ा जाता है।

उपेंद्रनाथ अश्क

मुझे सदा, पुराने हों या नए, विभिन्न शैलियों में लिखने वाले, विभिन्न कथाकारों की रचनाएं पसंद आती रही हैं। उर्दू लेखकों में कृश्न, बेदी, इस्मत, मंटो, अहमद अब्बास, गुलाम अब्बास, मुमताज मुफ्ती, अहमद नदीम कासिमी, बलवंत सिंह मेरे साथ-साथ लिखते रहे हैं। याद मात्र से इन लेखकों की दो-दो, चार-चार ऐसी कहानियां मैं गिनवा सकता हूं जो मुझे अच्छी लगी हैं। हालांकि इन सबकी शैली न केवल मेरी लेखन शैली से भिन्न है, बल्कि एक-दूसरे से भी भिन्न हैं। हिंदी में जैनेंद्र, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, यशपाल, कमला चौधरी, विष्णु प्रभाकर, भैरवप्रसाद गुप्त मेरे साथ लिखते रहे हैं और इनमें से हरेक की कुछ कहानियां मुझे अत्यंत प्रिय हैं। नाम किसी कहानी का

चाहे भूल जाऊं, लेकिन उनके कथाकारों में लगभग सभी को मैंने पढ़ा है और राकेश, यादव, हरिशंकर परसाई, मार्कंडेय, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, केशवप्रसाद मिश्र, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, अमरकांत, शेखर जोशी, ठाकुर प्रसाद सिंह और विजय चौहान—कम से कम 10-12 ऐसे लेखकों की एक न एक ऐसी कहानी मैं गिना सकता हूं जो मुझे बहुत अच्छी लगी है।

जब मैं आलोचकों के लेख पढ़ता हूं और उन्हें इस या उस कहानी लेखक की प्रशंसा और उस या इसकी घोर निंदा करते पाता हूं तो समझ में नहीं आता कि मेरी समझ का कुसूर है अथवा आलोचक का। कई बार तो ऐसा होता है कि आलोचक अपने मित्र लेखक की कहानी की प्रशंसा में जिन गुणों का बखान करता है, वे विरोधी पक्ष के लेखक की उस कहानी में ज्यादा होते हैं, जिसकी वह निंदा करता है। और आलोचक मुझे क्षमा करें, इस कारण मन में बड़ी वितृष्णा होती है और मुझे किसी पश्चिमी लेखक का यह कथन आंशिक रूप से सत्य दिखाई देने लगता है कि लेखक लिखते हैं और आलोचक (दलालों की तरह) उनके लेखन पर जीते हैं। लेखक से इस बात की आशा की जाती है कि वह जिस चीज के बारे में लिखता है, उसे अच्छी तरह जानता हो, क्या आलोचक से ऐसी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए? आलोचना—प्रसिद्ध आलोचक लीविस के शब्दों में—सत्य तक (सच्चे निर्णय तक) पहुंचने की साझी खोज होनी चाहिए, न कि सत्य के मार्ग की साझी बाधा अथवा धांधली।

तब प्रश्न उठता है कि क्या अच्छी या नई कहानी की कसौटी खोजना गलत है। और क्या अच्छी अथवा नई कहानी-संबंधी चर्चाएं सर्वथा निरर्थक, अनुपादेय और निर्मूल्य हैं। बात ऐसी नहीं। आलोचक यदि यह जानने की कोशिश करें कि जो कहानियां 50-100 साल के बाद भी जिंदा रह गईं या आलोचकों की अवमानना के बावजूद लोकप्रिय हुईं, उनमें क्या अच्छापन या नयापन है, तो शायद वे ठीक कसौटी ढूंढकर दूसरों का मार्ग प्रशस्त कर सकें। यह खोज उपादेय हो सकती है और ठोस परिणामों पर पहुंचा सकती है। सफल, लोकप्रिय कहानियों को कज-बहसी के बल पर असफल करार देने और असफल कहानियों के भाव-बोध, बिंबों और आयामों का ढिंढोरा पीटने से किसी नतीजे पर नहीं पहुंचा जा सकता। फिर यदि कोई आलोचक किसी त्रुटिपूर्ण कहानी की निंदा करता है तो यदि वह उसे ध्वंस करने के बदले उसे बेहतर बनाने के ऐसे संकेत भी सुझाता है जो कहानी को बेहतर बनाते हुए लेखक का रास्ता सुगम करें तो अच्छा हो। यह सब तभी हो सकता है, जब आलोचक स्वयं चाहे अच्छी कहानी न लिख सके, लेकिन अच्छी कहानी को भली-भांति समझता हो। नामवर जी ने अपने किसी लेख में यह लिखा है कि पुरानी और अच्छी—ये तो परस्पर विरोधी शब्द हैं। 'पुरानी कहानी अच्छी हो ही नहीं सकती।' इसका मतलब यह हुआ कि नई कहानी अच्छी ही होगी। मेरी समझ में यह बात नहीं आती। पचासों ऐसी कहानियां हैं जो पुरानी हैं और शायद रहती दुनिया तक अच्छी कहाएंगी। पचासों ऐसी कहानियां लिखी जाएंगी जिनकी शैली पुरानी ही होगी, लेकिन वे उन गुणों के कारण, जो कि अच्छी कहानी में होने चाहिएं, अच्छी कहाएंगी, चाहे नामवर जी या उनकी तरह के दूसरे आलोचक भी उन्हें कूड़ा ही समझते रहें। इसी तरह कई ऐसी कहानियां नई होने के बावजूद और उनके द्वारा अच्छी घोषित किए जाने के बावजूद असफल रह जाएंगी और ऐसी नई कहानियां भी होंगी जिन्हें आलोचकों के द्वारा मान्यता न मिलेगी, लेकिन वे अच्छी कहाएंगी। यही नहीं, पुराने लेखक नई शैलियों से प्रभावित होकर नई कहानियां लिखेंगे और दोनों में कुछ कहानियां अच्छी समझी जाएंगी। 'नया' शब्द केवल 'नए' लेखक के लिए ही हो, ऐसा मैं नहीं मानता। कहानी पिछले 300 वर्षों से लिखी जा रही है और आज भी एक नया लेखक नई वस्तु को दो सदी, पुरानी शैली में लिखकर नई बात कह सकता है। यदि हम पुराने और नए कहानीकारों की उन कहानियों को एक साथ पढ़ें जो अच्छी साबित हो चुकी हैं और उनके गुणों को परखें तो हम अच्छी कहानी की कुछ खूबियों का पता लगा सकते हैं। शर्त सिर्फ यही है कि पाठक या आलोचक अपने पूर्वग्रहों से मुक्त होकर लेखक की शैली, उसकी बैक-ग्राउंड, उसकी सोच की धारा को ध्यान में रखते हुए, उसे पढ़ें। तब वे निश्चित रूप से उनमें रस भी पाएंगे और अच्छापन भी।

फिर प्रश्न उठता है कि क्या अच्छी कहानी का कोई एक मानदंड नहीं है। मैं समझता हूं कि वह मानदंड भी अच्छी कहानियों को एक साथ पढ़ने पर उन गुणों का उल्लेख करके ही पाया जा सकता है जो उन सब में समान रूप से विद्यमान हैं। एक वाक्य में कहें तो वस्तु, शिल्प और अभिव्यक्ति—इन तीनों का समावेश जिस भी रचना में (वह पुरानी हो या नई) उत्तम और सफल रूप से हुआ है, वह कहानी अच्छी उतरी है और जहां यह नहीं हो सका, वहां असफल रह गई है और तमाम शोर-शराबे के बावजूद असफल रह जाएगी।

यदि हम प्रेमचंद की आदर्शवादी अथवा आदर्श-यथार्थवादी कहानियों को लें और बीच के सभी उर्दू-हिंदी लेखकों को भूलकर—आज के लेखकों की कहानियों को पढ़ें तो हमें कहानी का रूप ही नहीं, वस्तु और शिल्प—सब कुछ बदला दिखाई देगा और हमें कहानी एकदम नई और विकसित दिखाई देगी। उदाहरण के लिए यदि हम प्रेमचंद की कहानियों को पढ़ने के बाद एकदम राजेंद्र यादव, मार्कंडेय, राम कुमार, निर्मल वर्मा, नरेश मेहता या और भी नए लेखकों, मसलन—श्रीकांत वर्मा, अवधनारायण सिंह अथवा विजय चौहान की कहानियों को लें तो हमें सब कुछ नया लगेगा—इस नएपन को झुटलाना वैसे ही गलत है, जैसे यह कहना कि ये नए लेखक एकदम किसी अजान आशा से ये तारे तोड़ लाए हैं अथवा पुराने लेखक कूड़ा लिख रहे हैं। इस विकास क्रम को जानने के लिए हमें बीच के उर्दू-हिंदी लेखकों की कहानियों को भी पढ़ना होगा। और तब हमें उन रास्तों, मोड़ों और आयामों का पता चल जाएगा जहां से होती हुई कहानी इस मंजिल पर पहुंची है।

नई कहानी की संभावनाएं बड़ी हैं, लेकिन सब नई कहानियां अच्छी हैं अथवा सभी नए लेखक अच्छी ही कहानियां लिखते हैं, यह कहना मुश्किल है। उसके लिए हमें इन नई कहानियों को 'अच्छी' की तुला पर तोलना होगा और कुछ समय प्रतीक्षा करनी होगी। समय के व्यवधान को पार कर, जो कहानी अपनी नई वस्तु, नए शिल्प अथवा पुरानी वस्तु को देखने के नए कोण, अभिव्यक्ति के नएपन, दृष्टि को गहराई और बदलते मूल्यों के प्रतिपादन के कारण जिंदा रह जाएगी, वह 'अच्छी' कहाएगी। ❑

—मई, 1962

संस्मरण

फूलों की तलाश और दस्तकें देते हुए यशपाल

कमलेश्वर

समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी से उन दिनों मेरा थोड़ा-बहुत संबंध था। यह वह वक्त था, जबकि क्रांतिकारी पार्टी लगभग बिखर चुकी थी और योगेश चटर्जी के नाम के सहारे दस-बीस लोग उसमें रह गए थे, वे भी रास्ते बदलने के इंतजार में थे। उन्हीं दिनों यशपाल के बारे में दूर-दूर से कुछ ज्यादा जानने का मौका मिला। यू.पी. पार्टी के मंत्री केशव मिश्र ने एक दिन बड़ी उपेक्षा से यशपाल का नाम लेते हुए कहा था, "वो..... वो तो कम्युनिस्ट हो गया..... उसके बारे में बात करना बेकार है!"

मैंने यशपाल को देखा नहीं था, पर यशपाल की एक जहनी तसवीर मेरे सामने थी, क्योंकि उनके बारे में बहुत कुछ सुन चुका था। और उस समय के अपने धर्म के मुताबिक, यशपाल का कहानी संग्रह *पिंजरे की उड़ान* मैं उसी जगह जाकर पढ़ता था, जहां अल्फ्रेड पार्क इलाहाबाद में चंद्रशेखर आजाद शहीद हुए थे। आजाद जहां शहीद हुए थे, वहां आज तो उनकी प्रतिमा स्थापित है, पर उस समय वहां झाड़ियां ही झाड़ियां थीं। वहां जाकर मन को बड़ी शक्ति मिलती थी और जब-जब मेरे सामने अंधेरा घिरता था, मैं उसी स्थल पर पहुंचकर बैठ जाता था। यह अपरिपक्व भावुकता ही थी, पर थी.....

आजाद की उस शहादत की जगह ने ही यशपाल से मेरा पहला अप्रत्यक्ष परिचय कराया था।

समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी के ईसाई से लगने वाले चुसे हुए व्यक्तित्वों को देख-देखकर और उनके साथ उठने-बैठने पर, यशपाल का कुछ-कुछ वैसा ही स्वरूप मेरी आंखों में उभरता था..... एक फटेहाल आदमी का, सांसों में बारूद की गंध, आंखों में टूटे हुए सपने, माथे पर मुसीबतें उठाने की लकीरें, कनपटी पर लगी हुई गोली का निशान और दिमागों में भरी हुई अखबारी कतरनें.....

क्रांतिकारी पार्टी के वे लोग पिटे हुए मोहरों की तरह बिसात से नीचे पड़े थे और उन्हीं के साथ मेरा समय गुजरता था? 'जनक्रांति' के लिए मैं शहीदों की जीवनियां लिखता था और लेखक बनने का सपना संजो रहा था—इस सपने ने मुझे यशपाल से कुछ और जोड़ा.....

और यशपाल का एक बदला हुआ स्वरूप मेरे सामने उभरना शुरू हुआ। मेरे सामने इलाहाबाद में रहने वाले अलग-अलग ढब के साहित्यकारों के व्यक्तित्व आते... गप्पी, दंभी, गंभीर! लंबे कुरते पहनकर चप्पलें फड़फड़ाकर चलने वाले लेखक सामने आते। कुछ नाजुक-नाजुक-से नरम किस्म के कवि दिखाई पड़ते। कुछ खल्वाट आलोचक और कुछ मुक्त हास्य के उपासक नए लेखक... और उन्हें देख-देखकर मैं यशपाल का चेहरा-मोहरा फिर गढ़ने लगा। किसी लेखक का लंबा कुरता, किसी कवि का दुबला शरीर और किसी की लापरवाही... यह सब घुल-मिलकर यशपाल की रचना करते। और न जाने क्यों मुझे लगता था कि यशपाल मुझे शायद कभी आजाद की उस शहादत की जगह के आस-पास घूमते हुए दिखाई देंगे। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ... यह बात मेरे मन में इसीलिए आती थी कि यशपाल क्रांतिकारी दल के अंतिम कमांडर-इन-चीफ रहे थे और उनके क्रांतिकारी जीवन के बारे में ही उस समय मेरी ज्यादा रुचि थी। और आस-पास के क्रांतिकारी मुझे दिग्भ्रमित-से दिखाई देते थे।

उन दिनों के बाद यशपाल के बारे में सोचना बंद हो गया, वैचारिक स्तर पर उनकी कृतियों से पहचान हुई और एक दिन जब मैं लखनऊ गया तो यशपाल के घर भी पहुंचा। सुबह के आठ या साढ़े आठ होंगे... यशपाल को अभी देखा नहीं था और मैं किसी लापरवाह-से प्रौढ़ के निकलकर आने की प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे उम्मीद थी कि कोई लस्टम-पस्टम-सा व्यक्ति अभी सामने आएगा, उसके चेहरे पर मुझे देखते ही एक बनावटी गंभीरता आ जाएगी, फिर वह कमरे में पहुंचकर धीरे-धीरे खुलेगा और कुछ साहित्यकारों के बारे में अपनी राय जाहिर करेगा और अपने बड़प्पन का सिक्का जमाने की कोशिश में अपनी रचनाओं की बात करेगा।

लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। दो-चार क्षणों में ही मुझे यह अहसास हो गया कि मैं किसी लेखक के घर के बरामदे में नहीं, सरकारी अफसर के घर पर खड़ा हूं। मैंने एक बार घंटी और बजाई कि किसी के आने की आहट हुई। वह प्रकाशवती जी थीं और उन्होंने औपचारिक परिचय के बाद मुझे ड्राइंग रूम में बैठा दिया।

और चाय के साथ-साथ यशपाल से कुछ संक्षिप्त-सी बातें हुईं। लेकिन उनके बात करने के ढंग में बड़ा उखड़ापन-सा लग रहा था और एक उतावलापन रह-रहकर उभर आता था। मुझे इस बात से कुछ परेशानी हो रही थी... मैंने दो-तीन बार गौर से यशपाल को देखा—उनमें मुझे कुछ भी खास नजर नहीं आ रहा था... न वह क्रांतिकारी लग रहे थे और न साहित्यकार। बीच में ही प्रकाशवती जी से उन्होंने किसी मशीन की तबीयत का हाल पूछा था।

मैं उनके रेगमाल से खुरदरे चेहरे और फटी-फटी सी-आवाज और बातों के बारे में सुलझा हुआ स्वभाव महसूस कर ही रहा था कि उनकी नजर मुझे वक्त देखती-सी लगी।

मैंने चारों तरफ नजर घुमाई, कहीं मुझे घड़ी नहीं दिखाई दी। पर कुछ ही क्षणों में मुझे लगने लगा कि उस घर में हर जगह घड़ियों की टिक-टिक की एक आवाज है और चारों तरफ आत्माएं भटक रही हैं.....

और विचारों की अदृश्य भटकती आत्माओं के उस घर में मुझे हर चीज अनहोनी-सी लगने लगी... क्योंकि हम ऐसे यथार्थ घरों

के आदी थे, जहां रहकर हमें विचार मिलते थे, पर यशपाल विचारों के घर में रहते थे, जहां वह उन्हें यथार्थ का जामा पहनाते थे।

चारों तरफ मुझे ठोस-ठोस-सा नजर आ रहा था। खूब ठोस पत्थर और सीमेंट का घर। ठोस आवाज और ठोस विचार..... यह नया ही अनुभव था क्योंकि कोई हलका विचार, कोई गप्प, कोई बेमानी कहकहा, कोई अनुचित बात और कोई व्यर्थ जिज्ञासा वहां नहीं उभरी। नई कहानी और कहानीकारों पर कुछ मतलब की बातें हुईं और पांच मिनट बाद ही यशपाल तैयार होकर लौट आए। जूते और मोजे पहने हुए, टाई लगी हुई—जैसे वह कहीं जाने के लिए तत्पर हों। मैंने विदा ली तो पूछा, "आप भी कहीं चल रहे हैं क्या?"

"नहीं, आप दोपहर में मेरे साथ खाना खाइए, फिर शाम को मुख्यमंत्री संपूर्णानंद की कोठी पर कविसभा है, वहां चलिए और वहां से लौटकर हम लोग काफी हाउस चलेंगे।... ठीक है न!" मैंने 'हां' कहा और देखा कि यशपाल अपनी लिखने की मेज पर जा रहे हैं। इतना ही नहीं, वह लिखना शुरू कर चुके हैं.....

शाम को हम संपूर्णानंद की कोठी पर कविगोष्ठी में गए तो यशपाल ने कहा—"जब भी संपूर्णानंद कोई कवित्त-सवैया लिख लेते हैं, तभी गोष्ठी हो जाती है...!" और वहां पहुंचकर बनारस के दूसरे और तीसरे स्तर के लेखकों-कवियों का जमघट देखकर मन कुछ उखड़ गया... यशपाल के चेहरे पर भी रह-रहकर परेशानी छा जाती थी और लग रहा था कि वह अपने को ठीक से फिट नहीं कर पा रहे थे।

जैसे लेखकों और कवियों का जमघट वहां था, और जिस तरह वे झूठी मुस्कुराहटों और ओढ़ी हुई नम्रता से पेश आ रहे थे, उसमें यशपाल का दम घुट रहा था। धीरे से यशपाल ने कहा, "यह है सरकारी प्रश्रय का रूप...!" और वह आधी गोष्ठी से ही ऊबकर उठ आए थे। रास्ते में बोले थे, "अरे साहब, न कोई सोचने की बात, न मनन करने लायक कोई कविता, न...!" और मुझे लगा कि यह व्यक्ति विचारों के बिना नहीं जी सकता... यशपाल को हर वक्त संपूर्णता से जीने के लिए विचारों का एक अटूट सिलसिला चाहिए।

और इसीलिए यशपाल ने कभी भी इतने वर्षों की अवधि में किसी को यह महसूस नहीं होने दिया कि उनके पास कहने के लिए कुछ नया नहीं है, या कि नया और अपना दृष्टिकोण नहीं है।

इतना ही नहीं, यशपाल ने आज तक कभी यह शिकायत नहीं की है कि उनके पास लिखने के लिए फिलहाल कुछ नहीं है। उनकी आंखों में जब मोतियाबिंद उतर आया तब भी जब मैंने उन्हें कहानी भेजने के लिए लिखा तो यही जवाब आया कि एक कहानी डिक्टेट करवा रहा हूं, पूरी होते ही भेजूंगा।

यशपाल के ये छोटे-छोटे खत, जिनमें हर बार ऐसी ही सूचना मिलती थी, उनकी सतत अनुशासनशीलता और सृजनशीलता के गवाह हैं...।

कमलेश्वर

यही अनुशासन और चुस्ती उनके पूरे व्यक्तित्व में है। और उनके व्यक्तित्व की यही विशेषता है कि उनकी बाहरी और भीतरी जिंदगी में कोई थोड़ा अंतर्विरोध नहीं है। जितना स्वाभिमान ऊपर है, इतना ही नीचे है, जितना विश्वास ऊपर है, उतना ही भीतर है... उसमें कोई अहम्मन्यता, दंभ या झूठी नम्रता नहीं है। वहां जो कुछ है, जीवंत है, जिंदगी से जुड़ा हुआ है। यशपाल को, कम से कम मैंने, कभी अतीत की बात करते नहीं सुना... उनकी आंखों में कोई टूटा हुआ सपना नहीं दिखाई दिया, उनकी बातों में कोई निराशा नहीं सुनाई दी। मुर्दा विचारों की लाशों की दुर्गंध नहीं सुंघाई दी।

यशपाल में आधुनिकता की एक सतत प्यास है और उसी ने हिंदी कहानी को आधुनिक बनाया है..... वह जीवन की सब सुख-सुविधाएं प्राप्त करके जीने के हामी हैं। जहां अपने जीवन में उन्होंने उन्हें प्राप्त किया है, वहीं दूसरों के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं से काम किया है। उन्होंने हिंदी पाठकों को मात्र रसज्ञ नहीं रहने दिया, बल्कि उन्हें अपना सहभोक्ता बनाया—अनुभव, वैचारिकता, दुख-सुख के स्तर पर यशपाल की रचनाओं ने हमारे पाठकों का स्वरूप बदला और उन्हें जिंदगी के प्रयोजन का अनुभव दिया। यशपाल ने प्रत्येक पाठक के मानस की सांस्कारिक और परंपराबद्ध ग्रंथियों को खोलकर उन्हें नए और आधुनिक को स्वीकार करने लायक बनाया।

दिमागों के बंद दरवाजों पर यशपाल की ये दस्तकें आज भी अनवरत सुनाई देती हैं, और आज तो और बहुत-से समर्थ हाथ उनके साथ हैं।

पिछली पीढ़ी में यशपाल ही एक ऐसे नजर आते हैं जो बेहद जागरूक तरीके से सभी व्यर्थ या स्थिर मान्यताओं के प्रति प्रतिवाद करते आ रहे हैं। उनके कदमों की आहट हमें हमेशा अपने आस-पास सुनाई पड़ती है... हमारी ओर आती हुई..... बाकी कदम थककर रुके हुए हैं या अपनी जगह पर 'मार्च टाइम' की कवायद कर रहे हैं और बहुत धूल उड़ा रहे हैं।

यशपाल, अश्क, अमृतलाल नागर और नागार्जुन—यही तो हैं कुछ नाम, जो अपनी उम्र के साथ-साथ आदमियत की नई उम्र अख्तियार करते गए हैं।

तो विचारों की भटकती हुई आत्माओं का वह ठोस घर उभरने लगा है और दिमागों के बंद दरवाजों पर दस्तकों की आवाज फिर गूंजने लगी है.....

और लगता है कि वहां और यहां सब गतिमान है..... जब तक यशपाल हैं, यह थमने नहीं पाएगा।

जब मैंने उन्हें घर पर देखा था तब घर में सीमेंटी फर्श के बावजूद, पेड़-पौधों की भरमार थी। गमलों में तमाम पौधे लगे हुए थे। कैक्टस और गुलाब..... दीवारों पर चिपकी हुई लहरें और खूबी यह थी

कि किसी भी पौधे या लहर में एक भी सूखी हुई पत्ती नहीं थी। उन्हें बड़े प्यार और रख-रखाव का सहारा मिला था। मुझे लगा था कि यह शौक शायद प्रकाशवती जी को होगा..... पर बाद में पता लगा कि यह शौक स्वयं यशपाल का है। गुरुकुलों में पढ़े और दीक्षा प्राप्त स्नातकों को जब भी मैं देखता था तो अजीब-सी अनुभूति होती थी..... खासतौर से उन्हें देखकर जो पहनावे और आचार-व्यवहार में तो पक्के साहब बन गए थे, पर दिमागी रूप से वहीं के वहीं टिके हुए थे। गुरुकुल के ऐसे स्नातकों के आस-पास पसीने और सेंट की मिली-जुली-सी गंध आती है..... चाहे वह मूल्यों के संबंध में हो या मान्यताओं के। यशपाल गुरुकुल में पढ़े हैं—यह जानकर उनके प्रति भी, कहीं न कहीं मेरे मन में, कुछ उलझन-सी हुई थी..... क्योंकि सूट पहने हुए आदमी की बांह में अगर लाल सूत में बंधा तावीज निकल आए तो मन गिजगिजाहट से भर आता है। यशपाल को इसीलिए शुरु-शुरु में मैं बहुत खुलकर नहीं जानना चाहता था। उनके बांह में तावीज न भी होता, पर बनियान के नीचे जनेऊ भी निकल आता तो मुझे बेहद तकलीफ होती..... रचनाओं से ऐसा नहीं लगता था... यशपाल तो खुद उन तावीजों और जनेउओं को तोड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध दिखाई देते थे—पर उनके व्यक्तित्व में यह आशंकित अंतर्विरोध हो सकता था, क्योंकि बहुतों के साथ ऐसा है। पर यशपाल से मिलने पर और बातचीत के दौरान यह लगा कि वह ऊपर से जितने आधुनिक हैं, उससे भी ज्यादा भीतर से हैं..... उनके जितने पर्त खुलते जाएंगे, उतनी ही साफ हवा और रोशनी मिलती जाएगी..... उन्हें जितना कुरेदा जाएगा, वह उतने ही संक्षिप्त और सटीक मिलते जाएंगे..... और जितने गहरे उतरते जाइए, उतना ही सौंदर्य और सुगंध मिलती जाएगी। अधिकांश को निकट से जानना बड़ा दुखदाई होता है, पर शायद यशपाल के संबंध में बात उलटी है।

अपने से आगे आने वाली पीढ़ी के लिए बहुतों में सहिष्णुता नहीं होती। लगता यही था कि शायद यशपाल भी इसके शिकार हों पर एक बार उनसे बहुत खुलकर नई पीढ़ी के अस्तित्व के बारे में बात हुई..... और जो कुछ वह सोचते हैं, वह उन्हें और भी ज्यादा नया बना देता है। उन्होंने हवा में बात नहीं की और न उन्होंने मुझसे नए महत्वपूर्ण लेखकों के नाम और उनकी मुख्य प्रवृतियों के बारे में 'सूचना' प्राप्त करने की कोशिश की, बजाय इसके उन्होंने पढ़ी हुई रचनाओं के आधार पर अपना मत व्यक्त किया। वह मत कुछ भी हो सकता है, पर यह बात ही उनकी सतत जीवंतता का प्रमाण थी कि वह नए से नए विचार को जानना और समझना ही नहीं चाहते, बल्कि उसे जानते और समझते हैं।

पिछले वर्षों से उनकी आंखें खराब होने की सूचनाएं मिलती रही हैं..... यह भी पता चलता रहा है कि वह जितना पढ़ना और लिखना चाहते हैं, वह संभव नहीं हो पा रहा है.....

और साथ ही यह खबर भी मिलती रही है कि बागबानी का उनका शौक और बढ़ता जा रहा है। आंखें खराब होने के बावजूद वह हर सुबह उठकर घर में किसी न किसी से यह पूछते हैं—उस गुलाब में कल दो फूल थे..... आज कितने हैं?

—उसमें चार कलियां थीं, आज कोई और नई फूटी है?

और घर वाले उन्हें एक-एक पौधे का हवाला दे-दे कर सब बताते रहते हैं—उस गुलाब में आज एक और फूल आया है। अब दूसरे में सात कलियां हैं..... वह पौधा जो पिछले साल नहीं फूला था, इस बार उसमें भी कलियां चटक रही हैं.....।

और मेरे सामने यशपाल का आज एक और ही रूप उभरता है—एक ठोस घर में रहने वाला और सामान्य कारोबारी-सा दिखने वाला व्यक्ति..... जिसके चारों तरफ विचारों की पवित्र आत्माएं भटक रही हैं..... और जो दिमागों के हर बंद दरवाजे पर दस्तक देता हुआ पूछ रहा है—कोई और फूल खिला?..... कोई और कली आई? ❑

—जनवरी, 1964

कविता

आषाढ़ संध्या : पांच चित्र

नागानंद मुक्तिकंठ

एक

केसर रंग रंगे वन डूब गए—
अंधकार चारों ओर घहराया,
घने देवदारों के पियराए जंगल में
रह-रहकर सूर्यास्त फहराया।

दो

अंधकार पेड़ों पर ढंक गया
चांद
ताड़ के पत्तों पर आ गया।

तीन

पत्तियां, जल में परछाईं
कि चांदनी में झिलमिलाता कनक-जाल
कंप गया।

चार

बांसों के ऊपर पीला चांद :
सागर तट पर चक्कर काटता मृग—
चांदनी फिर पत्तियों में खड़खड़ाई।

पांच

अस्तप्राय
धुंधली रश्मिरेखा शेष
बंद कमरे की मलिन दीवार पर
टंगी फूलों बीच-पीली
एक...केवल...एक...प्रायः। ❑

—सितंबर, 1962

एक सर्वथा दुख

श्रीकांत वर्मा

अपने दुख में रचकर मैं पहचान रहा हूं
कोई सुखी नहीं है, सबके
तामझाम में
एक सर्वथा दुख है—
—जान रहा हूं
अपने दुख से स्वयं अपरिचित लोग
नहीं जानते हैं वे
झगड़ रहे हैं अथवा पीड़ा में चीत्कार रहे हैं!
फेर रहे हैं
अपना-अपना मुंह
अथवा
अपने अंदर असहाय
पुकार रहे हैं।
घृणा नहीं कर रहे असल में
सभी दर्द में
ऐंठ रहे हैं।
औरों को निष्कासन नहीं दे रहे हैं वे
अपने दुख से
भाग रहे हैं
अपने दुख के जरिए
अपने को न ढूंढ पाए हैं जो वे
एक सुखी संसार व्यर्थ ही
ढूंढ रहे हैं।
कोई सुखी नहीं है।
सबके तामझाम में
एक सर्वथा दुख है। ❑

—नवंबर, 1961

वैभव की कथा

स्नेहमयी चौधरी

बहुत बड़े वैभव की कथा
मैंने अनेक मुखों से सुनी और जानी थी।
इन नयनों से बढ़कर पहचानी थी।
खंड-खंड टूटी हुई समृद्धि की शिलाओं पर पैर धर
अंतिम ऊंचाई तक बढ़ती ही चली गई।
आह, कैसी रिक्तता थी, जो वहां व्यापी थी।
वैभव का अंत देख—
दूर कहीं अनजानी बजती रागिनियों से
सोई-सी पीड़ा ज्यों उभरी हो :
जाने क्या जागा था उस क्षण मेरे मन में!
तृष्णा अनंत है!
आह! आज फिर भी
आकर्षक कगारों, चमकीले गिरि-शिखिरों का मोह
मुझे खींच रहा।
जाने किन सूत्रों से बांध मुझे देता है,
मेरे इस खोजते, भटकते, भ्रमते मन को भी।
गाथा यह सच है। तो भी क्या?
वैभव के शिलाखंड, टूटेंगे, खोएंगे।
फिर वहां
सन्नाटे को बेधती हुई आत्माएं रोएंगी,
टूटे उन टुकड़ों से प्रश्न पूछते
हम जैसे यात्रीजन आएंगे।
कथा शेष पाएंगे
वैभव प्रसारों की।
सुनेंगे, देखेंगे, वापस हो जाएंगे।
कितने ही प्रश्न
किंतु उत्तर न एक भी।
एकमात्र हम होंगे वक्ता भी, श्रोता भी।
मृतक हुई आत्माएं
कुछ सुनेंगी न गुनेंगी। ❑

—सितंबर, 1962

कहानी

एक चेहरा

रामनारायण शुक्ल

"तुम्हें इलाहाबाद अच्छा लगता है?" उसने प्याले में चाय फिर डालते हुए कहा।

पिछले आठ महीनों में बहुत बार, बहुत सारे लोगों ने यह प्रश्न किया है। मैंने लोगों को अलग-अलग उत्तर दिए हैं। आज उसके मुंह से सुनकर लगा, जैसे पहली बार यह प्रश्न मुझसे किया गया है और मैं नए सिरे से उत्तर सोचने लगा।

इस मकान के ऊपर छत पर बने कमरे में सुधा के साथ बैठना बराबर ही मुझे अच्छा लगा है। शामों की एक लंबी कतार एक साथ मेरी आंखों के सामने आकर खड़ी हो गई। वह हिंदी में कमजोर थी और निराला, पंत तथा प्रसाद की कविताएं उसे समझाने का श्रम मैं कभी भूल नहीं सकता।

एकाएक मुझे उसके प्रश्न का खयाल आ जाता है। मैं मुस्कुराकर कहता हूं, "अच्छा लग भी कैसे सकता है? वहां तुम नहीं हो।"

वह झेंप जाती है। ऐसे समय उसका चेहरा मुझे बहुत अच्छा लगता है।

इलाहाबाद में सुधा का खयाल अक्सर ही आता रहा है। अक्सर रात कुछ पढ़ते या लिखते समय कागज पर उसका चेहरा झलक आता था। कलकत्ता में रहते समय हम सप्ताह में दो-तीन बार जरूर मिलते थे। इलाहाबाद में बेकार बिताई शामों ने मुझे अक्सर देर तक उसके बारे में सोचते रहने को मजबूर किया है।

इलाहाबाद मैं क्यों गया था—"इसका उत्तर आज भी ठीक-ठीक मेरे पास नहीं है। शायद मैं लगातार कलकत्ता में रहते हुए ऊब गया था। मुझे भ्रम हो गया था कि यहां बेकार ही दिन बीतते चले जा रहे हैं।"

बेकार दिन बिताने से अधिक पश्चात्ताप शायद किसी बात का नहीं होता। दिनों के बीतते जाने की अनुभूति बराबर घटते हुए बैंक बैलेंस जैसी होती है।

बैंक बैलेंस! मैं चौंककर सुधा के चेहरे की ओर देखता हूं। मेरे पास बैंक बैलेंस नहीं है। दूसरा सब कुछ है, लेकिन शायद बैंक बैलेंस का रिक्त स्थान दूसरी कोई भी चीज भर नहीं सकती।

पिछले शनिवार की शाम बड़ी देर तक मैं उसे अपने उपन्यास के बारे में बताता रहा था। उसने कहा था, "पूरा हो जाने पर छपने के पहले एक बार मुझे दिखाना।"

मैंने—हां—कर दी थी, यद्यपि मैं जानता था, मैं ऐसा नहीं करूंगा। कल बांबे-मेल से वापस जा रहा हूं। बीस दिन इस तरह निकल गए कि कुछ पता ही नहीं चला। कलकत्ता में इससे पहले समय इतनी जल्दी कभी नहीं बीता। साथ लाई सारी बातें अपने साथ वापस लिए जा रहा हूं।

केवल बातों का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं होता। कहीं न कहीं से बातों को सपोर्ट मिलना ही चाहिए। उस सपोर्ट का अभाव ही शायद सारी चीजों को खोखला बना देता है।

"तुम कल जाओगे ही?"

"आवश्यकता पड़ने पर रुक भी सकता हूं। लेकिन यहां शायद किसी को भी मेरी आवश्यकता नहीं है।"

वह कुछ उदास हो जाती है। हो सकता है, यह मेरा भ्रम ही हो। चेहरे पर आ जाने वाले भावों को किताब की तरह कभी नहीं पढ़ा जा सकता। थोड़े से भ्रम के लिए जगह वहां हर समय रहती है।

"गाड़ी कब छूटती है?"

"रात को आठ चालीस पर।"

"अच्छा तो ठीक है, मैं कल आऊंगी।"

सुनकर मुझे एक साथ बहुत सारे चेहरे याद आ जाते हैं।

"बेकार ही तुम्हें तकलीफ होगी। वहां बहुत सारे दूसरे लोग भी होंगे। मैं स्वयं ही जल्दी फिर कलकत्ता आऊंगा।" कह कर मैं रुका नहीं।

सुधा के चेहरे में कैसा भी भाव हो, मैं देखना नहीं चाहता। इलाहाबाद में सारा समय वही याद आएगा।

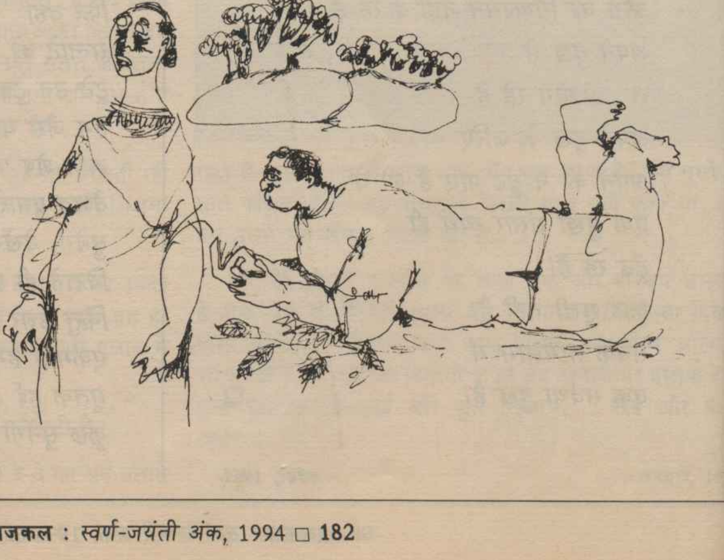

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

कविता

●

रवींद्रनाथ त्यागी

रेखांकन : रामबली प्रजापति

उदास दिन

आज फिर दिन उदास
पीली बीमार-सी धूप
कर्जदार की तरह बादलों में छिपता सूरज।
अजब-सा लगता है न
अरसे से उजले दिन का
इस आंगन में न आना?

सोन कोक-सी धूप

योजन विस्तृत सिकता के तट
सोन कोक-सी धूप
—बैठ गई फैला पंख—
चांदी की मछली-सी
शरद की गंगा को
चोंच में लिए। ❑

—मई, 1964

लेक गार्डेंस से हावड़ा सच ही बहुत दूर है। लेकिन एट बी का सफर—और वह भी जब बस खाली हो—बुरा नहीं लगता। साथ राकेश और प्राण भी थे। प्रकाशजी कुछ पहले चले गए थे और उन्होंने कहा था, "मैं सीधे स्टेशन आ जाऊंगा।"

सामान मेरे पास अधिक नहीं है। एक चमड़े का छोटा-सा सूटकेस और एक बैग है। केवल कुछ बहुत आवश्यक कपड़े ही लाया था। दूसरा सब कुछ तो यहां था ही। सामान अधिक होने पर टैक्सी करनी पड़ती। इस घर से हावड़ा तक मैं कभी टैक्सी में नहीं गया। एक दिन ऐसे ही छत पर बैठे हुए प्रकाशजी तथा राकेश से मैं इस विषय में बहुत देर तक बातें करता रहा था कि यहां से हावड़ा तक का टैक्सी भाड़ा कितना उठेगा!

कहीं दूर की रेल यात्रा करनी हो तो सुबह से ही मन सिहर-सिहर उठता है। थर्ड क्लास की यात्राओं के संस्मरण किसके पास नहीं हैं! आज वैसा कुछ नहीं हो रहा। सात-आठ दिन पहले ही मैंने एस्प्लेनेड में एक स्लीपर रिजर्व करा लिया है।

गाड़ी पांच मिनट पहले ही प्लेटफार्म में आई थी। मिश्रजी वहां काफी पहले पहुंच गए थे। वह मेरे डिब्बे के सामने ही खड़े थे। उन्होंने हलके-से मुस्कुराकर हम सबका अभिवादन किया।

बाहर खड़ा कंडक्टर टिकट देखकर सबको बर्थ नंबर बता रहा था। बर्थ में अपना सामान रखकर हम लोग सामने पड़ी खाली सीटों पर बैठ जाते हैं। थोड़ी देर बाद प्रकाशजी भी आ जाते हैं। सागर तथा कपिलजी भी शायद आएं। हम सब बाहर आकर खड़े हो जाते हैं। गाड़ी छूटने में अभी आधे घंटे की देर है। दूर से आते हुए सागर तथा कपिलजी भी दिखाई देते हैं। मुझे सच ही बड़ी खुशी होती है। पास से जाते हुए चाय वाले को रोककर मिश्रजी, उससे सबको चाय देने के लिए कहते हैं। चाय पीते-पीते तक स्मिथ भी आ जाता है। अकेले सफर करते समय इससे पहले इतने लोग मुझे कभी छोड़ने नहीं आए। बहुत दिनों बाद इस किस्म का सुख मेरे पास सिमट कर आया है। आस-पास के लोग हम सब को इतना खुश देख, आश्चर्य से देखते हैं।

"गाड़ी छूटने ही वाली है। तुम जाकर भीतर बैठो।" तभी मिश्रजी कहते हैं।

"लौटते समय तुम सबको हमारी तरफ से काफी पिलाना।" खिड़की के पास बैठकर मैं राकेश से कहता हूं।

राकेश मुस्कुराकर स्वीकृति देता है। एकाएक मुझे सुधा का खयाल आता है। सबके चेहरे धुंधले पड़ जाते हैं।

केवल उसका उदास, पीला, कांपता-सा चेहरा सामने आ जाता है।

गाड़ी छूटने ही वाली है। मैं सोचता हूं, इन सबके बदले अकेले सुधा ही आई होती तो, तो!

गाड़ी चल पड़ी है। सब लोग हाथ हिलाते हैं। लेकिन उन सबके चेहरे मुझे धुंधले-धुंधले-से दीखते हैं। शायद पिछले पांच मिनट मैं उन लोगों के अस्तित्व को भी भुला रहा था। आंखों के सामने बस एक चेहरा है, जिस चेहरे को मैं साथ नहीं ले जाना चाहता था, वही साथ-साथ चल रहा है। ❑

—फरवरी, 1964

साहित्य

मांग का साहित्य और साहित्य की मांग

श्रीकांत वर्मा

राजनीति की स्थिति जैसी भी हो, साहित्य की स्थिति उससे कुछ ज्यादा अच्छी नहीं। साहित्य की दुनिया में असली अराजकता है। और यह अकारण नहीं।

पाठकों की संख्या, कम से कम दस गुनी बढ़ गई है, लेखक समूह का परिमाण भी इसी अनुपात में बढ़ा हुआ है और पुस्तकें छापने और बेचने वाले न जाने कितने छोटे-बड़े नगरों में बिखरकर साहित्य के नाम पर वे सब छाप रहे हैं जो छापेखानों से निकलकर पता नहीं कहां जाती हैं और फिर गुम हो जाती हैं। छपने वाली पुस्तकों का जीवन न तो इससे पहले कभी इतना क्षणभंगुर था, न उनका परिमाण कभी इतना बढ़ा था।

राजनीति की हालत जैसी भी हो, साहित्य की स्थिति उससे कुछ ज्यादा अच्छी नहीं। साहित्य की दुनिया में असली अराजकता है। और यह अकारण नहीं। साहित्य की अपनी जरूरतें हैं, समाज की अपनी और व्यापार की अपनी। मगर हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की एक ऐसी अवस्था आ गई है कि तीनों की जरूरतें एक अधकचरे स्तर पर जाकर कभी एक-दूसरे से टकरा रही हैं, कभी आपस में समझौता कर रही हैं। इनका नतीजा यह हो रहा है कि न तो साहित्य का स्वरूप स्पष्ट है, न साहित्य के जरिए किए जा सकने वाले व्यापार की दिशाएं साफ हैं और न समाज यह फैसला कर पा रहा है कि उसे किस प्रकार का साहित्य चाहिए।

मुझे किस प्रकार का साहित्य चाहिए, इसका फैसला केवल मैं कर सकता हूं। मेरी ओर से यह फैसला न प्रकाशक कर सकता है, न लेखक। दूसरों के फैसले से लिखी गई पुस्तकों को अस्वीकार करने का मुझे पूरा अधिकार है। मगर मैं यह फैसला तभी कर सकता हूं जबकि मेरे व्यक्तित्व का विकास इतना हो चुका हो कि मैं अपने लिए अच्छे और बुरे, उपयोगी और नुकसानदेह साहित्य में भेद कर सकूं और मेरी मांग में इतनी शक्ति हो कि मेरे अपने लेखक और प्रकाशक पैदा हो सकें।

हिंदी का यह दुर्भाग्य है कि पिछले दस-बारह वर्षों में तेजी के साथ उभरकर उसका जो पाठक वर्ग सामने आया है, उसकी रुचि पहले भी अनिश्चित थी और आज भी, इतने वर्षों के बाद भी, अनिश्चित है।

इस अनिश्चित रुचि का परिणाम यह है कि साहित्य भी अनिश्चित है और साहित्य को लेकर किया गया सौदा भी अनिश्चित है।

व्यवसाय के क्षेत्र में अनिश्चितता अर्द्ध-व्यावसायिकता का ही दूसरा नाम है। वास्तव में हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों का प्रकाशन उद्योग अर्द्ध-व्यावसायिकता की हालत में है। न तो वह गंभीर साहित्य का पूरी तरह तिरस्कार कर पाया, न ही वह इस नए पाठक वर्ग के लिए एक बिल्कुल ही नए प्रकार के साहित्य की रचना कर सका है। यहां तक कि गंभीर साहित्य और लोकप्रिय साहित्य की विभाजन-रेखाएं भी स्पष्ट नहीं हैं। इसका परिणाम है अधकचरापन। गंभीर साहित्य के नाम पर भी अधकचरी रचनाएं पैदा हो रही हैं और केवल मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली रचनाएं भी साहित्यिकता के मोह में साहित्य का स्वांग ओढ़कर छद्म साहित्य को बढ़ावा दे रही हैं।

यही कारण है कि आज हिंदी में साहित्य के नाम पर अधिकांशतः छद्म साहित्य की ही रचना हो रही है। एक संकट यह है कि गंभीर और जिम्मेदार लेखक सस्ते और गैर-जिम्मेदार साहित्य की रचना कर रहे हैं; एक दूसरा संकट यह है कि केवल घटिया दर्जे के मनोरंजन की क्षमता रखने वाले कलमजीवी अपनी रचनाएं साहित्यिक दावों और प्रति दावों में लपेटकर एक समानांतर मगर झूठे साहित्य की रचना कर रहे हैं। यह प्रवृत्ति पिछले कुछ वर्षों में इतनी तेजी और सफाई के साथ बढ़ती गई है कि न केवल एक आम पाठक बल्कि कई समझदार लोगों के लिए भी असली और नकली साहित्य में भेद करना कठिन हो गया है।

दुर्भाग्य केवल इतना नहीं, कि यह भेद करना मुश्किल हो गया है, बल्कि यह भी, कि असली साहित्य ने नकली साहित्य के सामने अपने घुटने करीब-करीब टेक दिए हैं। नकली-साहित्य से होड़ लेने की उद्विग्नता में, लोकप्रियता के मोह में, आर्थिक और व्यावसायिक समृद्धि के लालच में अब तक साहित्य के प्रति उत्तरदायी लेखक भी अब अपने को व्यवसायी प्रकाशकों और अनिश्चित रुचि वाली पाठक नामधारी भीड़ के प्रति जिम्मेदार अनुभव करने लगे और ऐसी रचनाओं के सृजन में अपना योगदान देने लगे जो न केवल साहित्यिक मूल्यों को विकृत और पथभ्रष्ट करती हैं बल्कि खुद पाठकों के मन में एक साहित्येत्तर मनोविकार पैदा करती हैं। बुरे साहित्य के अपराधी आज केवल बुरे लेखक नहीं, अच्छे लेखक भी हैं; बल्कि अपराधी अच्छे लेखक ही हैं—कारण कि बुरा लेखक बुरा साहित्य रच कर कोई अपराध नहीं करता; यह अपराध अच्छा लेखक ही बुरा लिखकर करता है।

बढ़ती हुई व्यावसायिकता से साहित्यकार का यह समझौता हमारे साहित्य के पिछले सभी दशकों की सबसे बड़ी घटना है।

जब भी साहित्य बाहरी मांगों या दबावों से कोई समझौता करता है, रचना के भीतर एक संकट उत्पन्न हो जाता है

कविता

●

प्रतीक्षा करो

नंद चतुर्वेदी

घृणा से टूटे हुए लोगो
दर्प और अनास्था से असंतुष्ट महिलाओ
वक्तव्य न दो
प्रार्थना करता हूं, कि वे शब्द न कहो
जिनकी अग्नि तुम्हें जलाती नहीं है।
अभी दिशाएं रजनीगंधा से महक रही हैं
प्रार्थना सभा में मोमबत्तियां अधजली खड़ी हैं,
अहंकार से बुझे हुए लोगो
व्यर्थ ही घबराती हुई महिलाओ
खिड़कियां बंद न करो
अभी अंधकार गहरा नहीं हुआ है
प्रार्थना करता हूं कि
प्रतीक्षा करो
शायद कहीं
शब्द की अग्नि
रजनीगंधा की महक
और प्रार्थना सभा की अधजली
मोमबत्तियों का दर्द
तुम्हें छू जाए। ❑

—मई, 1963

और यह संकट उसे मरण-बिंदुओं की ओर ले जाता है।

यह नहीं कि यह संकट साहित्य की किसी एक विधा को प्रभावित करता है बल्कि वह समूचे साहित्य के आगे एक प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर देता है। कहानी के क्षेत्र में व्यावसायिकता कविता की दुनिया में गतिरोध पैदा कर देती है और बाजारू उपन्यासों की भरमार आलोचना को हतप्रभ कर देती है। इसका कारण यह है कि साहित्य की रचना-प्रक्रिया विभक्त नहीं होती, बल्कि संपूर्ण होती है और व्यावसायिकता की चपेट में एक अंग के सड़ने पर बाकी सारा शरीर भी कम-से-कम कुछ समय के लिए बेकाम हो जाता है। अगर आज हिंदी में कविता और आलोचना में गतिरोध-सा नजर आता है तो इसका कारण केवल यह नहीं कि इनके प्रकाशन की जगहें कम हैं, बल्कि यह भी है कि इस वस्तुस्थिति के सामने समूची प्रतिभा ही कुंठित है।

हमारे साहित्य के लिए सचमुच ही यह बुरा हुआ कि एक वास्तविक मनोरंजन-पत्रिका के स्वरूप का विकास ही नहीं हो पाया। कहानी की पत्रिकाएं ही मनोरंजन-पत्रिकाएं बन बैठीं। कहानी मनोरंजन का एक जरिया है मगर वह केवल मनोरंजन कभी नहीं हो सकती। लेकिन चूंकि हिंदी में ऐसी पत्रकारिता का विकास नहीं हुआ कि पत्रिकाएं, न केवल कहानी, बल्कि अन्य अनेक विधाओं के जरिए अपने पाठकों का मनोरंजन करने में सफल होतीं, कहानी तेजी के साथ इस दिशा में बढ़ती गई। मनोरंजन की अन्य विधाएं अविकसित और अजन्मी रह गईं, कहानी की पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई।

एक ओर कहानी की पत्रिकाओं की बाढ़ और दूसरी ओर जेबी पुस्तकों की। जेबी पुस्तकों के प्रकाशन की योजना अपने आप में बुरी नहीं थी। हिंदी के बढ़ते हुए पाठक वर्ग को देखते हुए यह जरूरी था कि उसे सस्ते दाम पर पुस्तकें उपलब्ध कराई जाएं। मगर कौन-सी पुस्तकें? वे, जो उसका सांस्कृतिक स्तर ऊंचा करने में सहायक होती हैं या वे, जो उसे उसके वर्तमान स्तर से भी नीचे ले जाती हैं। कोई भी लोकप्रिय योजना एक दोधारी तलवार की तरह होती है, जिसका सही या गलत, मनचाहा, इस्तेमाल किया जा सकता है। यह देखकर सचमुच क्लेश होता है कि प्रकाशनों ने अपनी व्यावसायिक महत्वाकांक्षाओं के लिए जेबी पुस्तक जैसी महत्वाकांक्षी और महत्वपूर्ण योजना का ऐसा दुरुपयोग किया कि फुटपाथ और बाजार जासूसी ऐयारी किताबों से प्रतियोगिता करने वाली जेबी पुस्तकों से सिंच गए। यह नहीं कि इस योजना में अच्छी किताबें प्रकाशित नहीं हुईं। मगर वे इस भद्दी भीड़ में जाकर खो गईं। अगर यह मान भी लिया जाए कि हिंदी की उत्कृष्ट कलाकृतियों में इतनी लोक-क्षमता नहीं कि वे हजारों के संस्करण में बिककर प्रकाशक को आर्थिक लाभ पहुंचा सकें और लोक-रंजन भी कर सकें तब भी देश-विदेश के साहित्य में ऐसे क्लासिक्स की कमी नहीं जो इन संस्करणों को सार्थक कर सकते थे।

प्रकाशक का यह कहना सही है कि प्रकाशन की अपनी कठिनाइयां हैं। मगर साहित्य की कठिनाइयां उससे बड़ी हैं। प्रकाशन व्यवसाय है, मगर साहित्य से संबंधित व्यवसाय। और साहित्य का व्यापार एक सीमा तक ही किया जा सकता है। साहित्य को उतने बड़े पैमाने पर नहीं बेचा जा सकता था, जितने बड़े पैमाने पर वस्त्र या साबुन। साहित्य के व्यवसाय से इतने बड़े पैमाने पर मुनाफा कमाने की महत्वाकांक्षा ही साहित्य के लिए सांघातिक साबित होती है, प्रकाशक के लिए वह जितनी भी फायदेमंद साबित हो। ❑

—मई, 1964

संस्मरण

•

पर मुक्तिबोध ऐसा था

हरिशंकर परसाई

परसाईजी के मुक्तिबोध से निकट के संबंध थे। प्रस्तुत है कवि की मृत्यु पर लिखा गया उनका बहुचर्चित लेख।

मुक्तिबोध

जिंदगी के आखिरी छह महीनों में मुक्तिबोध बहुत बड़े, बहुत मशहूर आदमी हो गए थे। एकाएक यह समझ में आने लगा कि वह भारत के ही नहीं, शायद विश्व के इस युग के प्रतिनिधि कवियों में हैं। तीन महीनों में जब वह अचेत थे, उन्हें वह सब मिला, जो वह जिंदगी में अन्य सामान्य मनुष्यों की तरह ही चाहते थे। जिस सरकार ने उन्हें नौकरी में टिकने नहीं दिया और उनकी पुस्तक पर प्रतिबंध लगाया, उसने उनकी जय बोली और चिकित्सा का प्रबंध किया। जो कहते थे कि मुक्तिबोध में कल-बोध नहीं है और वह कविता नहीं लिखते, भाषण देते हैं—वह प्रशंसकों की पहली पंक्ति में आ गए। उन्हें प्रतिक्रियावादी कहने वाले और उन्हें साम्यवादी कहने वाले—दोनों एक स्वर में जय बोलने लगे।

मेरी एक कल्पना है कि अगर प्रधानमंत्री उनमें दिलचस्पी न लेते और वह प्रधानमंत्री के 'केस' न कहलाते, तो क्या इतना ध्यान खींचते? या इतनी जल्दी ध्यान खींचते? और तब कितनी शर्म की बात होती!

कला-साधना के इतिहास में कई बार हुआ है कि कलाकार की मृत्यु के बाद वह महान घोषित हुआ है। पर इस युग में, जब देश में कला-चेतना व्यापक हो गई है, प्रकाशन के माध्यम बढ़ गए हैं, शिक्षा बढ़ी है और जनतांत्रिक भावना का प्रसार हो गया है—तब भी क्या प्रतिभा की यही नियति है कि जब वह मौत के पास पहुंच जाए, तब हम जानें कि वह असाधारण है और जब वह मर जाए, तब हम कहें कि वह तो महान है?

अगर सिर्फ साल भर पहले मुक्तिबोध पर ध्यान चला जाता, तो वह कम से कम दस साल और जीते और लिखते। उनकी मौत स्वाभाविक नहीं थी। वह हत्या और आत्महत्या का मिला-जुला रूप थी। हत्या इस तरह कि वह अवहेलना से मार डाले गए। जीविका के मार्ग, जो सामान्य आदमी के लिए खुले हैं, वे भी उनके लिए बंद थे। कविता के कारण कोई असाधारण सुविधा उन्होंने नहीं चाही, वह साधारण आदमी की साधारण सुविधाएं ही चाहते थे। पर वह भी उन्हें नहीं मिलीं। वह जगह-जगह कानाफूसी के षड़यंत्र के शिकार थे। जिस सरकार में सक्रिय राजनीति में, विरोध की राजनीति में भाग लेने वाले भी ऊंचे ओहदों पर हैं, वहां उन्हें नीचे पद पर भी नहीं रहने दिया गया। कानाफूसी हो गई कि मुक्तिबोध वामपंथी विचार रखता है। फिर वह रेडियो में नौकरी करने लगे, जहां जिस दिन बीमार हो जाते, उस दिन का वेतन कट जाता था। नियमित नौकरी उन्हें वहां भी नहीं दी गई। तब वह 'नया खून' साप्ताहिक के संपादक हो गए। यहां उनका बहुत खून सूखा। मई के महीने में नागपुर की गर्मी में सिर से सिर्फ चार पांच फुट ऊपर टीन की छत के नीचे बैठे बुखार में काम करते मैंने उन्हें देखा है। मेरे आग्रह पर कि 'आप घर जाकर लेट जाइए', 'उन्होंने कहा कि कुछ भी हो अखबार तो समय पर निकालना ही पड़ेगा—और फिर ऐसा तो लगा ही रहता है।' राजनादगांव में उनके कुछ मित्रों ने कोशिश कर उन्हें कालेज में बुलवा लिया। उन्हें तीन सौ रुपये मिलने लगे। पर जिम्मेदारी उन पर बहुत थी। छह-सात आदमियों का पालन, बीमार लड़के की चिकित्सा, बीमार माता-पिता की सेवा और चिकित्सा। आमदनी बढ़ाना एक तो मुक्तिबोध को आता नहीं था, दूसरे देने वाले भी मुंह देखकर देते हैं। मुक्तिबोध किसी का लाभ या हानि करने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए जो और लोगों को मिल जाता है, वह भी उन्हें नहीं मिलता था। चार साल में एक रेडियो कार्यक्रम उन्हें मिला था। यह मैं जानता हूं।

मुक्तिबोध की मेधा का लोहा सब मानते थे। उनकी प्रतिभा के भी लोग कायल थे। उनके अध्ययन से आतंकित होते थे, चिंतन से प्रभावित होते थे। जब वह बोलते थे तो विश्वविद्यालयों के आचार्यों का पानी उतर जाता था। मगर किसी विश्वविद्यालय में मुक्तिबोध को नौकरी नहीं दी जा सकती थी। सरकार के किसी महकमे में उसे नहीं रखा जा सकता था। कारण यही कि एक तो वह जिसे 'पुशिंग' कहते हैं, वह नहीं थे। फिर उनके विचारों के बारे में कुछ इस तरह कानाफूसी हो जाती, जैसे वह बम लेकर दफ्तर आएंगे और उसे यहां छोड़ देंगे। तीसरी बात यह कि जिनके हाथों में देने की क्षमता है, वह सांस्कृतिक रूप से इतने गिरे हुए हैं कि कवि, चिंतक, लेखक की अपेक्षा किसी टुच्चे राजनीतिक नेता का महत्व अधिक आंकते हैं।

आघात उन पर ऐसे हुए कि वह पांच साल पहले भी मर जाते, तो आश्चर्य नहीं होता। अपना आर्थिक संकट कम करने

के लिए उन्होंने पाठ्य-पुस्तकें भी लिखीं, पर उन्हें ठग लिया गया। एक पुस्तक उन्होंने भारत के इतिहास और संस्कृति पर लिखी। वह हायर सेकेंडरी के कोर्स में भी आ गई। हम लोग सोचते थे कि अब इनका अर्थ-संकट खत्म हो जाएगा। पर, जिन प्रकाशकों की पुस्तकें मंजूर नहीं हुई थीं, उन्होंने एक सांप्रदायिक दल से मिलकर पुस्तक के विरुद्ध आंदोलन कर दिया। ऐतिहासिक तथ्यों पर आंदोलन और हंगामा मचा दिया। भारतीय फासिस्ट मुक्तिबोध के पीछे पड़ गए। सरकार ने दबाव में आकर पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया। दिलचस्प बात यह है कि वही तथ्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की पुस्तक में लिखे हैं, जिसे खुद सरकार ने प्रकाशित किया है। इस घटना से मुक्तिबोध पर बहुत आघात लगा। वह कांप गए, हिल गए। विकट पीड़ा उन्हें हुई। इस कारण नहीं कि आर्थिक लाभ की संभावना खत्म हो गई, बल्कि इसलिए कि देश में स्वतंत्र चिंतन, शोध और लेखन पर रोक लग रही हैं। फासिस्ट ताकतें कंठ पकड़ रही हैं। इस घटना का बहुत गहरा असर उनके मन पर पड़ा। इसी मनस्थिति की वे दो कविताएं हैं। एक का आरंभ है–

जल रही है लाइब्रेरी पर्सिपलिस की
मैंने सिर्फ नालिश की, सिर्फ नालिश की!

और दूसरी वह सबसे लंबी कविता 'अंधेरे में' जिसमें फासिस्ट ताकतों के भयावह कल्पना-चित्र हैं। वह कविता पिछली जनवरी में हम लोगों को एक रात सुनाई थी। लगभग सवा घंटा लगा। लेकिन ऐसा बढ़ता हुआ तनाव उसमें था, ऐसी झकझोर देने वाली इमेजें कि खत्म होने तक वह खुद पूरी तरह शिथिल हो गए और बिस्तर पर लुढ़ककर हांफने लगे और हम बड़ी देर तक खोए से बैठे रहे।

ये तो हुए हत्या के सारे सामान।

और आत्महत्या यों कि मुक्तिबोध ने शरीर को बिलकुल भुला दिया। पौष्टिक भोजन तो कभी जाना नहीं। भोजन ही कम खाते थे। चाय और बीड़ी बहुत पीते थे। शरीर आराम की मांग करता था, दवा की मांग करता था, पोषक तत्वों की मांग करता था–पर मुक्तिबोध उसे कुछ नहीं देते थे। दे भी नहीं सकते थे। इसी कारण उन्होंने शरीर की बिलकुल अवहेलना कर रखी थी। बीमारियां भीतर घर करती गईं। जब कोई पीड़ा असह्य हो जाती, तब तात्कालिक आराम के लिए कोई दवा ले लेते और काम करने लगते।

पूरी तरह समर्पित जीवन था मुक्तिबोध का। चिंतन और साहित्य-रचना ही जीने की प्रक्रिया हो गई थी। पूरे शरीर में एक्जेमा लिए हुए, सिर में दर्द लिए हुए, बुखार में मैंने उन्हें सामान्य रूप से लिखते-पढ़ते, बहस करते और सोचते देखा है। भोपाल के अस्पताल में जहां वह शैयाग्रस्त थे, पर चेतना लुप्त नहीं हुई थी, वह अपनी बीमारी की शिकायत कभी ही करते थे। मित्रों से साहित्य और समाज की समस्याओं पर चर्चा करते और योजनाएं बनाते।

इतने कष्ट–शारीरिक, आर्थिक, मानसिक और सामाजिक, इतने दबाव और इसके साथ चिंतन और सृजन का जानलेवा तनाव! आश्चर्य है, मुक्तिबोध ने जहर क्यों नहीं खा लिया? या पागल क्यों नहीं हो गए? पागल होने से अपने को रोकने के लिए भी वृहत शक्ति लगती है। इस दुर्दम शक्ति का स्रोत कहां था? कैसे वह जहर पीते जाते थे, पर जरा भी बहकते नहीं थे, संतुलन नहीं खोते थे, कटु नहीं होते थे और घबड़ाते नहीं थे। उनकी प्रखरता बढ़ती ही जाती थी। कदम और मजबूत होते जाते थे।

मुझे लगता है, उनका विश्वास बड़ा गहरा था। और यह विश्वास उनके इतिहास-बोध से और मजबूत हुआ था। वह ऐतिहासिक गति के प्रति पूर्ण आश्वस्त थे और मनुष्य की नियति में उनका अडिग विश्वास था। वह व्यक्तिगत पीड़ा को 'ऐतिहासिक पीड़ा' का एक अंश मानते थे। व्यापक और अनिवार्य सामाजिक संघर्ष में एक संघर्ष हमारा भी है–यह विश्वास उनका था। इसलिए, हम जो भुगत रहे हैं, सो अकेले नहीं हैं। यह भुगतान स्वाभाविक है, जरूरी है–यह तो ऐतिहासिक पीड़ा है। मगर इसके आगे तो मंगलमय भविष्य है। कष्टों की जब बात होती तो वह कहते थे, "पार्टनर, 1980 तो आने दो! तब देखना।"

यह कोरे आदर्शवादी का 'यूटोपियन' सपना नहीं था। इसके पीछे वैज्ञानिक दृष्टि थी। मुक्तिबोध बहुत वैज्ञानिक दृष्टिसंपन्न व्यक्ति थे। कोरी बातें, कोरे विश्वास, भावना-जन्य खोखले सपने उनके सामने नहीं टिकते थे। विराट मानवीयता, ऐतिहासिक बोध और वैज्ञानिकता–इनसे उनके विश्वास बने थे। इस कारण उनके सुख और दुख के कारण भी भिन्न होते थे। व्यक्तिगत हानि-लाभ से वह कम प्रभावित होते थे। लेकिन सामाजिक अन्याय से वह विचलित हो जाते थे। पीड़ित मानवता से उन्होंने अपने को एकाकार कर लिया था, उसके विराट संघर्ष में अपने को डुबा दिया था।

मुक्तिबोध के विचार किसी से छिपे नहीं थे। वह 'वामपंथी' हैं, यह सब जानते थे। मार्क्सवाद में उनका विश्वास था और वह बहुत कुछ इस विश्वास के कारण बड़े कवि थे, इस विश्वास के बावजूद नहीं। कोई नया लेखक उनसे मिलता, और सलाह मांगता, तो वह बेसाख्ता पूछते थे–"आपका पालिटिक्स क्या है साहब? अपना 'पालिटिक्स' साफ करिए।" कुछ लोग इस प्रश्न से चौंक जाते थे। मुक्तिबोध का आशय यह नहीं होता था कि आप किस-किस राजनैतिक दल के प्रति आस्थावान हैं। वह यह जानना चाहते थे कि जीवन को समझने के लिए आपके पास कोई दृष्टि है या नहीं। मानवता के इस व्यापक संघर्ष में आप कहां खड़े हैं? इस संघर्ष को आप किस वैचारिक आधार पर विश्लेषित करते हैं और ग्रहण करते हैं। दूसरी बात बात यह है कि वह वैज्ञानिक दृष्टि को बहुत आवश्यक मानते थे। इस वैचारिक आग्रह के बावजूद उनमें कठमुल्लापन नहीं था। बहुत उदार और वस्तुनिष्ठ दृष्टि थी उनकी। कोई अगर उनकी तरफ पत्थर फेंकता, तो वह तुरंत विश्लेषण करने लगते थे कि किन सामाजिक-आर्थिक कारणों से तथा किस मानसिक दबाव से उस आदमी में यह इच्छा जागी कि वह मुझे पत्थर मारे। अपने संबंध में भी वह तटस्थ भाव से सोच सकते थे। अस्पताल में तीव्र मानसिक सक्रियता के कारण वह नींद की दवा पचा जाते थे। सोते नहीं थे। डाक्टर उन पर दबाव डालते कि आप ज्यादा सोचा मत करिए। आखिर एक दिन उन्होंने डाक्टर से कहा, "आप मुझे आधा घंटा वक्त दीजिए। मैं आपसे बात करना चाहता हूं।"

डाक्टर दोपहर को आकर बैठ गए। मुक्तिबोध ने कहा, "आप कहते हैं, मुझे सोचना नहीं चाहिए। मैं मानसिक प्रक्रिया पर आपसे चर्चा करना चाहता हूं।"

इसके बाद चला 'परसेक्शन', 'अपरसेक्शन' और 'कनसेप्शन' और 'कांशसनेस' की 'थियरी'। कोई घंटा भर लगा।

तीन कविताएं

ममता अग्रवाल*

एक

आग्रह, अनुरोध—
सब के सब सो गए।
स्पर्श, संगीत, स्वर—
सब के सब खो गए।
बचा नहीं कुछ भी
मन के श्मशान में।
महज एक शून्य का
बीहड़ बगूला
लील रहा रह-रहकर
टूटती इकाई को।

दो

तुम
इतने रीते से, बीते से,
चटखती धूप के
निर्विकार उजीते से,
अपने अनबुने व्यक्तित्व को
मुझमें उंडेल देना चाहते हो।
मैं कैसे जानूं
यह बड़ा-सा शून्य
तुम्हारा
स्वभाव है या अभाव।

तीन

जो थीं शिलाएं
शील-संकोच की,
तुमने
परिश्रम से
इतनी अवधि में
हटाईं, उठाईं।
और अब
महज शिलाएं हटाने में
रस तुम लेने लगे। ❑

—जुलाई, 1964

* अब ममता कालिया

डाक्टर ने कहा, "मुक्तिबोध जी, आपका कहना बिल्कुल ठीक है, लेकिन फिर भी कोशिश करिए।"

व्यक्तिगत जीवन में यह आदमी बिल्कुल सीधा था। व्यवहार की चतुरता तनिक नहीं थी। उसे धोखा दे देना आसान था। लेकिन विचार के मामले में वह बहुत काइयां था। मुखौटे के भीतर देख लेता था। सारी वैचारिक चालबाजियां वह जानता था।

एक दिन एक सज्जन की कविता पर बात हो रही थी। मुक्तिबोध ने उनसे कहा, "आपकी कविता के दो पद तो मुझे ठीक लगे। मगर तीसरे पद में अचानक 'अकेलेपन' की बात मेरी समझ में नहीं आई।" अतिरिक्त बौद्धिक अंदाज में कवि ने जवाब दिया, "ऐसा है मुक्तिबोध जी कि कभी-कभी किसी क्षण 'डिवाइन लोनलीनेस' की अनुभूति होती है...।" मुक्तिबोध एक झटके के साथ बोले—"देखिए साहब, मैं आपकी इस 'डिवाइन लोनलीनेस' की सब पोल जानता हूं। मैं जानता हूं, वह कहां से आती है और क्यों आती है। मुझे चकमा आप नहीं दे सकते।"

मगर दूसरी तरफ वह चकमा खा जाते थे। एक प्रकाशक से वह सिर्फ 50 रुपये मांग रहे थे। उसने उन्हे अपना आर्थिक कष्ट बता दिया तो इन्हें लगा कि इसी को कुछ दे देना चाहिए। मुझसे बोले, "पार्टनर, उसकी भी हालत खराब है।"

मैंने कहा, "वह आपको चकमा दे रहा है। उसके पास पचास न हों, यह हो ही नहीं सकता।"

वह बोले, "ऐसा क्या पार्टनर? सचमुच? मुझे तो लगा कि यह वास्तव में कष्ट में है। अरे, तब तो उससे लेना चाहिए।"

हम लोग *वसुधा* निकालते थे, तो वह उसमें मुफ्त में लिखते थे—'एक साहित्यिक की डायरी'। मैं उनसे कहता कि 'पत्रिकाएं अच्छा पारिश्रमिक देती हैं, संपादक चाहते हैं कि आप उनमें लिखें।' इस पर मुक्तिबोध जवाब देते—"नहीं पार्टनर, उधर जमेगा नहीं। अमुक पत्रिका के संपादक की विचारधारा ऐसी है और अमुक पत्रिका के संचालक की मान्यता बिल्कुल वैसी है। वह मुझसे क्यों लिखवाएंगे? और मैं भी क्यों लिखूंगा? मैं तो अपनी पत्रिका में लिखूंगा।" अभी तक उन्हें मालूम नहीं था कि हिंदी में कहानी की कीमत अच्छी मिलने लगी है। मैंने जब कहा कि 'सौ रुपया तो बड़ी आसानी से मिल जाएगा', तो मुक्तिबोध जैसे आश्चर्यचकित रह गए और बोले, "नहीं पार्टनर, इतना रुपया मुझे कोई क्यों देगा?"

मृत्यु के बाद मुक्तिबोध का मैं आदर्शीकरण नहीं कर रहा हूं, न उन्हें प्रयास करके 'लीजेंडरी' व्यक्तित्व बना रहा हूं। साहित्यिक चालबाजियों के इस जमाने में सचमुच विश्वास न होगा कि कोई ऐसा ठोस, सच्चा और सरल लेखक होगा—एक ऐसा व्यक्ति जिसका भीतर-बाहर एक था, जिसका व्यक्तिगत और साहित्यिक जीवन अलग नहीं था, जो पूरी तरह समाज और साहित्य को समर्पित था और तोड़ देने वाली परिस्थितियों में भी जो न झुका और न जिसने समझौता किया।

पर मुक्तिबोध ऐसा था। वह सचमुच महाप्राण था। ऐसा दूसरा कब होगा? ❑

—जनवरी, 1965

कहानी

सीता बनवास

लक्ष्मीनारायण लाल

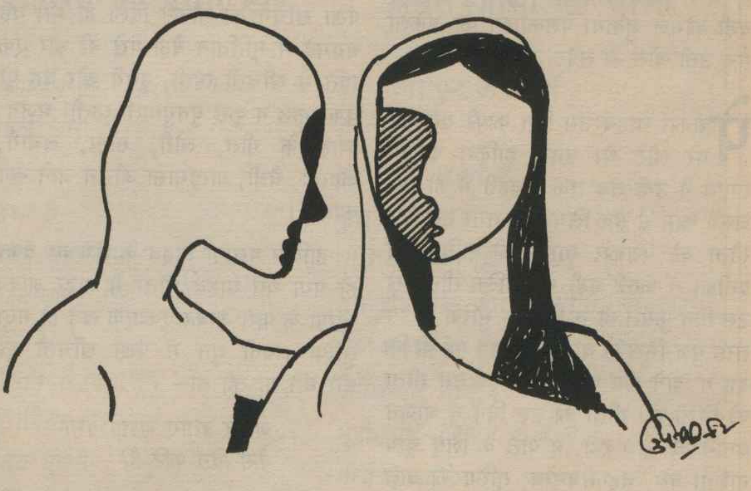

सब तरफ से हारकर, और पूरी तरह से निराश होकर अंत में पेशकार साहब-मुंशी जानकी प्रसाद ने अपनी खोई हुई पत्नी के लिए एक इश्तहारी पर्चा छपवाया।

सबसे ऊपर मोटे अक्षरों में छापा था—गुमशुदा की तलाश। उसके नीचे धर्मपत्नी का फोटो। और नीचे पत्नी का नाम, श्रीमती सीतादेवी, उम्र सत्ताइस साल, रंग सांवला, कद मझोला, छरहरा बदन, नाकनक्श खूबसूरत।

नीचे पूरी इबारत—हे मेरी प्यारी धर्मपत्नी, श्रीमती सीतादेवी, तुम इस दुनिया जहान में जहां कहीं भी हो, तुम्हें मालूम हो कि तुम्हारा अभागा पतिदेव मुंशी जानकी प्रसाद श्रीवास्तव, पेशकार, हाकिम परगना बहादुर तहसील अकबरपुर, जिला फैजाबाद, तुम्हारी याद में दिन-रात रोता रहता है। आज एक साल से ज्यादा हो रहा है जबकि तुम इस बदकिस्मत वर को छोड़कर चुपचाप न जाने कहां गायब हो गईं। मैंने जब से तुम्हें नाते रिश्तेदारों में, कुर्बोज्वार में कितना ढूंढा, कितना पता लगाया, मगर तुम मुझे अब तक न मिलीं। मैं अब इश्तहार के जरिए तुमसे हाथ जोड़कर अर्ज करता हूं कि तुम मुझे माफ करके अब सीधे घर चली आओ। मैं ईश्वर की कसम खाकर कहता हूं कि अब मेरे दिलो-दिमाग में कोई मलाल नहीं है। मैंने तुम्हें माफ किया, अब तुम मुझे माफ करो। मैं धर्म से कहता हूं कि अब मैं आइंदा न तुम्हें बद अल्फाज कहूंगा, न तुम पर कभी अपना यह बदसलूक हाथ उठाऊंगा। मेरी तमाम गलतियों की मुझे जरूरत से ज्यादा सजा मिल गई, अब और सजा मत दो मेरी रानी, मैं तुम्हारे पांव पकड़ता हूं। रहम करो मुझ पर। फौरन अब अपने उजड़े हुए घर में लौटकर इसे गुलजार करो। तुम जहां-कहीं भी हो, मुझे बेखटके खत दो, तार भेजो, मैं तुम्हें ले जाने के लिए फौरन वहां हाजिर हूं। मुझ गरीब पर अब रहम करो मेरी मलका।

तुम्हारा पतिदेव,
मुंशी जानकी प्रसाद, पेशकार हाकिम परगना, अकबरपुर—स्टेशन वाली गली।
जिला—फैजाबाद

इश्तहार में और सबसे नीचे छपा था मोटे अक्षरों में—जो कोई भी मेरी इस गुमशुदा पत्नी की खोज तलाश करके मुझे दे देगा, मैं उसे सफर किराया के अलावा पांच सौ रुपए नकद इनाम दूंगा।

और अंत में नीचे—ओंऽ रामजी, सदा सहाय।

पेशकार साहब का यह इश्तहार परगने के मुहर्रिर, अमीन, कुड्कमीन, चपरासी, हरकारा और कानूनगो, लेखपालों और ग्राम पंचायत के प्रधानों के जरिए पूरे फैजाबाद भर के इलाके में जगह-जगह फैल गया। फैजाबाद-इलाहाबाद वाली रेल की लाइन, फैजाबाद-बनारस वाली लाइन तथा फैजाबाद-सुल्तानपुर-प्रतापगढ़ से लखनऊ, जौनपुर जाने वाली रेल लाइनों के सारे स्टेशनों और वेटिंग रूमों में वह इश्तहार रातों रात चिपक गया। सारे बस स्टेशनों और सिनेमाघरों की दीवारों पर भी।

बेचारे पेशकार साहब के घर में और कोई न था। पहली पत्नी का स्वर्गवास ब्याह के दूसरे साल ही हो गया। यह बहुत पहले की बात है। यह दूसरी शादी बहुत-बहुत मजबूरी के बाद उन्होंने आज से सात साल पहले की थी। इससे भी आज तक कोई बाल-बच्चा नहीं।

पेशकराइन खुश थीं। घर में और किसी तरह की कोई कमी न थी। हां, साथी और मुंहबोली की कमी पेशकराइन को जरूर कभी-कभी सालती थी।

सो एक दिन वह भी अकस्मात मिल गया पेशकराइन सीता को। एक अन्हरी औरत—सुरिपा।

जाने कहां से घूमती भटकती हुई वह सुरिपा एक दिन पेशकार साहब के दरवाजे पर आई थी। यही दिसंबर के दिन थे। उससे एक दिन पहले वर्षा हुई थी। शाम का

वक्त। वह पेशकार साहब के मकान के बरामदे की सीढ़ी पर चुपचाप आकर बैठ गई थी। पेशकार साहब कचहरी से तब तक नहीं लौटे थे। बिल्कुल सूना था वह दरवाजा। पेशकराइन पड़ोस में कहीं रामायण के अखंड पाठ में शामिल होने गई थीं। लौटीं तो उस सुरिपा को देखकर सोचा कि कोई भिखारिन है। घर में से भीख लाकर जब वह देने लगी तो, सुरिपा ने कहा था, "हम भिखारिन नाहीं न मलकिन। हम हई मजदूर। जात रैदास। मुलुक यही अवध। करम अभागिन... ।"

सच, बेहद मीठी बोली थी सुरिपा की। बड़ी कोमल जुबान। पेशकराइन का अकेला मन उसी बोल में लपेट उठा।

पेशकार साहब उस दिन काफी रात गए घर लौटे थे। उनके हाकिम परगना साहब ने उन्हें तब तक कचहरी में ही एक जरूरी काम से रोक लिया था। मगर उस दिन सीता को पेशकार साहब की तनिक भी प्रतीक्षा न करनी पड़ी थी। बल्कि सीता को उस दिन फुर्सत ही न थी। वह सुरिपा से इस तरह घुल-मिलकर बातें करती रह गई थी कि वह न जाने कब की बिछुड़ी हुई उस सीता को मिली हो। सीता को उस दिन न भोजन बनाने की सुधि रही, न पति के लिए चाय नाश्ता। बस, वह मंत्रमुग्ध, सुरिपा की बात सुनती रही। उसके अंधी होने की बात। घर और नैहर से टूटने की बात। सारी की सारी बात—बीच-बीच में गीत के दर्द भरे टुकड़ों के साथ।

पेशकार साहब उस दिन बहुत नाराज हुए थे। इतने कि उन्होंने अपनी पत्नी सीता पर हाथ तक उठा दिया था। यह सब पहले की बात है।

उन्हीं दिनों की बात है। पेशकार साहब इक्के पर से कहीं गिर गए थे। शरीर भर में दर्द। सुरिपा रात-रात भर पेशकार साहब के बदन की मालिश करती रही।

हर इतवार को पेशकराइन के बदन पर उबटन और तेल। किस्से कहानियां, गीत, भजन के संगीत से वह घर ही नहीं, स्टेशन वाली गली का वह सारा मुहल्ला गूंजने लगा था। और सुरिपा की वह निश्छल, शिशुवत हंसी—जैसे किसी पहाड़ से झरना फूटता हो—वह हंसी।

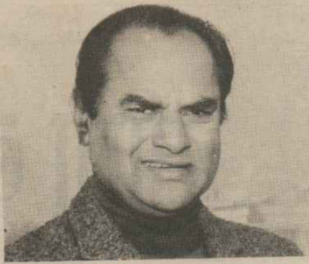

लेखक

गर्मियों की बात थी वह। पेशकार साहब ने सुरिपा को कचहरी में हाकिम के कमरे में पंखा खींचने की नौकरी दिला दी थी। वह बरामदे में मूर्तिवान बैठी पंखे की डोर एक गति से खींचती रहती, दूसरी ओर वह पूरे वक्त कुछ न कुछ गुनगुनाती रहती। भजन, ब्याह के गीत, लोरी, सोहर, लचारी, कहरवां, चैती, बारहमासा और न जाने क्या क्या... ।

हाकिम परगना साहब के लंच का वक्त हो गया था। साहब भीतर से बाहर आकर सुरिपा के पास आकर एकाएक खड़े हो गए। सुरिपा अपनी धुन में पंखा खींचती हुई धीरे-धीरे गा रही थी—

जतन बताए जइहो रामा
कैसे दिन कटि हैं।

हाकिम को न जाने क्या सूझा। उन्होंने सुरिपा को अपने बंगले पर बुलाया और हाकिम की मेमसाहब ने उसे वहीं अपने पास रख लिया। इधर पेशकराइन की बुरी हालत। बिना सुरिपा के एक छण भी उन्हें चैन नहीं। पर बेचारे पेशकार साहब इसमें क्या करते! हाकिम भगवान की बात। इनके बीच कौन पड़े।

सुरिपा को हाकिम के घर बुला लेने के सवाल पर पेशकार साहब और उनकी पत्नी में आए दिन झगड़ा होता। गुस्से में कई बार पत्नी पर पेशकार साहब का हाथ भी उठ गया। गाली-गलौच की फिजा। वह शांत सुखी घर अशांत और दुखी हो गया। और एक दिन गजब हो गया। पेशकराइन सीधे मेमसाहब के बंगले पर गईं। सुरिपा का हाथ पकड़े अपने घर की ओर चलीं। मेमसाहब ने इसका विरोध किया। मेमसाहब और पेशकराइन में तड़ातड़ कई सवाल-जवाब हुए। पेशकराइन को किस बात का डर! पचास रुपए रोज की आमदनी है उनके पेशकार मर्द की। तनख्वाह ऊपर से। हाकिम को सिर्फ वही तनख्वाह ही तो मिलती है।

मेमसाहब ने अपने साहब के पास चपरासी दौड़ाया। पेशकार साहब से हाकिम ने शिकायत की। पेशकार साहब को काटो तो खून नहीं। वह दौड़े हुए घर गए। सीता को बेतरह मारा। बीच-बचाव में बेचारी सुरिपा भी पिटी। और पेशकार साहब सुरिपा को उसी दम मेमसाहब के हवाले कर आए।

रात को घर लौटे तो उसी अशांत घर में पेशकार साहब के मुंह से यह निकला कि "जा तू भी इस घर से निकल जा...।"

सुबह पेशकार साहब जब सोकर उठे तो उन्होंने देखा—घर सूना पड़ा है। सीता कहीं घर से लापता थीं।

इस अंत की पेशकार साहब ने कभी कल्पना भी न की थी। पेशकार साहब बेहाल होकर अपनी पत्नी की तलाश करने लगे। नाते-रिश्तेदारों के बीच छानकर भी उन्हें कोई भी फल न मिला।

और एक दिन जब निराश होकर पेशकार साहब अपने सूने घर में बैठे रो रहे थे, तो उन्होंने देखा, उनके सामने वही सुरिपा आकर खड़ी है। और उन्हें समझा रही है, "हे साहेब, रोने से अब क्या होगा! धीरज धरो बाबू। अभाग तो हमार कर्म हैं। जहां पैर रखा, वहीं आग लग गई... हे साहेब, ई जिन्गानी ही ऐसी है। जहां परेम का हाथ फैलाओ, वहीं जिन्गानी की आग की लपट लगे। विश्वास करो साहेब, बहिनजी उसी परेम से ही रूठकर कहीं चली गई हैं। बहिनजी मुझसे अक्सर अपनी बातचीत में कहती थीं कि हे हो सूरा, औरत को कोई प्यार-इज्जत करे तो औरत घायल हिरनी के माफिक क्यों तड़पे? इतनी भूख-प्यास लेकर औरत क्यों जनमती है, सूरा? आखिर क्यों? विधाता की ऐसी मरजी क्या थी कि उसने मरद औरत को दो आंखों से देखा।"

सुरिपा पेशकार साहब के पैताने बैठी उन्हें समझा रही थी। बेहद ममता और स्नेह की बानी में। पेशकार साहब कचहरी से तब समय से घर लौटते थे। कहीं जाना-आना नहीं, कोई देर-सवेर नहीं। स्वयं दोनों वक्त भोजन बनाते। पहले सुरिपा को भोजन करा के तब खुद खाते।

और सुरिपा से वह अक्सर वही एक ही

सवाल पूछते थे, "सीता कहां होगी? वह क्यों इस तरह भाग गई?"

एक दिन सुरिपा ने नया जवाब दिया "सीता को किसने बनवास दिया था साहेब? राम ने या राजा दशरथ ने?"

और उसने खुद उत्तर दिया था, "सीता को बनवास राम ने दिया, न दसरथ ने। सीता ने खुद बनवास लिया था, राम को पाने के लिए। क्योंकि राम ने तो अपनी सीता को अगिन में डाल दिया था। और वह सीता तो माया थीं। असली सीता तो अगिन में समा गई थीं। इसलिए बनवास में जाकर उस सीता ने अपने से ही अपने आप को पाया था। एक असली सीता। एक माया सीता। बीच में राम। तभी तो राम अंत में सीता को मिले थे।"

कभी-कभी रात-भर पेशकार साहब उस सुरिपा से बातें करते रह जाते थे। और जब इस तरह सुबह हो जाती थी, तब पेशकार साहब को लगता था—उन्होंने रात-भर उसी माया सीता को ही देखा है। और तब उन्हें पहली बार बिल्कुल नए अर्थों में यह महसूस होता था कि जो माया है, वह असली से, मूल से कितनी ज्यादा मोहक और खूबसूरत है। यह एहसास उन्हें बहुत बहुत अच्छा लगता था। तब उन्हें सुरिपा की बात समझ में आती थी कि सीता ने खुद बनवास लिया था, राम को पाने के लिए। और राम ने उस बनवास के बीच पहली बार अपने आप को पाया था। अपने को, यानी सीता को। एक ओर असली, दूसरी ओर माया, बीच में वही राम। और पेशकार साहब अक्सर रात को उठकर स्नान करते और अकेले पूजा के कमरे में जाकर रामचरित मानस का पाठ करने लगते। वही अयोध्याकांड। वही सुंदरकांड। उनके सामने पत्नी का वही फोटो होता। और वह अनहद स्वर में कहते, "मेरी सीता रानी, तुम मुझे माफ करना। अब तो माफ कर दो। मुझे क्या पता था कि तुम दो हो—एक असली और एक माया।"

फिर पेशकार साहेब ने अंत में हारकर वही इश्तहार निकलवाया था। गुमशुदा की तलाश।

और एक दिन सच निकला कि वह पेशकराइन सचमुच माया थीं। आषाढ़ के

कविता

●

उदास हिमालय—दो कविताएं

रमेश कुंतल मेघ

हिमालय का प्रथम स्पर्श

हिमालय को
पहली बार
मैंने
छुआ है—
मानो सहस्रदीप
वक्षःस्थल
धरा है!
मस्तक है हिमालय
धमनियां हैं नदियां
शिव मुझमें
अंतर्यामी
पूर्णास्तित्व
है।
आज मैं अनुभूति का हिमालय
रोम रोम रंग गया!
आज मैं
सचमुच
अर्द्धनारीश्वर
बन
गया!
आज मैं
उदात्त का
कलागात
कोण-कोण
चूम गया!!

अनंत जन्मों की माला

दस हजार फुट ऊंचाई में
मैं
दस हजार जन्मों का
कुंज हूं।
नीचे पिघलती हिम-सुपर्णा
गुलाबी, नीले, बैंगनी, अंगूरी, चाकलेटी
मेघ-कमलों में खिलती
कमलनाल थामे...
मुट्ठी बांधे—शिखरों के बच्चे!
नीचे के झरने
सूतफेनी—
गांठें डालते हैं
मेरे इन हजारों जन्म-दिवसों की!
नीचे भटकते
शिला—भालू
मोहिनी सांझों पर
आसक्त हैं।
बांसों के छेदों से
गुनगुनाते भंवरे
मेरा संदेश वहां गाएंगे
जहां कभी नहीं हम जाएंगे।
हिमालय से ध्रुवांतों तक एकतान हो गया
जन्मों का महोत्सव
प्रकृतिप्रिया-कवि की सप्तशती! ❑

—अक्तूबर, 1964

दिन थे। सुबह-सुबह पेशकराइन सीता अकबरपुर स्टेशन पर उतरकर सीधे अपने घर में आ खड़ी हुई। पेशकार साहब आश्चर्यचकित पत्नी का मुंह देखते रह गए। सुरिपा खड़ी खिलखिलाकर हंसती रही—वही फूटते झरनों वाली निश्छल हंसी।

पेशकराइन ने बताया कि वह भागकर लखनऊ में थीं। अपने नैहर के एक ठाकुर थे—लखनऊ में पुलिस कांस्टिबिल। कुछ दिन उनके यहां। फिर एक मास्टराइन के घर भोजन बनाने की नौकरी।

वाह रे बनवास वाली सीता।

पेशकार साहब बहुत खुश थे। बहुत खुश।

एक दिन पेशकार साहब ने अपनी पत्नी से कहा, "सुनो हे, नाते-रिश्तेदार, गली मुहल्लेवाले तुम्हारे बारे में तरह-तरह की बातें करते रहते हैं। सो वह मुझे अच्छा नहीं लगता। मुझे पूरा यकीन है, इत्मीनान है कि तुम पवित्र हो, पाक हो, मगर सबका मुंह बंद करने के लिए, मैं सोचता हूं, तुम अपनी परीक्षा दे डालो। मामूली, यों ही जरा-सी बात। क्यों?"

पेशकराइन समझ गई। उन्होंने झट उत्तर दिया—मैं क्यों परीक्षा दूं, जब आपको मुझ पर यकीन है, इत्मीनान है। फिर वही पुरानी बात... ।

पेशकराइन ने अग्नि-आंखों से पेशकार साहब की ओर ताका। दो-चार दिन वह चुप रहे, फिर एक दिन उन्होंने बताना शुरू किया कि उनके बाबा के जमाने में भी ठीक इसी तरह से एक घटना घट चुकी थी। दादी की देवरान घर से कहीं भाग गई थीं। आठवें दिन वह मिलीं। दादी ने तब उनकी परीक्षा ली थी। उनके दाएं हथेली पर आग के दहकते अंगारे रखकर। सबके सामने हथेली पर वह अंगारा रखा गया। पर हाथ नहीं जला। वह पवित्र हाथ। उस हाथ से तब वह जिस किसी को भी जो उठाकर दे देती, वह उसके लिए अमृत होता।

पेशकराइन बिगड़ खड़ी हुई, "यह तो पोंगापंथी की बात है? मैं क्यों इस तरह से परीक्षा दूं। मैं तो यह जानती हूं कि आग का धर्म जलाना है। हाथ जैसी भी हो, वह जलेगा, जरूर जलेगा।"

"इतवार का दिन था। सुबह से ही अपने कमरे में बैठे पेशकार साहब वही रामायण का पाठ कर रहे थे। सुरिपा उनके कमरे के दरवाजे पर मूर्तिवत बैठी थी। उसकी सधी आंखों से रह-रहकर आंसुओं की धारा बही जाती थी।"

"नहीं जलेगा। अगर वह हाथ पवित्र है तो।"

"तो पहले तुम इस तरह अपनी परीक्षा दो।" पेशकराइन ने कहा।

"मैं क्यों दूं?" पेशकार साहब ने कहा, "मैं कहीं इस तरह थोड़े भागकर गया था।"

"तो इसी बात की तुम पहले परीक्षा दो न, कि तुम कहीं भागकर नहीं गए थे।"

पेशकार साहब चुप। वह पत्नी की परीक्षा लेने के लिए, अपनी परीक्षा देने को तैयार हो गए।

आज से ठीक पांचवें दिन मंगलवार आएगा। उसी दिन पेशकार अपनी हथेली पर आग का दहकता अंगारा रखेंगे। यह तय हो गया।

इतवार का दिन था। सुबह से ही अपने कमरे में बैठे पेशकार साहब वही रामायण का पाठ कर रहे थे। सुरिपा उनके कमरे के दरवाजे पर मूर्तिवत बैठी थी। उसकी सधी आंखों से रह-रहकर आंसू की धारा बह जाती थी।

संध्या होते-होते पेशकार साहब का वह पाठ समाप्त हुआ। घर में एकदम सन्नाटा। सुरिपा पूरे घर में बहिनजी-बहिनजी का नाम लेकर पुकारती रही। कहीं कोई आवाज नहीं।

वह धीरे-धीरे पेशकार साहब के कमरे में घुसी। टटोलते-टटोलते उसने पेशकार साहब का पलंग पा लिया। उसने छूकर समझा कि पेशकार साहब दिन भर रामायण पाठ से थककर सो गए हैं। पैरों के ऊपर कंबल को छूकर उसने धीरे से जगाना शुरू किया "हे! हे साहब, जागो न। एक बात कही। बुरा मत मानो। सुनो। मैं बता रही हूं साहेब, आप अग्नि परीक्षा मत देना, साहेब। मेरे पेट में अब वह आ गया है। भगवान राम कसम साहेब। परीक्षा मत देना, हां।"

पेशकराइन ने आंख खोलकर सुरिपा को देखा। कंबल के नीचे पेशकराइन का शरीर जिस तरह कांपने लगा था, उससे कहीं अधिक सुरिपा के दोनों हाथ कमरे की हवा में कांप रहे थे।

वह फिर झुकी। कंबल पर से हाथ सहलाती हुई उसने बहुत मजबूती से पलंग का दायां पाया पकड़ लिया। फिर वह मुंह ऊपर करके बोली, "विश्वास करो साहेब, मैं यह बात किसी से कभी नहीं बताऊंगी।"

पेशकराइन ने देखा, सुरिपा का वह जलता हुआ मुंह आंसुओं से अब भीगने लगा था। जैसे प्यासी धरती पर आषाढ़ की पहली घनघोर वर्षा हुई हो।

थोड़ी रात बीतने के बाद पेशकार साहब की आवाज घर के आंगन में उभरी। उन्होंने सुना, सुरिपा बाहर बरामदे में कहीं बैठी गा रही है। पेशकार साहब अपने कमरे में गए। रोशनी में देखा, सीता कंबल ओढ़े अब तक पलंग पर पड़ी थी।

"अब तक सो रही हो? लो देखो न, मैं परसों के लिए परसाद लेकर आ गया।"

पेशकराइन उठकर बैठ गई। एकटक वह पति के मुंह को निहारती रहीं।

धीरे से बोली, "अब वह परीक्षा नहीं होगी।"

"क्यों? आखिर क्यों?"

"बस, यों ही।"

पेशकराइन के गंभीर मुंह पर एक मुस्कान रंग उठी। वह पलंग से नीचे उतरकर बड़ी शालीनता से बाहर आंगन में चली गई। ❑

—मार्च, 1965

मूल्यांकन

कवि केदारनाथ अग्रवाल

विष्णुचंद्र शर्मा

वही फूल-पत्ते जिन्हें कम से कम केदार का देशवासी हर ऋतु में पहचानता है, देखता है, केदार की कविता में उनका सहज चित्रण है।

जन-जीवन और प्रकृति का प्रवाह केदार को आकृष्ट करता है। उनके काव्य में जन-जीवन का सहज संस्कार है, जो सहज है, लेकिन दुर्लभ नहीं है, जिसे खुली आंखों से पर्वत पर, नदी में, विस्तृत खेतों में, संकरी टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में और जन-जीवन के प्रवाह में देखा जा सकता है। वे फूल-पत्ते, जिन्हें कम-से-कम केदार का देशवासी हर ऋतु में पहचानता है, देखता है, केदार की कविता में उनका सहज चित्रण है। प्रकृति केदार के जीवन में घुली-मिली है—पहाड़ों में बादलों-सी। चट्टान-सी दृढ़ता की मानवी रेखाकृतियों और मुलायम, मसृण पत्तियों का स्वर, दोनों को केदार अपने देश की सहज संस्कृति मानते हैं। उनकी अनुभूति का यह विस्तृत देश, सहज है, संस्कृत है, दृढ़ है और वह उसके गायक हैं—

मेरा देश सफल गायक है
शाम-सवेरे रागिनियों के स्वर झरते हैं
किरनों के पक्षी गाते हैं।
मेरा देश सफल वादक है,
तरु के पात कमल के शतदल बज उठते हैं,
और हवा को झनकाते हैं।
मेरा देश कुशल नर्तक है
मोरों के पखने फैलाए वह नाचा करता है वन में
मेरा देश खगों की प्यारी क्रीड़ाओं का मनहर घर है
नीले कमलों, पीले कमलों, अरुणारे कमलों का घर है,
मेरा देश रसों से सींचा,
रागों से अनुरागित घर है
सूरज, चांद सितारों से आलोकित घर है।

स्वतंत्रता के पूर्व और स्वतंत्रता के बाद केदार के काव्य व्यक्तित्व में राष्ट्रीय सहज जीवन का संगीत गूंजता रहा है। वह भावुक मन के उबाल और रोमांटिक भावावेश को भी पहचानते हैं और जीवन के प्रवाह को रुद्धबद्ध करने वाले मानव मूल्यों को भी पहचानते हैं। समाज व्यवस्था, मानव मूल्यों और मानव के अधिकारों के प्रति उनके मन में स्वतंत्रता के पूर्व भी गहरा असंतोष था। यह असंतोष केदार की प्रकृति है, और वह सामाजिक जीवन पर पूर्ण विश्वास रखते हैं। बांदा में, जहां ज़्यादातर उनका समय बीता है—पर्वत, घने वृक्ष, ऊपर चंदोवे की तरह फैला आकाश, उन्हें आकृष्ट करता रहा है। वंशी बजने पर उनका मन केन के तट पर कुछ खोजता है और वह खुद से कहते हैं—

मांझी न बजाओ वंशी, मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता कि जैसे तृन डोलता

और तृन की तरह डोलने वाला उनका मन सहृदय मनुष्य का मन है, जिसके सामने कठोर और बोझिल जीवन है और उस जीवन की कड़वी समस्याएं हैं—

जनता का जीवन
अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी का जीवन है,
संज्ञाहीन, अर्थहीन,
बेकार, चिरे-फटे टुकड़ों-सा पड़ा है।
देरी है—
एक दिन, एक बार आग के छूने की,
राख हो जाना है।

यह संज्ञाहीन, अर्थहीन, और बेकार जीवन केदार का निजी जीवन भी है और स्वतंत्रता के पूर्व संघर्ष करती हुई जनता का आज तक का 'चिरे-फटे टुकड़ों-सा' कठोर जीवन है। केदार के लिए यह जीवन प्रेरक है क्योंकि वह अपराजेय मनुष्य की जीवनी-शक्ति पर विश्वास रखते हैं। वह क्षीण, वृत्तिहीन, त्रस्त जीवन से उभरकर सामने आने वाले मानव की शक्ति को पहचानते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व भी जनता का जीवन ही उन्हें प्रेरित करता था और स्वतंत्रता के बाद जनता का त्रस्त क्षीण चिरे-फटे टुकड़ों-सा जीवन उन्हें बल देता है। उन्होंने लिखा है—

जो जीवन की धूल चाटकर बड़ा हुआ है
तूफानों से लड़ा
और फिर खड़ा हुआ है
जिसने सोने को खोदा—
लोहा मोड़ा है
जो रवि के रथ का घोड़ा है
वह जन मारे नहीं मरेगा—
नहीं मरेगा।
जो जीवन की आग जलाकर आग बना है,
फौलादी पंजे फैलाए नाग बना है,

जिसने शोषण को तोड़ा,
शासन मोड़ा है,
जो युग के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा—
नहीं मरेगा।

सूक्ष्म इंद्रिय बोध और मार्मिक करुणा में पककर समृद्ध व्यक्ति ही जीवन की इस सहज आग को झेल सकता है। यह रूप-रस गंधमय सौंदर्य केदार के लिए महज आकर्षक वस्तु ही नहीं है, बल्कि यह मनुष्य की इच्छाशक्ति की बहुत बड़ी प्यास है। जो जीवन की आग जलाकर आग बनता है, उसके हृदय में मनुष्य का दिल भी होता है, इंद्रिय बोध भी होता है, जीवन-स्पंदन होता है और इसलिए केदार इस पूरे युग के रथ को खींचने वाले घोड़ों का साहस, सहज रूप में चित्रित करते हैं। जो सहज है, कुछ कवियों के लिए वही सामयिक तथा उपेक्षणीय भी हो सकता है। लेकिन जो मनुष्य केदार की तरह सूक्ष्म-सौंदर्य-बोध को विकसित होते हुए देख रहा है, वह मनुष्य के साहस को, नदी का प्रवाह मानकर प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। उन्हें नदी से प्यार है, क्योंकि उन्हें संघर्ष में आगे बढ़ने वाले मनुष्य से भी प्यार है। वह नदी का दिल भी टटोलता है और गरबीली चिड़िया उनसे कहती है—मनुष्य की मार्मिक करुण ममता। यह मार्मिक करुण ममता केदार की सहजता है, और उन्हें उससे प्यार है—

बहुत प्यार है

वह चिड़िया जो चोंच मारकर,
चढ़ी नदी का दिल टटोलकर,
जल का मोती ले जाती है—
वह छोटी गरबीली चिड़िया—
नीले पंखों वाली—मैं हूं,
मुझे नदी से बहुत प्यार है।

और गरबीली चिड़िया की तरह केदार स्वाभिमानी मनुष्य के साहस को, जन-जीवन के साहस का संगीत मानते हैं। वनस्थली में, वह जन-जीवन की वनस्थली का संगीत सुनते हैं। नगाड़े चौड़ी कड़ी मनुष्य की छाती फैलाकर उन्हें अपना संगीत सुनाते हैं और वह दबे-भिचे मनुष्य को जिंदगी के गुलाब की महक मानते हैं, सारस का स्वर कहते हैं, काली मिट्टी मानते हैं। खुला आज का मानव जीवन उनके सामने है। आज की तीव्र संवेदना है। सहज, आघात को झेलने वाली खुली जिंदगी है और इनके बल केदार साहस के साथ ऊंचे उठाते हैं।

आज

खोल चौड़ी कड़ी छाती को प्रतिक्षण
अब नगाड़े, कब नगाड़े
ढोल, टीले बोल को ऊपर उठाने
अब नहीं दम जोर भरते।

और प्रतिक्षण प्रतीक्षा करते हुए सारस के स्वर उनकी 'युग की गंगा' को मनुष्य के प्रेम से उदात्त और जीवन बोध से मूल्यवान बनाते हैं। यह खोज केदार की युग की गंगा की सच्ची अनुभूति है—

वनस्थली का हृदय चीरता,/उठता गिरता,
सारस का स्वर/टिरटों टिरटों
मन होता है—/उड़ जाऊं मैं
पर फैलाए सारस के संग
जहां जुगुल जोड़ी रहती है/हरे खेत में,
सच्ची प्रेम-कहानी सुन लूं/चुप्पे-चुप्पे।

केदार भी अपने समसामयिक दूसरे कवियों की तरह कालिदास, रवींद्र और तुलसीदास से प्रेरणा लेते रहे हैं, त्रिलोचन और नागार्जुन के व्यक्तित्व पर भी कालिदास के सूक्ष्म-सौंदर्य-बोध का सहज प्रभाव है। उनकी भावनाओं को कालिदास की अंतर्दृष्टि प्रेरित करती है। केदार में भी प्रकृति का और मानव-प्रकृति का सहज लोकगीतों-सा स्वाभाविक भाव-चमत्कार है। वह इंद्रियों और भावजगत के परिवर्तन को बड़ी तीव्र अंतर्दृष्टि से देखा करते हैं। उनके लिए ये तथ्य कालिदास की तरह समाज निरपेक्ष नहीं है। वह मनुष्य के साहस को, उसकी भावदशा को, व्यापक जीवन का स्पंदन मानते हैं, और भाव विभोर गेयता तथा भाषा का असाधारण अधिकार और चरित्रगत नम्रता उनके काव्य में कालिदास-सी ही सूक्ष्म है। वह निराला के ओज को स्वस्थ और प्रेरक तत्व मानते हैं। उनका भावलोक फ्रांस के इमेजिस्ट कवि रिंबो और प्रतीकवादी मेलार्मे की तरह चमत्कारपूर्ण या रहस्यमय नहीं है। वह राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से प्रेरणा लेते हैं और राष्ट्रीय जोश में केदार नीत्से की अराजकतावादी भावना या व्यक्तिवादी नीति के भी विरुद्ध हैं। शमशेर ने यूरोप के आधुनिक कवियों पर विचार करते हुए बताया है कि—

'रूस में इसी प्रकार मायकोवस्की फ्रांस की स्त्रैण अधोमुख भावुकता का शिष्य होता हुआ भी राष्ट्रीय भविष्यवाद का कवि हुआ। उसकी रचनाएं ओजपूर्ण यद्यपि अर्थ में अस्पष्ट प्रतीकों की असंबद्ध श्रृंखला होती थीं।'—दोआब

केदारनाथ अग्रवाल में मायकोवस्की की अधोमुख भावुकता का स्त्रैण सत्य नहीं है, बल्कि अधोमुख भावुकता के विरुद्ध वह दुर्जेय जनशक्ति और राजनीतिक भावनाओं से शक्ति लेते रहे हैं। जिस तरह वाल्ट ह्विट्मैन का 'प्रेरक स्वप्न' शमशेर की दृष्टि में 'डेमोक्रेसी' था, उसी प्रकार गोर्की, पाब्लो नेरुदा, नाजिम हिकमत, निराला की तरह केदारनाथ अग्रवाल का भी प्रेरक स्वप्न समाजवाद रहा है। वह इस स्वप्न के राष्ट्रीय संघर्ष के कवि हैं। वह अंतर्राष्ट्रीय भाव-संपन्न समाजवादी मानव-मूल्यों के स्वप्न-द्रष्टा कवि हैं। उनका स्वप्न है—

मैं कहता हूं/फिर कहता हूं/हमको तुमको प्रान मिलेगा।
मोरों-सा नर्तन करने को/पूरा हिंदुस्तान मिलेगा।

महाजनी सभ्यता बढ़ती जा रही है और उसने मनुष्य के मन को महाजनी समाज की रुचि तथा दृष्टि दी है और उस दृष्टि से एक भयानक तनाव आज के नागरिक जीवन में बढ़ रहा है। सामाजिक और नैतिक मर्यादाएं टूट रही हैं और पारिवारिक संबंधों की अटूट श्रृंखला छिन्न-भिन्न हो रही हैं। स्वाभिमानी कवि केदार ऐसी स्थिति में विश्लेषण करते हैं, और तीव्र आधुनिक संवेदनाओं को केन के प्रवाह की तरह जीवंत मानते हैं। उन्होंने नव पर नव लोक ध्वनियों से सुनियोजित आधुनिक ऋचाएं लिखी हैं। वह अपने व्यक्तित्व को किसी भी दृष्टि से रोग-ग्रस्त या कुंठित नहीं बनने

देना चाहते हैं। सामाजिक मर्यादा में वह तुलसी की सम्मान भावना, मातृत्व का आदर, जीवमात्र से सहानुभूति आदि की मर्यादित आदर्श परंपरा और उसके सिद्धांतों पर आस्था रखते हैं। भारतीय संस्कारनिष्ठ बहुत-सी रूढ़ियों के विरुद्ध वह कबीर की तरह नंगी और बेलौस बातें भी कहते आए हैं। वे बातें समाजवाद की बातें हैं। यों केदार खुद पवित्र रहना चाहते हैं, इसीलिए संस्कारनिष्ठ बातों के पीछे उनका व्यक्तित्व रहता है। पवित्र सामाजिक, नैतिक और वैयक्तिक संबंधों पर वह जोर देते हैं। उन्हें सुरक्षित रखना चाहते हैं। लेकिन पवित्रता या संस्कारनिष्ठ बात, पिछले समय में धर्मभावना के नाम से जानी जाती थी और आज वह भावना कर्मठ-समाजवादी मूल्य का विकास है। और केदार उसके लिए प्रयत्नशील हैं। वह मनुष्य के हित में काम आने वाले व्यक्ति को देश का संरक्षक मानते हैं। देश का अनुराग, समाजवाद का लक्ष्य, मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उनके मन में एक तेज कर्मठ धारा है। और केदार उस कर्मठ पानी के व्यक्तित्व को सारे देश का व्यक्तित्व मानते हैं—

तेज धार का कर्मठ पानी,/चट्टानों के ऊपर
चढ़कर/मार रहा है
घूंसे कसकर/तोड़ रहा है तट चट्टानी

कठोर चट्टान को तोड़ने वाला व्यक्तित्व न केवल भारत के मनुष्य का है, बल्कि अफ्रीका के संघर्षरत मनुष्य का है, और उन सभी मनुष्यों का है, जो भोगवाद, नियतिवाद, अस्तित्ववाद की आत्यंतिक समस्याओं से संघर्ष कर रहे हैं। केदारनाथ अग्रवाल थके-हारे नियतिवादी कवि नहीं हैं और न ही वे अस्पष्ट बौद्धिक काव्य के चमत्कार के पक्षपाती हैं। वह काव्य के नाम पर कविताएं लिखने वाले प्रयोगवादी भी नहीं हैं। और वह सिद्धांतहीन आधुनिकता के हिमायती भी नहीं हैं—जिसका निरा सीधा-सा अर्थ भोगवाद है। केदार जीवन के कवि हैं और घोर उदासी आने पर भी वह हंसते-हंसते, जीने का, रस पीने का, स्वप्न देखा करते हैं। उनका स्वप्न हमारे देश का राष्ट्रीय स्वप्न है, इसलिए उनकी अभिलाषा हमारे जन-मन की अभिलाषा है। वह देश के संरक्षक का साहस जानते हैं और वह उसी देश की प्रेरक कृतियों के स्वाभिमानी कवि हैं—

देशवासियों से

कंकरीट की सड़क बनाओ,
आओ जाओ
जीवन का क्रम सुभग बनाओ
काम पड़े तो लड़ो लड़ाई
चूको नहीं करो अगुआई।
लिख सकते हो,
अथवा कागज रंग सकते हो
तो अपनी प्रेरक कृतियों से
मार्मिक वाणी से, रंगों से
नित्य नए इंसान जगाओ।
गा सकते हो
तो अपने गीतों के द्वारा,
युग के चेतन स्वर बन जाओ
गांव, नगर, घर, वन में छाओ
ढोल बजाओ
धूम मचाओ।
तब तुम निश्चय जान सकोगे
तुम हिमगिरि हो,
अपनी लंबी बांह पसारे तुम्हीं खड़े हो,
तुम्हीं देश के संरक्षक हो।
और तुम्हारा ही मस्तक है जग को छूता। ❑

—मई, 1965

कविता

वसुधारा

विजयदेव नारायण साही

कौन जादूगर
मेरी काया में प्रवेश कर गया है,
जो मुझे द्युलोक से परे
अनंत चमकीले ब्रह्मांडों का
दर्शन करा रहा है?
हजारों आदित्यों का निर्झर
इन लोकोत्तर छवियों पर बरस रहा है
और उनकी रोशनी में
प्रसन्न बच्चों की तरह
सारे नक्षत्र किलकारी मारते
दौड़ रहे हैं।
यह कौन महादानी है,
जो दोनों हाथों से सागर उलीच रहा है
और किनारे खड़ी
असंख्या प्यासी भीड़ को
नहलाता चला जा रहा है?
ये कौन लोग हैं,
जिनके बलवान पुट्ठे
धुले हुए सेवों की तरह चमक रहे हैं,
उनके चेहरों पर
असीम तृप्ति का उल्लास है
और सुख के कारण,
उनकी आवाज
गले में अटक-अटक कर
रह जाती है? ❑

[लंबी कविता का एक अंश]

—दिसंबर, 1965

कहानी

गति

रमेश बक्षी

प्रेसः

ऊपर कोई भी शीर्षक न हो। मैं यह भी चाहता हूं कि इन पृष्ठों का गैली-प्रूफ भी न पढ़ा जाए, शुद्ध-अशुद्ध जैसा-जो-कुछ कंपोज हो जाए, मशीन पर चला जाए। इस विधि से मेरी शैली सीधे पाठकों तक जा सकेगी।

कलकत्ताः

यह कोई पहली बार नहीं हुआ है, कई बार यह का यही हो चुका है। अपने आप को दीवालिया अनुभव करता हूं, तो तुम इतने नजदीकी हो, इसलिए बुरा फील करते हो, लेकिन मुझे अपना-आप ईमानदार लगता है। किसी का खून कर देना बड़ी बुरी बात है, फिर भी उसके बाद पुलिस थाने में जाकर आत्म-समर्पण करते, स्वयं में बड़ा महिमान्वित हो उठते हैं हम। मैं तो हर काम में यही महसूस करता हूं, बाज वक्त झूठ बोलने में भी। गंगा में चुन-चुनकर पत्थर फेंके हों तो, हावड़ा ब्रिज की भीड़ के बीच धक्के खाते स्थिर खड़े होकर पानी की छाती पर जहाजों की चहलकदमी देखी हो तो, दूसरों-तीसरों के बागों में फले केंडीटफ को देख अपनी बागवानी के करिश्मे याद आए हों तो, तकिए की जगह महाभारत रखी हो तो, और उजेले से बचने के लिए आंखों पर *स्टेट्समैन* ओढ़ लिया हो तो, हर बार मुझे यही लगता है कि बैंक पिट गया है और मैं दरवाजे पर उल्टा ताला लगाकर भाग आया हूं। सच गुड्डी, जिस दिन तुम कोर्ट में खड़ी होकर मेरे लिखे की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगा दोगी, उस दिन मुझसे जवाब नहीं बन पड़ेगा। तुम्हारी मनःस्थितियों पर कहानियां लिख लीं, तुम्हारे खतों को अपनी डायरी में उतार लिया, तुम्हारे उधार दिए प्रतीकों को भुनाकर प्रशंसाएं पा लीं। मेरे लेखन का निन्यानबे प्रतिशत तुम्हारी बाड़ी से चुराया हुआ है, कभी एमिली और सारोयां से चुराता, तो लोग हल्ला मचा देते, लेकिन...। किसी ने कहा भी है न, *आल ओरीजिनलिटी इज़ अनडिटेक्टेड थेफ्ट।*

कलकत्ताः

ऊर्ध्वश्वास चल रही थी, जैसे किसी बिंदु पर सांस थम जाएगी..... छाती में खूब बलगम भरा था, इतना कि एक लकीर भर आक्सीजन अंदर न जा पाए..... पहले बस में, फिर ट्राम में, फिर पैदल दौड़ते हुए कई रास्ते पार कर डाले बाधा-दौड़ की शक्ल के..... एक मृत्यु हुई, केवल दस दिन के अंतर से दूसरी मृत्यु हुई, लगा यह कि एक और मृत्यु बाकी है..... और बाद का सारा समय उस एक मृत्यु की प्रतीक्षा में बीता। मन भरा हुआ है और मां-बाप-पत्नी-पुत्र वाली तफसीलों में उलझना नहीं चाहता। मन ऐसा भरा हुआ है कि देश-काल-जल-वायु पर से ऊपर उठा जा रहा हूं। मन इतना-इतना-इतना भरा हुआ है कि.....। जहां शब्द और उपमाएं चुक जाती हैं, उसी बिंदु पर रुककर पिछले सप्ताह शनिवार को एक खूबसूरत शरीर के साथ ईडन गार्डन में गुजारकर मैंने डायरी में एक पंक्ति लिखी हैः 'मुझे लगता है, मेरा दर्द मेच्यौर हो गया है, अब मैं निश्चय ही बेहतर लिख सकता हूं।' यह पंक्ति—जैसे सूरज के सामने खड़ी दीवार को तोड़कर किसी ने रोशनदान बना दिया हो। उस पंक्ति को ('उस' में दूरी लगती है—) नहीं, इस पंक्ति को कई बार पढ़ा है, वैसी ही कीमती और साधिकार अर्जित लगती है, जैसे आफिस की ओर से बनारस गया होऊं और लौटने पर पूरा-पूरा टी.ए. मिल गया हो।

कलकत्ताः

तुम्हारा खत—'इतने सारे मासिक, साप्ताहिक, ढेरों और किसी में तुम्हारा नाम नहीं। यह तो अब तक एक वर्ष का अज्ञातवास होने आया।' यह क्यों, मेरे एक साल के अज्ञातवास पर तो तुम्हारी दृष्टि पहुंच गई, लेकिन इससे पहले के बारह वर्षों के वनवास की तुमने खैरियत भी न पूछी? शायद इसलिए कि तब मैं जंगलों में ठोकरें खाता फिर रहा था, फिर अब मैं महानगर की चौरंगी पर हूं? शायद इसलिए कि वनवास में तुम्हारा मन नहीं रमता था और मेरा अज्ञातवास तुम्हें अब लुभावना लग रहा है? शायद इसलिए कि वनवास काल में मैं उजागर था—मेरे कंद-मूल-भोजन और मेरा पर्णकुटी-शयन सबका देखा-भाला था और इस अज्ञातवास में, मैं शामें कहां गुजारता हूं, यह मुझे भी नहीं मालूम! शायद इसलिए कि मेरे वनवास से तुम्हें वह खतरा नहीं था, जो मेरे इस अज्ञातवास से है! तुम हो तो आखिर बदत्तमीज बाप की औलाद ही,

यह कांसपिरेसी तो पापा से नहीं कर ली कि इस एक वर्ष में साजिश करके इसे एक्सपोज कर दिया जाए और शपथ के अनुसार इसे फिर बारह वर्ष वन भोगना पड़े..... जा, मैं तुझसे डरता नहीं। *आमादेर भय काहारे? बुड़ो चोर डाकात की आमादेर भय करते पारे? आमादेर रास्ता सोजा, नाइको गलि-नाइको झुलि, नाइको थलि...*
ओरा आर या काड़े काड़ुक, मोदेर पागलामि केउ काड़बेना रे।'

कालिकाता:

कल बहुत सख्त लिख गया ना? ना, मेरा वह मतलब नहीं था..... ऐसे ही गुस्सा हो आया था... अदरवाइज मत लेना प्लीज।...

विराट नगर में फंसा हूं, महानगर में। क्या करूं कि मुझे वैसा ही लग रहा है: वेश छिपाए हूं, आदतें बदल ली हैं, खाना दूसरी तरह का खाता हूं, जबान को खींच लिया है, दरवाजा छोटा हो, तो झुककर चलता हूं—और भी कई चीजें हैं। पांडव भी विराट नगर नौकरी खोजन गए थे। भीम रसोइया बन गए थे, बल्लव नाम रख लिया था। अर्जुन ने बृहन्नला बनकर कुंवारी लड़कियों को संगीत-नृत्य सिखाना शुरू किया था। द्रौपदी सैरंध्री हो गई थी—विराट नगर की रानी की दासी..... मैं संपादक बन गया.....। हंसो—उतनी ही जोर से।

विराट नगर की भागती हुई व्यस्तता ने हमें क्या से क्या बना दिया है! संवेदना के बहुत-से पहलू नगर-चक्र में फंसकर कट गए हैं। कल्पना-भावना-सोच-विचार पर मशीनी सभ्यता का कुछ ऐसा असर पड़ा है कि प्राण नाम की चीज हममें से ऋण हो गई है। हम जो भी शेष हैं, वह यांत्रिक दौड़ के पुर्जे बनकर शेष हैं—रुकने का कहीं किसी को अवकाश नहीं है—भागना और भागना, बत्तीस नंबर की ट्राम का लेक के गिर्द घूमता हुआ रास्ता बनाया होता.....?

मुझे यह साफ-साफ लगता है कि एक बहुत बड़ी लंबी और संकरी गली है और कंधे-से-कंधे लगी दमघुटाऊ भीड़ के बीच हम सब फंसे हुए हैं—इस भीड़ से और इस गली से निजात पाना नामुमकिन है। नियति (भाग्य नहीं, स्थिति) यह है कि इस भीड़ के साथ आगे-पीछे होते रहें और कोई चारा नहीं। एक ऐसा संगमरमर, जिस पर से कई-कई लोग जूते पहनकर गुजरे हैं और वह भूरा-ऊदा हो गया है.....।

हम सब चलते थे, पुर्जों की तरह थे, किसी पूरी मशीन की गतिमयता के कारण थे, और अब एक अकेले बच्चे के खिलौने हो गए हैं।.....

कलकत्तआ :

यदि पांडव मैं हो सकता हूं, तो 'मैं' कोई भी हो सकता है। शर्त एक ही है कि दुनिया के नक्शे पर उंगली रखकर कोई भी एक विराट नगर चुन लो, उसमें पांडव जोड़ दो और उनकी नौकरियों-वनवासों-अज्ञातवासों का गुणन करके दसों दिशाएं ऋण कर दो, फिर उसे नगर की अधिकतम गति से भाग दे दो।

—भजनफल रमेश बक्षी होगा।

जो हो, संपादक को वकील की तरह काला कोट या डाक्टर की तरह सफेद एप्रन पहनना जरूरी नहीं है, तुम्हारे हाथ का बुना स्वेटर पहनकर मैं फिर भी आफिस जा सकूंगा,

प्रेस:

'सकूंगा' के बाद एक विराम लगाकर शेष सामग्री डीलिट् कर दी जाए।अंत में कुछ पंक्तियां जाना जरूरी हैं, जो सारे पृष्ठ छप जाने पर शुद्धिपत्र के रूप में दी जा सकें। ऊपर विराम शौकिया लगा दिया है, उसका यह परंपरागत अर्थ नहीं है कि आगे भी कोई पंक्ति है।

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

शुद्धिपत्र:

पहले गणित का एक सवाल दिया गया है शर्त के रूप में। उसमें विराट नगर, पांडव, गति—सब ठीक हैं। केवल दिशाओं की संख्या गलत दी है। संशोधन में दस की जगह नौ दिशाएं ऋण कर दीजिए। हां, एक कोई दिशा छोड़ दी है कि जब भी संभव हो, पांडव विराट नगर से बाहर आ सकें। वह दिशा उन्हें नगर-बाहर उस श्मशान और श्मशान के पास खड़े शमी के उस पेड़ तक पहुंचाएगी, जिस पर विराट नगर में घुसने से पहले पांडवों ने अपने सारे शस्त्रास्त्र टांग दिए थे। और जब प्रश्न बदला है, तो उत्तर भी बदलेगा ही। ❑

—जुलाई, 1965

संस्मरण

भारतीय आत्मा के साथ एक चित्रकार के दो दिन

—प्राण

चित्रकार **प्राण** *माखनलाल चतुर्वेदी से उनकी बीमारी के दौरान मिले थे। प्रस्तुत है उनका सचित्र लेख।*

1 जनवरी, 1966

भारतीय आत्मा को देखते ही सबसे पहले जो विचार मेरे मन में आया, वह यह था कि यह चेहरा बहुत सरल है, देखने में भी और चित्र बनाने के लिए भी। शायद मैंने पहले कभी इतना सरल और भावुक चेहरा स्केच नहीं किया था। हां, अंधकारमय कमरा, जिसमें श्री माखन लाल चतुर्वेदी, अर्थात् मेरे माडल लेटे हुए थे, जरूर मेरे कार्य में बाधक था। बताया गया कि मेरे माडल बहुत सख्त बीमार हैं और उन्हें रोशनी अच्छी नहीं लगती। इस कारण मैं कमरे में बिजली भी नहीं जला सकता। मेरे माडल, जिन्हें लोग प्यार से 'दादा' कहते हैं, पिछले दो वर्षों से इतने अधिक बीमार हैं कि बैठ भी नहीं सकते। पिछले सारे मेरे माडलों से यह माडल अजीब था। उसको एक 'पोजीशन' बनाकर बैठे या खड़े रहने के लिए आर्टिस्ट नहीं कह सकता था, बल्कि लेटे हुए माडल की सुविधा का ख्याल रखकर ही उसको चित्र बनाना था। चित्र बनाने में ये रुकावटें सामने थीं। परंतु उसका भोला और सरल चेहरा देखकर कोई भी चित्रकार, इतनी रुकावटें होते हुए भी, उसका चित्र बनाने को तैयार हो जाएगा। यही मैंने भी किया।

"आपकी तबियत अब कैसी है?" मैंने अपने बीमार माडल से पूछा।

"ठी-ड़-ड़-ड़-ड़... र-र-र...।" मेरे माडल के होंठों पर कंपन हुआ और अस्पष्ट ध्वनि हुई। पास खड़े हुए उनके छोटे भाई साहब ने बताया कि वह पिछले दो वर्षों से ठीक से बोल नहीं पाते। बहुत कोशिश करने पर जब वह कुछ बोलते हैं, तो वह इतना अस्पष्ट होता है कि उसे उनका नौकर या छोटे भाई ही समझ पाते हैं। अपने माडल की यह हालत देखकर दिल रो उठा कि किसी जमाने में आग की लपटें बरसाने वाली क्रांतिकारी कविताएं लिखने वाला आज असहाय होकर बूढ़े शेर की तरह अंधकारमय मांद में पड़ा है।

कमरे में एक कोने में बैठकर मैंने चित्र बनाना शुरू किया। सामने मेरे माडल रजाई ओढ़े लेटे हुए थे। रंग कागज पर फैलने लगे। अभी कुछ ही देर हुई थी कि उन्होंने करवट बदली। मुझे एक और रुकावट दिखी। माडल को एक ही तरफ से लेटा रहने के लिए भी नहीं कहा जा सकता। वह बीमार थे। इस कारण एक करवट लेटे रहना उनके लिए असह्य था। वह सुविधानुसार दाएं-बाएं करवटें बदलते रहे। कई बार उनका चेहरा छुप जाता। मैंने आंखें बंद कीं और दिमाग खोला। सोचा, यह पेंटिंग कैसी हो?... इसमें कवि के भाव होने चाहिएं। कौन-सी कविता?... हां ठीक है, वही, जो मैंने बचपन में पढ़ी थी—'मील का पत्थर'। यह कवि भी तो सारी उम्र एक राहगीर रहा है। मैंने फिर रंगों को कागज पर फैलाना शुरू किया। माडल की तरफ देखा। बंद आंखें, साफ निर्मल चेहरा, निर्मल जल की तरह, जिसमें झांककर आप दिल के भाव तक देख सकते हैं, श्वेत वर्ण, पतली नाक, नुकीली ठुड्डी, घनी सफेद मूछें और सफेद रूई के समान सिर पर घने बाल। उनका जरूर जवानी में सुंदर व्यक्तित्व रहा होगा, मैंने सोचा। कुछ और चेहरे के अंदर घुसा, झुर्रियों के बीच मैंने खोजा, उसके मन में संतुष्ट भाव। मैं उनके चेहरे के हर भाग को खोजता रहा, अध्ययन करता रहा, भाव ढूंढता रहा, ब्रश चलते रहे, रंग कागज पर फैलते रहे, चित्र बनता रहा।

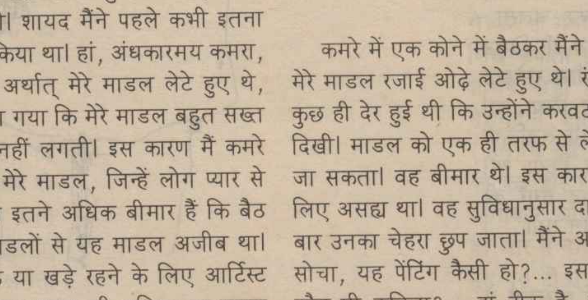

जिस कप में कभी चाय पीते थे, अब वह दवा पीने के काम में आता है

"ठहरो, ठहरो," वह कुछ बड़बड़ाए।

"आप कुछ कहना चाहते हैं?" मैंने अपने माडल से पूछा।

उन्होंने स्वीकारात्मक सिर हिलाया।

"क्या?..."

"भा...ड़...ड़...र...र...र...।" गौर से कान लगाकर सुना, तो पता चला कि वह कह रहे थे, मेरा चित्र ऐसा बनाना, जिसमें भाव हों।

"जी हां, मैं यह चित्र भाव-प्रधान ही बनाने की कोशिश कर रहा हूं," मैंने जवाब दिया।

चित्र फिर बनना शुरू हो गया। किसी बच्चे ने आकर कमरे में रखा हुआ रेडियो चला दिया। कोई फिल्मी गाना बजने लगा। मेरे माडल बड़बड़ाए।

"ब...द...द...इ...इ...ई...!" अनुवाद हुआ, वह कह रहे थे कि रेडियो बंद कर दो।

"मैं बहुत धीरे बजा रहा हूं," बच्चे ने जिद की।

"ब...द...द...इ...इ...ई...," वह कह रहे थे कि फिर भी बंद कर दो। रेडियो बंद कर दिया गया।

"आपने साहित्य के बारे में बहुत-कुछ लिखा है। परंतु शायद चित्रकला के बारे में कुछ नहीं लिखा," मैंने अपने माडल से कहा।

"ख...ख...ा...ा... (लिखा है)...," उन्होंने कहा।

"कब, कहां?"

"हि...म...म...मम...।" कान लगाकर सुना, तो पता चला वह 'हिमालय, हिमालय' कह रहे थे। बाद में बताया गया कि पटना से *हिमालय* नाम की पहले कोई पत्रिका निकलती थी। उन्होंने उसमें एक लेख चित्र-कला के बारे में लिखा था, जो बहुत उच्च कोटि

'अब तो मैं एक्जिबिट रह गया हूं'

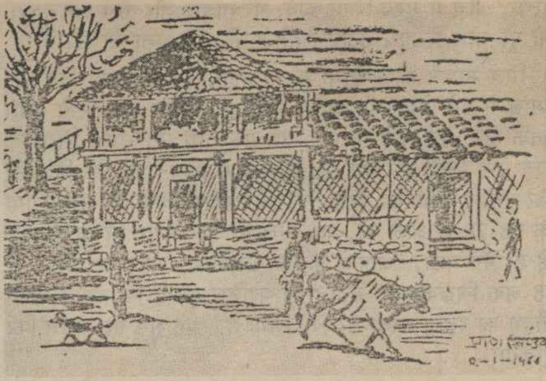

'भारतीय आत्मा' का घर, जो खतरे में है

का माना गया था। उन्होंने इस लेख में मूर्ति-कला के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किए थे।

"आप चित्रकला के बारे में कुछ कहना चाहते हैं?"

"चित्र...त्र...त्र...भ...भ...श...श...।" (चित्र-कला भावों से शुरू होती है।)

"और?..." मैंने पूछा।

"भ...भ...भ...प...र...र...र...।" (और भावों पर खत्म हो जाती है।)

मैं मुस्कुरा दिया। मेरे माडल ने दो वाक्यों में ही सारी चित्र-कला को लपेट लिया था।

"आपका कभी दिल्ली आना हुआ?"

"हं...ह...स...स...न..।" (हां, सन् 1948 में)।

"किस कारण?"

"स...स...र...प...टे...ल...।" (सरदार पटेल से मिलने गया था।)

दुपहर की खबरों का समय हो गया था। मेरे माडल ने रेडियो आन करने को कहा। खबरें आने लगीं। वह कान लगाकर सुनते रहे।—श्री कृष्णमाचारी ने त्यागपत्र दे दिया...।—रेडियो बोल रहा था। मेरे माडल कुछ गड़बड़ाए। अनुवाद करने वाला कहीं चला गया था, इसलिए समझ में नहीं आया। कुछ देर बाद खबरें खत्म हो गईं।

"ब...ब...ड़...ड़...इ...।" मेरे माडल ने रेडियो की तरफ इशारा किया। कोई दूसरा कमरे में नहीं था। मैं उनके शब्द तो नहीं समझ सका, परंतु इशारा समझ गया। वह रेडियो बंद करने को कह रहे थे। मैंने रेडियो बंद कर दिया।

उन्होंने समय पूछा। समय बता दिया गया। उन्होंने आदेश दिया कि ठीक पांच मिनट बाद उन्हें दवा पिलाई जाए। ठीक पांच मिनट बाद उन्हें दवा पिलाई गई। उन्होंने फिर टाइम पूछा। टाइम बता दिया गया। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि उन्हें उठाकर खाना खाने ले जाया जाए। दो व्यक्तिया ने उन्हें उठाया। वह खाना दूसरे कमरे में जाकर खाते हैं। दो व्यक्ति उन्हें पकड़कर सहारा देते हुए दूसरे कमरे में ले गए। उनके खाने में तरल पदार्थ ही होते हैं। खाना खिलाने के बाद उन्हें उसी कमरे में लाकर लिटा दिया गया।

मैंने चित्र पूरा कर लिया। ऊपर बाएं कोने पर 'मील का

पत्थर,' बीच में मुख्य फिगर कवि, मेरे माडल और नीचे एक युवक, जो पूरे जोश में हाथ उठाए क्षितिज की ओर चला जा रहा है।

चित्र माडल को दिखाया गया। उन्होंने जेब से चश्मा निकाला, रुमाल से उसे पोंछा और आंखों पर चढ़ाया। चित्र को गौर से देखा। उनके होंठ थोड़े चौड़े हो गए, वह मुस्कुराए। मैंने समझ लिया कि चित्र उन्हें पसंद आ गया है। स्वीकृति में उन्होंने भी सिर हिलाया। फिर उन्होंने 'मील का पत्थर' की ओर इशारा किया। मैं समझ गया कि वह 78 के अंकों को, जो 'मील का पत्थर' पर अंकित हैं, पूछ रहे हैं। मैंने कहा, "आपको पथिक बनाया है, 'मील का पत्थर' पर 78 अंक लिखकर यह बताने की कोशिश की है कि आपने अपने जीवन का इतना रास्ता तय कर लिया है," यह सुन मेरे माडल फिर मुस्कुराए।

2 जनवरी, 1966

आज मैंने अपने माडल की दिनचर्या पर छोटे-छोटे ब्लैक एंड ह्वाइट स्केच बनाने का विचार किया।

सुबह मेरे माडल दस मिनट तक अपने मकान के आगे सैर करते हैं। सुबह साढ़े नौ बजे के करीब वह काला चश्मा लगाए बाहर आए। पांवों में मोजों पर काले जूते, खादी का पाजामा, बंद गले का कोट, गले पर मफलर, सिर पर गांधी टोपी और सिर से कानों तथा गर्दन को लपेटे हुए दोहरी अथवा चौहरी शाल थी। एक व्यक्ति उनको थामे हुए था। उन्होंने धीरे-धीरे, इंच-इंच करके एक-एक कदम आगे बढ़ाया, फिर ठहर गए, फिर धीरे-धीरे, इंच-इंच करके दूसरा कदम बढ़ाया, फिर ठहर गए। इसी प्रकार वह कठिनाई से धीरे-धीरे आगे एक कदम बढ़ाते, फिर दूसरा। उन्होंने कोई दस गज की दूरी तय की। फिर वापस उसी तरह कदम रखते वही दूरी तय की। यही दस गज की जगह मात्र उनकी सैरगाह थी। मैंने स्केच-बुक उठाई और उसके साथ, उनके आगे-आगे, उलटे पांव चलने लगा और स्केच बनाने लगा। बाएं हाथ से स्केच-बुक थामे, दाएं से मैं रेखाएं बनाता जाता जब मेरे माडल मुड़ जाते, तो मैं भी मुड़ जाता। एक बार जब मैं उनके आगे-आगे स्केच बनाता हुआ उल्टे पांव चल रहा था, तो पीछे एक बड़ा पत्थर आ गया। मैं धड़ाम से गिर पड़ा। पास खड़े हुए बच्चे हंसने लगे। मैं कपड़े झाड़कर उठा। यह स्केच मैंने चार मिनट में पूरा कर लिया।

दूसरा स्केच मैंने अपने माडल के मकान का बनाया। जिस स्थान में ऐसी महान आत्मा रहे, उसका महत्व भी कम नहीं। वह इस मकान में पिछले तीस वर्षों से रह रही है। सुना है, अब सरकार इस मकान को खाली करवा रही है।

अब वह अपने कमरे के बाहर बरामदे में पलंग पर धूप खाने के लिए लेट गए। दस मिनट की सैर ने शायद उन्हें काफी थका दिया है। उनकी सांस तेज चल रही थी। वह लेटे रहे, असह्य-सा, गुमसुम-सा। जब अधिक धूप लगने लगी, तो वह बड़बड़ाए, "ग...ग...ड़...ड़...ड़...ड़...।"

वह अंदर जाने को कह रहे थे। दो व्यक्तियों ने उन्हें पकड़कर उठाया, सहारा दिया, तो उन्होंने एक कदम बढ़ाया, फिर ठहरे, फिर दूसरा बढ़ाया, फिर ठहरे, फिर कदम बढ़ाया, फिर ठहरे, फिर बढ़ाया... फिर ठहरे, इस प्रकार वह अंदर गए। वहां उन्हें लिटा दिया गया। ऊपर से रजाई ओढ़ा दी गई।

मुझे बताया गया कि मेरे माडल के जन्म-दिन पर अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया जाने वाला है। मुझसे एक-दो रचनाएं देने के लिए कहा गया। चित्र बनाया और आती बार उनको भेंट करता आया।

"स...शं...म...म...।" उन्होंने समय पूछा। समय बता दिया गया। उन्होंने दवा पीने की इच्छा जाहिर की। उन्हें सहारा देकर उठाया गया। दोनों बगलों में तकिए लगा दिए गए। उन्होंने धीरे-धीरे दवा के कप को मुंह से लगाया। एक घूंट पिया, फिर ठहरे फिर दूसरा घूंट, फिर ठहरे, फिर तीसरा घूंट...ठहरे...चौथा घूंट। दवा का कप उन्होंने खत्म कर डाला। दवा पीते हुए भी मैंने उनका एक स्केच बनाया।

तीन बजे दुपहर को नाई आया मेरे माडल की 'शेव' और मालिश करने के लिए।

"स...श...मम...र...र।" (अभी समय क्या हुआ है?) मेरे माडल ने पूछा।

"तीन बजे हैं," नाई ने कहा।

"च...रर... ...र...।" (चार बजे आना), मेरे माडल ने कहा। नाई चार बजे आने का वायदा करके चला गया।

मैंने चाय पी और कुछ सज्जनों से इधर-उधर की गप्पें मारने लगा। अभी तक मैंने अपने माडल के दो-तीन चित्र और छः पैंसिल स्केच बना लिए थे। खुश था कि काफी मैटिरियल इकट्ठा हो गया। एक सज्जन ने पूछा, "प्राण भाई, तुमको माखनलाल चतुर्वेदी के चित्र बनाने का ख्याल कैसे आया?"

सवाल आश्चर्यजनक नहीं था। क्योंकि पेंटर अक्सर नवाबों, रईसों, सुंदरियों और मंत्रियों के ही चित्र बनाते हैं। भारत में साहित्यकारों के चित्र बनाने का रिवाज नहीं के बराबर है।

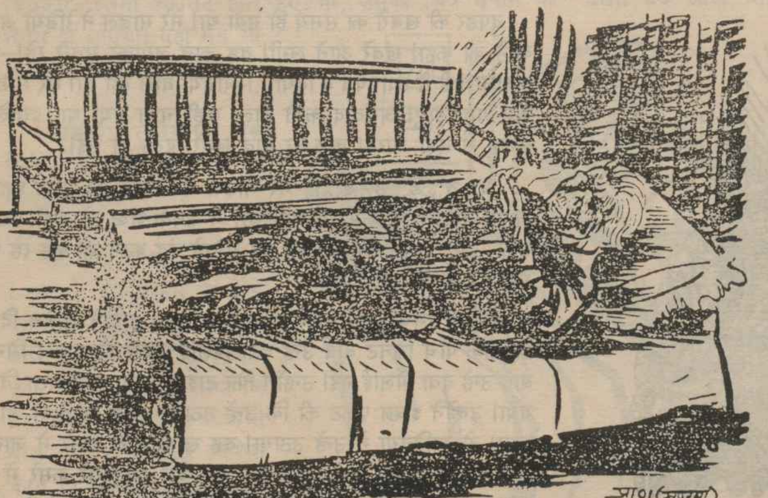

'बदनसीब हूं, भाव बहुत उमड़ते हैं, पर असहाय हूं'

सुबह कुछ चहलकदमी करते हैं, एक आदमी पकड़े रहता है

शाम को छः बजे के करीब मेरे और मेरे माडल के बीच कुछ और वार्तालाप हुआ। मैंने उनसे पूछा, "क्या आप मेरे चित्रों पर हस्ताक्षर कर सकते हैं?" उन्होंने असमर्थता प्रकट की। बताया गया कि वह पिछले दो वर्षों से हस्ताक्षर करने में असमर्थ हैं। इसी कारण वह चेक या दूसरे जरूरी कागजों पर भी हस्ताक्षर नहीं कर पाते।

"कल मैं दिल्ली वापस चला जाऊंगा। आपके दर्शन की इच्छा थी, सो पूरी हो गई। परंतु आपकी हालत देखकर बहुत दुख होता है," मैंने कहा।

"ह...ट्ट...ए...ज ज...ज...त...।" अनुवाद हुआ—हां, अब तो मैं एक एक्जीबिट मात्र रह गया हूं। मैं अब भी बहुत कुछ लिखना चाहता हूं, परंतु कुछ नहीं कर पाता। हाथों में हस्ताक्षर तक करने की ताकत नहीं रही। मुंह से बोलने की सामर्थ्य जाती रही। भावों को प्रकट करने के लिए मैं छटपटाता हूं, परंतु फिर ठंडा होकर रह जाता हूं। इसी कारण मैं एक्जीबिट मात्र रह गया हूं।

"स...स...र...र...।" (क्या सारे चित्र बन गए?)

"हां, काफी बन गए हैं।"

"को...ई...ई...क...क...क...?" (कोई कार्टून?)

"कार्टून सिर्फ राजनीतिज्ञों के बनाता हूं। आपका कोई कार्टून नहीं बनाऊंगा, बेफिक्र रहिए।"

इस पर मेरे माडल खिलखिलाकर हंस पड़े। पास बैठे हुए उनके भाई ने बताया कि वह आज बहुत अरसे बाद हंसे हैं। मैंने अपने को सराहा कि उन्हें हंसा पाया हूं। मेरे माडल का मूड अच्छा देखकर एक सज्जंन ने मौका हाथ से न जाने दिया।

"दादा, अब तो इनको हस्ताक्षर दे दो।" मेरे माडल ने स्वीकृति दे दी। उन्हें सहारा देकर बैठाया गया। फिर उनके हाथ में पेन दे दी गई। उन्होंने अनजाने में ही, जहां कलम पड़ गई, अस्पष्ट-से, टेढ़े-मेढ़ हस्ताक्षर करने शुरू कर दिए। किसी स्केच पर पूरा नाम लिखने की कोशिश की, परंतु 'माखन लाल च'... तक ही लिख सके। किसी पर सिर्फ 'म.ल.च.' ही अंकित कर सके।

3 जनवरी, 1966

आज सुबह मैंने अपने माडल के चरण छुए और उनसे विदा ली। सुबह नौ बजे खंडवा से पठानकोट एक्सप्रेस पर बैठकर दिल्ली रवाना हो गया। ❑

—अक्तूबर, 1966

कविता

●

अस्तित्ववाद

पद्मा सुधि

बाहर कुछ
भीतर कुछ
दो जगत
एक आदमी!

बाहर कुछ भीतर कुछ!
बाहर वाला बाहर की जानता
भीतर वाला भीतर की,
बाहर वाला भीतर की जानने को परेशान है
भीतर वाला बाहर की जानने को परेशान है

क्या पहेली?
क्या रहस्य?
या अज्ञान?
बाहर और भीतर को जानने वाला
बाहर और भीतर के बाद का देखने को आतुर है
इतना आतुर है कि
अपनी कलम के पलंग पर लेट
स्याही के गद्दे में डूब गया है
और संसार से बिना मतलब रहकर
खूब सो रहा है! ❑

—नवंबर, 1966

साक्षात्कार

"कोई भी चीज पीड़ा की यथार्थ अनुभूति से ही निकलती है!"

इलाचंद्र जोशी से **गिरिराज किशोर** *की बातचीत*

प्रश्न: आज कहानी की ओर बहुत-सी उंगलियां उठकर ठहरी हुई हैं। कुछ का रुख ठीक वैसा ही है, जैसा बड़े कलाकार अथवा लेखक के प्रति प्रशंसकों का होता है और कुछ इसे बदनाम नेता समझते हैं। इन दोनों रुखों के बारे में आपका क्या मत है?

उत्तर: पिछले दशक में बहुत-से ऐसे नए कहानीकारों का आविर्भाव हुआ है, जो नई प्रतिभा और नई अनुभूतियां लेकर हमारे सामने आए हैं। हालांकि अधिकांश नए कहानीकारों के रूप-विन्यास और तथ्य का मूल प्रेरणा-स्रोत आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित नए प्रतिक्रियात्मक फैशनों की अंधभाव से हो रही नकल ही थी, जो बड़ी भोंडी लगती थी, पर अब नई कहानियों में नया निखार आया है और वे मौलिक अनुभूतियों से प्रेरित होकर लिखी जाने लगी हैं। यह बात तो स्वाभाविक ही है कि पिछली परंपरा में पले हुए आलोचकों और पाठकों को कहानी का यह नया रूप अखरेगा और उंगलियां उठाने वालों की भी कमी न रहेगी। पर नए कहानीकारों के आत्मविश्वास और दृढ़ता में मेरी आस्था है। वे उंगली उठाने वालों की तनिक भी परवाह न करके लिखते चले जा रहे हैं।

साधारणतया कहानी की एक परिभाषा दी जाती है कि कहानी घटना या घटनाओं का सुसंयोजित रूप है। आज की कहानी इस दृष्टि से काफी भिन्न नजर आती है। तो क्या इसको 'कहानी' नहीं मानना चाहिए?

यह ठीक है कि अपने रूढ़ रूप में कहानी एक विशिष्ट काल और विशिष्ट वातावरण में घटी घटनाओं का सुसंयोजित रूप है, पर कहानी-कला की विशेषता यही है कि वह घटना को मांज-तराशकर और खराद पर चढ़ाकर कहानीकार की स्वानुभूति के अनुसार विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर दे। पिछली पीढ़ी में मान्यताप्राप्त लेखकों ने ऐसा ही किया था और आज की पीढ़ी के कहानीकार भी ऐसा ही कर रहे हैं। अंतर केवल इतना है कि आज वातावरण को अधिक प्रधानता दी जाती है और कहानी के मूल ठोस पदार्थ-तत्व को कम। फिर भी आज की कहानी 'कहानी' ही कहलाएगी, बशर्ते कि उसे जानबूझकर 'अ-कहानी' बनाने का प्रयत्न न किया गया हो।

रिपोर्ताज, स्केच, प्लाटहीन कहानी, सबको कहानी ही मान लिया गया है—इस बारे में आप अपना मत प्रकट करना चाहेंगे?

रिपोतार्ज, स्केच, प्लाटहीन कहानी आदि मूलतः कहानी-परिवार के ही सदस्य हैं। फिर भी उनकी अपनी-अपनी अलग विशिष्टताएं हैं (जिन पर अलग से बात की जा सकती है)। इसलिए उन्हें कहानी न कहकर, अलग-अलग उनके अपने विशिष्ट नामों से पुकारना ही उचित होगा।

आप इस बात से सहमत हैं कि पहले कहानी कल्पनाशील, यानी 'रोमांटिक' अधिक थी?

मैं इस बात से तनिक भी सहमत नहीं हूं। पिछली पीढ़ी के अनेक कथाकारों ने ऐसी अनेक कहानियां लिखी हैं, जो ज्वलंत यथार्थ का जीवंत चित्रण करके पाठक की कल्पनाशीलता को झकझोर देती हैं। उनका यथार्थ आज की तरह सही यथार्थ न होकर, जीवन की गहराइयों का कटु यथार्थ होता था। एक और तरह की कहानियां लिखी जा रही हैं (संभवतः सचेतन कही जाने वाली कहानियां)। उनमें कला की अपेक्षा जीवन के यथार्थ पुट अवश्य कुछ अधिक हैं, पर वे जीवन की जिस पृष्ठभूमि को लेकर चलती हैं, वह जन-जीवन की मूल धारा से छिन्न नहीं, तो भिन्न अवश्य है। कल्पनाशीलता (या रोमांटिकता) के पुट से भी वे नहीं बच पातीं, हालांकि बच-बचकर चलने का प्रयत्न बहुत किया जाता है। वैसे मेरी दृष्टि में कोई भी अच्छी साहित्यिक कृति कल्पनाशीलता से बची नहीं रह सकती। मेरे इस कथन के पीछे एक बहुत बड़ा कारण है। किसी भी युग की किसी भी सच्ची कलाकृति का मूल उद्गम-स्रोत किसी-न-किसी प्रकार की 'रोमांटिक' अनुभूति ही होता है, यहां तक कि कामू की 'प्लेग'-जैसी शुष्क वातावरण वाली रचना में जीवन और मृत्यु के बीच क्षण-क्षण पर चलते रहने वाले 'रोमांस' का जीवंत चित्रण किया गया है।

मेरे ख्याल से आप इस बात को तो मानेंगे कि पहले की कहानी ने 'समूहगत सामाजिकता' को अभिव्यक्ति दी है और आज की कहानी 'व्यक्तिगत सामाजिकता' को अभिव्यक्ति दे रही है।

कहानी 'साहित्य-कला' की ऐसी विधा है, जिसमें 'समूहगत सामाजिकता' जैसी कोई चीज नहीं उभर सकती, यदि वह सच्चे अर्थों में कहानी भी हो और कला भी। सच्चा कहानी-कलाकार (चाहे वह किसी भी युग का हो) तथाकथित 'सामाजिक सामूहिकता' को भले ही अपनाने का अभिनय करे, परंतु उसका प्रयत्न यही रहता है कि वह पात्रों की वैयक्तिक सत्ता को उभार सके। यह बात दूसरी है कि वैयक्तिक सत्ताओं के पारस्परिक संयोग, संपर्क अथवा संघर्ष-द्वारा कुछ विशिष्ट कथाकार 'समूहगत सामाजिकता' के

किसी विशेष पहलू पर प्रकाश डालने का प्रयत्न या संकेत करते हैं। कुछ प्रगतिशील कहानीकारों की रचनाएं इस संबंध में उदाहरण स्वरूप पेश की जा सकती हैं।

बदलते हुए भाव-बोध के बारे में आप कुछ बताना चाहेंगे?

युग की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ भाव-बोध भी अवश्य ही बदलता है। पर भाव-बोध का यह परिस्थितिगत परिवर्तन सामूहिक मानस की केवल ऊपरी परतों तक ही सीमित रहता है। चेतना की गहराइयों के तलों पर तो सभी अनुभूतियां साथ-साथ उठती, गिरती एवं सांसें लेती रहती हैं।

जोशीजी, मैं आपका ध्यान 'ज्ञानोदय' के अक्तूबर अंक में छपे आपके ही लेख 'नया और पुराना' की ओर ले जाना चाहता हूं। उसमें आपने 'भाव-बोध' के लिए किसी नींव का होना आवश्यक बताया है। क्या आप आज के 'भाव-बोध' को नींव से कटा हुआ मानते हैं?

मुझे इस समय ठीक याद नहीं आ रहा कि 'ज्ञानोदय' में यह बात मैंने किस संदर्भ में कही है। पर इतना मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं कि किसी युग के नए बोध की संभव उपलब्धि तभी हो सकती है, जब वह किसी ठोस विश्वास की नींव पर खड़ा हो। बिना इस ठोस नींव के वह जीवनसागर-तट से टकराने वाली लहरों के ऊपर तैरने-वाले फेनपुंज की तरह निस्सार होगा—भले ही देखने में सुंदर हो।

'ज्ञानोदय' के अक्तूबर अंक में आपके इस मत का 'नया सापेक्ष' है, यह कहकर उत्तर दे दिया गया है कि हम लोग 'गांधी टोपी' क्यों कहते हैं, टोपी क्यों नहीं कहते; गेलॉर्ड, वोल्गा, बेंगर्स आदि को होटल क्यों कहते हैं, ढाबा क्यों नहीं कहते। संभवत: इस बात से वक्ता का तात्पर्य है कि पुरानी धारा से नई धारा को भिन्न करने के लिए इस तरह के नामों का उपयोग किया जाता है।

वह लेख मैंने सरसरी तौर से पढ़ा था। उसमें उठाए गए जिस प्रश्न का आपने उल्लेख किया है, वह अस्पष्ट है। वैसे भी, फिलहाल, मैं इसका कोई उत्तर देना नहीं चाहूंगा।

आप भी ऐसा ही सोचते हैं कि 'नई कहानी' अंधेरे में एक चीख है?

इसको एक अर्थ में अंधेरे में भटके आदमी की चीख माना जा सकता है। लेकिन यह बड़ी ही तीखी चीज है, जिसकी उपेक्षा सहज में नहीं की जा सकती। कोई भी चीख पीड़ा की यथार्थ अनुभूति से ही निकलती है और नई कहानी की यह तथाकथित चीख तो और अधिक वास्तविक और मर्मप्रवेशी है। इसलिए इस चीज को एक सशक्त कला का उपकरण बनने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

इलाचंद्र जोशी

***एनकाउंटर*, जून, 1964 में, *ल मोंद* द्वारा लिया गया सार्त्र का इंटरव्यू, छपने के बाद से 'कमिट्मेंट' की बात बड़े जोरों से उठाई जा रही है। सार्त्र का मत है कि 'या तो बड़े कामों के लिए साहित्य को कुछ समय के वास्ते छोड़ देना चाहिए या जीवन से संबंधित समस्याओं को शक्तिशाली एवं अर्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए। उसकी दृष्टि में दूसरा तरीका क्रांति न पसंद करने वाले समाज के लिए अधिक उपयुक्त होगा। इस संबंध में आपका क्या मत है?**

सार्त्र के साथ हुई जो अंतर्वार्ता 'एनकाउंटर' के पिछले जून अंक में प्रकाशित हुई थी, उसे पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। पर उस भेंट में, आपके कथनानुसार, जो बात सार्त्र ने कही, वह मुझे बहुत दिलचस्प लग रही है। साहित्य को छोड़ने वाले तो छोटे कामों के लिए भी उसे काफी समय के लिए छोड़ देते हैं, जिसका उदाहरण मैं स्वयं हूं और न छोड़ने वाले बड़े-बड़े कामों में फंसे रहने पर भी, साहित्य-सृजन का काम नहीं छोड़ते, जैसे कि रवींद्रनाथ। इन दो चरम बिंदुओं के बीच में सार्त्र आदि अनेक प्रकार के साहित्यकार आते हैं। पता नहीं, सार्त्र आजकल किस बड़े काम के लिए साहित्य को एक प्रकार से छोड़े हुए हैं। जो भी हो, इस संबंध में जो विकल्प सार्त्र ने बताया है, अर्थात् 'जीवन से संबंधित समस्याओं को शक्तिशाली एवं अर्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए,' उसकी सच्चाई और महत्व को किसी भी युग का समझदार साहित्यकार स्वीकार करेगा। पर इस विकल्प के पीछे सार्त्र ने जो पुछल्ला लगाया है, वह उसी के अनुरूप है। उसका यह कहना—कि यह दूसरा तरीका (अर्थात् जीवन से संबंधित समस्याओं को शक्तिशाली और अर्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना) उन लोगों के लिए अधिक उपयुक्त है, जो क्रांति पसंद नहीं करते—अत्यंत विचित्र है। 'क्रांति' पसंद करने वाले साहित्यकारों को (जैसा कि सार्त्र स्वयं अपने को समझने लगा है), उसकी राय में, उक्त प्रकार के सशक्त साहित्य से भी हाथ धो लेना चाहिए।

कुल मिलाकर, सार्त्र की इस बात का तात्पर्य मैं यही लगाता हूं कि आज साहित्यकार को किसी 'बड़ी क्रांति' में भाग लेना चाहिए और साहित्य नहीं लिखना चाहिए।

पर प्रश्न यह है कि आज वह बड़ी (या छोटी ही सही) 'क्रांति' क्या हो सकती है! आज विश्व-राजनीति-चक्र जिस धुरी पर और जिस केंद्र-बिंदु पर तीव्र गति से घूम रहा है, उसका नियंत्रण क्या आज किसी मनुष्य या मनुष्य-समूह के लिए संभव है? आज संसार के सभी बड़े और मझोले राष्ट्रों में परमाणु-अस्त्रों के परीक्षण और संचय की जबर्दस्त होड़ लगी हुई है। प्रत्येक समर्थ राष्ट्र अपने को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने की दिशा में दौड़ लगा रहा है। सभी सबल गुट राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से अपने-अपने स्वतंत्र सिद्धांतों की दुहाई देते हुए, एक-दूसरे का प्रबल विरोध कर रहे हैं; सभी संसार में नई क्रांति लाने

की बात कर रहे हैं। पर प्रत्येक का मूल उद्देश्य है आर्थिक या सैनिक दृष्टि से दूसरे राष्ट्रों पर हावी होना और अधिक-से-अधिक राष्ट्रों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाना। व्यापक मानव-कल्याण और सामूहिक शांति की बातें करने वाले राष्ट्र भी हैं, पर ऐसे राष्ट्र शांति के नाम पर अपनी सैनिक (विशेषकर, परमाणु अस्त्र संबंधी) शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाते चले जा रहे हैं और जो राष्ट्र चीन की तरह गला फाड़-फाड़कर, क्रांति का नारा लगा रहे हैं, वे स्वयं नंगे हैं और अपने साथ सारी दुनिया को नंगा और निःशेष करने के लिए सामूहिक हिंसा या सामूहिक आत्मघात की योजनाएं बना रहे हैं।

इस विश्वव्यापी दुर्मति और दुर्बुद्धि की सर्वनाशी योजनाओं के बीच साहित्यकार किस प्रकार की 'क्रांति' में भाग लेने की बात सोच सकता है? वह क्रांति किस सिद्धांत या गुट के पक्ष में होगी और किसके विरुद्ध? सशस्त्र होगी या अहिंसात्मक? और आज की सारी धांधागर्दी के बीच कौन लोग उस लक्ष्यहीन हवाई क्रांति में सार्त्र या उसके मतावलंबियों का साथ देने को तैयार होंगे? और क्यों?

आज विश्वव्यापी मानस ने अपनी ही बनाई हुई इस्पाती जंजीरों की उलझन में स्वयं अपने को इस मजबूती से बांध लिया है कि वह इंच भर भी इधर-उधर हिल सकने में अपने को असमर्थ पा रहा है—हवाई कल्पनाएं वह चाहे कितनी ही और कैसी ही क्यों न करता रहे। क्रांति के लिए उसके पास कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं है और यदि अस्पष्ट और छायात्मक लक्ष्य उसके सामने हो भी, तो भी क्रांति तो कर ही नहीं सकता। और अहिंसात्मक क्रांति तो आज केवल एक मखौल बनकर रह जाएगी—इस दिशा में बर्ट्रेंड रसेल और उसके अनुयायियों द्वारा उठाए गए महत्वपूर्ण कदमों के व्यर्थ परिणाम का दृष्टांत हमारे सामने है।

इन सब कारणों से आज का कोई अर्थ नहीं रह गया है। क्रांति के भीतर जो कि एक 'रोमांटिक' तत्व बराबर रहता है, वह स्पेनिश जन-क्रांति के बाद एकदम निष्प्रभ और निर्जीव हो गया है। सार्त्र को भी क्रांति-संबंधी यह 'रोमांटिक' तत्व बहुत प्रिय रहा है, पर आज उस तत्व की कल्पना भी नासमझी है।

यह सब होते हुए भी, क्रांति का एक रूप आज भी संभव है, पर उसे सार्त्र स्वीकार करने को तैयार नहीं है, क्योंकि वह रूप केवल साहित्य द्वारा ही संभव हो सकता है, जिससे सार्त्र आज कतराना चाहता है। क्रांतिकारी साहित्य की रचना का जैसा उपयुक्त अवसर आज है, वैसा कम युगों में देखा गया है।

आज वज्र-पाषाणी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अमानवीय कर्णधारों ने वैयक्तिक मानव को निष्क्रिय, नपुंसक और निरस्त्र बनाकर, गंदगी में कुलबुलाने, धूल और राख के ऊपर रेंगने वाले कीड़ों से भी हीन और गलित स्थिति तक पहुंचा दिया है, जिसकी अत्यंत तीखी प्रतिक्रिया प्रत्येक साहित्य-सर्जक में होनी चाहिए। यदि चारों ओर से प्राच्य और पाश्चात्य साहित्यकार इस स्थिति के सही-सही विश्लेषण और आज के परिभ्रष्ट युग के यथार्थ चित्रण द्वारा वैयक्तिक मानव के अंतर्मन में प्रबल विरोधी प्रतिक्रिया जगा सकें और साथ ही युग-युग के मानव-मूल्यों के सच्चे गौरव की प्रतिष्ठा की ओर पूरी लगन से सचेष्ट रहें, तो वह साहित्य धीरे-धीरे समाज में एक बहुत बड़ी और उपयोगी क्रांति ला सकता है।

ऐसी क्रांति एक दूसरे रूप से भी प्रतिफलित हो सकती है और धीरे-धीरे हो भी रही है—उसकी छिटपुट चिनगारियां इधर-उधर शोलों के रूप में भड़कने के लक्षण प्रकट करने लगी हैं। मेरा आशय है 'बीटनिक' साहित्य से।

यह ठीक है कि साहित्य के इस नवीनतम रूप में विद्रोह का जो स्वरूप इस समय हमें दिखाई दे रहा है, उसमें कुरूप और कुत्सित तत्वों की ही प्रधानता देखने में आ रही है, पर उसके इस बाहरी रूप से हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। इस साहित्य के बाहरी रूप के भीतर, उसके अंतर्गर्भ में, आज के पूर्णतः विकृत और अपभ्रष्ट युग के वैयक्तिक मानव की जो मर्म-पीड़ा चीख रही है, उसे सुनने के लिए हमें अपने कान पूरी तरह खोलने होंगे, तभी हमें पता चलेगा कि वह अंतर्वेदना कितनी सच्ची है और उसके विद्रोह के जो छिटपुट स्वर कभी-कभी भूले-भटके हमारे कानों में आ जाते हैं, वे नंगे होने पर भी, किस कदर यथार्थ हैं।

सच्ची बात तो यह है कि इन कुछ नवयुवकों के भीतर साहस के जो तत्व निहित हैं, आज की ढोंग भरी सभ्यता के सड़े-गले और झूठे रूप के विरुद्ध उत्कट विद्रोह के जो बीज छिपे हैं, उन्हें यदि सही दिशा की ओर नियोजित और विकसित होने की सुविधाएं प्राप्त हो सकें, तो निश्चय ही वे अपनी रचना (कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि) द्वारा एक वास्तविक और अपेक्षित क्रांति समाज में ला सकेंगे।

पर इसमें अभी देर लगेगी। अपने प्राथमिक आवेग और विस्फोट का जो रूढ़ प्रदर्शन आज हमारे ये 'बीटनिक' भाई कर रहे हैं, उसमें अभी केवल धुआं और कालिख ही नजर आ रहे हैं और यह बिलकुल स्वाभाविक है। पर अनुभवों की प्रौढ़ता के साथ-साथ ये धुआं और कालिख साफ होकर ही रहेंगे। एक दिन धरती माता के भीतर की विशुद्ध और निखरी हुई आग को इनका अनुभवसिद्ध साहित्य निश्चय ही उगलेगा; तभी मानव के भीतर का कच्चा सोना निखरकर अपने असली रूप में प्रकट होगा। वह दिन आ रहा है और उसे कोई भी शक्ति रोकने में समर्थ नहीं है।

इसीलिए मैं कह रहा था कि सार्त्र की इस 'कॉफी-हाउसी' बात में कोई तुक नहीं है कि 'बड़े' (अर्थात् 'क्रांति' के) कामों के लिए साहित्कार को कुछ समय के लिए लिखना बंद कर देना चाहिए। नंगी और भूखी, दानवीय शक्तियों से प्रताड़ित और झूठी मान्यताओं से मर्माहत वैयक्तिक मानवता को—बल्कि मूल मानवत्व को—कुचलने वाली आज की दुनिया के नए और स्वस्थ निर्माण के लिए, साहित्य से बढ़कर अस्त्र दूसरा नहीं है। परखने वाले परखकर देख लें।

आप ऐसा नहीं सोचते कि सार्त्र द्वारा प्रस्तावित ये दोनों विकल्प समाजवादी एवं पूंजीवादी गुटों में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न हैं? वह स्वयं पूंजीवादी परंपराओं में जन्मा है और उसका रुझान समाजवाद की ओर है। अतः वह एक ऐसा रास्ता निकालना चाहता है, जो समाजवाद एवं पूंजीवाद—दोनों के ही अनुयायी स्वीकार कर सकें। जो लोग पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का समर्थन करते हैं, यानी क्रांति पसंद नहीं करते, वे भी जीवन की समस्याओं को शक्तिशाली एवं अर्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करके, समाज को स्वस्थ बनाएं।

समाजवादी और पूंजीवादी गुटों में सामंजस्य की कोई बात सोचना एक बहुत बड़ी विसंगति को संगत रूप देने की अययार्थ कल्पना है। मैं नहीं सोचता कि सार्त्र का आशय ठीक यही है। सार्त्र ने केवल अपने कल्पना विलास से उत्पन्न एक शगूफा छोड़ दिया है, जिसको संभवतः वह स्वयं गंभीर रूप मे नहीं लेता। उसका अंतर्मन आज भी निजी एकांत वैयक्तिक सत्ता से संबंधित अपने मूलगत अस्तित्ववादी सिद्धांत से चिपका हुआ है; बाहर से वह भले ही तितली की तरह कल्पना की एक डाल से दूसरी डाल में फुदककर, धूप में पंख पसारकर, जमीन-आसमान के कुलाबे बांधता हुआ, एक अनोखे असंगत सुख का अनुभव कर रहा हो।

और फिर आज प्रश्न क्रांति को पसंद करने या न करने का नहीं है। प्रश्न है आज की परमाणुवादी विसंगति की जमीन पर 'क्रांति' की संगति बिठा या न बिठा सकने की क्षमता या संभावना का। जैसाकि मैं पहले ही बता चुका हूं, आज सभी प्रकार की आर्थिक और सामाजिक क्रांतियों की गति अवरुद्ध हो गई है। इस समय यदि क्रांति की कोई दिशा बची है, तो वह केवल सर्जनात्मक साहित्य के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है। आज के कठोर और निर्मम यांत्रिक युग में आर्थिक और राजनीतिक चक्करों के बीच पिसे हुए वैयक्तिक मानव की मार्मिक यंत्रणा को उपयुक्त वाणी देना ही आज की साहित्यिक क्रांति का एकमात्र उद्देश्य हो सकता है। आज का नया साहित्य इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास कर रहा है और यह प्रयास बहुत महत्वपूर्ण है।

स्मरण रहे कि आज के तीव्र संवेदनशील साहित्य का यह वैयक्तिक मानववाद सार्त्र के व्यक्तिवाद से एकदम भिन्न है। सार्त्र, जहां व्यक्ति की अस्वस्थ और संकीर्ण सत्ता की उबास और उबकाई से भरी इकाई में ही स्थितिशील रहना चाहता है और एक व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति नायक मानकर चलता है, वहां नए युग का स्वस्थ साहित्य सर्जन वैयक्तिक संवेदना से संबंधित सभी तत्वों पर बल देता हुआ, एक व्यक्ति की अनुभूति का संबंध दूसरे व्यक्ति से, दूसरे की अनुभूति का तीसरे से, तीसरे की अनुभूति का चौथे से, जोड़ता हुआ, सभी व्यक्तियों की निजी अनुभूतियों की एक सुंदर 'सिंफोनी' की रचना का स्वप्न देखता है और उस स्वप्न को सत्य में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मानवीय संबंध की अटूट धारा बहती रहे, अपनी अकेलेपन की अनुभूति में दूसरों के अकेलेपन के अनुभव का तार बजता रहे, एक व्यक्ति दूसरे का नरक न बनकर, पारस्परिक सह-अनुभूति और संवेदना की तरंगों में बहता रहे, उसी उद्देश्य को लेकर हमारा आज का कहानीकार जाने-अनजाने चल रहा है।

गिरिराज किशोर

इसका अर्थ यह हुआ, वर्तमान कहानी और कहानीकारों के संदर्भ में आप 'कमिट्मेंट' को आवश्यक नहीं मानते?

जहां तक 'कमिट्मेंट' की बात है, हमारे अधिकांश नए कहानीकार समाज की जड़ सत्ता के प्रति अपने को उत्तरदायी नहीं मानना चाहते, वे व्यक्ति-व्यक्ति की प्राणवान अंतःसत्ता के प्रति अपने अंतर्प्राणों के सीधे दायित्व का अनुभव करते हैं। यह अत्यंत स्वस्थ, स्वाभाविक और सुसंगत दायित्वबोध है, जो कट्टर सार्त्रवादियों की समझ में कभी नहीं आ सकता। सार्त्रीय दायित्व-बोध बहुत उलझा हुआ, कष्ट-कल्पित, अवसरवादी और अयथार्थ है, जो स्वयं उसी की सर्जनात्मक कृतियों द्वारा खंडित हो जाता है।

बस, दो-तीन प्रश्न और पूछना चाहूंगा। कहानी चेखव के बाद समाप्त हो गई, इस संबंध में आपका क्या मत है?

कहानी की प्रगति चेखव के बाद एकदम समाप्त हो गई हो—इससे तो मैं सहमत नहीं। पर इतना जरूर मानता हूं कि कहानी कला से संबंधित चेखव के प्रयोगों की परिधि बहुत विस्तृत रही है। विश्व कहानी-साहित्य में उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव आज भी है। इसलिए मैं इस बात को पूर्णतः सही नहीं मान पाता कि आज की कहानी मूलतः नए आयामों और नए साहित्य-सौंदर्य-बोध द्वारा परिचालित है।

लेकिन आज की कहानी के बारे में यह तो कहा ही जाता है कि वह मनुष्य की बौद्धिक और सामाजिक अपेक्षाओं से जुड़ी हुई हैं?

मैं नहीं मानता। जो बौद्धिक तत्वाभास आज की कहानियों में यत्र-तत्र पाया जाता है, उसे कहानीकारों ने इस कदर घोंटा है कि वह नए रसायन में परिणत होकर, रस-बोध ही कराता है, अर्थात उस बौद्धिक तत्व को भी नए कथाकारों ने 'रस' ही बना डाला है, जो अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है। जहां तक सामाजिक संदर्भों की बात है, वे तो किसी-न-किसी रूप में शेष रहेंगे ही। पर आज की कहानी वैयक्तिक संवेदनाओं और व्यक्ति-व्यक्ति के पारस्परिक-प्राणिक संबंधों की पृष्ठभूमि से अधिक जुड़ी हुई है।

अंतिम प्रश्न मैं कहानी एवं पाठकों के पारस्परिक संबंधों को लेकर पूछना चाहूंगा। कुछ लोगों का मत है कि आज की कहानी पाठकों से कट गई है। लेखक लेखकों से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए लिखता है। क्या यह सही है?

बहुत संभव है। पर इसमें दोष लेखकों का उतना नहीं, जितना उस जड़ समाज का है, जिसके कारण साधारण पाठकों की रुचि बदलते हुए सामाजिक संदर्भों के साथ-साथ विकसित एवं परिमार्जित नहीं हो सकी और लेखक की नई संवेदना और उसके बदलते मूल्यों के निकट नहीं पहुंच पाई। ❑

—मार्च, 1966

कविता

अंधी घाटी

विष्णु खरे

यहां न प्रकाश है, न अंधकार, न धूप है, न छांह, न कोहराम है,
न सन्नाटा।

अंधी घाटी का तो कोई छोर भी नहीं है
सयानों के बीच सूर्य के विषय में अनेक अफवाहें फैलती हैं
कुछ लोग कहते हैं कि आजकल वह नहीं उगता।
पैरों में चिमटी हुई जोंकों को खींच फेंकने की अब हिम्मत नहीं है
कभी हमने कोशिश की थी, लेकिन सिर्फ उनकी दुम
टूटकर रह गई थी।

रक्तवाहिनी शिराओं में धंसे हुए उनके दांत ढूंढना बहुत मुश्किल है
और अब तो कोई खास तकलीफ भी नहीं होती!
अंधी घाटी में इससे भी बड़े खतरे हैं
स्याह धुंधलके के मैंने नीले नाखून और बैंगनी मसूड़े
देखे हैं
और रेंगने की ध्वनि सुनी है
मेरे समीप से अभी कुछ सरका है
जिसकी बदबू भरी सांस मेरे पेट के गढ़े तक पहुंची है।
हमें अब उबकाई तक नहीं आती
अंधी घाटी में किसी भी बात के आदी होने में वक्त नहीं लगता।
हमें सुनाई देती हैं भयवाह फुसफुसाहटें विक्षिप्त अट्टहास
और हजारों आदिम सरीसृपों के कीचड़ पर खिसकते पैरों की
लिजलिंजी चिपचिपाहट

छुछूंदरों की तरह एक-दूसरे के हाथों में हाथ दिए
(हाथ जो कोढ़ी हैं और हाथ जो अब सिर्फ डंठल रह गए हैं)
हम अंधी घाटी के तिलचट्टी फर्श पर घिसटते हैं
और जब थर्राते हुए पीछे देखते हैं
तो देखते हैं कि फिर एक साथी यकायक गायब हो गया है
सिर्फ एक गूंजती हुई बर्फीली चीख डूबती है
और भयवाह फुसफुसाहटों विक्षिप्त अट्टहास और सिसकते पैरों की
चिपचिपाहट की ध्वनि

गहरी हो जाती है और कुछ देर बाद आती है
छीन-झपट की आवाज, तिकोने दांतों से तोड़ी जा रही गोश्त और
खून लगी
हड्डियों के तड़खने की आवाज
हमारे दिलों पर मौत की दस्तक और धैर्यहीन हो जाती है।
मुझे मालूम है अंधी घाटी का दस्तूर यही है कि सोया न जाए

लेकिन हम उस आखिरी चीख को सुनते हैं
और नोक लगे भारी शोणितहीन कदमों से भागने का यत्न करते
हैं
खून चूसती हुई जोंकें यदि हंस सकतीं तो इस मूर्खता पर अवश्य
हंसतीं।

अंधी घाटी के अंतहीन अंधकार में कोई भागकर कहां जाए
सयानों ने कई रास्ते बताए थे
किंतु हर बार कुछ दूर जाने पर हमारी ठोकरों से कई कंकाल उखड़
आए
और हमें लौटना पड़ा।
अंधी घाटी की पहाड़ियों के शिखरों पर बैठे पहरेदार गिद्ध
हम पर प्रतीक्षामय ऊबी हुई दृष्टि डालते हैं
कंदराओं में सुनता हूं लाखों झिल्लीदार पंखों की फड़फड़ाहट
और अधीर वैंपायरों की चिंचियाहट.....
नुकीली चट्टानों के नीचे हरी आंखें चमकती हैं
तिलचट्टी फर्श पर कदम महसूस करते हैं व्यस्त दीमकों की दिनचर्या
मृत्युहासी नरमुंडों से गिर हुए केशों के आस-पास उगी हुई काई में
देखता हूं

रेंगते हुए बैंगनी और कत्थई चकत्ते।
और अंधी घाटी की छत पर
पीली आंखें देखती हैं लाखों जाल
जिन पर हमारी सांसें धुआं बनकर जम गई हैं
दैत्याकार मकड़ियों की पलकहीन सहस्रों पुतलियों में
हमारे दयनीय भयविक्षिप्त बौने अष्टावक्र प्रतिबिंब हमें तकते हैं।
❑

—सितंबर, 1965

कहानी

यही कहानी

नरेंद्र शर्मा

पड़ोसी और अभिन्न मित्र उन दोनों का सामान्य नियम था कि हर रविवार को मौन धारण कर, बारी-बारी से एक-दूसरे के घर दिन भर शांति से बैठ जाते। कभी दाएं-बाएं, कभी आमने-सामने चुपचाप बैठे, वह दोनों कभी लिखित अंताक्षरी का खेल खेलते तो कभी समस्यापूर्ति या पादपूर्ति का। इस वाग्विलास-प्रयोग को वे कभी बिंदु-बिंदु विचारमालिका का रूप भी देते। पारस्परिक भाव-विचारों से अवगत और अभ्यस्त, उन दोनों को एक-दूसरे का तार संभालने और उसमें शब्द-पंक्तियां पिरोने में असुविधा न होती थी।

रमेश के घर बैठने की बारी थी। हाथी-दांत का सूर्य और वृत्ताकार लहराती कमलमाला जड़ी हुई, शीशम की चौकी के सहारे आमने-सामने बैठे रमेश और सुरेश वाग्विलासमयी आलेख क्रीड़ा में लीन थे। मध्यमावाणी को वह शब्दबद्ध कर और सघन अक्षरों की बेगरी पंक्तियां विधिवत ऊपर से नीचे की ओर लिखते जाते।

पहल रमेश ने की थी। 'नारी और नारी-जीवन' शीर्षक देकर, रमेश ने लिखा था—

'प्रवंचनाओं की अनजानी पीड़ा का नाम ही नारी है और उस अनजानी पीड़ा की कहानी ही नारी-जीवन है।'

सुरेश ने नीचे लिखा—'कथन में अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि व्यक्तिविशेष—हमारी चिरपरिचित सुमित्रा और उसके जीवन पर भले ही यह ठीक-ठीक घटे, किंतु अन्य अनेक नारियों के विषय में यह सत्य सिद्ध हो न हो।"

रमेश मुस्कुराया। उसने लिखा—'यह भी कह सकते हो कि सुमित्रा नाम की भी अनेक नारियां होंगी या हो सकती हैं और शायद उन सब पर हमारी सुमित्रा की बात चरितार्थ न हो।'

सुरेश ने अपनी हंसी रोकते हुए लेखनी उठाई और लिखा—'अपनी सुमित्रा के विषय में भी उसकी वर्तमान स्थिति को देखते हुए ही तुम्हारा कथन ठीक लगता है, अन्यथा आठ वर्ष पूर्व उसके विवाह के समय ऐसी बात नहीं कही जा सकती थी। और आज भी दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि इसी सुमित्रा के संबंध में आठ वर्ष बाद भी यही कहा जाएगा।'

सुमित्रा के अज्ञात भविष्य के संबंध में तर्क-वितर्क न करके, रमेश आठ वर्ष पूर्व सुमित्रा के विवाह के दिन की दुखद स्मृति में खो गया। उसने एक छोटा-सा वाक्य लिखा—

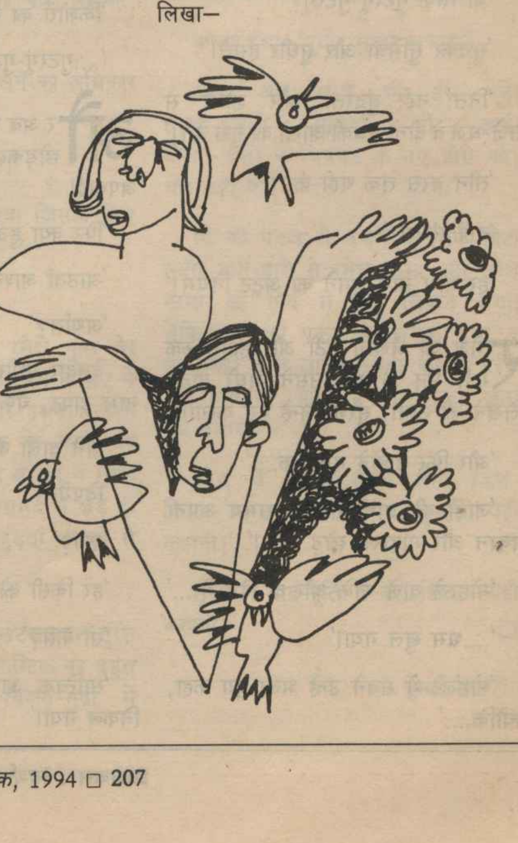

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

'नववधू के रूप में कितनी सुखी और सुंदर दिखती थी सुमित्रा!''

'रोहिणी-चंद्र की जोड़ी को हमने सुमित्रा-सुधीर के रूप में साक्षात देखा था—' सुरेश ने लिखा।

और फिर आश्चर्यचिह्नांत छोटे-छोटे वाक्य बारी-बारी से कागज पर उतारने लगे।

'सुमित्रा और सुधीर में कौन अधिक सुंदर और सुखी है, इस विषय में कैसा मधुर मतभेद था दर्शक-समाज में!'

'सुभग दंपत्ति को सब लोग हंसों का जोड़ा कहते थे!'

'मोहल्ले के पुरुष-वर्ग ने सुधीर के पीछे-पीछे उसे सुंदरी का पति कहना शुरू किया था!'

'सुमित्रा की आंख बचाकर, स्त्रियां उसे लाड़ले की बहू कहतीं!'

'आर्यसमाजी उपदेशक मास्टर मनीराम उन्हें आदर्श दंपति कहते न अघाते!'

'असंस्कारी किशोर कहते—कबूतर-कबूतरी!'

'या सिर्फ गुटरगूं-गुटरगूं!'

'सुनकर सुमित्रा और सुधीर हंसते।'

'नित नई सुंदरता और शोभा से सजे-धजे वे दोनों सबकी आंखों को सुख देते!'

'तीन बरस तक यही क्रम!'

'वही संभ्रम!'

'हर शाम साथ घूमने का अटूट नियम!'

रमेश की लेखनी उठी और हठात् रुक गई। मन ही मन उसने अधूरे वाक्य लिखने की ठानी, सुरेश जिन्हें पूरा करेगा।

'और फिर उन्होंने एकाएक....'

'जाड़ों की आधी रात के समय अपना मकान और मोहल्ला छोड़ दिया।'

'मोहल्ले वाले चौंके और दो दिन में....'

'....भ्रम खुल गया।'

'मोहंल्ले में सबने उन्हें भला-बुरा कहा, क्योंकि....'

'....सुधीर ने आगे-पीछे सबसे उधार लिया था।'

'किसी से हजार, तो....'

'....किसी से पांच सौ।'

'बरस भर में पता चला कि....'

'....सुधीर और सुमित्रा हजार मील दूर, बंबई जा बसे हैं।'

'चर्चा चली कि....'

'....वे दोनों सिनेमा में काम करने लगे हैं।'

'मोहल्ले भर में....'

'....उनकी निंदा हुई।'

'उपदेशक ने कहा....'

'मिथ्याचार उन्हें ले डूबा।'

'बड़े-बूढ़ों ने कहा कि रूपवती भार्या....'

'....तरुण की शत्रु होती है।'

'बड़ी-बूढ़ी बोलीं....'

'....निखट्टू पति, पत्नी का बैरी होता है।'

'किशोरों का कोरस....'

'....गुटरगूं-गुटर।'

और अब रमेश ने वाक्यपूर्ति की रीति छोड़कर, प्रश्नोत्तरी की शैली अपनाई।

'फिर क्या हुआ?'

'आठवां आश्चर्य!'

'अर्थात?'

'देनदार सुधीर के पास से हर लेनदार के नाम ड्राफ्ट, चैक या मनीआर्डर आया।'

'पाने वालों की प्रतिक्रिया?'

'विपरीत!'

'क्यों?'

'हर किसी को लगा कि वह ठगा गया।'

'सो कैसे?'

'सात्विक आक्रोश का कारण हाथ से निकल गया।'

'इसमें दुखी होने की क्या बात है?'

'है क्यों नहीं?'

रमेश ने लिखा—'प्रश्न का उत्तर प्रश्न से न दो। फिर उत्तर दो कि हर किसी ने ब्याज सहित अपना पूरा पैसा पाकर भी यह क्यों माना कि वह ठगा गया?'

नीचे सुरेश ने लिखा—'सुधीर और सुमित्रा की साधिकार सकारण निंदा करने की आदत पड़ जाने के बाद, उन्हें लगा कि निंदा करने का उनका जन्मसिद्ध अधिकार उनसे छीना जा रहा है।'

'क्या और भी कोई कारण समझ में आता है?'

'हां, एक और कारण है।'

'वह क्या?'

'प्रशंसा करते-करते जो थकन और ऊब पैदा हुई थी, निंदा के दौर में वह हल्की हुई ही थी कि सुधीर ने जीत की बाजी की बिसात ही उलट दी।'

'ऐसी मानस-प्रक्रिया का आधार क्या है?'

'यह कि दूसरों की प्रशंसा करना होम और व्यायाम की तरह उबाता और थकाता है। परनिंदा मानव-मन को स्फूर्ति प्रदान करती है।'

'इसका सबूत?'

'हमारा मौन-व्रत।'

'यानी?'

'परनिंदा, छिद्रान्वेषण और परकीय आलोचना की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही तो हमने यह व्रत लिया है।'

'लेकिन मोहल्ले वालों की विपरीत प्रतिक्रिया का क्या और भी कोई कारण रहा होगा?'

'उन्हें संतोष हो चला था कि जिन्हें सिर-माथे लिया था, वह परिगणित जातियों के समान वस्तुतः पद-दलित हैं। और एकाएक भरपाई ने सिद्ध किया कि पद-दलितों का अभ्युदय हुआ है।'

'इससे क्या?'

'मन में ईर्ष्या ने घर किया और भड़क-भड़ककर लगी वह घर-फूंक तमाशा देखने।'

रमेश की लेखनी ने किंचित विश्राम किया। रमेश की मुखमुद्रा गंभीर हुई। आगे की बात को पुनः सोच-विचारकर, बारी-बारी से एक-एक वाक्य लिखे जाने की रीति की पुनरावृत्ति हो उठी।

'फिर यह भी ज्ञात हुआ कि सुमित्रा चित्रपट की तारिका नहीं, अपने घर की रानी है।'

'पता चला कि सुधीर आयात-निर्यात का व्यापार करता है।'

'पता चला कि सुधीर का कारोबार कर्ज का आयात-निर्यात ही था।'

'व्यापारियों की भाषा में इसे ही 'उसकी पगड़ी इसके सिर पर रखना' कहते हैं।'

'इसी तरह सुधीर ने मेरीन ड्राइव पर अपना निजी फ्लैट भी खरीद लिया।'

'छज्जे पर से 'डाइमंड नैक्लेस' का दृश्य देखते सुमित्रा थकती न थी।'

'वह स्वयं भी हीरे का हार और कर्णफूल पहनती थी।'

'सुमित्रा सुखी थी।'

'आगामी विपत्ति से वह बेखबर थी।'

'घर की रानी अपने धनी की निपट निर्धनता से अपरिचित थी।'

'पुरुष अपनी पत्नी के सिंगारदान को खोल कर नहीं देखता।'

'नारी अपने पति की आर्थिक स्थिति के विषय में खुलकर नहीं पूछती।'

'दो अभेद्य दीवारें पति-पत्नी के बीच सदा रहती हैं।'

'भद्र समाज में ऐसा ही नियम है।'

'किंतु सुधीर ने एक दिन अपनी रानी का सिंगारदान बेच दिया।'

'सुमित्रा ने अपनी पीड़ा को हंसकर छिपा लिया।'

'साहूकारों ने एक-एक कर दस दावे दायर किए।'

'डिगरी, कुरकी और नीलामी ने उन्हें कहीं का न छोड़ा।'

मां की पकड़ से बचने के लिए छोटा सुवीर बारी-बारी से रमेश मामा और सुरेश मामा की गोद में सिर छिपाने लगा। लेकिन मां की पकड़ से बालक बचा न रह सका। जाते-जाते सुमित्रा कहती गई—"मोनी मामा आज उपासे, मुन्ना खाए दूध-बताशे।"

'सुधीर और सुमित्रा को घर से निकलना पड़ा।'

'सुमित्रा के पांव भारी थे।'

'सुधीर के लिए सुमित्रा को मुंह दिखाना दूभर हो गया।'

'फीकी हंसी हंस कर, सुमित्रा अपनी पीड़ा को पी गई।'

'जहर पीकर सुधीर ने आत्महत्या कर ली।'

'इसके लिए सुमित्रा ने स्वयं को दोषी ठहराया।'

'सुधीर ने हम दोनों को पत्र लिखकर, दोष स्वयं को दिया।'

'पति-पत्नी के बीच बोलने का अधिकार हमें नहीं है।'

'हम कौन होते हैं भला!'

'लेकिन कोई था, सुमित्रा जिसके लिए जीना चाहती थी।'

'था क्या? है!'

कलम हाथ में लिए रमेश कुछ देर निष्क्रिय बैठा रहा। तब तक सुरेश हाशिए में एक तरुणी विधवा मां और उसकी उंगली थामे हुए तीन-चार बरस के बच्चे का रेखाचित्र बनाता रहा। रमेश से रहा न गया। चित्र में कुछ ऊपर उसने बरामदे में खड़े दो उदास दर्शक बनाए, जो जुड़वां भाइयों से लगते थे।

इतने में किसी ने द्वार खटखटाया। सुरेश ने द्वार खोल दिया। प्लास्टिक का बहुत रंगीन झुनझुना लिए, विजय-मुद्रा में सामने चार वर्ष का सुंदर बालक खुले दरवाजे के बीचोंबीच खड़ा था। बालक ने जोरों से अपना झुनझुना बजाया। वह भीतर आया। बारी-बारी से उसने रमेश और सुरेश की ओर गर्वीली दृष्टि से देखा—जैसे कोई इतिहास-प्रसिद्ध विजेता अपने विक्रम के साक्षियों की ओर देखे। उसने फिर एक बार अपना झुनझुना बजाया। यह देखकर रमेश और सुरेश मौन धारण किए न रह सके।

रमेश बोला—'है न हूबहू छोटा सुधीर?'

'है तो!' बच्चे को अपने पास खींचकर, सुरेश ने कहा—'अच्छा बता तो, सुवीर, रमेश मामा अच्छा कि सुरेश मामा अच्छा?'

बच्चा हंसा—'सुवीर मुन्ना अच्छा!'

रमेश और सुरेश भी हंस पड़े। हंसती-हंसती सुमित्रा भी आई। बोली—'देखा न चित्रपट के नए हीरो को! चोर कहीं का!'

मां की पकड़ से बचने के लिए छोटा सुवीर बारी-बारी से रमेश मामा और सुरेश मामा की गोद में सिर छिपाने लगा। लेकिन मां की पकड़ से बालक बचा न रह सका। जाते-जाते सुमित्रा कहती गई—"मौनी मामा आज उपासे। मुन्ना खाए दूध-बताशे।"

रमेश ने कलम उठाई और उद्धृत किया—'अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी!'

सुरेश ने पाद-पूर्ति न की। लिखा—'यही कहानी?' ❑

—जुलाई, 1967

संस्मरण

'उग्र': अजब आज़ाद मर्द था

उग्र

रुद्र काशिकेय

जीवन का अंतिम अतिथि, ऐन रंगभरी-एकादशी की रंगीली रात में 'उग्र' को भी अपने काले रंग की चादर में लपेट ले गया और शायद 'उग्र' अपने प्रिय कवि गालिब के शब्दों में उससे इतना भी न कह सके:

यूं होके जिगर आंख से टपका नहीं ऐ मर्ग,
रहने दे अभी यां कि मुझे काम बहुत है।
होगा कोई ऐसा भी कि गालिब को न जाने,
शायर तो वह अच्छा है पै बदनाम बहुत है।

'उग्र' भी बहुत बदनाम थे।

'उग्र' बड़े ही नामधारी भी थे।

'उग्र' नामधारी बने थे, अपनी सहज सिद्ध अप्रतिम प्रतिभा के बल पर। वह बदनाम हुए थे 'नीम नैतिक' निर्बलों की अतिशय अनैतिक आपाधापी से। बदनामी और सहृदय-समर्थित नामवरी, दोनों को यहीं छोड़कर 'उग्र' चले गए; 'उग्र' मरकर भी अमर हो गए। उनका कवि, उनसे पहले ही कह गया था—

बुरा न मान जो वाइज बुरा कहे,
ऐसा भी कोई है कि सब अच्छा कहें जिसे।

'उग्र' व्यक्ति अनोखा था; उसकी अभिव्यक्ति उससे भी अधिक अनोखी थी। उसकी भाषा में ज्वालामुखी के लावे फूटते थे; उसके भाव में भूकंप की हलचल हिलोरें लेती थीं। हिंदी जगत उससे जला-भुना, कांपा-थरथराया, और साथ ही सप्राण नवीनता की सहज आभा और अभिव्यक्ति की अदम्य शक्ति से समन्वित भी हुआ।

आज से 45-46 वर्ष पहले का एक दिन। सन् 1920-21 का जमाना। असहयोग आंदोलन के आविर्भाव का युग। मैं काशी के हरिश्चंद्र हाई स्कूल की कक्षा 3 या 4 का विद्यार्थी, बस्ता बगल में दबाए स्कूल जा रहा था—पढ़ने नहीं, यह देखने कि आज कितने स्कूल छोड़ते हैं। उन दिनों प्रतिदिन कुछ लोग स्कूल छोड़ते थे। स्व. लालबहादुर शास्त्री और त्रिभुवन नारायण सिंह दो-चार दिनों पूर्व ही जुलूस बनाकर स्कूल से निकल चुके थे। मैंने बुलानाले पर पहुंचते ही देखा कि सुंड़िया की ओर से जो गली निकलती है, उसी में से एक आदमी सड़क पर आ निकला। नाटा गठीला बदन, गोल हलका चेचकरू चेहरा, छोटी-छोटी परंतु अत्यंत आकर्षक आंखें, धवल खादी की धोती और कुर्ता, सिर पर सफेद बूटीदार गहरा हरा रूमाल बंधा हुआ। साथ के आदमी ने बताया यही 'उग्र' जी हैं। यही मेरा प्रथम 'उग्र' दर्शन था। इसके बाद तो 'उग्र' को बहुत समीप से देखने का अवसर मिला और मेरे 'मति-राम' ने अंत में यही कहा कि—'ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निखरे सी निकाई।'

यों तो 'उग्र' उत्पन्न हुए थे उत्तर प्रदेशीय मिर्जापुर जिले के चुनार जनपद में और नागरिक रहे थे समूचे भारतवर्ष के, फिर भी वह सही अर्थ में 'बनारसी' ही थे। उनके जीवन का सर्वाधिक संवेदनशील समय काशी में बीता था। यह वही समय था जबकि आदमी का एक परिचय बनता है और वही परिचय जीवन भर के लिए स्थायी हो जाता है। 'उग्र' के साहित्य ने काशी में ही प्रथम नयनोन्मेष किया था।

वाराणसी के हिंदू स्कूल में 'उग्र' जी कमलापति त्रिपाठी के सहपाठी थे और महात्मा गांधी के चरणस्पर्श का सौभाग्य दोनों ने साथ ही प्राप्त किया था। कथाकार विनोदशंकर व्यास और नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र उस समय उसी स्कूल के विद्यार्थी थे। उन दिनों उस स्कूल के प्रधानाध्यापक थे श्री गुरुसेवक उपाध्याय। परंतु वस्तुतः उपाध्याय जी अध्यापक थे ही नहीं। वह संयुक्त प्रांत सरकार के एक अवकाशप्राप्त नैष्ठिक प्रशासनिक अधिकारी थे। उन्होंने 'गांधी की आंधी' में बहने वाले कुछ छात्रों को बेंत लगाने की सजा दी थी। उनकी यह करतूत लोगों को बहुत नागवार गुजरी। उन्होंने 'उग्र' के लंबे केश भी कटवा दिए और 'उग्र' ने बदले में स्कूल से अपना नाम काट लिया।

संपादकाचार्य स्व. पराड़करजी ने 'उग्र' की प्रतिभा की प्रथम परख की। वह प्रति शनिवार 'आज' में उनकी कोई न कोई कहानी प्रकाशित करने लगे। उन दिनों हिंदी में लेखकों को पारिश्रमिक प्रदान करने की प्रथा न थी। परंतु उसी समय सुना था, पराड़करजी 'उग्र' को चार आने प्रति कालम के हिसाब से पारिश्रमिक देते हैं। 'उग्र' की कहानियां प्रायः आठ कालमों की होती थीं। इस प्रकार 'उग्र' को प्रति सप्ताह दो रुपए की आय होने लगी। जो उन दिनों एक आदमी के नाश्ता पानी भंग-बूटी के लिए काफी थी। 'उग्र' ने 'अष्टावक्र' के नाम से कभी कोई कहानी न लिखी, शशि मोहन शर्मा के नाम से अपनी प्रारंभिक कहानियां अवश्य लिखीं। 'आज' में उन्होंने हास्य-व्यंग्य का एक स्तंभ 'ऊटपटांग' नाम से खोला और उसमें वह 'अष्टावक्र' नाम से ही लिखते थे।

'उग्र' के ऊपर तुलसीदास का प्रभाव आजीवन बना रहा—पूर्वार्द्ध में 'आतिश' लखनवी और उत्तरार्द्ध में 'गालिब' देहलवी के प्रभाव

के साथ-साथ। 'उग्र' जीवन के पूर्वार्द्ध की सर्वश्रेष्ठ कृति है 'चंद हसीनों के खतूत' जिसके नामकरण का आधार 'उग्र' को 'गालिब' के इस शेर में मिला था—

चंद तसवीरें बुतां, चंद हसीनों के खतूत,
बाद मरने के मेरे घर से ये सामां निकला।

और उनके जीवन के उत्तरार्द्ध की सर्वश्रेष्ठ मौलिक कृति है 'अपनी खबर', जो उनकी आत्मकथा है। 'अपनी खबर' नाम की कल्पना 'उग्र' ने 'गालिब' के इस शेर में प्रयुक्त इन्हीं शब्दों से की, जैसे—

किस बेखुदी में भूल गया राहे कूए यार,
जाता वगर्ना एक दिन अपनी खबर को मैं।

'उग्र' ने अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश 'उग्र' नामक एक स्कूली हस्तलिखित पत्र के संपादन और 'ध्रुव धारणा' नामक एक खंडकाव्य की रचना से किया था। उन दिनों काशी के कुछ असहयोगी छात्रों ने, जिन में कमलापति जी त्रिपाठी और 'उग्र' जी जैसे सरकारी स्कूल छोड़ने वाले और डा. जगन्नाथ शर्मा जैसे स्कूल में पढ़ते हुए भी इसी मंडली के साथ रहने वाले छात्र भी थे, एक पुस्तकालय की स्थापना की थी। संभवतः 'उग्र' की पहली रचना 'ध्रुव धारणा' और डा. जगन्नाथ शर्मा की 'राष्ट्रीय कजली' का प्रकाशन यहीं से हुआ था। वास्तविकता यही है कि 'उग्र' जी ही कमलापति त्रिपाठी, विनोदशंकर व्यास और डा. जगन्नाथ शर्मा के उस समय प्रेरक थे। कमलापति जी को असहयोगी बनने और जेल जाने की प्रेरणा 'उग्र' ने ही दी थी, विनोदशंकर जी को साहित्य-सर्जन का चस्का 'उग्र' ने लगाया था और जगन्नाथ जी शर्मा जैसे प्रतिकूल परिस्थितियों में पलने वाले प्राणी में भी इतनी उग्र-विद्रोही भावना भर दी कि हिंदी साहित्य सम्मेलन के परीक्षा भवन में शर्मा जी ने कड़े पर्चे का इतना करारा विरोध किया कि उस परीक्षा से तो वह वंचित किए ही गए, उनके लिए साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा का द्वार सदा के लिए बंद हो गया। इतना ही नहीं, आगे चलकर उन्होंने सत्याग्रह के सिलसिले में जेलयात्रा भी की। दूसरों में उत्साह की बिजली भर देने वाली 'उग्र' की क्षमता के सजीव प्रमाण शर्मा जी हैं। कारण, शर्मा जी कमलापति जी की भांति किसी परम प्रतिष्ठित पैसे वाले परिवार में उत्पन्न नहीं हुए। काशी के औरंगाबाद मुहल्ले में अपने बहनोई के आश्रय में रहकर वह अध्ययन करते थे और उसके यात्रा के व्यवसाय में भी कभी-कभी हाथ बटाने को विवश होते थे, परंतु 'उग्र' के विद्युत प्रभाव से वह अपने को मुक्त न रख सके। वास्तव में 'उग्र' वह शक्तिशाली इंजन थे जो विषम परिस्थितियों में गिरे-पड़े डिब्बों को भी अपने साथ खींचते हुए सरपट दौड़ा सकते थे।

'उग्र' को पाखंड फटी आंख न सुहाता था—चाहे उस पाखंड का स्वरूप राजनीतिक हो या सामाजिक; धार्मिक हो या साहित्यिक। इन्हीं पाखंडों पर 'उग्र' ने जितने प्रहार किए हैं, उन्हीं के पुस्तक रूपों के नाम हैं—'बुधुआ की बेटी', 'दिल्ली का दलाल', 'शराबी', 'चार बेचारे', 'दोजख की आग', 'चिनगारी और चाकलेट।'

'उग्र' की सर्वाधिक बदनाम रचना 'चाकलेट' ही थी। उन दिनों अपने को नैतिकता की निगरानी पर नियुक्त मानने वाले हिंदी के कुछ संपादक 'उग्र' जी के पीछे हाथ धोकर पड़ गए। उन लोगों ने 'उग्र' साहित्य को घासलेटी साहित्य घोषित किया। उतने से ही संतुष्ट न होकर महात्मा गांधी तक का ध्यान उस पुस्तक की ओर आकृष्ट किया। गांधीजी के यह कहने पर भी कि कटु तो है, पर सत्य भी है, 'उग्र' का विरोध करना बंद नहीं किया। ऐसे ही महानुभावों ने सुकरात को विष का प्याला पिलाया था; अंग्रेज कवि कीट्स को उसकी भरी जवानी ही में मारा था; भारतेंदु को असमय ही अस्त कर दिया था; ताबड़तोड़ यह लोक छोड़ देने के लिए प्रसाद जी को विवश किया था, और महाप्राण 'निराला' को पागल बना दिया था।

'उग्र' ने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ पत्र-संपादन से ही किया था। अतः आगे चलकर उन्होंने 'भूत', 'उग्र', 'संग्राम' आदि अनेक पत्रों का संपादन किया और 'मतवाला' के तो वह प्राण ही बने। कुछ समय बंबई के फिल्मी क्षेत्र में भी बिताया, परंतु शीघ्र ही अपने पुराने 'इल्मी' क्षेत्र में लौट आए। राजद्रोही साहित्य प्रस्तुत करने के अभियोग में जेलयात्रा भी की—सुमित्रानंदन पंत की तरह चिरकुमार भी रहे और निराला की तरह अक्खड़ भी। उनकी भावुकता और सहृदयता प्रसाद जी जैसी थी।

'उग्र' नाटककार भी थे—हिंदी के पाठ्यपुस्तक पोषित अनेक नामी नाटककारों से कहीं अधिक अच्छे। उनका 'महात्मा ईसा' नामक नाटक इस कथन का प्रमाण है। प्रसाद जी भी हिंदी के अनोखे नाटककार थे परंतु उन्हें अभिनय और रंगमंच का प्रत्यक्ष कार्यकारी अनुभव न था, इसीलिए अभिनेता की दृष्टि से उनके नाटक कहीं-कहीं सदोष रह गए, परंतु 'उग्र' कुशल अभिनेता भी थे। द्विजेंद्रलाल राय के *चंद्रगुप्त* में उन्हें 'छाया' की भूमिका में जिन्होंने देखा होगा, वे मेरे इस कथन के कायल होंगे।

सन् 1920 की काशी अद्‌भुत थी—वस्तुतः तीन लोक से न्यारी थी। उस समय की काशी में एक ओर 'फड़कता है चिरागे सहर जब खामोश होता है' की स्थिति को चरितार्थ करते हुए निर्वाणोन्मुख मध्यकालीन संस्कृति के दीपक की अंतिम लौ बड़ी ही तेजी से फड़क रही थी, तो दूसरी ओर नवयुग घुटनों के बल रेंगते हुए धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा था। बिलकुल 'दिपत ताफता रंग' अर्थात गंगाजमुनी रंग था। उस काशी में पुराने पूंजीपति भी थे जो घुटने तक धोती पहने और कंधे पर चारखाने का अंगोछा रखे सड़क के किनारे किसी पटरी के पटरे पर बैठे इक्केवानों, कुलियों और मजदूरों के साथ चिलम-तमाखू करते दिखाई देते थे। अखाड़ों में दमदारों का दंगल रहता था और गंगा की लहरों पर 'विमल बुढ़वा मंगल।' 'एक बार-नौ त्यौहार' की व्यवस्था थी। रुपये में कुल चौंसठ पैसे मिलते थे परंतु साढ़े तीन पैसे में ढाई पहर की बादशाहत खरीदी जा सकती थी, अर्थात् सायंकाल साढ़े तीन पैसे में एक पैसे का साबुन, एक पैसे का खस का इत्र, एक-एक अधेले का तेल, बीड़ी और पान तक का डौल लगाते हुए ठाट से तमाशबीनी की जा सकती थी। शान और आत्मसम्मान के आसमान में लोग संतोष की सांस लेते थे। बनारस के जिस राजपथ पर आज पैदल चलना भी मुश्किल है, उन पर उन दिनों 'गहरेबाजी' होती थी। दोस्त दिलेर होते थे और दुश्मन दानेदार। बोली-ठोली में ठिठोली चलती थी, गोली नहीं। नगर निवासी न पाखंड से पस्त थे; न कुंठा से ग्रस्त। एक ओर 80 वर्ष के जुलजुल जरठ राजा बाबू 'षोडशी युगल' को फिटन पर अगल-बगल बैठाए हुए हवाखोरी के लिए निकलते थे और नागरिकों के मनोरंजन की सामग्री बनते थे तो दूसरी ओर महिलाओं पर कुदृष्टि डालने वालों का, राह चलते लोग अपने उपानह से ही भ्रमभंजन कर देते थे; पुलिस को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। एक बार लंबे प्रवास से काशी लौटने पर बदले हुए बनारस में उक्त फिजा का अभाव पाकर 'उग्र' ने लिखा था कि बनारस पत्थर हो गया।

कविता

नियतिहीन

इंदु जैन

बर्फानी पहाड़ों से हवाई जहाज टकराते
चूर हो जाते,
धानी तलहटी में बासंती हवा बहा करती है।
माथे से ऊपर शीत है
कोहरा है,
वक्ष में, धमनियों में उछलती आग दहा करती है।

जहाज में बैठे
सारे के सारे
कटी पतंग से
फहराते,
नियतिहीन,
नीचे आ जाते।

धरा का हरा रंग
नभ को न रंग पाता।
मेरे भी रेखहीन मस्तक की जड़ता
नसें जमा देती है,
अंगों की आग का
माथे पर
ताप तक न आता। ❑

—नवंबर, 1966

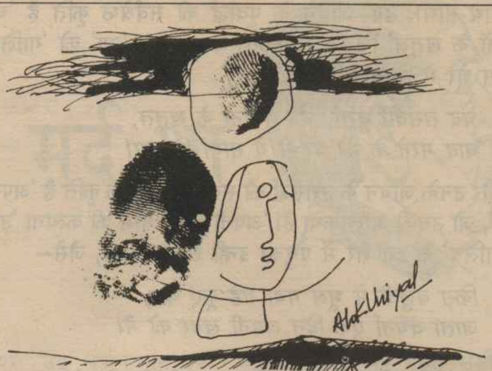

धूप-स्नान

जुगमंदिर तायल

एकांत
सीत-धूप में जल सोया है।
वस्त्र उतार,
और जल में आकाश
और पहाड़।
एक पक्षी जगाने को उसे छूता है
फिर सहम
वापिस लौट जाता है।
शब्द-हीन, शीतल हवा
हल्के हाथों के स्पर्श से
सिहरा
आगे बढ़ जाती है।
एक कौवा कांव-कांव करता है
और शर्माकर
चुप हो जाता है।
बांध की दीवार से
कोई एक देखता है रूप,
आंख बंद कर लेता है। ❑

—नवंबर, 1966

'उग्र' जी को बनारस इसीलिए पथराया प्रतीत हुआ क्योंकि उन्होंने इसका अतिशय स्निग्ध रूप देखा था। वह रूप देखा था, जिसमें स्वयं 'उग्र' के रंग का विवरण आज से प्राय: 34 वर्ष पूर्व 'हंस' में प्रकाशित अपने 'अतीत के गीत' में दुर्गादत्त त्रिपाठी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया था—'पांडेय बेचन शर्मा उग्र, श्री विनोदशंकर व्यास, श्री कमलापति त्रिपाठी, श्री जगन्नाथ शर्मा 'रसिकेश', कविवर लक्ष्मीनारायण 'श्याम' आदि विद्यार्थियों से भेंट हुई।' 'यह मंडली क्या करती थी'—उसका विवरण दुर्गादत्त त्रिपाठी के अनुसार यह है कि 'आए दिन मित्र मंडली के प्रोग्राम बनते रहते थे। कभी कीनाराम का स्थल, कभी पिशाचमोचन, कभी बड़की दुर्गा, कभी औरा तरे, कभी बेदोव्यास, का मेला, कभी सारनाथ की सैर, कभी रामनगर की रामलीला, कभी नाटी इमली का भरत-मिलाप, कभी चेतगंज की नकटैया, कभी बुढ़वामंगल जैसे मस्ताने त्यौहारों की चहल-पहल रहती थी... रास्ते पर चैती, थाटो, पूरबी और 'जबसे फंदे में तोरे रामधैद आइल बाटी' आदि बनारसी गुंडई की तुकबंदियों को उच्च साहित्य की भांति गुनगुनाते जाते थे।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त स्वरों में 'उग्र' का स्वर ही सबसे ऊंचा रहता था और इसीलिए यह कहना बहुत जरूरी है कि 'उग्र' बड़ा ही आजाद जीव था; उसकी अदम्य आत्मा शरीर के बंधन से मुक्त हो गई है, उसे मुक्ति मिले। गालिब के ही शब्दों में—

हक मगफरत करे अजब आजाद मर्द था। ❑

—जुलाई, 1967

संस्मरण

सुदर्शन : मेरे पिता

कुलभूषण

अनेक चेहरे हैं पिताजी के जिन्हें मैं पकड़कर चित्रित करना चाहता हूं। अनेक जिंदा चेहरे, हंसते चेहरे, गमगीन चेहरे, सोच में डूबे चेहरे, तूफानों से सामना करते चेहरे।

सोलह दिसंबर, 1967 को सुबह बंबई के हरकिशनदास अस्पताल में, मैं अपने पिता के अंतिम जीवित दर्शन कर चुका हूं। मेरे पिता, जो सुदर्शन के नाम से हिंदी-उर्दू के पाठकों के बीच प्रसिद्ध हैं।

16 दिसंबर, 1967 की शाम को मैं उनके 72 वर्षीय शरीर को आग की लपटों से खेलते, और खेलते-खेलते मेरी आंखों से सदा के लिए ओझल होते देख चुका हूं।

मगर यह लिखते समय भी मैं जानता हूं, वह मेरी आंखों से कभी ओझल नहीं होंगे। जब तक मेरी बंद आंखों में देखने की शक्ति है, वह मेरे साथ रहेंगे, साथ हंसेंगे, मेरे छोटे से छोटे कण में झिलमिलाएंगे।

मेरा चेतन मन जानता है, यह सब मात्र प्रलाप है। भौतिक शरीर ही सत्य है। शरीर जब चला जाता है, तब सब कुछ चला जाता है। मगर फिर भी मैं कहता हूं, मेरे पिता अभी मेरे पास हैं, उन्हें मुझसे कोई नहीं छीन सकता।

उनकी लिखी पुस्तकों की बात मैं नहीं कर रहा हूं। उनके गानों का उल्लेख भी यहां नहीं है। उनकी लिखी फिल्मों का जिक्र भी मुझे नहीं करना है। मुझे उनकी जिंदादिली का जिक्र करना है, उनकी दिलेरी को याद करना है। उनकी स्पष्टवादिता से परिचय कराना है।

अनेक चेहरे हैं पिताजी के, जिन्हें मैं पकड़कर चित्रित करना चाहता हूं। अनेक जिंदा चेहरे, हंसते चेहरे, गमगीन चेहरे, सोच में डूबे चेहरे, हवाओं पर नाचते चेहरे, तूफानों से सामना करते चेहरे!

एक चेहरा मेरे शैशव के उन आरंभिक दिनों का है, जब मुझे बहुत कम ज्ञान था। उन दिनों हम लाहौर में रहते थे। मुफीदेआम प्रेस के सामने रामगली के नुक्कड़ पर पहली मंजिल पर हमारा मकान था जिसमें कातिब का कमरा था, दफ्तर था, 'चंदन' उर्दू मासिक पत्रिका की प्रतियों एवं पिताजी की अपनी प्रकाशित की हुई उर्दू पुस्तकों का गोदाम-कमरा था, और एक सोने के लिए कमरा था। इनमें से आखिरी कमरे में, मैं अनेक बार रात के अंधेरे में जागा था। जागकर महसूस किया था कि सब सोए नहीं हैं। पिताजी मेज पर झुके काम कर रहे हैं—कागज पर कुछ लिख रहे हैं, और मेरी मां पास बैठी स्वैटर बुन रही है, चर्खा कात रही है, अथवा कुछ और काम कर रही है। पिता जी लिखते-लिखते कभी-कभी रुक जाते हैं, उनके गंभीर चेहरे पर मुस्कुराहट खेल जाती है, अथवा युवा माथे पर असंतुष्ट-से भाव उभर आते हैं, उधर उनकी कलम एकाएक जोर-जोर से लकीरें खींचने लगती हैं। शायद वह उन पंक्तियों को काट रहे हैं जो उन्हें किसी वजह से पसंद नहीं आई हैं।

और इस चेहरे से बिलकुल विपरीत एक और चेहरा है इन्हीं दिनों का। इसी मकान की दूसरी मंजिल पर रसोईघर है। खुली छत है, और फिर एक कमरा है, जहां मेरे अन्य तीन भाई सोते हैं। खुली छत के सड़क वाले छोर पर एक चबूतरा है जिस पर पिताजी बैठे हैं और साथ ही एक घनी मूछों वाला व्यक्ति बैठा है, जो जब-तब ठठाकर हंस पड़ता है। बहुत दिन बाद मैंने इस हंसी की पुनरावृत्ति पाई है—मुंशी प्रेमचंद जी के बेटे श्रीपतराय में। पिताजी के कहकहे गूंजते हैं, तो हम सब भाई-बहनों के लिए सब कुछ खिल उठता है। पिताजी को खुश देखकर हमें और कुछ पाने की लालसा नहीं रहती।

मगर पिताजी बच्चों से बेखबर रहते हैं। अपने कार्य में व्यस्त। प्रातः के लेखन के बाद सैर, फिर दफ्तर में चिट्ठी-पत्री, प्रेस और कातिब और कागज और जिल्दसाज के बीच एक अनवरत व्यस्तता।

पिताजी के बहुत-से मित्र हैं, जिनको हम भी जब-तब देख लेते हैं। आठ-दस-बारह व्यक्ति जमा हैं और खाना चल रहा है, पान बंट रहे हैं, उर्दू के शेर कहे जा रहे हैं, वाह-वाह की आवाजें बुलंद हो रही हैं। पिताजी ऐसे वक्तों पर बड़े खुश नजर आते हैं—जिंदगी जैसे लबालब छलक उठे। उन्हें देखकर हमारे नन्हे दिलों में एक वलवला उठ खड़ा होता है।

एक और चित्र। वह चित्र भी संतोष का चित्र है। स्वतंत्रता संग्राम में असहयोग आंदोलन की अवधि में वह एक अंग्रेजी कंपनी में नौकर हैं—मगर देशप्रेम में फिर भी वह किसी से कम नहीं हैं। जलियांवाला बाग कांड के दिनों में उन्होंने अंग्रेजी सरकार के 'मौत-फंड' में नौकरी की है—और सरकार के जुल्म के नंगे नाच की कुछ झलकियां, उन्होंने 'सुप्रभात' की कहानियों में दी हैं।

वही लेखक, अब दस वर्ष बाद अपनी पत्नी को महिलाओं के एक जुलूस का नेतृत्व करते देखता है। वह जानता है कि इससे उसकी नौकरी को खतरा है, मगर फिर भी वह अपने बच्चों को शाबाशी देता है कि उन्होंने मां का जुलूस में जाना संभव कर दिया।

शायद इसलिए कि मां का यह कार्य उसकी अपनी इच्छाओं की पूर्ति है। वह इस समय यह भूल जाता है कि गरीबी और भूख का साया एक बार फिर उसके परिवार को ढंक सकता है।

नौकरी को वह कभी गुलामी में परिवर्तित नहीं होने देगा।

डलहौजी की एक थकी हुई सुबह का चेहरा। मेरे पिता रोज सुबह सैर के लिए जाते हैं और लौटकर एक अंडा दूध में मिलाकर पीते हैं। मुझे उनके दुख का कारण नहीं पता है, मगर मैं आज जानता हूं कि उस सुबह का चेहरा उदास क्यों था, थका क्यों था। थका इसलिए कि वह बीमार हो गए थे। लाहौर में डाक्टर ने कहा था, वहां पर जाना नितांत आवश्यक है। उधार लेकर वह पहाड़ियों पर आ गए थे—मगर उदासी का कारण यह नहीं था। डाक्टर ने कहा था अंडा रोज खाओ। पिताजी को, जो आर्यसमाज की उस पार्टी से संबंधित थे जो मांस-मदिरा के विरुद्ध थी, बहुत दुख था कि उन्हें अंडा खाना पड़ रहा है। उनका बस चलता, तो डाक्टर की सलाह पर भी यह अंडा न खाते, मगर मां यह सहन न करती थी कि अंडे न खाने की एक जिद से पिताजी के स्वास्थ्य को हानि पहुंचे और पिताजी मां का कहना कभी नहीं टालते थे।

कलकत्ता की एक शाम। हम सब भाई-बहन खेल रहे हैं, शोर कर रहे हैं।

पिताजी अब फिल्मों के लिए लिखने लगे हैं। लाहौर में एक चित्रपट 'पाक दामन रक्कासा' के संवाद लिखने के बाद, उन दिनों के मशहूर स्टेज अभिनेता मास्टर मदन की सहायता से उन्हें एक नई फिल्म कंपनी में नौकरी मिल गई है और वह 'रामायण' की कहानी और संवाद लिख चुके हैं और अब उसी फिल्म का निर्देशन भी कर रहे हैं। अभिनेत्री राजकुमारी सीता बनी है, और कंपनी के सेठ चोखानी ने उस सीता के पांव छुए हैं। पिताजी से कहते हैं कि वह भी सीता माता का आशीर्वाद लें, तो वह इंकार कर देते हैं। अभिनेत्री राजकुमारी सीता नहीं है, वह तो वेश्या है, जिसके साथ एक कार में बैठना भी वह पसंद नहीं करते।

एक सफल फिल्म लेखक का चेहरा। पिताजी ने न्यू थिएटर्स, कलकत्ता में नौकरी कर ली है। 'धूप-छांह' के प्रदर्शन का पहला दिन है। पिताजी धर्मतल्ला स्थित न्यू सिनेमा में गए हैं फिल्म का पहला शो देखने। हम सब नहीं गए हैं, क्योंकि किसी ने उन्हें परिवार के लिए आमंत्रण नहीं दिया है। हम सब फिल्म देखने के लिए उत्सुक हैं—मां भी कहती हैं कि उन्हें फिल्म देखनी है।

और कुछ दिन बाद सचमुच हम सब 'धूप-छांह' देखने जाते हैं—जिसका बंगला संस्करण बाद में 'भाग्य चक्र' के नाम से प्रदर्शित होता है और इसी नाम से हिंदी में नाटक भी छपता है—टिकट खरीदकर। फिल्म बहुत बढ़िया है, हमें तो बहुत ही अच्छा लगता है।

इस फिल्म में याददाश्त भूलने की जो घटना है वह कई वर्ष बाद अंग्रेजी के एक उपन्यास के माध्यम से अमेरिकी फिल्म में आती है। और भारत में तो वर्षों तक इस घटना का प्रयोग चलता रहता है।

फिल्मों में लिखने के लिए अनेक हिंदी लेखक आए, मगर पिता जी को छोड़कर अन्य सभी को उस क्षेत्र को छोड़ जाना पड़ा। उर्दू लेखकों में भी राजेंद्र सिंह बेदी को छोड़कर और कोई सफल नहीं हो पाया, मगर बेदी साहब ने भी पिछले दिनों मुझसे बातें करते हुए स्वीकार किया कि यद्यपि संवादों के लिए उन्हें पुरस्कार मिल चुके हैं, मगर एक भी मूल कहानी वह फिल्मों के लिए किसी भी प्रोड्यूसर को आज तक नहीं बेच पाए हैं।

पिताजी की इस सफलता का कारण यह था कि उन्होंने एक बार फिल्मों के क्षेत्र में आने के बाद इस माध्यम का मनोयोग से अध्ययन किया था। अन्य सभी लेखकों ने अपने अहंकार के दबाव में आकर साहित्य को ही फिल्मों पर थोपने की चेष्टा की थी, और इसीलिए इसमें वे असफल भी रहे थे।

मुझे याद है, बंबई में जब हम आए, तो हम सब भाइयों की उम्रें भी अच्छी हो गई थीं और हम पिताजी से उनकी कहानियों की विशेषताओं के बारे में बहसें भी करते थे। पहली उम्र में जब वह कोई कहानी लिखते थे, तो सबसे पहले उसे मां को पढ़कर सुनाते थे। मां के 'पास' करने पर ही वह कहानी छपने के लिए जाती थी। मां हमारे हम-उम्र लड़कों की मांओं की तरह अनपढ़ नहीं थीं, वह अपने समय के उस स्नातिकी दल की सदस्या थीं जिन्होंने लाला देवराज के कन्या महाविद्यालय, जालंधर में शिक्षा पाई थी। इनकी भूलें अक्सर वही सुधारा करती थीं। मां का यह रोल तब समाप्त हुआ, जब हम भाई-बहन समझदार हुए और पिताजी मां के साथ ही हमें भी बिठाकर अपनी फिल्मों के सीन सुनाने लगे। हम मनोयोग से उनका लिखा हुआ सीन सुनते और जैसी हमारी समझ थी, उसके अनुसार टीका-टिप्पणी भी करते। मगर मुझे एक भी ऐसे अवसर की याद नहीं है, जब पिताजी ने हमारी टीका का बुरा मना हो। वह बड़े ध्यान से हमारी बातें सुनते थे और अगर हमारी बातों में कुछ सार दिखाई देता, तो उसके अनुसार सीन बदल भी देते थे।

मगर उनके इस बदलने की भी एक सीमा थी। *सिकंदर* फिल्म लिखने के दौरान एक बार पृथ्वीराज कपूर हमारे घर आए। वह इस फिल्म में सिकंदर की भूमिका कर रहे थे और उसके एक सीन के प्रति उन्हें कुछ सुझाव देने थे। पिताजी ने उन्हें ध्यान से सुना और फिर बोले, "आप का सुझाव मुझे अनुचित नहीं लगता, मगर कहानी की जो धारा मैं पकड़ रहा हूं, उससे यह अलग है।" और इतना कहकर, बिना विवाद के उन्होंने कपूर साहब को मना कर दिया। और उन दोनों की मित्रता में अंत तक कोई अंतर नहीं आया।

धूप-छांह के द्वारा पिताजी ने फिल्मी क्षेत्रों में अपना जो स्थान बनाया था, उसका चरमोत्कर्ष *सिकंदर* के प्रदर्शन के साथ हुआ। *धूप-छांह* की तरह ही *सिकंदर* के भी कथा, संवाद, एवं गाने उन्होंने ही लिखे थे। आजादी की लड़ाई की पृष्ठभूमि में यह चित्र जनता में जोश फैलाने का माध्यम सिद्ध हुआ था और सभी क्षेत्रों में इस चित्र का स्वागत हुआ था।

मगर यह सफलता भी अच्छी नहीं रही: जब *सिकंदर* लिखा गया तब वह मिनर्वा मुवीटोन में वेतन पाते थे। मगर नौकरी की शर्तों में था कि पिताजी केवल संवाद लिखेंगे और यदि वह कोई कहानी देंगे, तो उसका पारिश्रमिक उन्हें वेतन से अलग दिया जाएगा। *सिकंदर* के लिए पिताजी ने लगभग तीस हजार पृष्ठ पढ़े थे और इसमें उनकी आंखें भी दुखने लगी थीं, मगर *सिकंदर* की अद्वितीय सफलता के बावजूद, जब कहानी के पारिश्रमिक की बात उठी तो उन्हें साफ जवाब मिल गया। कहानी पिताजी ने लिखी थी, मगर *सिकंदर*

का विषय तो निर्माता ने ही दिया था। फिर कहानी के लिए अलग पैसा कैसा? इस अन्याय का सामना भी उन्होंने अपनी आदत के अनुसार चुप रहकर किया।

पिताजी बैठक में अपनी मेज पर झुके हैं। उनके होंठ हरकत कर रहे हैं, उनका बढ़िया पेन (उन्हें बढ़िया पेन रखने का बहुत शौक था) कागज पर चल रहा है, उनके बाएं हाथ की उंगलियां कागज की कोर को थामे हैं, और उनकी हलकी नीली आंखों की भूरी पुतलियां, उनके विचारों के बहाव में ऊपर-नीचे दाएं-बाएं चल रही हैं—यह चित्र है, पिताजी के लिखने के तरीके का।

सैर से आकर, अथवा सैर जाने से पहले वह कुर्सी पर बैठ जाते हैं, और कागज निकालकर लिखने लगते हैं। लिखने के लिए उन्हें कोई अलग कमरा नहीं चाहिए, कोई आरामदेह कुर्सी नहीं चाहिए, जरूरत से ज्यादा शोर नहीं चाहिए। अपना ही लिखा, वह काटते-छांटते रहते हैं। हर पुस्तक के नए संस्करण से पहले वह उसे पुनः पढ़ते हैं, उसमें संशोधन करते हैं।

पिताजी कर्मठ हैं, बहुत काम हो, फिर भी घबराते नहीं। मगर इस कर्मठता का एक और पहलू भी है।

पिताजी जा रहे हैं—हवाई जहाज से मद्रास जा रहे हैं, अथवा ट्रेन से दिल्ली जा रहे हैं, अथवा कश्मीर जा रहे हैं।

सामान बंध रहा है। बिस्तर अभी खुला पड़ा है, बक्सों में ताला नहीं लगा है। पिताजी आराम से बैठे नहीं रह सकते। उतावली-से घूम रहे हैं, कह रहे हैं, "अरे भई, जल्दी करो। गाड़ी जाने से एक घंटा पहले स्टेशन पर पहुंच जाना लाजिमी है।" मगर कोई चीज वह नहीं पकड़ रहे हैं। अटैची भी नहीं छू रहे हैं। वह सब काम मां का है। पानी का गिलास भी उन्हें खुद नहीं लेना है; कोई दे, तभी वह पानी पी सकते हैं, नाश्ता ले सकते हैं।

और कभी-कभी तो मां तंग आकर कह देती हैं, "ऐसा आदमी भी किस काम का कि एक उंगली भी न हिला सके।"

मगर इस कोंचने का भी पिताजी पर कोई असर नहीं होता है। वह मुस्कुरा देते हैं, और फिर देर हो जाने की उतावली उनके माथे पर, उनकी आंखों में व्यक्त होने लगती है।

मां कुढ़ती हैं, तो कुढ़ा करें। घर की कूटन-पीसन से लेकर मकान बदलने तक की सभी सामान्य जीवन की क्रियाएं मां को अकेले ही करनी हैं—या अपने बेटों की सहायता से करनी हैं। इससे निस्तार नहीं है।

एक और चित्र है पिताजी का—खाने की मेज पर। बढ़िया खाने का शौक उन्हें हमेशा से है—तब से, जब उनके पास हम बच्चों को खिलाने के लिए भी पैसे नहीं थे, जब मां पास-पड़ौस की स्त्रियों से उधार अथवा टीनों में बचे-खुचे चावल और दालें इकट्ठी करके, पकाकर हम बच्चों को खिला दिया करती थीं—और खुद दोनों भूखे ही सो रहते थे।

मगर शौक उन्हें है—और उस शौक का सबसे बढ़िया प्रतीक है पापड़। आग पर सिंका हुआ, हलका लाल पापड़। हम भाइयों की शादी हुई, तो सबसे पहले उन्होंने आने वाली बहू से यही कहा, "कुड़िये (बेटी)! पापड़ भूनकर खिला, तब पता चलेगा कि तू खाना बनाना जानती है कि नहीं। पापड़ भूनने के लिए धीरज चाहिएं, नफासत चाहिए, खाने वाले के ख्याल चाहिए।" पापड़ वह इतने शौक से खाते थे कि मां ने, जो उन्हें जब-तब पापड़ कम खाने को कहती रहती थीं, उनके आखिरी दिनों में देवलाली में पापड़ खाने की पूरी छूट दे दी थी—पूरी छूट।

बच्चों से पिताजी का बहुत लगाव है। हम सब भाई-बहनों के बच्चे—पोते-पोतियां—नाती—इनमें से जो भी सबसे छोटे हों, उन्हें इकट्ठा करके वह बैठ जाते हैं। कहानियां सुनाते हैं, गाने सुनाते हैं, जानवरों की बोलियां सुनाते हैं। बच्चे आंखें फैलाकर, उत्सुक चेहरे उठाकर, अपने नन्हे हाथों में पिताजी का हाथ पकड़कर कहते हैं—"फिर क्या हुआ?"

और पिताजी जवाब में मुस्कुराते हैं, कहकहा लगाकर हंसते हैं। बच्चे भी उनका साथ देते हैं। "फिर क्या हुआ?" का जवाब उन्हें मिल जाता है, शायद इसलिए।

मां उन्हें यह सब करते देखकर टोकती हैं, तो पिताजी चुप हो जाते हैं। बच्चों और उनके दादा के बीच एक नजर आती-जाती है और तय हो जाता है कि मां इधर-उधर हुईं नहीं कि कहानी, गाना, बोलियां फिर शुरू!

कभी-कभी वह उन्हें अपनी एक कविता भी सुना देते हैं—

वह चली हवा,
वह चली हवा!
ना तू देखे
ना मैं देखूं
पर पत्तों ने तो देख लिया
वरना वे खुशी मनाते क्यों?
वह चली हवा,
वह चली हवा!

एक और चित्र है। चलचित्र के अंतिम दृश्य-सा चित्र। मैं 1 जनवरी, 1967 को बंबई से देवलाली उनसे मिलने आया हूं। मां व पिताजी दोनों वहीं पर हैं। एक दिन शाम मैं वहां पहुंचा हूं, दूसरे दिन शाम को मैं वापस बंबई के लिए रवाना हुआ हूं। सरकारी काम से आया हूं, इसलिए केवल एक ही दिन के लिए उनसे मिल सका हूं।

मां और पिताजी मुझे छोड़ने आए हैं। पिताजी को सीढ़ियां चढ़ने की मनाही है, सो नासिक स्टेशन पर वह मां के साथ इधर ही खड़े हैं, और मैं उधर प्लेटफार्म पर पहुंच गया हूं। मुझे उन्होंने बच्चों के लिए रुपये दिए हैं। कहा है, "उन्हें ही देना, आप हजम मत कर लेना।" और मैं उत्तर में मुस्कुरा देता हूं।

मां और पिताजी को रेल की पटरियों के दूसरी ओर प्लेटफार्म पर खड़े देखता हूं। देखता हूं, उनका आपस में बातें करना, मुझे देखकर मुस्कुराना, अपने स्नेह को केवल आंखों से मेरे दिल में उंडेल देना...।

उस वक्त तो गाड़ी आई और मैं चला गया।

मगर आज सोचता हूं कि एक गाड़ी उन दो प्लेटफार्मों के बीच आई, रुकी, चली गई। मैं उसमें नहीं बैठा, मैं वहीं प्लेटफार्म पर खड़ा रहा। जब गाड़ी बीच से सरकी, हटी, तो मैंने पाया, वहां मां है, अकेली मां! □

[मार्च, 1968 में प्रकाशित लेख का संपादित रूप]

संस्मरण

मेरे बड़े भाई

इलाचंद्र जोशी

हेमचंद्र जोशी का व्यक्तित्व यद्यपि अत्यंत सहज और सरल था, तथापि उसे किसी सहज और साधारण दृष्टिकोण से समझ सकना आसान नहीं है। उनके व्यक्तित्व और स्वभाव की सरलता के भीतर जो एक विशेष प्रकार की प्रतिभा निहित थी, वह असाधारण थी। और प्रतिभा की इस जन्मजात असाधारणता और निरालेपन के कारण ही उनके जीवन की गति भी प्रारंभ ही से अनेक टेढ़े-मेढ़े चक्करों के भीतर से होकर प्रवाहित होती रही।

उनका जन्म 21 जून, 1894 को नैनीताल में हुआ। शिक्षा उन्होंने अल्मोड़ा में पाई जो प्राचीन काल से ही कूर्मांचल का प्रधान सांस्कृतिक केंद्र रहा है। ईसाई मिशनरियों के उद्यम से इंटरमीडिएट कालेज की स्थापना बहुत पहले ही हो चुकी थी, जब उत्तर प्रदेश के दो-एक बड़े शहरों को छोड़कर और कहीं भी इंटर कालेज स्थापित नहीं हो पाया था। डा. जोशी ने 1912 में अल्मोड़ा में ही इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद बी.ए. की पढ़ाई के लिए वह इलाहाबाद के म्युअर सेंट्रल कालेज में भरती हुए।

डा. जोशी जब अल्मोड़ा में इंटरमीडिएट कक्षा में पढ़ते थे तभी से उनके निबंध व कविताएं तत्कालीन विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। अल्मोड़ा का छोटा-सा पहाड़ी शहर तब एक प्रकार से सारी दुनिया से कटा हुआ-सा था। मोटर तो तब थी ही नहीं। चालीस मील की लंबी, टेढ़ी-मेढ़ी, कच्ची पहाड़ी सड़क पैदल पार कर चुकने के बाद ही रेल के पहले स्टेशन (काठगोदाम) तक पहुंचा जा सकता था। स्वयं मैंने सत्रह वर्ष की उम्र तक रेल देखी ही नहीं थी। रेल-यात्रा के किस्से हम लोग किसी भाग्यशाली व्यक्ति से बड़े चाव से सुना करते थे। पर संसार से इस कटाव के बावजूद अल्मोड़ा निवासियों के परंपरागत सांस्कृतिक प्रेम में कभी किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आने पाई और हिंदी और अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाएं वहां के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के पास नियमित रूप से पहुंचती रहती थीं। और उन विशिष्ट व्यक्तियों से साहित्य और संस्कृति के प्रेमी दूसरे व्यक्ति उन्हें प्राप्त करके पूरी लगन और चाव से पढ़ते रहते थे।

भाई साहब की चिर-प्रगतिशील प्रतिभा और लगन का यह हाल था कि वह इंटर में पढ़ने के समय से ही हिंदी और अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं के अलावा बंगला की पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें भी नियमित रूप से मंगाया करते थे। बंगला उन्होंने अल्मोड़ा ही में किसी बंगाली सज्जन से सीखी थी। पिताजी भी बंगला भाषा से थोड़ा-बहुत परिचित थे। उनसे भी उन्हें सहायता मिली। पिताजी जंगलात के महकमे में एक प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त थे और उन्हें अक्सर दौरों पर जाना पड़ता था। पर उस स्थिति में भी उनका साहित्य, संगीत और कला संबंधी जन्मजात प्रेम अटूट बना रहा, वरन बढ़ता ही चला गया। पिताजी ने अपने ही प्रयास से हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की चुनी हुई पुस्तकों का एक अच्छा-खासा पुस्तकालय स्थापित कर लिया था। उनसे भाई साहब को छोटी उम्र में ही विविध सांस्कृतिक विषयों का गहरा अध्ययन करने का अवसर मिल गया।

पिताजी द्वारा स्थापित पुस्तकालय को जोशीजी बराबर विस्तार दिए चले जाते थे। जब वह इंटरमीडिएट में पढ़ते थे, तभी से उस पुस्तकालय में उन्होंने काफी वृद्धि कर ली थी। उसके बाद जब वह बी.ए. की पढ़ाई के लिए सन् 1912 में इलाहाबाद पहुंचे तब तो उन्होंने विविध भाषाओं की चुनी हुई पुस्तकों को ऐसी तेजी से खरीदना शुरू किया कि हमारे घर का पुस्तकालय जैसे अपने आप में एक विशिष्ट सांस्कृतिक केंद्र ही बन गया।

मैंने 1915 से उस पुस्तकालय में जब पूरी दिलचस्पी लेना शुरू किया तब यह देखकर मेरे हर्ष और विस्मय का ठिकाना न रहा कि उस पुस्तकालय में संसार भर के सर्वश्रेष्ठ कवियों और साहित्यकारों की रचनाओं के अतिरिक्त इतिहास, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सभी विषयों के विश्वविख्यात विशेषज्ञों की कृतियों और जीवनियों के आकर्षक संस्करण वर्तमान थे। मैं इस अर्थ में अधिक सौभाग्यशाली रहा कि मुझे बिना किसी प्रयत्न और परिश्रम के घर बैठे-बिठाए उन सभी पुस्तकों को बड़े प्रेम से अक्षर-अक्षर चाट जाने का सुयोग—भाई साहब की आश्चर्यजनक सुरुचि, जानकारी, संकलन और चयन संबंधी प्रतिभा के कारण—स्वतः प्राप्त हो गया।

इलाहाबाद में पढ़ते हुए भाई साहब बीच-बीच में कलकत्ता आदि विभिन्न स्थानों की 'सैर' कर लिया करते थे। इस दौरान उन्होंने, अपनी रुचि और लगन के फलस्वरूप, तत्कालीन अनेक भारतीय विद्वानों के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर लिया था और उन लोगों के साथ नियमित रूप से पत्र-व्यवहार भी आरंभ कर दिया था। विद्रोह की प्रवृत्ति उनमें जन्मजात थी और तत्कालीन परिस्थिति में डा. जोशी का वह विद्रोह विदेशी शासन के विरुद्ध केंद्रित हो गया था। पर उनका वह विद्रोह केवल खंडनात्मक नहीं था, उसने प्रारंभ से से ही निर्माण-मूलक दिशाओं को अपनाने में भी कोई कोर-कसर नहीं रखी। स्वदेशी आंदोलन में डा. जोशी ने पूरी लगन से भाग लिया और 1914 में अल्मोड़ा में विशुद्ध स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और प्रसार के उद्देश्य से एक दुकान भी कुछ समय के लिए खोली।

अल्मोड़ा में साहित्यिक जागृति के अग्रदूत भाई साहब ही थे। शुद्ध साहित्य का प्रचार जनता में हो, इस उद्देश्य से 'शुद्ध साहित्य समिति' नाम से हिंदी पुस्तकों के एक बहुत अच्छे सार्वजनिक पुस्तकालय की स्थापना 1913 में उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई। इस पुस्तकालय में हिंदी साहित्य की सभी प्राचीन और नवीन कृतियां उपलब्ध थीं और सभी पुरानी और नई पत्रिकाओं की फाइलों का पूरा संग्रह पाया जाता था जबकि उस युग में बड़े शहरों की अच्छी लाइब्रेरियों तक में ये चीजें सहज सुलभ नहीं थीं।

स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी ने जब 1913 में *प्रताप* का क्रांतिकारी प्रकाशन आरंभ किया तब हेमचंद्रजी के साहित्यिक और सांस्कृतिक निबंध उसमें नियमित रूप से छपते रहते थे। 1916 में *सत्ययुग* नामक एक प्रगतिशील मासिक पत्रिका का संपादन हेमचंद्रजी ने अपनी छात्रावस्था में ही बड़ी योग्यता के साथ किया। 1917 में वह कलकत्ता के *भारतमित्र* के सहकारी संपादक नियुक्त हो गए, इसके बाद *कलकत्ता समाचार* के प्रधान संपादक नियुक्त हुए। 1921 में स्वामी सत्यदेव की प्रेरणा से उन्होंने अल्मोड़ा में कांग्रेस का संगठन किया।

पत्र-संपादन में भाई साहब की प्रारंभ ही से विशेष रुचि थी। स्वयं अपने ही प्रयत्नों से एक आदर्श पत्रिका प्रकाशित करने के प्रयत्न वह प्रारंभ से ही करते रहे। कई पत्र निकाले, पर आर्थिक अभाव के कारण कोई पत्र जम नहीं सका।

1923 में वह यूरोप चले गए। वहां ढाई वर्ष फ्रांस, ढाई वर्ष जर्मनी, एक वर्ष इंग्लैंड और दो वर्ष विभिन्न देशों में भ्रमण और अध्ययन करते रहे। विभिन्न भाषाओं का पूरा और गहरा ज्ञान प्राप्त करने की धुन हेमचंद्रजी में प्रारंभ ही से थी। बंगला, मराठी और गुजराती भाषाओं का पूर्ण ज्ञान वह देश में रहते ही प्राप्त कर चुके थे। यूरोप प्रवास काल में उन्होंने वहां की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं का ज्ञान इस हद तक प्राप्त कर लिया कि अंग्रेजी और हिंदी से भी अधिक सरलता से उन भाषाओं को समझने लगे थे और बड़े धड़ल्ले से उनमें लिख और बोल सकते थे। भाषा-शास्त्र की ओर डा. जोशी की रुचि यूरोप-प्रवास काल में विविध भाषाओं के अध्ययन के फलस्वरूप बढ़ी। उन्होंने वहां रहकर बड़ी लगन से संसार की विभिन्न आर्य भाषाओं का गहरा तुलनात्मक अध्ययन किया।

उनकी थीसिस का विषय भाषा-शास्त्र नहीं था। 1928 में पेरिस विश्वविद्यालय से जो डाक्टरेट जोशीजी ने प्राप्त की उसका विषय था, *ऋग्वेदकालीन आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांत*। वह थीसिस मूल रूप से फ्रेंच में लिखी गई थी।

यूरोप से लौटने पर किसी विश्वविद्यालय में अध्ययन करने का विचार छोड़कर उन्होंने शारीरिक श्रम के महत्व को आदर्श रूप देने के उद्देश्य से कलकत्ता में एकदम नई मशीनों की सहायता से एक बहुत बड़ी लांड्री की स्थापना की। पर व्यावसायिक बुद्धि तीव्र न होने से यह कारोबार अधिक नहीं चल सका। उसके बाद उन्होंने साप्ताहिक और मासिक *विश्वमित्र* का संपादन किया।

1935 में वह अपने बहुत पुराने स्वप्न को साकार बनाने में सफल हुए। *विश्ववाणी* नाम की एक आदर्श साप्ताहिक पत्रिका जमकर निकालने लगे। उनके पास फ्रेंच, जर्मन, स्वेडिश, नार्वेजियन, इटालियन, डेनिश आदि अनेक भाषाओं में निकलने वाले प्रमुख पत्र और पत्रिकाएं आती रहती थीं। उनमें तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं और सांस्कृतिक विषयों पर जो निबंध छपते रहते थे, उनसे अपने पत्र के संपादन में डाक्टर जोशी को बड़ी सहायता और सुविधाएं प्राप्त हुईं जो केवल अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने वाले पाठकों को सुलभ नहीं हो सकती थी। उक्त सभी भाषाओं में प्रकाशित होने वाली ताजा से ताजा पुस्तकें भी वह मांगते रहते थे। विषयों का चुनाव एकदम नया और मौलिक रहता था। यूरोप, अमेरिका और अफ्रीका आदि देशों में पिछड़ी हुई जातियों और वर्गों के साथ जो अत्याचार साम्राज्यवादी तथा पूंजीवादी राष्ट्रों द्वारा हो रहा था और उसके फलस्वरूप दलित वर्गों के भीतर जो उथल-पुथल होने लगी थी उसका विस्तृत और सचित्र परिचय डा. जोशी अपने पत्र में देते रहते थे। मुसोलिनी ने जब इथियोपिया पर सारे संसार के विरोध के बावजूद आक्रमण कर दिया, तब जोशीजी ने *विश्ववाणी* का एक विशेषांक 'हबशी अंक' के नाम से निकाला। उस अंक में हबशियों पर गोरों द्वारा किए गए अत्याचारों के विस्तृत और रोचक इतिहास के अतिरिक्त, हबशियों के विविध क्रांतिकारी संगठनों का परिचय, हबशी लेखकों और कवियों की रचनाओं के नमूने और उनकी व्यापक प्रगति का ताजा से ताजा परिचय दिया गया था। अनेक अंग्रेजी पत्रों ने उन पूर्णतः मौलिक विवरणों का अनुवाद उस विशेषांक से लेकर छपाया था।

पर आर्थिक कठिनाइयों ने उस पत्र के प्रचार और प्रसार में अनेक बाधाएं उपस्थित कीं। द्वितीय महायुद्ध तक उस पत्र को भाई साहब किसी तरह चलाते रहे। उसके बाद लखनऊ चले आए। 1950 में टाइम्स आफ इंडिया प्रकाशन ने अपने इतिहास में पहली बार एक हिंदी पत्र निकालने का निश्चय किया। भाई साहब और मेरे संयुक्त संपादन में *धर्मयुग* का प्रकाशन आरंभ हुआ। उस पूर्णतः अंग्रेजी गढ़ के भीतर से किसी हिंदी पत्र को निकालने का वह प्रारंभिक कार्य बड़ी ही कठिनाइयों से भरा था। नाना प्रकार के विघ्नों का सामना करते हुए एक वर्ष तक हम दोनों ने *धर्मयुग* का संपादन किया, उसके बाद मालिकों की नीति से न पटने के कारण उसे छोड़ा।

उसके बाद से भाई साहब भाषा-शास्त्र संबंधी शोध कार्य में पूरी लगन व दिलचस्पी से जुट गए। भाषा-शास्त्र संबंधी विभिन्न लेख, जो एकदम मौलिक खोजों पूर्ण थे, विविध पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे। उसके बाद ही 1954 में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित होने वाले हिंदी शब्द-सागर के प्रधान संपादक के रूप में वाराणसी चले गए। 1958 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के लिए उन्होंने पिशेल रचित प्राकृत भाषाओं के विख्यात ग्रंथ का अनुवाद मूल जर्मन से पूरा किया।

हेमचंद्रजी का भाषा-शास्त्र संबंधी ज्ञान इतना गहरा और व्यापक था और उस विषय से संबंधित उनकी सूझ इतनी तीव्र और प्रखर थी कि बड़े-बड़े महारथी भी इस क्षेत्र में उनकी मौलिक और सटीक खोजों से चकित रह जाते थे। इस विषय से संबंधित उनके अनेक छिटपुट निबंधों और पुस्तकों से यह बात सभी विशेषज्ञों के आगे प्रमाणित है। पर इस विषय पर एक बृहत मौलिक ग्रंथ लिखने की उनकी जो योजना थी, वह दुर्भाग्य से अंत तक पूरी नहीं हो पाई। फल यह हुआ कि एक बहुत बड़ी प्रतिभा के पूर्ण परिचय से हिंदी संसार बहुत-कुछ वंचित ही रह गया।

गत वर्ष 15 अक्तूबर, 1967 में हेमचंद्र जोशी का निधन नैनीताल में हो गया। वहीं उनका जन्म हुआ था और मृत्यु भी संयोग से वहीं हुई। ❑

—नवंबर, 1968

कहानी

उधर का रास्ता

रामदेव धुरंधर

आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब देखा कि कुछ मजदूर कुदाल लिए खड़े हैं और एक मिस्त्री थर्मस की चाय गिलास में उंडेलकर गटागट पी रहा है। कुछेक मजदूर सिगरेट फूंक रहे हैं और कुछ हाथों में दस्ताने डालकर काम करने को पूरी तरह तैयार हैं। सबके चेहरे पर ताजगी स्पष्ट है।

"लेकिन ये लोग करेंगे क्या?" प्रश्नों का तांता-सा दिलो-दिमाग को छू जाता है। फिर उनकी ओर से दृष्टि हटाकर मस्तक झटका लेता हूं और एक लंबी जम्हाई लेकर आंखें मलने लग जाता हूं।

इस बार मेरी दृष्टि प्रातः के उस सूरज में उझल गई थी, जो सागर की विशाल गोद में बेहद सुंदर लग रहा था। लेकिन तत्क्षण आंखों में मोती भर गए और दृष्टि सूरज से हटकर समुद्र की उछलती-हहराती लहरों पर फिसलने लगी। हवा के झोंकों ने मन-प्राण में गुदगुदी-सी भर दी थी और सब मिलकर मेरे लिए नई ताजगी का एहसास ही था। रोज जब भी प्रातः खिड़की खोलता था तो सामने के दृश्यों को देखकर अनजाने ही एक काव्यानुभूति-सी हो जाती और मैं पाता कि सुख संतोष से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा है... मैं चिंताओं के भार से उन्मुक्त होकर एकदम हल्का हो गया हूं।

रेखांकन : सर्वजीत

लेकिन यह काव्यानुभूति आज ज्यादा देर स्थिर न रह सकी। मेरी कल्पनाओं के रास्ते पर रोड़ा-सा होकर अटके हुए थे ये मिस्त्री और मजदूर। मैं पा रहा था कि मिस्त्री की गरम चाय से मेरा मन झुलस गया है।

इससे पहले मेरे कंपाउंड में कभी इतने मजदूर एकत्र ही नहीं हुए थे। वह बात कुछ और थी जब सैकड़ों मजदूर पिछले दो साल से सामने के होटल का निर्माण करने के भगीरथ प्रयत्न में जुटे नजर आते थे। और वहां की मिट्टी से अपना कोई वास्ता भी नहीं, कारण कि वह गोरों की मिट्टी रही है... और उनकी संभावना का प्रतीक है वह होटल, माथा तो अब ठनका है, जब इन मजदूरों को अपने कंपाउंड में खड़ा देखा है।

पैतृक संपत्ति में से यदि मुझे कुछ मिला है तो बस यही आंगन और यह छोटा-सा बंगला। एक लखपति का बेटा होने के नाते भाइयों द्वारा मिला यह घोर 'अपमान' पहले-पहल तो बहुत ही कष्टदायक रहा, लेकिन अब इसी थोड़े-से धन में संतोष कर लिया है। अब मुझे इसका लेखा-जोखा नहीं करना कि कौन भाई कहां कितना धन अनावश्यक खर्चता है।

शुरुआत में इस समुद्र के किनारे दम घुटता था, लेकिन अब खुद को टटोलने पर यही पाता हूं कि यह जगह मुझे काफी सुखकर है। यहां मेरे बंगले के आमने-सामने कुल मिलाकर तीन घर हैं और अपने पड़ोसियों के साथ मेरा आंतरिक सामीप्य जुड़ा हुआ है।

मानता हूं कि दुकान काफी दूर है, लेकिन किसी से कुछ खरीद लाने का आग्रह करता हूं तो वह आना-कानी बिल्कुल नहीं करता। पड़ोसियों ने तो मुझे सिर पर बिठा रखा है। महसूस करता हूं कि यहां भी मेरा फ़ायदा ही है।

यहां आकर मैंने एक बहुत बड़ी अनुभूति भी पाई है। मेरे पड़ोसी सब गरीबी के आईने हैं, जिनके चेहरे पर बेकारी का गहरा रंग पुता हुआ है। उन्हें जो कुछ खाने के लिए मिलता है, वह सिर्फ भूख मिटाने के लिए ही होता है, स्वाद चटकारने के लिए नहीं। और इस स्थिति में अपने घर में उपलब्ध चीजों का उचित उपभोग नहीं कर पाता हूं। कभी-कभार जब मुझमें भावुकता-सी आ जाती है तो लगता है कि पड़ोसियों का निराशा और दुखी कंकाल मेरे सामने पत्ते की तरह कांप रहा है। यह है गरीबी और बेकारी का नंगा वर्तमान!

साधु और बिसुन की अपेक्षा रामू की दशा ज्यादा शोचनीय है। गत मास एक साधारण तूफ़ान जो आया तो बस उसकी रोजी ही चौपट हो गई। उसकी नाव, जिस पर बैठकर वह मछली मारने दूर चला जाया करता था, तूफ़ान के गाल में समाकर रह गई। और-तो-और, तूफ़ान की लपेट से रामू की झोंपड़ी भी कैसे बच पाती! रामू खुद बड़ी मुश्किल से बच पाया है, लेकिन अब उसकी शिकायत है कि वह बचा ही क्यों? इधर उसकी काफी सहायता की है, लेकिन ताज्जुब है कि मेरी सहानुभूतियां लेने के बावजूद वह भूलकर भी हंसने की चेष्टा नहीं करता। इस स्थिति में सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा है मुझे।

उसकी जवान पत्नी को देखता हूं तो दया ही आती है। भगवान ने शायद भूल से ही बेचारी को रूप दे दिया हो। सोचता हूं, एक मछुए के घर इस रूप की कद्र कैसे हो? पति शराबी हो गया है और बेचारी के रहे-सहे जीवन का सत्यानाश हुआ जा रहा है।

साधु की पत्नी का नाम सावित्री है और

बिसुन की गंगा। ये दो नाम काफी सुखद और आकर्षक हैं। पर जब भी नाम के पचड़े में जाता हूं, तब भी एकाएक मेरी कल्पनाओं का रथ रामू के घर तक पहुंचते-पहुंचते शिथिल पड़ जाता है। रामू की पत्नी का नाम सीता है। मुझे न जाने क्यों 'मानस' वाली 'सीता' याद आ जाती है, जिसे दुखों के अलावा यदि कुछ मिला था तो वह थी, अग्नि-परीक्षा और उसके बाद भी एक व्यर्थ का अपमान।

रामू की सीता के लिए मेरे मन में दया के साथ-साथ अगाध श्रद्धा भी है। मैं नहीं चाहता कि उसकी ओर कोई आंख उठाए या उसकी गरीबी का नाजायज फायदा उठाए। इस स्थिति में मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि उसकी कुछ व्यक्तिगत सहायता करूं। पर सब व्यर्थ! वह कुछ लेने का नाम नहीं लेती। पूछने पर बोलती है, "लोग बुरा बोलने लगेंगे।"

उसकी बातों में कितनी ठोस सच्चाई होती है।

आंखें मलते हुए मिस्त्री के पास पहुंचा तो उसने अदब से सिर झुका दिया। मजदूरों ने भी देखा-देखी फ्रेंच में नमस्ते झाड़ी, हालांकि उस टोली में मेरी पहचान के तीन हिंदुस्तानी मजदूर भी थे। मैंने सिर्फ सिर झुकाकर नमस्ते का उत्तर भी दिया। तत्पश्चात मेरी आंखें उन सबको घूरने लग गईं। वे सभी मेरे बंगले को घूर रहे थे।

"क्या करने जा रहे हो तुम सब?"

मिस्त्री ने जवाब दिया, "यहां एक दीवार खड़ी करनी है।"

दीवार की बात मुझे गरम लोहे का एहसास दे गई और मेरे चेहरे पर शिकायतों की चिंगारियां सुगबुगा उठीं। लेकिन दूसरे ही क्षण मुझे लगा कि अपनी शिकायत... अपनी खीज और अपनी बौखलाहट सब-के-सब व्यर्थ हैं। मैंने अपना संतुलन बनाया और मिस्त्री से पूछा, "क्यों खड़ी की जा रही है यह दीवार?"

वह साभिमान मुझसे उलझा, "आपको पता नहीं कि आगामी सप्ताह इस होटल का उद्घाटन होने वाला है?"

उसकी उंगली उस होटल की ओर इंगित कर रही थी, जो मजदूरों के अथक परिश्रम से अब साकार हो चुका था।

और मेरी आंखों के सामने वह भावी दृश्य चलचित्र की भांति फन फैलाने लगा था—विदेश के बहुत सारे लोग मेरे बंगले के सामने के होटल में ऐशोआराम के अधिकारी होंगे और अपने देश लौटने के बाद वहां के लोगों को यहां आने की सलाह देंगे। इसमें संदेह नहीं कि एक दिन यह होटल विदेशियों की आंखों का तारा ही हो जाएगा...।

मिस्त्री ने मुझे चुप देख बात बढ़ाई, "होटल के मालिक सोचते हैं कि होटल के ग्राहक सामने की झोंपड़ियों को देखेंगे तो उनकी रातों की नींद हराम हो जाएगी। इस हालत में जरूरी है कि बीच में एक ऊंची दीवार खड़ी करके सामने की गंदगी को ढंक दिया जाए," उसका इशारा मेरे पड़ोस की उन झोंपड़ियों की तरफ था जिनसे गरीबी की नंगी आत्मा साफ दृष्टिगोचर हो रही थी।

मिस्त्री ने मुझे सोचने पर मजबूर कर दिया था। मेरे पड़ोसियों को यदि गंदा समझते हैं तो इस वीरान जंगल में स्वर्णिम होटल खड़ा करना भी कितना गंदला है? यहां हम अपने जीवन के सुख-दुख को शांतिपूर्वक भोग रहे थे। फिर क्यों यह पचड़ा खड़ा किया गया? अंततः हमारे ही कंपाउंड में आकर हमें गंदा कहना कितना गंदापन है और दीवार के माध्यम से हम पर हावी हो जाना कितना लज्जाजनक है!

वह दिन मैं जीवन पर्यंत भूल नहीं पाऊंगा। इस होटल का मालिक मुझसे खुद मिला था और कुशल क्षेम पूछने के बाद बोला था, "यह होटल हमारे दिल का आईना होगा... हम पड़ोसी बनकर एक साथ जीने की शपथ लेते हैं।" फिर उसने मेरी मुट्ठी को अपनी मुट्ठी में कस लिया था।

और आज दीवार...? उसने मित्रता के सारे वादे तोड़ दिए हैं। जी में आया कि यदि वह सामने आ जाए तो उसे व्यंग्यों के तीर से छलनी ही कर दूं। लेकिन दूसरे ही क्षण तन में बैठी 'निराशा' ने समझौता किया कि उससे फायदा ही क्या? दीवार जब तक खड़ी न हो जाए, उससे भेंट ही कहां होगी?

यह दीवार एक तीर से दो निशाने भी हैं। मिस्त्री का पूर्व कथित निर्णय सही है तो इस यथार्थ से विमुख होना असंगत ही होगा कि यह दीवार, बस, एक दीवार ही है। इसमें शक नहीं कि यह दीवार साधारण जनता को उस पार जाने की साफ 'मनाही' है।

तो क्या, यह समुद्र तट भी हम खो बैठें? मेरी दृष्टि अचानक रामू की टूटी नाव पर चली गई, जिसे मजदूरों ने मिलकर तट से काफी दूर फेंक दिया है।

एकदम कटु सत्य, जिसे न चाहकर भी स्वीकारना पड़ा। सोचने लगा, अब प्रातः का सूरज बेरोक-टोक मेरी खिड़की को चूम न पाएगा। समुद्र की खुली विस्तृत नीली गोद मेरी आंखों से सदा के लिए ओझल हो जाएगी। उफ, यह भीषण दीवार!

मेरे मन में एक अनजानी हूक-सी उठती चली गई। मुझे एहसास हुआ कि अपने ही आंगन में मैं कैदी हूं... बेबस हूं। रोज इस समुद्र तट पर घूम लिया करता था, लेकिन आज उधर का मेरा रास्ता ही बंद हो गया। जी में आया कि जोर से चीख पड़ूं, लेकिन यहां चीखने से फायदा ही क्या? आखिर चुप ही रहना पड़ा मुझे।

और धन की वास्तविक परिभाषा मजदूरों में व्याकुलता की छाप स्पष्ट दिख रही थी। सब पसीने में तर थे, गोया गीले कपड़े पहन रखे हों।

तब मेरी आत्मा ने मुझे जबाव दिया कि संपन्न देशों की यह हिम्मत कभी न हो पाएगी कि सूरज को भी अपनी बपौती सिद्ध करने का ठेका ले लें। चक्की में वही पीसा जाता है जिसको नम्रता धारण करने का अभिशाप मिला है।

कई दिनों के प्रयत्न से दीवार का निर्माण हो ही गया और कल्पना के एकदम अनुरूप ही रहा यहां का नक्शा बाद में। एक खंबे में लाल अक्षरों में टंग गया—"यह समुद्र तट जनता के लिए नहीं है और साथ ही इधर मछली मारना मना है।"

लेकिन मैं इस यथार्थ को नजरअंदाज नहीं कर सका कि इस आड़ में कोई भयंकर वृत्ति भी तो निहित है। जितने पर्यटक होंगे, वे यहां की मछलियों को अपना आहार बनाएंगे।

मेरे दिलोदिमाग में और भी बहुत सारे विचारों का चक्र घूमता रहा और उस स्थिति में मुझे लगा कि मैं अपना संतुलन ही खो

बैठा हूं। मैं अनमना-सा होकर कमरे में टहलता रहा और फिर बरामदे में आ खड़ा हुआ। अब रामू मेरी आंखों के सामने था। मैंने देखा, काम करने की बजाय वह मखमली घास पर बैठा है और शायद कुछ सोच रहा है।

"क्या सोच रहो हो?"

सुनते ही वह सकते में आ गया और जल्दी-जल्दी फूलों की जड़ों में पानी देने लगा। आज उसका काम फूलों में पानी देना नहीं, बल्कि वे पौधे रोपना था, जिन्हें कल मैं शहर के बाजार से खरीद लाया था।

मन हुआ कि उसे डांटकर सही काम करने की आज्ञा दूं, लेकिन उसकी रोनी सूरत देखकर ऐसा करने का साहस न हुआ।

इन दिनों मैं उसकी पत्नी और बच्चों का अधिक ख्याल रखने लगा था। जब से उसकी नाव को तूफानी झोंको ने नष्ट कर दिया है तब से इधर उसके घर बड़ी मुश्किल से चूल्हा जल पा रहा था। वैसे उसकी पत्नी मुझसे कुछ लेना ही नहीं चाहती थी, लेकिन रामू ने मेरी एक बात स्वीकार की हुई थी। वह माली बनकर मेरी फुलवारी में काम करने लगा था।

वह अपनी गलती समझ गया था, तभी तो रुआंसी आवाज में बोला, "इन पौधों को रोपना तो मैं भूल ही गया।" और वह पौधे रोपने में व्यस्त हो गया।

लेकिन सच तो यह था कि अब मेरी फुलवारी का सौंदर्य धूमिल पड़ गया था। पहले अपनी फुलवारी के खिले-अधखिले फूलों को देखकर मेरी खुशी का ठिकाना न रहता था। पर अभी-अभी का निष्कर्ष काफी कड़वा था। वजह...? अब तो मेरी फुलवारी को समुद्र का दर्शन दुर्लभ था। अब तक प्रातः का सूरज उसका मुख चूमने आता था। वह दीवार...? मैं कैदी.. मेरी फुलवारी कैसी! रामू पौधे रोपता रहा और मैं उससे ज्यादा बातें न करके घर के भीतर चला आया।

आज प्रातः से ही मोटरों के भोंपुओं से यहां का वातावरण भरा था। चारों ओर खलबली, जैसे यहां कोई नया बाजार लगने वाला हो। वास्तव में बाजार-वाजार कुछ नहीं, अपितु आज सामने के होटल का उद्घाटन समारोह संपन्न होने वाला है।

मेरे मन में भी आता रहा कि इस बंगले को बेचकर कहीं अन्यत्र चले जाने में ही शायद अपना कल्याण है। लेकिन अपने गरीब पड़ोसियों की याद मात्र से ही मेरा माथा बुरी तरह झनझना उठा। मेरा उनके साथ आंतरिक सामीप्य जुड़ा हुआ है, अब उन्हें छोड़कर जाऊं, तो कैसे!

इस हालत में एक और ताजा विचार मुझे बुरी तरह तोड़ जाता है। निश्चेष्ट-सा होकर पलंग पर पड़ जाता हूं और आंखें शून्य में खो जाती हैं। मेरे पास पैसे हैं तो यहां से चले जाने की कल्पना कर लेता हूं, लेकिन मेरे ये पड़ोसी ऐसी कल्पना के अधिकारी हैं क्या?

होटल की सज-धज में पश्चिम देशों के सभ्यता चिह्न दिखाई दे रहे हैं। मैंने पश्चिमी फिल्में देखी हैं... वहां के लोगों को अपने समुद्र तट पर अर्धनग्न होकर घूमते देखा है। कुल मिलाकर मैंने चुंबन, नग्नता और सेक्स के लगभग सभी पहलुओं का काफी नजदीक से दर्शन किया है। यदि स्वीकार कर लूं कि उन सभी को सीखना... आत्मसात् करना 'शिक्षा' नाम की सार्थकता है तो क्या पड़ोस की इन भोली-भाली औरतों को इसका ज्ञान देना न्यायसंगत होगा? आखिर इस तथ्य से विमुख कैसे होऊं कि सीता जब भी रास्ते पर चलती है तो माथे को लाज के घूंघट से ढांके रहती है... सावित्री और गंगा के माथे को भी घूंघट विहीन अवस्था में मैंने आज तक नहीं देखा।

मेरा माथा बोझिल-सा हो जाता है। एक भय-सा मुझे बुरी तरह कंपा जाता है। मेरे पड़ोस के लोग जब पर्यटकों की उस खुली जिंदगी के विषय को लेकर मुझ पर प्रश्नों की बौछार करने लगे तो उत्तर क्या दूंगा मैं?

होटल का उद्घाटन काफी सज-धज से हुआ।

जगमगाती रोशनी से लबालब बल्बों ने जैसे इस जगह आकाशगंगा को ही साकार कर दिया। फिर काफी रात गए तक नाच-गाना होता रहा। लेकिन मैं उस सब से जल्दी ही उकता गया। लगा कि बुखार की गरमी से मेरा रोयां-रोयां जलने को हो रहा है। आखिर मैं लौट आया और फिर कई दिनों तक घर से निकलने का नाम न ले सका।

रामू कई दिनों से काम पर नहीं आ रहा था। इससे मेरी उदासी बढ़ गई थी और मैं उसे बुलाने के असफल प्रयत्न में लगा हुआ था। न जाने क्यों, रामू मेरी बुलाहट की उपेक्षा करने लगा था। इधर मेरी फुलवारी झुलसती चली जा रही थी।

बुखार जब उतरा तो मैं ही रामू के पास चला गया। देखा, वह नशे में चूर है और स्वयं से बातें किए जा रहा है। उसके बच्चे दिखाई नहीं दे रहे थे और न ही उसकी पत्नी सीता।

"रामू...!"

मेरे संबोधन से वह चौंका और हकलाते हुए बोला, "आइए... आइए मालिक!"

"काम पर क्यों नहीं आते हो?" एक शराबी से ज्यादा उलझना उचित न समझकर मैंने अपने आने का कारण बता ही दिया।

"मेरी पत्नी ने मना किया है।"

"क्यों?" इस बार मेरी चौंकने की बारी थी।

वह धीमे स्वर में बोला, "आप जो कुछ भी देते हैं, वह सहानुभूति के तौर पर है। वह मेरी पत्नी को नापसंद है।"

उसकी सीता का ठोस अहं मुझे विचित्र लगा। असल में अबला के सामने यह मेरी बहुत बड़ी हार थी। समझ में न आया कि उसकी पत्नी आखिर मुझे इस तरह गैर क्यों समझती जा रही है? काश, मैं उसे बता सकता कि उसके प्रति मैं कितनी श्रद्धा रखता हूं।

रामू ने बात बढ़ा दी, "मेरी पत्नी को उस होटल में काम मिल गया है।"

"काम... कैसा काम?" मैं चौंकता ही गया।

"मैनेजर ने काम का 'नाम' नहीं बताया," और रामू फूट-फूटकर रोने लगा।

उसे आज सांत्वना की भीख देने के लिए मेरी झोली में कुछ न बच पाया था। मैं खुद सन्न रह गया था और आश्चर्य के मारे तो मेरी जान ही निकली जा रही थी। बड़ी मुश्किल से आखिर अपने को संयत किया और वहां से निकलकर घर की दिशा पकड़ ली।

इस घटना के एक दिन बाद न चाहते हुए भी यह सुनने को मिला कि सावित्री और गंगा को भी उसी होटल में नौकरी मिल गई है। ❑

—नवंबर, 1973

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

नागार्जुन

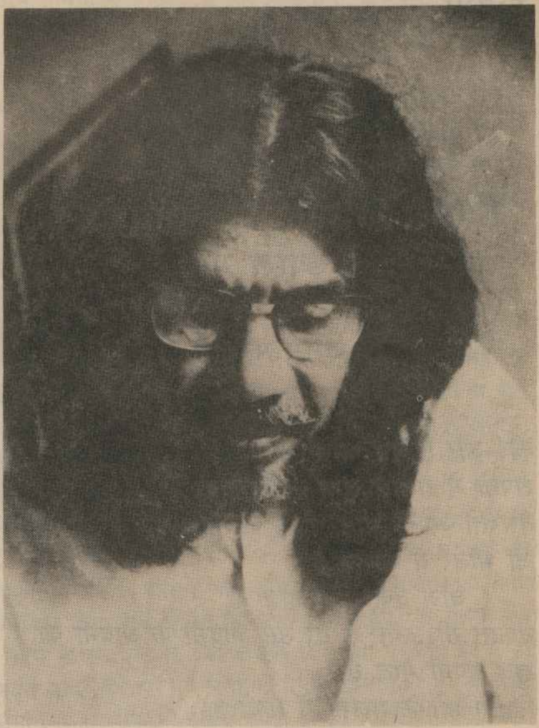

रेणु

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हमारी कथाकृतियों में ढेर सारे परिवर्तन आने लगे। चिंतन में तो ताजगी के नए-नए आभास महसूस हुए ही, शब्द-शिल्प की छवियां भी तेजी से उभरने लगीं, उनमें ताजगी और अनूठापन अधिकाधिक उजागर होने लगा। हिंदी के माध्यम से जीवन-बोध समझने-परखने वाला विशाल पाठक समाज इस ताजगी और अनूठेपन में विभोर हो उठा।

कथाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' घनी बुनावट और विविध छवियों वाली बहुरंगी छवियां उरेहने के लिहाज से सर्वथा अपूर्व शब्द-शिल्पी थे। रेणु के यहां न तो कथ्य-सामग्री का टोटा था और न शैलियों के नमूनों का अकाल। सामाजिक घनिष्ठता रेणु को कभी गुफानिबद्ध नहीं होने देती थी। वह जहां कहीं भी रहे, लोग उन्हें घेरे रहते थे। फारबिसगंज, पटना, इलाहाबाद, कलकत्ता, मैंने रेणु को जहां कहीं देखा और जब कभी, निर्जन एकांत में शायद ही देखा होगा। रेणु का सबसे बड़ा अड्डा पटना का काफी हाउस रहा है। वहां एक कार्नर रेणु के लिए जाने कितने वर्षों से सुनिश्चित, सुनिर्दिष्ट रहा है। तरुणों और युवकों की नियमित जुटान वैसी मैंने और किसी कथाकार के परिमंडल में शायद ही कभी देखी हो।

मैला आंचल 54 में प्रकाशित हुआ और *अगिनखोर* 74 में बाहर आया था। बीस वर्षों का यह कालखंड समय के लिहाज से सुदीर्घ अवधि वाला कालखंड भले ही न रहा हो, परंतु हिंदी साहित्य में, विकसित कथा-शिल्प के लिए तो यह संक्षिप्त कालखंड ही विशिष्ट माना जाएगा। प्रकाशित होने पर दो वर्षों के अंदर ही *मैला आंचल* की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। तीन-चार वर्ष बाद *परती-परिकथा* का प्रकाशन हुआ तो उस उपन्यास को भी भारी सुयश मिला। सन् 59 में *ठुमरी* प्रकाशित हुई। इस संकलन की 'तीसरी-कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' शीर्षक कहानी तो ऐसी सुहागिनी साबित हुई कि फिल्म-जगत के प्रयोगशील डाइरेक्टर श्री बासु भट्टाचार्य अपने को नहीं रोक सके और लोकप्रिय गीतकार शंकर शैलेंद्र ने तो अपना तन-मन-धन सब कुछ इस पर अर्पित कर दिया।

रेणु की, कुल मिलाकर, नौ पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। एक विशिष्ट उपन्यास प्रतीक्षित था—'सफेद हाथी'। यह लगभग तैयार था परंतु गांव में ही पांडुलिपि चोरी चली गई। गांव (औराही हिंगना) में रेणु की सुकीर्ति से जलने वाले उनके कुछ एक चुप्पा किस्म के कपट-बंधु अवश्य थे। निश्चय ही कथाकृति वाली ताजा पांडुलिपियों का तस्कर रसिक गोत्र का प्राणी रहा होगा। उसने कितना बड़ा जुल्म किया हिंदी जगत के प्रति।

मैला आंचल, परती परिकथा, जुलूस, कितने चौराहे, दीर्घतपा, कलंकमुक्ति, ठुमरी, आदिम रात्रि की महक, अगिनखोर—ये पुस्तकें संख्या में अधिक नहीं हैं, कुल जमा नौ ही हैं। लेकिन उपन्यासों में *मैला आंचल* और कहानियों में 'तीसरी कसम' अत्यधिक मशहूर हैं। *मैला आंचल* के रूपांतर विश्व की कई भाषाओं में हुए। *ठुमरी* (कथा संग्रह) का अनुवाद अभी-अभी बंगला में हुआ है। फिल्म वालों ने रेणु की कई कहानियां अनुबंधित की थीं। पता नहीं, उन अनुबंधों का अब क्या होगा! (नई पीढ़ी के जागरूक साहित्यकार और चौकस पत्रकार, फिल्म जगत के पहरुए, प्रशासकीय सूचना-प्रसार विभाग वाले उच्च अधिकारी....ये सारे के सारे ध्यान रखें कि रेणु की मूलकथाओं की कहीं छीछालेदर न हो।)

फणीश्वरनाथ 'रेणु' की साहित्य-सर्जना का आरंभ कविता से ही हुआ था। पूर्णिया नगर से निकलने वाले उस युग के (40-50 के) साप्ताहिकों की फाइलें यदि कहीं मिल जाएं तो रेणु की तुकबंदियों और मुक्त छंदों के अनेक नमूने हासिल होंगे। उनकी कापियों के अंदर यत्र-तत्र काव्यात्मक पंक्तियां अवश्य ही मिलेंगी। *नंदन* या *पराग* के किसी अंक में, वर्षों पहले रेणु की एक कविता—सुथरी और छंदोबद्ध रचना—मेरे देखने में आई थी। अपने साहित्य-गुरु, प्रख्यात

कविता

•

शताब्दी के बाद एक हमसफर के ख्याल में

श्याम परमार

कोई और है मेरा गालिब
अपनों में तलाश लूंगा उसका चेहरा
वैसे तो अपनी भीड़ भी है और वह आदमी भी
जो भीतर से खुलता है
बाज वक्त सही होता है
नफरत-सी उठती है मेरे उस आदमी के आदमी को
खुद अपनी गैरत से
ढिंढोरचियों के मजमों में शब्दों को
मरोड़ते देख
अर्थ से अलग जिनका मतलब अर्थ
यही होता है : तुम वह नहीं हो
जो मैं कहता हूं
या मैं वह नहीं
जो तुम समझते हो
चरकटों और फुचकों के घेरों में
शब्दों को लजाता है आदमी का मारा मेरा वह आदमी
उघड़ता है बाज वक्त अपने ही अंधेरों में

रेखांकन : सर्वजीत

अपने और अपने समय से आगे
इतिहास की बर्छियों के बीच
तबाह होती कविताओं से उनका
सही अर्थ पूछने। □

—मई, 1969

कथाकार, स्वर्गीय सतीनाथ भादुड़ी महानुभाव का संस्मरण लिखते हुए रेणु ने एक मनोरंजक प्रसंग की चर्चा की है। गुरु और शिष्य दोनों ही भागलपुर सेंट्रल जेल में बंदी थे। 42-43 वाले राष्ट्रीय आंदोलन का जमाना था वह। अंग्रेज सरकार की कृपा से कांग्रेसी, सोशलिस्ट, फारवर्ड ब्लाक वाले, यानी कई पार्टियों के राजनीतिक नेता एवं कार्यकर्ता अंदर बंद थे, थोड़ी-बहुत सुविधा तो प्राप्त थी ही, व्यायाम, खेलकूद, मनोरंजन के साथ-साथ कई प्रकार की गोष्ठियां और क्लास भी चला करती थीं। एक बार काव्य-पाठ का प्रोग्राम था। रेणु ने अपनी कविता सुनाई—'आगा खां के राजमहल में'। तरुणाई के उस प्रथम प्रेम का आवेग ऐसा प्रबल था कि गांधीजी उन क्षणों की याद करके कह रहे थे—'प्रथम चुंबन का वह आस्वाद....' श्रोताओं में बूढ़े गांधीवादी भी कुछ थे। वे चीख पड़े, 'अश्लील, अश्लील, अश्लील...' बीच में ही रेणु को बैठ जाना पड़ा। सेल वाली अपनी गुफा में वापस आ गए। मन बहुत उदास था। जरा देर बाद ही भादुड़ीजी ने सेल के अंदर झांका। मुस्कुराकर बोले, "तुम लोगों का कवि सम्मेलन तो खूब जमा आज। मुझे अभी-अभी मालूम हुआ। तुमने कौन-सी कविता सुनाई? मैं भी सुनूंगा...।"

कविता लंबी थी। भादुड़ीजी बोले, "बाप रे! इतनी लंबी कविता और सो भी मुक्तछंद में!" पूरी रचना सुनकर उन्होंने कहा था—"बुजुर्ग गांधीवादियों का क्या कहना था? क्या उन बुजुर्गों की राय थी कि गांधीजी ने तरुणाई में कभी कस्तूरबा का चुंबन नहीं लिया होगा?" भादुड़ीजी ने फिर कहा, "तुम गद्य क्यों नहीं लिखते हो? अरे, कहानी लिखो, कहानी! तुम्हारी बातें, गप्पें कितनी जमती हैं। तुम अगर लिखो तो तुम्हारी कहानियां खूब जमेंगी..." फिर देर तक भादुड़ीजी ने रेणु की कविता एवं गद्य की रचना प्रक्रिया के बारे में बतलाया था।

सतीनाथ भादुड़ी भी अपने प्रख्यात शिष्य फणीश्वरनाथ 'रेणु'

की तरह ही एकाएक साहित्य संसार पर छा गए थे। उनका भी प्रथम उपन्यास (*जागरी*) *मैला आंचल* की तरह एकाएक विख्यात हो गया था। बंगला में विशिष्ट साहित्यिक कृति के लिए रवींद्र पुरस्कार पहले-पहल *जागरी* पर ही मिला था। उनका भी कथा-क्षेत्र पूर्णिया जनपद के इर्द-गिर्द ही फैला हुआ था। वस्तु-तत्व की पैनी पकड़ वाला प्रमुख गुण रेणु को भादुड़ीजी से ही प्राप्त हुआ।

गुरु और शिष्य दोनों भागलपुर सेंट्रल जेल में ढाई-तीन वर्ष साथ रहे। एकांत निवास के लिए दोनों ने अधिकारियों से कहकर दो अलग-अलग सेलें ले ली थीं। बंगला भाषा का प्रख्यात उपन्यास *जागरी* वहीं सेल में तैयार हो रहा था। वहीं दूसरे सेल में *मैला आंचल* की भावभूमि एक तरुण कथाकार के हृदय पटल पर खचित होती जा रही थी। ठीक दस वर्ष बाद 'मैला आंचल' कागज के पन्नों पर पूरी तरह उतर आया।

रेणु के पिता शिलानाथजी कूर्म क्षत्रिय वंश के संपन्न और सहृदय किसान थे। मिथिला और बंगाल की संस्कृतियों ने समान रूप से इस खानदान पर अपना प्रभाव छोड़ा था। फारबिसगंज इन दिनों एक औद्योगिक कस्बे के तौर पर विकसित हो गया है। पूर्वी नेपाल का विराटनगर वहां से अति निकट है। पहाड़ी पगडंडियों से जाने पर दार्जिलिंग भी दूर नहीं पड़ेगा। मिथिला का यह छोर नेपाल और बंगाल को भली-भांति छूता है। रेणु का गांव 'औराही हिंगना' उत्तर-पूर्व-सीमांत-रेलमार्ग (एन.ई.एफ.आर.) पर सिमराहा स्टेशन के पास, फारबिसगंज से 10 किलोमीटर दक्षिण, आम के बागों और हरे-भरे खेतों के मध्य आबाद है। आवागमन के लिए 'सवारी' के नाम पर आज भी बैलगाड़ियां ही एकमात्र साधन हैं। ऐसे घनघोर ग्रामांचल में रेणु पैदा हुए। दादी (पितामही) ने 'रिनुआ' कहकर इसीलिए पुकारना शुरू किया कि 'यह बच्चा अपना ऋण वसूलने आया है...' बाद में, लाड़-प्यार का वही घरेलू नाम 'रिनु' से 'रेणु' हो गया। राष्ट्रीय और सामाजिक प्रवृत्तियों में गहरी दिलचस्पी के चलते, पिता के मित्रों का दायरा बड़ा था। बंगाली एवं नेपाली भद्रजनों में से ऐसे अनेक थे जिनसे रेणु के पिता (शिलानाथजी) की आत्मीयता थी। तभी तो रेणु के बचपन के दो-ढाई वर्ष विराटनगर में गुजरे। कोईराला परिवार के बटुक विद्यार्थियों के साथ। हाईस्कूल का छात्र जीवन अररिया में। रामकृष्ण मिशन के सेवाधर्मी संन्यासियों का प्रभाव रेणु के किशोर हृदय पर कैसे पड़ा, इसकी झलक हमें *कितने चौराहे* नामक लघु उपन्यास में मिलती है। विप्लवी तरुणों, ममतामयी माताओं, प्रीतिस्निग्ध बहनों, आवारा टाइप के कस्बाई छोकरों के ढेर सारे खंडचित्र हमें *कितने चौराहे* में मिलते हैं।

किशोरावस्था में ही राष्ट्रवादी बुजुर्गों—समाजवादी युवकों से रेणु परिचित होने लगे। उनके पिता स्वयं तो कभी जेल नहीं गए किंतु फरार नेताओं और कार्यकर्ताओं को अपने यहां छिपाकर रखने का शौक था... वर्जित और निषिद्ध साहित्य (चांद का फांसी-अंक, *भारत में अंग्रेजी राज्य* आदि) बाबू शिलानाथजी के घर पर गुप्त रूप से रखवा दिया जाता था। वैसे ही मित्रों की राय मानकर पिता ने पुत्र को काशी विद्यापीठ भेजा था। आचार्य नरेंद्र देव, यूसुफ मेहर अली, राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण आदि से लेकर भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे प्रकट-अप्रकट व्यक्तियों के प्रति मानसिक लगाव की दृष्टि से बनारस में गुजरे वे कुछेक वर्ष रेणु के लिए बड़े महत्वपूर्ण साबित हुए। साहित्य साधना के संस्कार भी वहीं गहरे हुए। डिग्री वाली पढ़ाई से जी उचट गया। ललित कलाओं के प्रति रुझान आयातित नहीं, सहज था—पारिवारिक एवं आंचलिक उपलब्धियों का अंश था।

शाहखर्च, मिलनसार, कला-प्रेमी, रसिक, सुकंठ—धीर ललित नायक के जो भी लक्षण बतलाए गए हैं, वे सारे के सारे रेणु में विद्यमान थे। सूरत सांवली थी, श्याम सुंदर। पतले होंठों से झांकते हुए मोतिया दांत चेहरे को और भी आकर्षक बना देते थे। मैथिली और भोजपुरी के पचासों लोकगीत याद थे। सारंगा-सदावृक्ष, लोरिक आदि लंबी-लंबी लोकगाथाएं गाते हुए रेणु को जिन्होंने एक-आध बार भी सुना है वे उन्हें कभी नहीं भूल सकेंगे। लोकगीत, लोकलय, लोककला आदि जितने भी तत्व लोकजीवन को समग्रता प्रदान करते हैं उन सभी का समन्वित प्रतीक थे फणीश्वरनाथ रेणु। मेरी यह पक्की धारणा है कि ऐसा उत्कट मेधावी युवक यदि कलकत्ता जैसे महानगर में पैदा हुआ होता और यदि वैसा ही सांस्कृतिक परिवेश, तकनीकी उपलब्धियों का वही माहौल इस विलक्षण व्यक्ति को हासिल हुआ रहता तो अनूठी कथाकृतियों के रचयिता होने के साथ-साथ सत्यजित राय की तरह फिल्म निर्माण की दिशा में भी यह व्यक्ति अपना कीर्तिमान स्थापित कर दिखाता। रेणु की कथाकृतियों में ऐसे बीसियों पात्र बिखरे पड़े हैं। बावनदास से लेकर अगिनखोर तक जाने कितने कैरेक्टर रेणु ने पाठकों के सामने रखे हैं। उनमें से एक-एक को बड़ी बारीकी से तराशा गया है। ढेर से ढेर प्राणवंत शब्द-चित्र हमें गुदगुदाते भी हैं और ग्रामजीवन की आंतरिक विसंगतियों की तरफ भी हमारा ध्यान खींचते चलते हैं। छोटी-छोटी खुशियां, तुनुकमिजाजी के छोटे-छोटे क्षण, राग-द्वेष के उलझे हुए धागों की छोटी-बड़ी गुत्थियां, रूप-रस-गंध-स्पर्श और नाद के छिट-पुट चमत्कार... और जाने क्या-क्या व्यंजनाएं छलकी पड़ती हैं रेणु की कथाकृतियों से!

ऐसे भी पाठक आपको मिलेंगे जो कहेंगे—'भई, मुझसे तो *मैला आंचल* पढ़ा ही नहीं गया... एक बार दस पेज पढ़ गए, फिर दूसरी बार शुरू किया तो पांच-सात पन्ने और पढ़ गए और बस...' ऐसे पाठकों से आप क्या कहिएगा? मैं तो उनसे यही कहूंगा कि विश्व विख्यात सितारवादक, रविशंकर की कला का स्वाद हासिल करने के लिए जिस तरह सधे हुए कानों वाले ही श्रोता होते हैं उसी तरह रेणु की कथाकृतियों का आनंद उठाने के लिए सहृदय जन ही योग्य पाठक होंगे...।

जीवन के अंतिम क्षणों में रेणु की आयु 56 वर्ष की थी। प्रशासकीय तानाशाही के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करने वालों में रेणु अगली कतार में भी आगे ही खड़े हो गए थे। 'पद्मश्री' वाला पदक (मैडल) सरकार को वापस कर दिया था। 300 रुपए मासिक वाली आजीवन पेंशन लेना भी छोड़ दिया था...।

72 वाले प्रादेशिक निर्वाचन में रेणु निर्दलीय उम्मीदवार के तौर पर चुनाव लड़े थे। कई पार्टियों ने टिकट देना चाहा था, रेणु ने कबूल नहीं किया...। लाभ और लोभ की राजनीति से रेणु को उसी तरह नफरत थी, जिस तरह उनके साहित्य-गुरु सतीनाथ भादुड़ी महाशय को नफरत थी। ❑

—जुलाई, 1977

साक्षात्कार

सर्जक का काम कूड़ेदान उलटना नहीं है

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित होने के अवसर पर सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय से **कुसुम कुमार** *द्वारा की गई बातचीत*

प्रश्नः भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार या अन्य किसी ऐसे पुरस्कार से किस उद्देश्य की पूर्ति होती है?

उत्तरः पुरस्कारों के घोषित लक्ष्य होते हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कार से एक संभाव्य लाभ यह है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य पर अलग-अलग विचार न करके उन्हें एक देशव्यापी प्रतिमान दिया जा सकता है। यह साहित्यिक विकास के मूल्यांकन के लिए भी अच्छा है और स्वयं प्रादेशिक प्रतिमानों की परख के लिए भी। निःसंदेह इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि चयन कितनी निष्ठापूर्वक किया जाता है।

ज्यां पाल सार्त्र ने कहा है कि साहित्य का मूल्यांकन पुरस्कारों से नहीं हो सकता। इस विषय में आपकी क्या राय है?

ऐसी स्वयंसिद्ध बात के लिए सार्त्र की दुहाई देने की आवश्यकता नहीं थी। साहित्य की परख विवेकवान पाठक करते हैं। पुरस्कारों से साहित्यकारों अथवा विशेष रचनाओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट होता है, रचना अथवा रचनाकार की चर्चा होती है, पुस्तक की बिक्री होती है, साहित्य की और पुरस्कारों की कसौटियों के बारे में नई जिज्ञासा पैदा होती है। इस सब में कोई बुराई नहीं है। बाकी आत्यंतिक रूप से पुरस्कार का क्या महत्व बनता है—यह, जैसा मैंने कहा, चयन प्रक्रिया की निष्ठावत्ता पर है, जो पूरे समाज का ही प्रतिबिंब होती है।

यह बात किस सीमा तक सही है कि इन बड़े पुरस्कारों के कुछ राजनैतिक संदर्भ और लक्ष्य होते हैं?

राजनैतिक संदर्भ होते हैं या उभर आएं, यह तो संभव है ही और जहां हमारा समूचा सामाजिक जीवन राजनीति से आक्रांत है, वहां अस्वाभाविक भी नहीं है। पुरस्कारों को छोड़ दीजिए, आसपास की समालोचना को ही देखिए—क्या उसका अनिवार्य राजनैतिक संदर्भ नहीं हो गया है? बल्कि क्या उसका लक्ष्य भी मुख्यतया राजनैतिक नहीं दीखता? अगर साहित्य विवेचन के ऐसे मानदंड बनते ही नहीं, जो राजनीति से मुक्त हों, तो फिर पुरस्कारों के भी राजनैतिक संदर्भ होंगे ही।

पुरस्कारों के लक्ष्य भी राजनैतिक होते हैं—इसे मैं जरुरी तो नहीं समझता, हो सकते हैं और कई पुरस्कारों के हैं। बाकी उनका राजनैतिक प्रभाव हो भी सकता है और यह भी संभव है कि चयन प्रक्रिया में राजनैतिक आग्रह भी काम करते हैं।

आपका चिंतक व्यक्तित्व क्या कभी आपके आम सुखों पर हावी हुआ?

मैं नहीं जानता कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दूं। चिंतन का भी एक सुख होता है और चिंतन अथवा आत्मानुशासन द्वारा किसी संकल्प तक पहुंचने और उसे निबाहने का एक बड़ा सुख भी हो सकता है। असंभव नहीं कि इस प्रक्रिया में कोई छोटे सुख उपेक्षित हो जाएं अथवा पीछे छूट जाएं।

सैनिक अज्ञेय

यह भी है कि लोगों को जिन चीजों में सुख मिलता है, मेरी उनमें कोई दिलचस्पी नहीं है। यह भी जानता हूं कि बहुत-सी छोटी-छोटी चीजें मुझे सुख देती हैं, जिसका दूसरे लोगों के लिए कोई मूल्य नहीं है।

'दार्शनिक पैदा नहीं होते, दार्शनिक बनते हैं।' ...आप कैसे दार्शनिक बने? क्या आपकी दार्शनिकता का अहसास आपको भी कभी हुआ या आपके पाठकों को ही ऐसा लगता है?

मैं दार्शनिक बना, ऐसा मैं नहीं जानता। अपने को दार्शनिक मानता भी नहीं हूं। पाठक क्या मानते हैं या उनके मन का आधार कितना पुष्ट है, वही जानें—मैं इस बारे में क्या कहूंगा? थोड़ा-बहुत दर्शन पढ़ा है, कुछ दार्शनिक प्रश्नों में रुचि है। बाकी जीवन के प्रति सतत जिज्ञासा मुझमें है और चीजों को समझने की कोशिश करता रहता हूं—समझने के लिए उनके बारे में सोचता भी हूं। यदि इसी को आप दार्शनिक होना कहें, तो दूसरी बात है। लेकिन तब मैं कहूंगा कि कम से कम यह एक दार्शनिक न पैदा हुआ, न बना—उसे दार्शनिक बना दिया गया।

आपका अधिकांश लेखन समाज के प्रति विद्रोह का लेखन है। क्या अब भी आप इस भाव को न्यायसंगत मानते हैं, या लगता है कि वह उस उम्र विशेष की मन:स्थिति थी?

समाज के प्रति विद्रोह और अपने वर्तमान समाज का अस्वीकार अलग-अलग चीजें हैं। व्यक्तित्व के विकास में एक अहम् की पहचान और उसकी पुष्टि अस्मिता के निर्माण की एक सीढ़ी है और इसमें समाज के प्रति विद्रोह का भाव प्रबल होता है। लेकिन यह सीढ़ी है और पार हो जाती है। जिस समाज में मैं रहता हूं, उससे मैं संतुष्ट नहीं हूं और उसे बहुत कुछ बदलना चाहता हूं। उसमें बहुत-सी विकृतियां हैं जिन्हें मैं अस्वीकार करता हूं और मैं आशा करता हूं कि मेरी यह मन:स्थिति लगातार बनी रहेगी—और यह विश्वास भी कि समाज को मैं बदलता रह सकता हूं।

हिंदी पत्रकारिता के स्तर के बारे में आपके क्या विचार हैं? क्या दिल्ली से बाहर स्थिति कुछ भिन्न है?

यह तो बड़ा व्यापक प्रश्न है। संक्षिप्त उत्तरों से अन्याय भी हो सकता है। पत्रकारिता का स्तर अच्छा नहीं है और उन्नति की बहुत गुंजाइश है। लेकिन इतना कह देना काफी नहीं है। वह उन्नति क्यों नहीं होती, इसका विचार करने लगें, तो मालिकों, विज्ञापनदाताओं, प्रादेशिक और केंद्रीय सरकारों, राजनैतिक दलों, शिक्षित और कम शिक्षित पाठकों—सभी के दोषों और उत्तरदायित्वों का विचार करना होगा, केवल हिंदी के पत्रकारों या हिंदी भाषा की स्थिति का नहीं। जब पूरा समाज हर क्षेत्र में हिंदी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के ऊपर अंग्रेजी को दर्जा देता है, तो बजाय भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता के स्तर की बात करने के, हमें अपनी दिमागी गुलामी के स्तर की बात करनी चाहिए। दिल्ली से बाहर स्थिति कुछ भिन्न जरूर है। दिल्ली अभी तक अंग्रेज है। बाकी देश के पाठक भारतीय भाषाओं के पत्र भी पढ़ना चाहते हैं। लेकिन जैसे पत्र वे चाहते हैं, वैसे पत्र उन्हें मिलते नहीं क्योंकि जो पूंजी, जो प्रतिभा, जो प्रोत्साहन और जो विज्ञापन भारतीय भाषाओं के पत्रों को मिलना चाहिए, वह सबका सब पहले अंग्रेजी को दे दिया जा चुका होता है। भारतीय भाषाओं के पत्रों को अंग्रेजी की उतरन छोड़कर और कुछ दिया नहीं जाता, न लेने दिया जाता है; फिर प्रश्न यह पूछा जाता है कि हिंदी के पत्र अंग्रेजी पत्र की तरह चमकते क्यों नहीं!

आजीवन एक गंभीर सर्जनात्मक लेखक की भूमिका निबाहने के बाद क्या अब एक दैनिक पत्र के संपादन का कार्यभार आपको मनचाहा संतोष प्रदान करता है?

जीवन तो अभी शेष है और यह आशा भी है कि कुछ और रचना कार्य अभी कर सकूंगा। जहां तक दैनिक पत्र के संपादन का प्रश्न है, एक तो इसे मैंने स्थायी पेशे के रूप में स्वीकार नहीं किया; दूसरे निष्ठापूर्वक किया गया परिश्रम अवश्य ही संतोषप्रद भी होता है, तीसरे अगर वह परिश्रम किसी विशेष चुनौती के जवाब में किया गया हो तो और भी संतोष देता है। मैं सहज प्रवृति से पत्रकार नहीं हूं, यह बात तो सही है, इसलिए दैनिक पत्र के संपादन में मुझ पर कुछ अधिक जोर पड़ता है, लेकिन उसके साथ अपने समाज और उसके राजनैतिक जीवन के बारे में बहुत-सी जानकारी मुझे मिलती है, जो रचनात्मक लेखन के लिए भी बहुत उपयोगी हो सकती है। सर्जक भी अविराम सर्जना ही नहीं करते रहते—वैसी प्रतिभा तो केवल ईश्वर की होती है—सर्जन प्रक्रिया के बीच-बीच अनुभव संचय के अंतराल भी आते रहते हैं।

हाल ही में अपनी एक अधूरी कृति की चर्चा करते हुए आपने कहा कि आप उसे पूरा नहीं करना चाहते, क्योंकि वह आपको अपनी लिखी नहीं लगती। क्या आप इतने 'इमेज कांशस' हैं?

प्रश्न इस रूप में शायद चिढ़ाने के लिए है, लेकिन चिढूंगा नहीं। यह बात आपने कहां पढ़ी, मुझे नहीं मालूम; जो बात मैंने कही थी, वह इस रूप में कही भी नहीं थी, लेकिन सवाल अपनी 'इमेज' का नहीं, अपनी पहचान का है। अपने को पहचानने का प्रयत्न सर्वथा संगत है और अपनी किसी भी रचना से असंतुष्ट होने का सर्जक को अधिकार है। किसी अधूरी रचना को मैं इसलिए त्याज्य मान लूं कि वह मुझे अपनी रचना नहीं जान पड़ती, तो इसका अर्थ यही है कि जो मैं समझता हूं—वह मेरी समझ में उस रचना में नहीं आया है। मैं बोलूं, तो मेरा ही स्वर पहचाना जाए, यह क्या केवल 'इमेज' की बात है या कि अपने प्रति निष्ठा की?

यों जो अधूरा उपन्यास इस चर्चा का आधार था, उसे मैं नए रूप में लिख रहा हूं।

बुद्धिजीवियों की समाज में क्या भूमिका है?

मुझे नहीं मालूम! बुद्धिजीवियों से पूछिए, या अधिक अच्छा यही है कि समाज से पूछिए। बुद्धि पर आधारित विवेकवान जीवन समाज को अगर कुछ दे सकता है या देता है, तो यही कि तात्कालिक स्वार्थों और आकांक्षाओं और प्रवृत्तिजन्य पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर कुछ देख सके, दिखा सके, कुछ दिशा संकेत दे सके, लेकिन इसके बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि समाज उन्हें कितना महत्व देता है और उनके मार्ग-निर्देशों को मानता है या नहीं मानता है। ऐसी कोई लाचारी समाज को नहीं है। इसीलिए बौद्धिकों के बारे में दो प्रश्न अलग-अलग हो जाते हैं। एक प्रश्न यह है कि उनकी क्या भूमिका या उपयोगिता है अथवा हो सकती है और दूसरा बिल्कुल स्वतंत्र

> *हिंदी में बहुत-से युवा लेखकों की प्रतिभा इसलिए विकृत हो जाती है या जल्दी चुक भी जाती है कि उन्हें असमय ही अपरिपक्व रचनाओं पर ही एक छोटे वर्ग से इतनी अधिक प्रशंसा मिल जाती है कि उनका आत्मविवेक भुथरा हो जाता है और अपनी उन्नति का मार्ग वे स्वयं अवरुद्ध कर लेते हैं।*

प्रश्न यह है कि समाज में बौद्धिक कहां तक कार्यक्षम हो सकते हैं और होते हैं।

लेखक का सक्रिय राजनीति में भाग लेना कहां तक उचित है?

जहां तक वह भाग लेना चाहता है और जहां जाने की कीमत चुकाने को वह तैयार है।

हिंदी के लेखकों का लेखकीय जीवन केवल पांच या दस वर्ष ही क्यों होता है?

मेरी पहली रचना 1924 में छपी थी। उसे केवल ऐतिहासिक स्थान ही दें, तो भी सन् 1929 से लगातार लिख रहा हूं। अपना उदाहरण इसलिए दिया कि सवाल मुझसे पूछा। हिंदी के अधिकतर महत्वपूर्ण लेखकों का लेखन-काल चालीस-पचास वर्ष का तो रहा ही है। कुछ कवियों की प्रतिभा जल्दी चुक जाती है, लेकिन ऐसा हिंदी में ही होता हो, ऐसी बात नहीं है, संसार में सर्वत्र होता है। ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनका कृतित्व एक ही रचना तक सीमित रह जाता है।

लेकिन एक बात और कहूं। हिंदी में बहुत-से युवा लेखकों की प्रतिभा इसलिए विकृत हो जाती है या जल्दी चुक भी जाती है कि उन्हें असमय ही अपरिपक्व रचनाओं पर ही एक छोटे वर्ग से इतनी अधिक प्रशंसा मिल जाती है कि उनका आत्मविवेक भुथरा हो जाता है और अपनी उन्नति का मार्ग वे स्वयं अवरुद्ध कर लेते हैं। अच्छी प्रतिभा उपेक्षा से भी नहीं मरती, लेकिन कम समर्थ प्रतिभा अति-प्रशंसा से बहुत जल्दी मर जाती है।

जितना आपने लिखा है—वह सब ज्ञेय है, फिर क्या अज्ञेय आप सिर्फ अपने लिए हैं?

आत्माविष्कार कोई बुरी बात थोड़े ही है! लेकिन अज्ञेय नाम मैंने अपने लिए नहीं चुना। वह संयोगवश ही मुझे मिल गया। आरंभ की कुछ रचनाएं ज़ेल से छिपाकर बाहर भेजी गई थीं और मेरे जेल में रहते ही छपीं। प्रेमचंदजी ने अज्ञात नाम लेखक की रचनाएं छापने से पहले जैनेंद्र कुमार जी से (जिनके द्वारा पांडुलिपि उनके पास पहुंची थी) पूछा था कि लेखक का नाम तो बताओ। तो उन्हें यही उत्तर दिया गया था—"लेखक का नाम नहीं बताया जा सकता—ह तो अज्ञेय है।" इस पर प्रेमचंदजी की यह टिप्पणी थी—"तब मैं इसी नाम से कहानी छाप दूंगा।" और वैसा ही उन्होंने किया भी।

'प्यार : व्यक्त' और 'प्यार : अव्यक्त' (दोनों आपकी कविताओं के शीर्षक हैं) के बाद मनुष्य का जीवन कौन-सी दिशा ग्रहण करता है?

प्यार : परिव्याप्त! और यह पारमिता करुणा का ही दूसरा नाम है।

साहित्यिक कर्म के लिए एक सांस्कृतिक दृष्टि, जिसकी जड़ें अपनी ही जमीन में हों, बहुत आवश्यक होती है—यह बात आधुनिक हिंदी लेखन पर किस हद तक लागू होती है?

आपकी प्रतिज्ञा निर्बाध रूप से मानी जाती हो, ऐसी बात नहीं है। अव्वल तो सांस्कृतिक दृष्टि ही एक विवादास्पद विषय है। दृष्टि के बारे में विवाद न भी हो (यद्यपि है) तो संस्कृति के बारे में बहुत-से मत हैं और अगर संस्कृति अनवरत गतिशील है, लगातार मिश्रित होती चलती है, और अगर हम एक साथ दो या अधिक संस्कृतियों में जीते हैं, तो फिर अपनी जमीन क्या होती है? और जमीन अपनी हो भी, लेकिन बंजर हो और उसमें विदेशी रासायनिक खाद डालकर आप पौधों की जड़ें पनपा रहे हों—आप जमीन का हाल देखते हुए पौधे भी विलायत से ही लाएं, तब? हर दृष्टि का, हर पूर्वाग्रह का समर्थन करने वाले आंदोलन देश में और हिंदी में हैं और सबका प्रतिबिंब अद्यतन हिंदी लेखन में आपको मिल जाएगा।

क्या आपकी संभ्रांतता (जो देखने में काफी स्पष्ट है) कभी-कभी बहुत-सी भदेस चीजों को जानने में आपके आड़े नहीं आती? यदि ऐसा कभी होता है, तो आपको कैसा लगता है?

चलिए, आपने आभिजात्य नहीं कहा, संभ्रांतता कहा—मान लेता हूं कि आपने थोड़ा लिहाज किया। यों संभ्रांत शब्द पर मुझे थोड़ी हंसी आती है। हम लोगों ने यह शब्द बंगला से ले लिया, जहां संभ्रांत महिलाएं बहुत होती थीं। शायद मान लिया जाता था कि कुलीन होंगी, तो बराबर संभ्रम में रहती होंगी। मुझमें कोई विशेष संभ्रम नहीं है—या कह लीजिए कि मैं विशेष संभ्रम में नहीं रहता। यों बहुत-सी बातें मैं कहता नहीं, तो ऐसा नहीं है कि उनके अस्तित्व की जानकारी मुझे नहीं होती। जो कुछ जानता हूं, सब कहता नहीं—सब कहना आवश्यक भी नहीं है। सर्जक का काम कूड़ेदान उलटना नहीं है, न कूड़ेदान को समाज के बीच में लाकर उलट देना ही एकमात्र यथार्थवाद है। वैसी प्रदर्शनकारी प्रवृत्ति अपरिपक्वता का ही लक्षण है। और आखिर भाषा की अमूल्य और अपार निधि मनुष्य को मिली किसलिए है—उसकी प्रतिभा ने रची किसलिए है? एक संकेत से जितना बड़ा यथार्थ दिखाया जा सकता है उतना दिखाने में बड़ी से बड़ी पोथी भी असमर्थ है।

मैं यही चाहता हूं कि मानव की प्रतिभा ने जितने भी साधन उपलब्ध किए हैं, उनका श्रेष्ठ उपयोग करूं। और मितव्ययिता सर्जना शक्ति की एक सहज प्रवृति है। ❑

—जून, 1979

कविता

•

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

जंगल की याद मुझे मत दिलाओ

कुछ धुआं
कुछ लपटें
कुछ कोयले
कुछ राख छोड़ता
चूल्हे में लकड़ी की तरह मैं जल रहा हूं
मुझे जंगल की याद मत दिलाओ।

हरे-भरे जंगल की
जिसमें मैं संपूर्ण खड़ा था
चिड़ियां मुझ पर बैठ चहचहाती थीं
धामिन मुझसे लिपटी रहती थी
और गुलदार उछलकर मुझ पर
बैठ जाता था।

जंगल की याद
अब उन कुल्हाड़ियों की याद रह गई है
जो मुझ पर चली थीं
उन आरों की जिन्होंने
मेरे टुकड़े-टुकड़े किए थे
मेरी संपूर्णता मुझसे छीन ली थी।

चूल्हे में
लकड़ी की तरह अब मैं जल रहा हूं
बिना यह जाने कि जो हांडी चढ़ी है
उसकी खुदबुद झूठी है
या उससे किसी का पेट भरेगा
आत्मा तृप्त होगी।
बिना यह जाने
कि जो चेहरे मेरे सामने हैं
वे मेरी आंच से
तमतमा रहे हैं
या गुस्से से,
वे मुझे उठाकर चल पड़ेंगे
या मुझ पर पानी डाल सो जाएंगे।
जंगल की याद मुझे मत दिलाओ

एक-एक चिनगारी
झरती पत्तियां हैं
जिनसे अब भी मैं चूम लेना चाहता हूं
इस धरती को
जिसमें मेरी जड़ें थीं।

रिश्ते

खुद कपड़े पहने
दूसरे को कपड़े पहने देखना
खुद कपड़े पहने
दूसरे को कपड़े न पहने देखना
खुद कपड़े न पहने
दूसरे को कपड़े न पहने देखना
तीन अलग-अलग रिश्ते बनाना है।

इनमें से
पहले से तुम्हें मन बहलाना है
दूसरे को खोजने जाना है
तीसरे के साथ मिलकर
क्रांति और सृजन का परचम उठाना है। □

—अक्तूबर, 1980

साहित्य

अज्ञेय—ऊर्जा का प्रवाह और खोजने की चुनौती थे

रघुवीर सहाय

सभ्यता और संस्कृति की खोज और उसकी निरंतर पहचान वात्स्यायनजी की चिंता थी। साहित्य उनकी इस खोज का माध्यम था।

अज्ञेय एक नाम है जो संसार के हर कोने में, जहां भारतीय बिखरे हुए हैं, जाना जाता है। यह एक ऐसे भारतीय साहित्यकार का नाम है जिसके लेखन की भाषा हिंदी थी, परंतु अनुभव की भाषा मानवीयता और भारतीयता थी।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन एक नाम है जो बीसवीं शताब्दी के भारत की मर्यादाएं स्थापित करने वाले इतिहास निर्माताओं की सूची में अमर रहेगा। उनके कार्य का क्षेत्र साहित्य माना जाएगा, परंतु साहित्य की बड़ी सतही समझ रखने वाले ही कहेंगे कि वह निरे साहित्यकार थे। सभ्यता और संस्कृति की खोज और उसकी निरंतर पहचान वात्स्यायनजी की चिंता थी, साहित्य उनकी इस खोज का माध्यम था और समाज निर्माण के जो साधन मनुष्य ने विकसित किए हैं उनमें से एक को, अर्थात् भाषा को उन्होंने अपना केंद्रीय साधन चुना था। वह राजनीति को संन्यासियों की तरह नकारते नहीं थे—सिर्फ यह पहचानते थे और बताते भी थे कि सत्ता की राजनीति वाणी के प्रतिकूल काम करती है। इसीलिए साहित्य की सत्ता अपने में संपूर्ण है और राज्य सत्ता पर आश्रित नहीं है।

साहित्य को उन्होंने नई भाषा दी। नई भाषा को उन्होंने नई वेदना दी और वेदना में उन्होंने मानव-कल्याण की नई आकांक्षा भर दी। आधी शताब्दी उन्होंने मनुष्य के दुख-दर्द को ही नहीं, आनंद को बताने में खर्च की और इस तरह बताने में कि पाठक अपने भीतर नए सिरे से वही अनुभूति जगा दे जो उनके लेखक में जागी थी। वह मूलतया कवि थे या कि उपन्यासकार, यह कहना कठिन है। ये दोनों व्यक्तित्व तो उनमें एक ही स्थान पर थे ही, आलोचक का, शिक्षक का और निर्माता का व्यक्तित्व भी इसी स्थान पर एकत्र था। संस्कार, गरिमा, शालीनता, ममता, करुणा और सौंदर्य के गुण, उनके व्यक्तित्व में इस तरह संश्लिष्ट थे जैसे ध्यानपूर्वक उन्होंने इन गुणों को संचित किया हो फिर उन्हें आत्मसात कर लिया हो। सच्चे अर्थ में वह पूर्ण पुरुष थे और अपने ऐतिहासिक दायित्व के प्रति निरंतर सचेत रहकर वह जो कुछ हमें दे गए उसने उन्हें युग प्रवर्तक बना दिया है।

7 मार्च, 1911 को वात्स्यायनजी ने जन्म लिया था। 76 वर्ष की आयु में अपने जन्म दिन से प्रायः एक महीना बाद उन्होंने 4 अप्रैल को जीवन पूरा किया। इस जीवन में लगभग 1930 से लेकर निधन पर्यंत वह निरंतर रचते रहे। *शेखर : एक जीवनी* उनकी कृति है जिसने उपन्यास जगत में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। *चिंता* उनकी तभी की कविताओं का संग्रह है। *भग्नदूत* नामक कविता संग्रह में उनकी रागात्मक संवेदना के नए प्रमाण मिल ही चुके थे। 1949 *हरी घास पर क्षण भर* के प्रकाशन के साथ नई पीढ़ी के साहित्यकर्मियों ने एक सर्वथा उत्तेजक तृप्ति का अनुभव पाया। उनके शिल्प और शब्द को लेकर उस समय कविता के प्रेमियों में लंबी बहसें होती रही हैं और पहचाना जाता रहा है कि उनके पहले के अन्य कवियों से उनकी कविता कितनी भिन्न और आगे है। फिर भी उनके पहले के कवियों के साहित्य की तरह उनकी कविता ने निरा अनुकरण करने की प्रेरणा नहीं दी, खोजने की ही चुनौती दी। *हरी घास पर क्षण भर* की कविताओं से मेरे जैसे जाने कितने नए युवकों को, जिन्होंने कविता लिखना शुरू ही किया था और जो नई भाषा की या नई संवेदना की खोज में भटक रहे थे, कथ्य और शिल्प दोनों की उपलब्धियां हुईं। पर ये स्वयं अपने को खोजने की प्रेरणाएं थीं न कि बने-बनाए रास्तों की दिशाएं।

यही खोज वात्स्यायनजी की रचना यात्रा के हर पड़ाव पर जारी रही। साहित्य की कोई भी विधा हो या संपादन की कोई चुनौती हो, वात्स्यायनजी ने भाषा के संस्कार में सार्थक और रचनात्मक हस्तक्षेप किया और जड़ता को कुछ इस तरह तोड़ा कि उसके तोड़ने और नई संवेदना को बनाने में हर नया साहित्यकार अपनी शक्ति भर कुछ न कुछ नया अपने भीतर से खोजकर लाने को बाध्य हुआ। चुपचाप नई संवेदना, नई भाषा और जीवन की नई गहरी समझ साहित्य के द्वारा समाज में पैठती चली गई। इस प्रक्रिया में अज्ञेय का मार्ग-दर्शन मिला।

हम जिस दौर की बात कर रहे हैं वह लाहौर के फोरमंस कालेज में बी.एस-सी. करने के बाद के, अज्ञेय के क्रांतिकारी जीवन का

दौर था। यह ठीक है कि वह अपनी पहली कहानी 1924 में और पहली कविता 1927 में लिख चुके थे पर 1920 में अंग्रेजी एम.ए. की पढ़ाई बीच में छोड़ी। तभी क्रांतिकारी जीवन में प्रवेश किया। 1930 में भगत सिंह को जेल से छुड़ाने की कोशिश में शामिल हुए, परंतु भगवती चरण वोहरा के दुर्घटना में घायल हो जाने से वह काम टल गया। फिर दिल्ली में क्रांतिकारी गतिविधियां जारी रहीं। बम बनाने के आरोप में गिरफ्तार हुए। साहित्य के इतिहास का यही वह दौर है जिसमें *शेखर* लिखा गया था। वात्स्यायनजी के जीवन का यही वह दौर है जिसने साहित्य रचना को उनका सतत जीवन-कर्म बना दिया।

1945 तक कहानी के क्षेत्र में उन्होंने नए कीर्तिमान स्थापित कर दिए थे। 'विपथगा', 'परंपरा' और 'कोठरी की बात' का नाम आधुनिक कहानी के निर्माण के दौर में महत्वपूर्ण रहेगा। परंतु बहुमुखी प्रतिभा के धनी अज्ञेय को कविता के क्षेत्र में युगांतरकारी परिवर्तन करना ही था। *तार सप्तक* में उन्होंने अपने समय की प्रवृत्तियों को पहचाना और आगे आने वाली कविता का पथ बताया। *तार सप्तक* (1943) सात कवियों की रचनाओं का संकलन था। सातों कवि उस समय की रचनात्मकता के प्रतिनिधि थे। युग को पहचानने और उसे अभिव्यक्ति देने का यह काम वात्स्यायनजी ही कर सकते थे। 1943 में प्रकाशित इस ऐतिहासिक प्रकाशन के बाद उन्होंने स्वयं अपनी कविता के एक के बाद एक संकलन निकाले और हिंदी कविता में नए आने वालों को भी चुन-चुनकर स्वीकृति और प्रतिष्ठा दिलाई। हिंदी कविता को *दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक* और *चौथा सप्तक* उनकी बहुमूल्य देन हैं। *तार सप्तक* में गजानन माधव मुक्तिबोध जैसे उल्लेखनीय कवि थे। *दूसरा सप्तक* में शमशेर बहादुर सिंह और भवानी प्रसाद मिश्र थे। *तीसरा सप्तक* में विजयदेव नारायण साही और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाम उल्लेखनीय हैं।

मुझे *दूसरा सप्तक* की तैयारी के दिनों से ही वात्स्यायनजी से परिचय प्राप्त हुआ जो वास्तव में *प्रतीक* द्वैमासिक में मेरी रचनाएं स्वीकृत होने के साथ शुरू हुआ और जीवन भर चलता रहा। जाने कितने आयोजनों में उनका साथ रहा, कुछ में नहीं भी रहा, पर उनसे मिला स्नेह और भरोसा कभी नहीं चुका। जिस विश्वास और आत्मीयता से उन्होंने मेरे प्रारंभिक साहित्यिक जीवन में ही मुझे अपना सहायक संपादक बनाकर *प्रतीक* मासिक में स्थान दिया था, वह आकाशवाणी में उनके साथ भाषा संबंधी सुधार के प्रयत्नों में हाथ बटाने से लेकर *दिनमान* में उनके उत्तराधिकारी का पद संभालने के समय तक मेरा संबल रहा। वह सिखाने और सिखाकर स्वतंत्र कर देने वाले अपूर्व गुरु, सहयोगी, सखा और मित्र थे। ऐसे पुरुष बिरले ही होते हैं। उन्होंने हिंदी में नई कविता को संभव बनाया और कविता को विश्व प्रतिमानों पर रचे और जांचे जाने की प्रेरणा दी।

1951, *प्रतीक* मासिक का दौर 1947 के बाद के हिंदी साहित्य के लिए आधुनिक चिंतन के रचना संसार में बड़ी ऊर्जा के साथ प्रवेश करने का दौर था। अपने चारों ओर यह ऊर्जा वितरित करने का काम वात्स्यायनजी ने जीवन भर किया। *प्रतीक* द्वैमासिक, *प्रतीक* मासिक, आकाशवाणी हिंदी समाचार और *दिनमान* में मैं इस योगदान का और नेतृत्व का साक्षी हूं। वात्स्यायनजी जैसा साधक स्वाधीनता के बाद के दौर में कोई नहीं हुआ। उनकी शिक्षा का प्रसाद जिन्होंने पाया है, वे भाग्यशाली हैं और उन्हें अपने पर गर्व होना चाहिए। ❑

—जून, 1987

कविता
•

बागी घोड़ा

केदारनाथ अग्रवाल

मैंने
बागी घोड़ा देखा,
आज सबेरे
उछल-कूद करता, दहलाता—
जोरदार हड़कंप मचाता
गुस्से की बिजली चमकाता—
लप-लप करती देह घुमाता—
पट-पट अगली टांग पटकता—
खट-खट पिछली टांग पटकता—
कड़ी सड़क की
कड़ी देह को
कुपित कुचलता—
मुरछल जैसी देह घुमाता—
बड़ी-बड़ी क्रोधी आंखों से—
आग उगलता—
ऊपर-नीचे के जबड़ों के
लंबे-पैने दांत निपोरे,
व्यंग भाव से, ऐसे हंसता
अट्टहास करता हो जैसे।
पशु होकर भी नहीं चाहता पशुवत जीना,
मानववादी मुक्ति चाहता मानव से अब;
चकित चमत्कृत सबको करता,
मैंने बागी घोड़ा देखा,
आज सबेरे,
चौराहे पर। ❑

— अप्रैल, 1994

डायरी

शमशेर : मलयज की नजर में

शमशेर बहादुर सिंह

25 मार्च, 1968

शमशेर में शुरू से ही—काव्य-जीवन के आरंभ से ही—अपने प्रति एक हीनता ग्रंथि की भावना थी। हिंदी वालों के बीच वह अपने को अजनबी पाते थे, क्योंकि उनकी शिक्षा उर्दू में हुई थी और हिंदी का साहित्यिक भाषा संस्कार उन्हें मिला था। हीनता ग्रंथि का दूसरा कारण पार्टी में उनकी बहैसियत कवि (जिस तरह की कविताएं वह लिखते थे) कोई खास पूछ न थी, उनके कामरेड, प्रगतिवादी आलोचक वगैरह उनकी प्रयोगवादी कविताओं का मजाक उड़ाते थे। और अपने स्वभाव, एकाकीपन, काव्य संस्कार और रुचि के कारण शमशेर प्रयोगवादी चीजें ही लिखने को बाध्य थे। हालांकि उनकी बराबर चेष्टा इस प्रयोगवाद (अतिशय व्यक्तिवादी मानसिक रुझान) से उबरकर मार्क्सवाद प्रेरित कठोर जीवन का यथार्थ पकड़ने की रही। वह अपने भीतर के प्रयोगवादी तत्वों से संघर्ष करते। और इसीलिए पार्टी के अनुशासन को आदर्श मानते। उनकी बराबर चेष्टा रही कि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रेरित काव्य-रचना करें—वे चीजें उन्हें अब भी अच्छी लगती हैं। उन्हें सबसे अधिक खुशी तब हुई थी जब उनकी एक कविता *जनयुग* के 1947 के स्वतंत्रता-दिवस विशेषांक में मुख पृष्ठ पर छपी थी, ऐसी खुशी उन्हें कविता के प्रकाशन को लेकर कभी नहीं हुई।....पर विडंबना यह रही कि उनके न चाहते हुए भी उनका प्रतिनिधित्व करने वाली कविताएं उनकी वे 'प्रयोगवादी' कविताएं ही बनीं और उनकी पार्टी सर्किल के बाहर व्यापक सम्मान उन्हीं चीजों को मिला।

हां, तो उस हीनता ग्रंथि के कारण शमशेर काव्य-अभ्यास और काव्य-रचना, बल्कि समूचे लेखन में ही, अत्यंत श्रम करते। कविता को पूरी तरह समर्पित कर देने और उसी के माध्यम से पाने की प्रवृति उनमें एक ओर बाहर से अपने को कटा हुआ अनुभव करने, अपने को अकेला अनुभव करने के कारण उत्पन्न हुई तो दूसरी ओर साथी कामरेडों की कविता संबंधी स्थूल समझ के कारण।

शमशेर के अकेलेपन के पीछे उनका अत्यंत संकोची और भावुक स्वभाव ही था। वह दूसरों के साथ घुल-मिल नहीं पाते थे। अंतर्मुखी स्वभाव था। जाट स्वभाव का सीधा-सादा निश्छलपन उनमें था।

पटना-रांची से लौटने के बाद और भी—अब शमशेर को यह महसूस होने लगा कि उनका वह एकांत समर्पण और घनघोर श्रम और लगन उनके महत्व को लोगों के सामने धीरे-धीरे उजागर कर रहा है। लोग उनकी साधना की कद्र करने लगे हैं।

जमकर लिखने के नाम पर शमशेर के सामने पहले एक मेज आती है—करीने से लगी साफ-सुथरी व्यवस्थित मेज, जिसके आगे वह अपने लिखने का 'दफ्तर' खोल सकें। मेज-कुर्सी और दफ्तर का व्यवस्थित माहौल शांत और एकांत, जरूरत की दो-चार चीजें नजदीक सुलभ और इन सबको बाहर के लिए बंद और अभेद्य कर देने वाला एक दरवाजा सिर्फ भीतर से ही खोला-बंद किया जा सके।

मई, 1968

आज सुबह विश्वनाथ त्रिपाठी की उपस्थिति में अपनी 'मुझे न मिलेंगे आप' और 'घनीभूत पीड़ा' कविताओं का पाठ किया। रिद्म और छंद के अंत:सौंदर्य की सूक्ष्म रेखाओं को अपने स्वर के उतार-चढ़ाव से व्यंजित करते हुए। शमशेरजी ने निराला के रिद्म-छंद ज्ञान में कुछ नया जोड़ा है। ऐसा उनका दावा है। इसी को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने ये कविताएं सुनाईं। उनके कविता-पाठ पर त्रिपाठीजी की टिप्पणी थी कि शमशेरजी की कविता को शमशेरजी ही पढ़ सकते हैं।

'घनीभूत पीड़ा' सुनते हुए मुझे लगा कि निराला का स्वर उनके सांस्कृतिक गौरव के ठाठ से रहित एक अति संवेदनशील, कोमल और एब्सट्रैक्ट सत्य-सौंदर्य के कवि के कंठ से ध्वनित हो रहा है। निराला की काव्य-भाषा, रिद्म और छंद का काफी प्रभाव शमशेरजी पर है। केवल निराला का वह महिमामंडित सांस्कृतिक गौरव से पुष्ट व्यक्तित्व नहीं। इसी से उनकी कविताएं अधिक आत्मीय, संवेदन-स्वर की अभिव्यक्ति लगती हैं। उनके रिद्म और छंद का बहाव, रवानी में अटकाव, रोध नहीं, वह नदी की पतली धार-सा आकर आप में चुपके से घुल जाता है। निराला के स्वर की गरजती नदी-सा आपके पुरुषार्थ को चुनौती नहीं देता। निराला का काव्य-रिद्म और छंद किसी काव्य चेष्टा अथवा श्रम का आभास नहीं देता। वह उनके व्यक्तित्व के साथ सहज लगता है। शमशेरजी चाहे यह भले ही कहें कि टेक्नीक और रचनात्मक अनुभूति उनके एक-दूसरे के 'इंटीग्रल' अंग हैं। पर ऐसा उनकी 'फिनिश्ड' कृति में ही हो पाया है। उसके पहले उन्हें कविता को टेक्नीक की दृष्टि से भी 'परफेक्ट' बनाने के लिए काफी जद्दोजहद करनी पड़ती है। यह अवश्य है कि इसके बाद जो कविता सामने आती है वह टेक्नीक से भी परफेक्ट ठहरती है और कवि की अंदरूनी चेष्टा की अंगुलियों की छाप से मुक्त होती है। पर इस संदर्भ में काम की बात यह है कि शमशेरजी के व्यक्तित्व में दोनों को लेकर एक द्वंद्व रहता है। उन्हें 'अतिरिक्त रचनात्मक चेष्टा' करनी पड़ती है। यही चीज उन्हें इस बात की गुंजाइश दे देती है कि वह आज के जीवन के मुहावरे के अनुरूप नई रिद्म और छंद को अपनी कविता में संजोएं। ❑

– सितंबर, 1993

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा तारा आर्ट प्रेस, नई दिल्ली-110002 में मुद्रित।

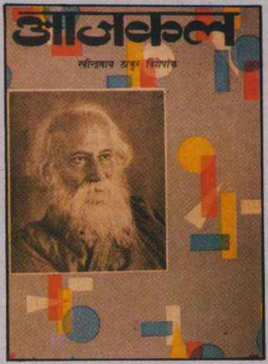
आजकल
रवीन्द्रनाथ ठाकुर विशेषांक

आजकल
भारतीय कहानी विशेषांक

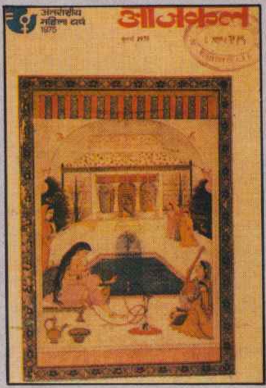
अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष 1975
आजकल

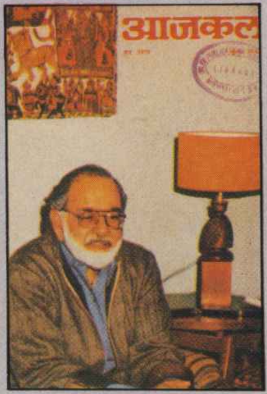
आजकल

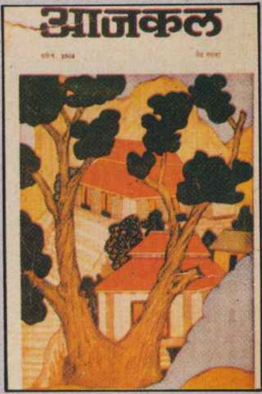
आजकल

आजकल

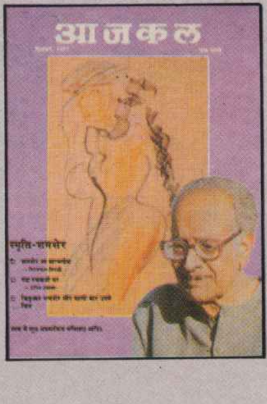
आ ज क ल
स्मृति-शमशेर

डाक तार पंजीयन सं. डी. (डी. एल.) 12035/94 बिना पूर्व भुगतान के डी.पी.एस.ओ., दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी.एन.)-49 प्राप्त
दिल्ली डाक
आर.एन. 701/57
Postal Regn. No. D (DL)/12035/94
Delhi Postal
Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at DPSO, Delhi
R.N. 701/57

रवींद्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी
यामिनी राय का यह चित्र 'आजकल' के सितंबर-अक्तूबर, 1947 के अंक में प्रकाशित हुआ था।